लड्डू भूखको दूर नहीं कर सकते हैं। किन्तु प्रकरणमें घट, पट, सौड थम्भ, शरीर, आदि अवयवी पदार्थोंसे जलधारण, शीत दूर करना, छतको लादे रहना, अंग उपांगोंका जकडे रखना आदि अर्थक्रियायें हो रही हैं। तीसरी बात यह है कि स्थिर स्थूल साधारण, अवयवी पदार्थोंका प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानद्वारा स्पष्ट संवेदन हो रहा है। कल्पित पदार्थ झूंठे ज्ञानोंसे अस्पष्ट भले ही दीख जांय किन्तु वे स्पष्ट ज्ञानसे नहीं जाने जाते हैं, प्रकरणमें अवयवी तो स्पष्टज्ञान द्वारा जाना जारहा है। प्रमाणोंके द्वारा प्रमेयकी परमार्थरूप व्यवस्थाका निर्णय कर दिया जाता है।

शक्यन्ते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेन्द्रियबुद्धय इति स्वयमभ्युपेत्य कल्पनान्तरे सत्यप्यनिवर्तमानं स्थवीयान्सं एकमवयविनं कल्पनारोपितं ब्रुवन् कथमवयवेऽवयविवचनः ?।

जब कि बौद्ध यह मान रहे हैं कि कल्पनायें तो उनके प्रतिकूल अन्य कल्पनाओंसे निवारण की जा सकती हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य प्रतिकूल ज्ञानोंसे हटाये नहीं जा सकते हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं अच्छे हैं। इस प्रकार स्वयं स्वीकार करता हुआ भी बौद्ध अन्य कल्पनाओंके होते सन्ते भी नहीं निवृत्त हो रहे अधिक स्थूल एक अवयवीको कल्पनासे आरोपित कह रहा है, वह बौद्ध भला किस प्रकार अवयवमें अवयवीको कल्पित कहनेवाला समझाया जा सकता है ?। अर्थात् नवीन कल्पनाओंसे अन्य कल्पनाओंका तो नाश हो जाता है। धूली पटलमें धूम या भापपनेकी कल्पनाएं तो नष्ट हो जाती हैं। किन्तु प्रमाणज्ञानोंका नाश नहीं हो पाता है। अन्य कल्पनाओंके होनेपर भी अवयवीका ज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है। अतः प्रमाण ज्ञानसे जाना गया अवयवी वस्तुभूत पदार्थ मानना पडेगा। बौद्धोंने एक कल्पना ज्ञान और दूसरा निर्विकल्पक प्रमाण ज्ञान ये दो ज्ञान तो एक समयमें होते हुए नहीं माने हैं। किन्तु दो कल्पना ज्ञान एक ही समयमें होते हुये नहीं माने हैं, जब कि दूसरे कल्पनाज्ञानके होते हुए भी अवयवीका ज्ञान हो रहा है निवृत्त नहीं होता है तो सिद्ध हुआ कि वह एक अवयवीका ज्ञान प्रमाणज्ञान है। कल्पित नहीं हैं।

यदि पुनरवयविकल्पनायाः कल्पनान्तरस्य वाशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात् सहभावाभिमानो लोकस्य। ततो न कल्पनान्तरे सति कल्पनात्मनोप्यवयविनोऽस्तित्वमिति मतिः तदा कथमिन्द्रियबुद्धीनां कचित्सहभावस्तात्त्विकः सिद्ध्येत्। तासामप्याशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात्सहभावाभिमानसिद्धेः।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि अंशोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान करते समय अवयवीका कल्पना ज्ञान हुआ। उस कल्पना ज्ञानके अव्यवहित उत्तर समयमें अत्यन्त शीघ्र दूसरा कल्पनाज्ञान वर्त गया। कुम्हारके चक्रभ्रमणके समान शीघ्रता होनेसे मध्यवर्ती देश, कालका अन्तराल स्थूल दृष्टिवाले लोकको नहीं दीखा। अतः एक समयमें साथ उत्पन्न हो गये दो कल्पना

ज्ञानोंकी सगर्व मानता हो गयी है। यानी जनसमुदाय दो कल्पना ज्ञानोंका एक समयमें होना भ्रमवश कह रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो दो कल्पनाएं दो समयोंमें हुयी हैं तिसकारण दूसरी कल्पनाके उत्पन्न होते हुए पूर्वसमयकी कल्पना स्वरूपसे आरोपे गये भी अवयवीका वस्तुतः अस्तित्व नहीं है। बौद्धोंका ऐसा विचार होनेपर हम जैन कहते हैं कि तब तो इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका कहीं वास्तविकरूपसे साथ रहनापन कैसे सिद्ध होगा ? वहां भी कह दिया जा सकता है कि उन ज्ञानोंकी भी अतिशीघ्रतासे अव्यहित उत्तरोत्तर समयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण मध्यका अन्तराल नहीं दीखा है। अतः संसारी जीवोंको इंद्रिय ज्ञानोंके एक साथ होनेकी मानना सिद्ध हो रही है। वस्तुतः इंद्रियजन्य ज्ञान भी एक साथ कई उत्पन्न नहीं हुए हैं। किंतु यह बात आप बौद्धोंके सिद्धान्तसे विरुद्ध पडेगी। आपने भुरभुरी कचौडीके खाते समय पांचों इन्द्रियोंसे जन्य पांच ज्ञान एक साथ हुए माने हैं। जैन ज्ञन उपयोग आत्मक पांचका तो क्या दो ज्ञानोंका भी एक साथ होना नहीं अभीष्ट करते हैं। चेतना गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय हो सकती है। न्यून अधिक नहीं।

कथं वाश्वं विकल्पयतोपि च गोदर्शनादर्शनकल्पनाविरहसिद्धिः ? कल्पनात्मनोऽपि गोदर्शनस्य तथाश्वविकल्पेन सहभावप्रतीतेरविरोधात्। ततः सर्वत्र कल्पनायाः कल्पनान्तरोदये निवृत्तिरेष्टव्या, अन्यथेष्टव्याघातात्। तथा च न कल्पनारोपितोंशी कल्पनान्तरे सत्यप्यनिवर्तमानत्वात् स्वसंवेदनवत्।

और हम आपसे पूंछते हैं कि अश्वका विकल्पज्ञान करते हुए पुरुषके भी गायका निर्विकल्पक दर्शन हो जानेसे दर्शनरूप कल्पनाके अभावकी सिद्धि भला कैसे करोगे ? बताओ। क्योंकि कल्पनास्वरूप भी गोदर्शनकी तिस प्रकार अश्वविकल्प ज्ञानके साथ होनेवाली प्रतीतिका कोई विरोध नहीं है। आपने दो कल्पनाओंका साथ रहना स्वीकार कर ही लिया है। तिस कारण आपको अपने सिद्धान्तके रक्षित रखनेका अब यही उपाय अवशिष्ट है कि सभी स्थलोंपर दूसरी कल्पनाके उदय हो जानेपर पहिली कल्पनाकी निवृत्ति हो जाना इष्ट कर लेना चाहिये। अन्यथा आपके अभीष्ट मन्तव्योंका व्याघात हो जावेगा और तैसा होनेपर तो सिद्ध हो जाता है कि अवयवी या अंशी कल्पनासे गढा गया नहीं है। क्योंकि दूसरी कल्पनाओंके उत्पन्न हो जानेपर भी वह निवृत्त नहीं हो रहा है, जैसे कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कल्पित नहीं है। भावार्थ—चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या भलें ही सविकल्पकज्ञान हो, पूरा मिथ्याज्ञान भी क्यों न हो। ये सब अपनेको तो प्रमाणस्वरूप संवेदनसे जानते हैं, वह संवेदन प्रत्यक्ष जैसे कल्पित ज्ञान नही है। "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः (आप्तमीमांसा)"। तिसी प्रकार अंशी पदार्थ कल्पित नहीं हैं। अनेक अंशवाला एक अंशी पदार्थ वस्तुभूत है। बौद्धोंने स्वांशमें प्रमाण और बहिरंग विषयके ग्रहण करनेमें अप्रमाण ऐसे दो अंशोंसे युक्त मिथ्याज्ञानका स्वसंवेदन होना मान लिया है। वह उसका ग्राहक

स्वसंवेदन भी दो अंशवाला होगा। तैसे ही बहिरंग पदार्थोंके भी अनेक अवयव मान लेना चाहिये। अथवा शुद्ध स्वसंवेदन ज्ञान जैसे आप बौद्धोंको मान्य है, तद्वत् अवयवीको भी मानलो! अयुक्त आग्रह करना प्रशस्त नहीं है।

तस्यार्थक्रियायां सामर्थ्याच्च न कल्पनारोपितत्वम्। न हि माणवकेऽग्निरध्यारोपितः पाकादावाधीयते। करांगुलिष्वारोपितो वैनतेयो निर्विषीकरणादावाधीयत इति चेत् न, समुद्रोल्लंघनाद्यर्थक्रियायामपि तस्याधानप्रसंगात्। निर्विषीकरणादयस्तु तदा पानादिमात्रनिबन्धना एवेति न ततो विरुध्यन्ते।

जो अर्थक्रियाओंको करता है वह वस्तुभूत है (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्)। घट, पट, आदिक अवयवी और आत्मा, आकाश, आदि अंशी पदार्थोंको सिद्ध करनेमें यह अच्छी युक्ति है कि वह अंशी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है। अतः कोरी कल्पनासे मान लिया गया नहीं है। एक तेजस्वी चंचल बालकमें अग्निपनेका आरोप कर लिया गया। इतने हीसे वह आरोपी गयी अग्नि विचारी पचाना, जलाना, फफोडा डालना, पानी सुखाना आदि क्रियाओंके उपयोग करनेमें नहीं ली जाती है। यों कल्पित अवयवी कुछ कार्य नहीं कर सकेगा। इधर अवयवीसे कार्य हो रहे दीख रहे हैं। यदि कोई यों कहे कि हाथकी अंगुलियोंमें कल्पित कर लिया गया गरुडपक्षी विष उतारने रूप क्रिया आदिमें अर्थक्रियाकारी माना गया है। अर्थात् गारुडिक जन अपनी अंगुलियोंमें गरुडकी स्थापना कर उसके द्वारा सांपके काटे हुए मनुष्यका विष उतार देते हैं। इस प्रकार कल्पित पदार्थ भी कुछ कार्य कर देते हैं। बौद्धोंके इस कटाक्षपर आचार्य समझाते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो समुद्रका उल्लंघन करना, पर्वतको लांघ जाना आदि अर्थक्रियाओंमें भी उस अंगुलीरूप गरुडके उपयोग हो जानेका प्रसंग होगा। मुख्यसे ही होनेवाले कतिपय कार्य कल्पित पदार्थसे कैसे भी नहीं हो सकते हैं। विषरहित करना आदिक कार्य तो उस समय मन्त्रित जलके पान अथवा गरुडकी आकृति आदिको कारण मानकर ही उत्पन्न हो गये हैं। इस कारण उस कल्पित गरुडसे होते हुए विरुद्ध नहीं माने जाते हैं। किन्तु समुद्रका उल्लंघन करना तो वस्तुभूत मुख्य गरुडका कार्य है। अन्धे पुरुषको समझानेके लिये कोहनीसे ऊपर आधा हाथ उठाकर अंगुलियोंको समेट कर पौंचेको टेढा करके बगुलाकी सूरत बनायी जाती है। अन्धा पुरुष उसको हाथसे टटोलता है। एतावता वह हाथ बकके समान आकाशमें गमन नहीं कर पाता है। प्रकरणमें यों कहना है कि अवयवी अनेक अर्थक्रियाओंको करता हुआ दीख रहा है, अतः अंशी परमार्थ है। कल्पित नहीं।

नन्वर्थक्रियाशक्तिरसिद्धावयविनः, परमाणूनामेवार्थक्रियासमर्थसिद्धेस्त एव ह्यसाधारणार्थक्रियाकारिणो रूपादितया व्यवह्रियंते। जलाहरणादिलक्षणसाधारणार्थक्रियायां प्रवर्तमानास्तु घटादितया। ततो घटाद्यवयविनो अवस्तुत्वसिद्धिस्तस्य संवृतसत्त्वादिति चेत् न, परमाणूनां जलाद्यर्थक्रियायां सामर्थ्यानुपपत्तेर्घटादेरेव तत्र सामर्थ्यात् परमार्थसिद्धेः।

यहां बौद्ध अपने पक्षका यों अवधारण करते हैं कि अवयवीके अर्थक्रिया करनेकी शक्ति सिद्ध नहीं है, परमाणुओंके ही अर्थक्रिया करनेकी सामर्थ्य सिद्ध है, वे परमाणु ही अपनी अपनी असाधारण अर्थक्रियाओंको करते हुए रूपपरमाणु, रसपरमाणु अथवा रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध आदिपनेसे व्यवहारमें प्रचलित हो रहे हैं। अर्थात् प्रत्येक वस्तुभूत परमाणुकी अर्थक्रिया न्यारी न्यारी है। जिस समय अनेक परमाणुएं एकसी जलधारण, शीतको दूर करना, छतको लादे रहना, पानी खैंचना आदि स्वरूप साधारण अर्थक्रियाओंको करनेमें प्रवृत्ति करते हैं तब तो वे घट, पट, सौड, लेज, आदि रूपसे व्यवहृत किये जाते हैं, जैसे कि सेनाके प्रत्येक घोडा पदाति आदिका असाधारण कार्य न्यारा है, किन्तु जिस समय सभी प्रत्यासन्न होकर कार्य कर रहे हैं वह सब सेनाका एकसा साधारण कार्य मान लिया जाता है। तिस कारण घट, पट, आदिक अवयवियोंको वस्तुभूतपना सिद्ध नहीं है। जो कुछ भी अर्थक्रिया हो रही है सब परमाणुओंकी है वह अवयवी तो केवल व्यवहारसे सत् मान लिया जाता है। वस्तुतः नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जलको लाना, जलको धारण किये रहना, छतको लादे रहना आदि अर्थक्रियाओंके करनेमें सूक्ष्मपरमाणुओंकी सामर्थ्य नहीं सिद्ध होती है। उन क्रियाओंको करनेमें तो घट, पट, आदि अवयविओंकी ही सामर्थ्य है। अतः घट, पट, आदिक अवयवी वास्तविक अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

परमाणवो हि तत्र प्रवर्तमानाः कञ्चिदतिशयमपेक्षन्ते न वा ? न तावदुत्तरः पक्षः सर्वदा सर्वेषां तत्र प्रवृत्तिप्रसंगात्। स्वकारणकृतमतिशयमपेक्षन्त एवेति चेत्, कः पुनरतिशयः ? समानदेशतयोत्पाद इति चेत्, का पुनस्तेषां समानदेशता ? भिन्नदेशानामेवोपगतत्वात्। जलाहरणाद्यर्थक्रियायोग्यदेशता तेषां समानदेशता नान्या, यादृशि हि देशे स्थितः परमाणुरेकस्तत्रोपयुज्यते तादृशि परेऽपि परमाणवः स्थितास्तत्रैवोपयुज्यमानाः समानदेशाः कथ्यन्ते न पुनरेकत्र देशे वर्तमाना विरोधात्। सर्वेषामेकपरमाणुमात्रत्वप्रसंगात् सर्वात्मना परस्परानुप्रवेशादन्यथैकदेशत्वायोगादिति चेत्। का पुनरियमेका जलाहरणाद्यर्थक्रिया ? यस्यामुपयुज्यमाना भिन्नदेशवृत्तयोऽप्यणवः समानदेशाः स्युः। प्रतिपरमाणुभिद्यमाना हि सानेकैव युक्ता भवतामन्यथानेकघटादिपरमाणुसाध्यापि सैका स्यादविशेषात्।

हम बौद्धोंसे पूंछते हैं कि उन अर्थक्रियाओंको करनेमें प्रवृत्त हो रही परमाणुएं क्या अवश्य किसी अतिशयकी अपेक्षा रखती हैं अथवा नहीं ? बताओ ! प्रथम परली ओरका दूसरा पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विना किसी चमत्कारके उत्पन्न हुए ही यदि परमाणुएं जलधारण आदि कर्मोंको कर लेवेंगी तो सदा ही सम्पूर्ण परमाणुओंको उन कार्योंमें प्रवृत्ति करनेका प्रसंग होगा यानी बालूरेत भी जलको भरे रहेगा, सडी हुयी टूटी हुई सोट या तृण भी छतके बोझको सम्हाल

लेवेंगे। यदि पहिले पक्षके अनुसार आप बौद्ध यों कहें कि अपने अपने कारणोंसे किये गये अतिशयोंकी परमाणु अपेक्षा करते ही हैं, यानी जिन कारणोंसे परमाणु उत्पन्न होते हैं उन्हीं कारणोंसे जलाहरण, शीतापनोद आदिको उत्पन्न करानेवाले अतिशय भी उनमें साथ ही पैदा हो जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन फिर पूंछते हैं कि परमाणुओंमें उत्पन्न हुआ वह अतिशय क्या पदार्थ है ? बताओ ! यदि तुम यों कहो कि अनेक परमाणुओंका वहीं अतिनिकट समानदेशवाली होकर उत्पन्न हो जाना अतिशय है, ऐसा कहनेपर तो फिर हम पूंछेंगे कि उन परमाणुओंका समान देशवान्पना क्या है ?। इसपर आप बौद्ध यदि यों उत्तर देंगे कि वस्तुतः प्रत्येक परमाणु न्यारे न्यारे ही देशमें रहती हैं। अतः सम्पूर्ण परमाणुयें भिन्न भिन्न देशोंमें उत्पन्न हो रही मानी गयी हैं, किन्तु जलधारण, छतको धारण आदि अर्थक्रियाओंके लिये उपयोगी उन परमाणुओंका व्यवधान रहित सदृश देशोंमें उत्पन्न हो जाना ही उनकी समानदेशता है। अन्य नहीं। जैसे ही एक देशमें बैठा हुआ परमाणु उस अर्थक्रियामें उपयुक्त हो रहा है। तिस सरीखे दूसरे अव्यवहित देशमें भी बैठे हुए दूसरे भी परमाणुयें उस ही अर्थक्रियामें उपयोग करते हुए समान देशवाले कहे जाते हैं। केवल एक ही देशमें वर्तते हुए परमाणु ही फिर समानदेशवाले नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि विरोध है। यानी समानदेश और एकदेशमें भारी अन्तर है। उस ही एक आधारको एकदेश कहते हैं और उसके समान दूसरे देशोंमें रहनेपर समानदेश कहे जाते हैं। मूर्त एक परमाणु जब एक प्रदेशको घेर लेवेगी तो वहां दूसरे परमाणुके ठहरनेका विरोध है। " मूर्तयोरेकदेशताविरोधात् "। जैनोंके समान हम एक प्रदेशपर अनन्त परमाणुओंको बैठा हुआ नहीं स्वीकार करते हैं। यदि एक प्रदेशमें अनेक परमाणु स्थित हो जावेंगी तो सम्पूर्ण परमाणुओंको केवल एक परमाणुरूप हो जानेका प्रसंग होगा। जिस स्थानपर एक ही घट समा सकता है, वहां यदि दो, तीन, घटोंकी सत्ता मानोगे तो दो, तीनका ठीक अर्थ एक ही समझा जावेगा। एक घडेके नीचे मध्य या ऊपरी भागमें दूसरे घडेका सम्बन्ध हो जानेसे तैरानेके लिये दुघडा या चौघडा बन जाता है। यदि एक घडा दूसरे घडेमें ऊपर, नीचे, मध्य, ग्रीवा, पेट, आदि सम्पूर्ण अवयवोंसे सर्वात्मीण संयुक्त हो जावेगा तो दो, चार, तो क्या बीस, पचास, घडे भी मिला देनेपर एक घडेके बरोबर ही रहेंगे। जब कि परमाणु अपने सम्पूर्ण स्वरूपसे परस्पर एक दूसरेमें प्रविष्ट हो जावेंगी तो अनेक परमाणुओंका पिण्ड भी एक परमाणुरूप हो जावेगा यह स्पष्ट है। अन्यथा परमाणुओंका एकदेशपना न बन सकेगा। भावार्थ— आप जैनोंने भी परमाणुओंको एकप्रदेशी कहा है। हां ! यदि परमाणुके अनेक प्रदेश होते तो भिन्न भिन्न प्रदेशोंसे संयुक्त होकर अनेक परमाणुओंका एक बडा अवयवी बन सकता था, किन्तु परमाणुको एकप्रदेशी माननेपर एक प्रदेशमें अनेक परमाणुओंकी रक्षा नहीं हो सकती है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि यह अनेक परमाणुओं करके साधारणरूपसे हुयी एक जलाहरण आदि अर्थक्रिया भला क्या है ? जिसमें कि उपयोगी हो रहे भिन्न भिन्न देशमें वर्तते

हुए भी परमाणुएं समानदेशवाले कहे जावें ? बताओ ! आपके यहां प्रत्येक परमाणु परमाणुके प्रति भिन्न भिन्न हो रही इस अर्थक्रियाको अनेक ही मानना युक्त पडेगा। अन्यथा यानी अनेक परमाणुओंकी यदि एक ही अर्थक्रिया हो सके तो घट आदिकके अनेक परमाणुओंसे साध्य भी वह अर्थक्रिया एक हो जावेगी कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—अनेक परमाणुओंसे जैसे एक जल लानारूप अर्थक्रिया हो सकती है, उसी प्रकार अनेक परमाणुओंसे एक अवयवी घट भी बन सकता है हमारे और आपके मन्तव्यमें कोई विशेषता नहीं है विचार लीजिये।

सत्यं, अनेकैरेव [illegible] तद्भिन्नत्वेन व्यवहरणात्। तद्व्यतिरेकेण क्रियायाः विरोधात्। केवलमेककार्यकरणादेकत्वेनोपचर्यत इति चेन्न, तत्कार्याणामप्येकत्वासिद्धेस्तत्वतोनेकत्वेनोपगतत्वात् स्वकीयैककार्यकरणात् तत्कार्याणामेकत्वोपगमे स्यादनवस्था तत्त्वतः सुदूरमपि गत्वा बहूनामेकस्य कार्यस्यानभ्युपगमात्। तदुपगमे वा नानाणूनामेकोऽवयवी कार्यं किं न भवेत्।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनोंका मानना सच है, वह अनेक परमाणुओंसे की गयी जल लानारूप क्रिया अनेक ही हैं, जल लाना आदि आकारवाले परमाणुओंका ही उस क्रियापनेसे व्यवहार हो रहा है। जितने परमाणु हैं उतनी ही तद्रूप क्रियायें हैं। उन परमाणुओंसे भिन्न होकर क्रियाका विरोध है। यानी वैशेषिकके समान हम बौद्धवादी कर्मको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते हैं। वे सब क्रियास्वरूप परमाणुएं एक जल लानारूप कार्यको कर रही हैं इस कारण अनेक अर्थक्रियायें एकपनेसे व्यवहृत हो जाती हैं, वस्तुतः वे अनेक हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अनेक परमाणुओंके जल लानारूप अनेक कार्योंको भी एकपना असिद्ध है। वास्तविकरूपसे वे कार्य आप बौद्धोंके यहां अनेकपनेसे स्वीकार भी किये गये हैं। यदि उन कार्योंको भी अपने अपने द्वारा सम्पादित हुए एक कार्य करनेकी अपेक्षासे एकपना स्वीकार करोगे तब तो अनवस्थादोष होगा। क्योंकि अनेक कार्योंके बनाये गये कार्य भी वस्तुतः अनेक हैं, फिर उनके भी कार्य अनेक ही होवेंगे। अतः अनेकोंको एकपना उपचारसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है। बहुत दूर भी जाकर अनेक अर्थोंसे हुआ वस्तुतः एक कार्य आपने नहीं माना है। यदि बौद्ध अनवस्था दोषको हटानेके लिये उत्तर उत्तरवर्ती अनेक कार्योंसे अन्तमें जाकर उस एक कार्यका होना स्वीकार कर लेंगे तब तो नाना परमाणुओंका कार्य एक अवयवी क्यों न हो जावे ? इस ढंगसे अवयवी सिद्ध हो जाता है।

यदि पुनरेकतया प्रतीयमानत्वादेकैव जलाहरणाद्यर्थक्रियोपेयते तदा घटाद्यवयवी तत एवैकः किं न स्यात् ? संवृत्त्यास्तु तदेकत्वप्रत्ययस्य सांवृतत्वादिति चेत्, जलाहरणाद्यर्थक्रियापि संवृत्त्यैकास्तु तदविशेषात्। तथोपगमे कथं तत्त्वतो भिन्नदेशानामणूनामेक-

स्यामर्थक्रियायां प्रवृत्तेः समानदेशता ययोत्पादेतिशयस्तैस्तत्रापेक्षते । तदनपेक्षाश्च कथं साधारणाद्यर्थक्रियाहेतवोऽतिप्रसंगादिति न घटादिव्यवहारभाजः स्युः ।

यदि फिर बौद्ध यों कहें कि एकपनेसे प्रतीतिका विषय होनेके कारण जल लाना, छत लादना, आदि अर्थक्रिया एक ही मान ली गयी है । यानी अनेक परमाणुओंसे यद्यपि अनेक क्रियायें होती हैं फिर भी अनेक एकोंमें एकत्वधर्म रहता है । अतः वे सब एक हैं, तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण घट, सोट, आदि अवयवी भी एक क्यों न हो जावेगा । यदि बौद्ध यों कहें कि केवल व्यवहारसे एक अवयवी हो जाओ ! क्योंकि उन अनेक अवयवोंमें एकपनेका ज्ञान उपचारसे कल्पित माना गया है, ऐसा कहनेपर तो आप बौद्धोंके द्वारा मान ली गयी जल लाना, पानी खींचना, आदि अर्थक्रिया भी कल्पित व्यवहारसे एक हो जाओ ! क्योंकि व्यवहारसे वह एकपनेका ज्ञान होना यहांपर भी अन्तर रहित है । वस्तुतः जल लाना आदि अर्थक्रियायें भी अनेक ही ठहरेंगी । तिस प्रकार स्वीकार करनेपर तो वास्तविकरूपसे भिन्न भिन्न देशमें रहनेवाले परमाणुओंकी एक अर्थ-क्रियामें प्रवृत्ति होनेसे समनदेशपना कैसे सिद्ध होगा ? बताओ । जिस समानदेशतासे कि उत्पाद होनेपर उन परमाणुओं करके वहां वह अतिशय अपेक्षणीय होवे । अर्थात् प्रायः दस पंक्तियोंके पूर्व बौद्धोंने समानदेशपनेसे उत्पाद होनारूप अतिशयकी अपेक्षा परमाणुओंके मानी थी, किन्तु अनेक परमाणुओंसे हुयी एक अर्थक्रिया सिद्ध नहीं मानी जा रही है तो वह अतिशय नहीं बना । और उस अतिशयकी नहीं अपेक्षा रखते हुए परमाणु अनेक परमाणुओंके द्वारा साधारणरूपसे साध्य जल लाना आदि अर्थक्रियाके कारण भला कैसे हो सकते हैं ? अतिप्रसंग हो जावेगा । यानी अतिशयोंसे रहित बालू, पारा आदि भी जल लाना, जल धारण करना आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो जावेंगे । इस प्रकार अतिशयोंसे रीते परमाणु विचारे घट, पट आदि व्यवहारको धारण करनेवाले नहीं होसकते हैं, किन्तु एक घट अवयवी है । एक पट अवयवी है इत्यादि व्यवहार वस्तुभूत हो रहे हैं। वे अवयवी अपने योग्य असाधारण कार्योंको भी कर रहे हैं।

न चायं घटाद्येकत्वप्रत्ययः सांवृतः स्पष्टत्वादक्षजत्वाद्बाधकाभावाच्च यतस्तदेकत्वं पारमार्थिकं न स्यात् । ततो युक्तांशिनोऽर्थक्रियायां शक्तिरंशवदिति नासिद्धं साधनम् ।

घट, पट, आदि अवयवियोंके एकपनेका ज्ञान (पक्ष) झूंठा या कल्पित नहीं है (साध्य) क्योंकि वह ज्ञान विशद है और इन्द्रियोंसे जन्य है तथा बाधक प्रमाणोंसे रहित है । इन तीन हेतु-ओंसे घटमें एकत्वज्ञान प्रमाणरूप सिद्ध हो जाता है जिससे कि उस अवयवीका एकपना पारमार्थिक न होवे। यानी एकपनेके प्रमाणज्ञानसे अवयवीमें एकपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है । तिस कारण अंशवाले अवयवीकी अर्थक्रिया करनेमें सामर्थ्य मानना युक्त है । जैसे अवयव (अंश) अपने योग्य अर्थक्रियाको करता है । अतः कल्पनारोपित नहीं है । आप सौगत परमाणुओंको मानते ही है।

तिसी प्रकार धारण, आकर्षण, भारवहन, आदि अर्थक्रियाओंको अवयवी करता है। इस प्रकार अकल्पित, मुख्य, अवयवीको सिद्ध करनेके लिये प्रायः बीस बाईस पंक्तियोंके पूर्वमें हम जैनोंके द्वारा दिया गया अर्थक्रिया करनेमें सामर्थ्यरूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। अर्थात् अवयवोंसे न हो सकें ऐसी अर्थक्रियाओंको अवयवी स्वतन्त्ररूपसे करता है जो अर्थक्रियाको कर रहा है। वह वस्तुभूत तो मानना ही पडेगा। हमारा हेतु पक्षमें ठहर गया।

स्पष्टज्ञानवेद्यत्वाच्च नांशी कल्पनारोपितोंशवत्। नन्वंशा एव स्पष्टज्ञानवेद्या नांशी तस्य प्रत्यक्षेऽप्रतिभासनादिति चेत् न, अक्षव्यापारे सत्ययं घटादिरिति संप्रत्ययात्। असति तदभावात्।

अर्थक्रिया करनेकी सामर्थ्यसे अवयवीको सिद्धकर पुनः वार्त्तिकमें व्यतिरेक मुखसे कहे गये दूसरे अनुमानसे भी अंशीको सिद्ध करते हैं। अंशी (पक्ष) कल्पनाओंसे गढ लिया गया नहीं है, यानी वस्तुभूत है, (साध्य) विशद प्रत्यक्षज्ञानसे जाना गया होनेसे (हेतु) जैसे कि परमाणुरूप अंश (दृष्टान्त)। यह उदाहरण बौद्धोंके मन्तव्यानुसार दिया गया है। वस्तुतः छद्मस्थ जीवोंके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे परमाणुओंका ज्ञान नहीं होता है। हां! अवयवीको बनानेवाले छोटे छोटे कपाल, तन्तु, आदि अंशोंका ज्ञान हो जाता है। इस अनुमानपर बौद्ध अनुनय सहित कटाक्ष करते हैं कि स्पष्टज्ञानके द्वारा अंश ही जान जाते हैं अंशी नहीं, उस अंशीका तो प्रत्यक्षमें कभी प्रतिभास ही नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि चक्षुः, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर यह स्थूल घट है, यह एक बडा पट है इत्यादिक भले प्रकार ज्ञान हो रहे हैं। इन्द्रियोंके व्यापार न होनेपर मोटे घट आदिकका ज्ञान नहीं होता है। अतः अन्वय, व्यतिरेकसे अवयवीका इन्द्रियजन्य स्पष्ट ज्ञान होना प्रसिद्ध है। यही हम जैनोंने हेतु दिया है।

नन्वक्षव्यापरेंशा एव परमसूक्ष्माः संचिताः प्रतिभासन्ते त एव स्पष्टज्ञानवेद्याः केवलप्रतिभासानन्तरमाश्वेवांशिविकल्पः प्रादुर्भवन्नक्षव्यापारभावीति लोकस्य विभ्रमः, सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयोरेकत्वाध्यवसायाद्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा। यदांशदर्शनं स्पष्टं तदेव पूर्वांशदर्शनजनितांशिविकल्पस्याभावात्। तदुक्तं—" मनसोर्युगपद्वृत्तेस्सविकल्पाविकल्पयोः। विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति " इति। तदप्ययुक्तम्।

बौद्ध सतर्क होकर अपने पक्षका अवधारण कहते हैं कि इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुरूप अंश ही एकत्रित हुए जाने जा रहे हैं वे अंश ही स्पष्ट ज्ञानसे जानने योग्य विषय हैं, केवल इतनी विशेषता है कि अंशों की ज्ञप्तिके अव्यवहित उत्तरकालमें शीघ्र ही अंशीका झूंठा विकल्पज्ञान प्रकट हो जाता है। वह इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर हुआ है ऐसा जनसमुदायको भ्रम हो रहा है। अर्थात् इन्द्रियव्यापारसे अंशोंका निर्विकल्पक ज्ञान होता है और शीघ्र ही वासना-

ओंके वश अंशीका विकल्पज्ञान गढ लिया जाता है। बहुतसे लोग भ्रान्तिवश हुए अंशीके ज्ञानको इन्द्रियोंसे हुआ मान लेते हैं। किन्तु उनको यह विवेक नहीं है कि अंशीको जाननेवाले सविकल्पकज्ञान (मिथ्याज्ञान) और अंशको जानने वाले निर्विकल्पकज्ञान (सम्यग्ज्ञान) में युगपत् (एक साथ) वृत्ति होनेसे अथवा घूमते हुए पहियेके समान अधिक शीघ्रतापूर्वक लघुवृत्ति होनेसे एकपनेका अध्यवसाय (मनमानी कल्पना कर लेना) हो रहा है। अतः जिस समय अंशोंका स्पष्टरूपसे दर्शन हो रहा है उस समय ही पहिले अंशोंके देखनेसे उत्पन्न हुआ अंशीका विकल्पज्ञान नहीं है। वह विकल्पज्ञान तो दूसरे समयमें गढ लिया जाता है। वही हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि विशेष मूढ पुरुष ही चित्तधाराओंकी उसी समय एक साथ वृत्ति होनेसे अथवा चक्रभ्रमणके समान उत्तर उत्तर आगेके समयोंमें शीघ्र लघुवृत्ति होनेसे उन सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंमें एकपनेका निर्णय कर लेता है। अर्थात् सविकल्पक और निर्विकल्पककी न्यारी न्यारी दो ज्ञानधाराओंके मानने पर एक समयमें ही हो गयीं अंशीज्ञान और अंशज्ञानरूप दो पर्यायोंमें एकपना जान लिया जाता है। दो धाराओंके अनुसार एक समयमें दो पर्यायें हो सकती हैं। हां! यदि एक ही ज्ञानधारा मानी जाय तब तो उस चित्तधाराकी एक समयमें एक ही पर्याय होगी। एक गुण या विज्ञान एक समयमें एक ही पर्यायको धारण कर सकता है। अतः क्षणिक विज्ञानकी निर्विकल्पक पर्याय होने पर शीघ्र ही अव्यवहित उत्तर समयमें सविकल्पकज्ञानरूप पर्याय हो जाती है। अतः दोनों पक्षोंके अनुसार उत्पन्न हुए दो ज्ञानोंमें एकपनेका आरोप कर लिया जाता है। वस्तुतः इन्द्रियोंसे अंशीका सविकल्पक ज्ञान हो नहीं सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि सो बौद्धोंका वह कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि—

विकल्पेनास्पष्टेन सहैकत्वाध्यवसाये निर्विकल्पस्यांशदर्शनस्यास्पष्टत्वप्रतिभासनानुषंगात्। स्पष्टप्रतिभासेन दर्शनेनाभिभूतत्वाद्विकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासनमेवेति चेत् न, अश्वविकल्पगोदर्शनयोर्युगपद्वृत्तौ तत एवाश्वविकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगात्।

अविशदरूपसे अवस्तुरूप विकल्प्यको जाननेवाले विकल्पज्ञानके साथ यदि निर्विकल्पक दर्शनका एकपना आरोपित कर लिया जावेगा तब तो अंशको देखनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानको भी अविशदरूपसे प्रतिभास करनेपनका प्रसंग होगा। अत्यन्त घनिष्ट मित्रता हो जानेपर निर्विकल्पकका स्पष्टपना धर्म जैसे सविकल्पकमें आ जाता है, उसी प्रकार सविकल्पका अविशदपना धर्म निर्विकल्पकमें भी घुस जावेगा। यदि आप बौद्ध यों कहें कि तारागणसे सूर्य नहीं छिप जाता है, किन्तु स्पष्टप्रकाशवाले सूर्यसे जैसे मन्द प्रकाशवाले तारागण प्रच्छन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्पष्ट प्रतिभासवाले निर्विकल्पक दर्शन करके विकल्पके अस्पष्टपनेका तिरोभाव हो जानेके कारण यहां विकल्पज्ञानका ही आरोपित स्पष्ट प्रतिभास हो गया है। यानी निर्विकल्पकके स्पष्टत्व धर्मने विकल्पके अस्पष्टत्व धर्मको दबा दिया है। सो यह तो न कहना, क्योंकि अश्वका विकल्पज्ञान और गायका निर्विकल्पक

सार्वजनिक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दर्शन इन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होनेपर तिस ही कारण अश्वके विकल्पका स्पष्ट प्रतिभास हो जाना चाहिये, यह प्रसङ्ग तुम्हारे ऊपर आता है। यानी तिरोभूत करनेवाला गोदर्शन अश्वविकल्पके अविशदपनका अभिभवकर उसका स्पष्ट प्रकाश कर देवे।

तस्य भिन्नविषयत्वान्न गोदर्शनेनाभिभवोऽस्तीति चेत्, किमिदानीमेकविषयत्वे सति विकल्पस्य दर्शनेनाभिभवः साध्यते ततः तस्य स्पष्टप्रतिभास इति मतम्। नैतदपि साधीयः। शद्वस्वलक्षणदर्शनेन तत्क्षणक्षयानुमानविकल्पस्याभिभवप्रसंगात्। न हि तस्य तेन युगपद्भावो नास्ति विरोधाभावात् ततोऽस्य स्पष्टप्रतिभासः स्यात्।

बौद्ध यदि यों कहें कि गोदर्शन और अश्वविकल्पका भिन्न भिन्न विषय होनेके कारण गौके निर्विकल्पक दर्शन करके अश्वविकल्पके अस्पष्टपनेका तिरोभाव नहीं होपाता है। जहां एक ही विषयमें दर्शन होय और उसी विषयमें विकल्पज्ञान उत्पन्न होवेगा, वहां निर्विकल्पसे विकल्पज्ञान दब जावेगा। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूछते हैं कि क्या आपका यह मन्तव्य है कि एक विषयता होनेपर यह विशेषण लगाते हुये विकल्पज्ञानका निर्विकल्पक करके तिरोभूत हो जाना साधा जाता है। अभिभूत हो जानेके कारण उस विकल्पज्ञानका विशदरूपसे प्रतिभास हो रहा है। सो यह बौद्धोंका मन्तव्य भी बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि शद्वस्वरूप स्वलक्षणके निर्विकल्पक ज्ञानसे उस शद्वके क्षणिकत्वको जाननेवाले अनुमानरूप विकल्पज्ञानके छिप जानेका प्रसंग हो जावेगा। क्षणिकत्वको जाननेवाले उस विकल्पका उस निर्विकल्पकके साथ एक समयमें विद्यमानपना नहीं है यह न समझ लेना, क्योंकि दोनोंके साथमें रहनेका कोई विरोध नहीं है। सविकल्पक और निर्विकल्पक दो ज्ञानोंकी एक समयमें दो पर्यायें हो सकती हैं। तिस कारण इस अनुमानरूप विकल्पका विशदज्ञान होजाना चाहिये। भावार्थ—कर्ण इन्द्रिय द्वारा वस्तुभूत शद्वस्वलक्षणके जान लेनेपर शद्वसे अभिन्न क्षणिकत्व भी जान लिया जाता है वस्तुभूत पदार्थमें प्रत्यक्षकी ही प्रवृत्ति बौद्धोंने मानी है। यदि क्षणिकत्वको प्रत्यक्षने न जाना होता तो क्षणिकपना वास्तविक न हो पाता। किन्तु शद्वमें कुछ देरतक ठहरने या नित्यपनेके समारोप हो जानेपर उसको दूर करनेके लिये पुनः क्षणिकत्वके निर्णयार्थ सत्त्वहेतुसे अनुमान किया जाता है। यहां प्रत्यक्षरूप निर्विकल्पकज्ञान और अनुमानरूप विकल्पज्ञानका विषय एक है। ऐसी दशामें दर्शनकी स्पष्टतासे विकल्पकी अस्पष्टताका अभिभव हो जाना चाहिये। किन्तु आप बौद्धोंने उसको इष्ट नहीं किया है।

भिन्नसामग्रीजन्यत्वादनुमानविकल्पस्य न दर्शनेनाभिभव इति चेत्, स्यादेवम्। यद्यभिन्नसामग्रीजन्ययोर्विकल्पदर्शनयोरविभाव्याभिभावकभावः सिद्धयेत् नियमात्। न चासौ सिद्धः सकलविकल्पस्य स्वसंवेदनेन स्पष्टावभासिना प्रत्यक्षेणाभिन्नसामग्रीजन्येनाप्यभिभवाभावात्। स्वविकल्पवासनाजन्यत्वाद्विकल्पस्य पूर्वसंवेदनमात्रजन्यत्वाच्च स्वसंवे-

दनस्य। तयोर्भिन्नसामग्रीजन्यत्वमेवेति चेत्। कथमेवमंशदर्शनेनांशिविकल्पस्याभिभवो नाम तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अंशदर्शनेनांशिविकल्पोऽविभूत इति कस्यचित्प्रतीत्यभावात्।

यदि इसपर बौद्ध फिर यों कहें कि विषय भी एक होना चाहिये और सामग्री भी एकसी होनी चाहिये। तब दर्शनसे विकल्पका अभिभव हो जावेगा। अनुमानरूप विकल्पकी हेतुदर्शन, व्याप्तिस्मरण, आदि सामग्री है और निर्विकल्पककी अर्थजन्यता इन्द्रियवृत्ति, आलोक आदि सामग्री है। अतः भिन्न भिन्न सामग्रीसे जन्य होनेके कारण क्षणिकत्व जाननेवाले अनुमानरूप विकल्पका शुद्धस्वरूप स्वलक्षणको जाननेवाले निर्विकल्पक दर्शनसे छिपाया जाना नहीं होता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका यह कहना तो तब हो सकता था कि यदि अभिन्न सामग्रीसे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान और निर्विकल्पकका अभिभूत हो जाना तथा अभिभूत करादेनापन नियमसे सिद्ध हो जाता, किन्तु यह छिपजाना छिपादेनापन तो सिद्ध नहीं हुआ है। दोनों ज्ञान स्वतन्त्र जाने जा रहे हैं। दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञानोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाले और अभिन्न सामग्रीसे उत्पन्न हुए भी ऐसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करके अभिभव नहीं हो रहा है। अर्थात् बौद्धोंके यहां भी चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या भले ही सविकल्पक ज्ञान हो, सभी सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञानोंका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो जाना माना गया है। जिज्ञासा होनेपर प्रत्येक विकल्पज्ञानको जाननेवाला स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अवश्य होगा स्वसंवेदनप्रत्यक्षमें स्पष्टपना है। विकल्पमें अस्पष्टपना है। ऐसी दशामें सभी विकल्पज्ञान स्वसंवेदनके वैशद्यप्रभावसे दब जावेंगे। एक ज्ञानधारामें दोनों ज्ञान पोये (पिरोये) हुए हैं। अतः उनकी उपादानसामग्री भी भिन्न नहीं है। यदि बौद्ध यों कहें कि यहां सामग्री अभिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न भिन्न है। विकल्पज्ञान तो झूंठी गढ ली गयीं अपनी विकल्पवासनाओंसे उत्पन्न हुआ है और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष पहिले समयके केवल शुद्धसम्वेदनसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः वे दोनों भिन्न भिन्न सामग्रीसे ही जन्य हैं। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार तो अंशके दर्शनसे अंशीके विकल्पज्ञानका अभिभव भला कैसे होगा ? क्योंकि वे दोनों भी न्यारी न्यारी सामग्रीसे उत्पन्न हो रहे हैं। इसी बातको बौद्धोंके मुखसे कहलवानेके लिये आचार्य महाराजने इतना ऊहापोह किया है। इस अवसरपर बौद्धको बहुत बुरे ढंगसे मुंहकी खानी पडी, जिसकी कि उसको सम्भावना नहीं थी। ग्रन्थकारका यह चातुर्य अतीव प्रशंसनीय है। अतः अंशीके स्पष्टदर्शन हो जानेसे अंशीका वस्तुभूतपना सिद्ध हो जाता है। यदि हारकर बौद्ध यों कहें कि हम क्या करें, तिस प्रकार होता हुआ देखा जा रहा है। अर्थात् अंशके निर्विकल्पकसे अंशीके विकल्पज्ञानका छिपाया जाना देखा जाता है। सो यह तो न कहना। क्योंकि अंशके दर्शनसे अंशीका विकल्पज्ञान छिपाया गया है। इस प्रकार आजतक किसीको भी प्रतीति नहीं हुयी है। व्यर्थकी झूंठी बात गढनेसे कोई लाभ नहीं निकलता है। पत्र (कागज) की हण्डिया भात पकानेके लिये एक बार भी काम नहीं देती है।

ननु चापि विकल्पः स्पष्टाभोऽनुभूयते न चासौ युक्तस्तस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्तत्वात्, तदुक्तम्—" न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता " इति । ततोऽस्य दर्शनाभिभवादेव स्पष्टप्रतिभासोऽन्यथा तदसम्भवादिति चेन्न, विकल्पस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्त्यसिद्धेः। कामाद्युपप्लुतचेतसां कामिन्यादिविकल्पस्य स्पष्टत्वप्रतीतेः सोऽक्षज एव प्रतिभासो न विकल्पज इत्ययुक्तं, निमीलिताक्षस्यांधकारावृतनयनस्य च तदभावप्रसंगात् ।

यहां बौद्ध फिर भी अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि स्याद्वादियोंके यहां विकल्पज्ञान जो स्पष्टप्रकाश करता हुआ अनुभवमें आ रहा कहा जाता है, किन्तु वह तो युक्त नहीं है, क्योंकि उस विकल्पज्ञानकी अस्पष्ट प्रकाशीपनके साथ व्याप्ति सिद्ध हो रही है । यानी जो जो विकल्पज्ञान है वह वह अविशदरूपसे प्रकाशक है । वही हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि कल्पनाओंसे बिंध रहे विकल्पज्ञानको अर्थका स्पष्ट प्रकाशपना नहीं है । संसारी जीवोंकी राग, द्वेष, मोहवश अनाप सनाप की गयीं कल्पनाएं क्या वस्तुको भला स्पर्श कर सकती हैं ? कभी नहीं । तिस कारण इस विकल्पज्ञानका निर्विकल्पकसे अभिभव हो जानेके कारण ही स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है । अन्यथा यानी दर्शनके प्रभाव विना विकल्पमें स्पष्टताका होना असम्भव है । डंकके विना कांचमें इतनी बढिया चमक नहीं आ सकती है । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि विकल्पज्ञानकी अस्पष्ट प्रकाशीपनके साथ व्याप्ति असिद्ध है । घट, पट, आदिकके अनेक विकल्पज्ञान स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। काम, शोक भय, उन्मत्तता, आदिकसे घिरे हुए चित्तवाले पुरुषको कामिनी, इष्ट पुत्र, पिशाच, सिंह आदिक पदार्थोंके विकल्पज्ञानका स्पष्टपना प्रतीत हो रहा है । बौद्धोंका ऐसा कहना कि वह विकल्प प्रतिभास तो इन्द्रियजन्य ही है । विकल्पजन्य नहीं है। इन्द्रियोंसे ज्ञानमें स्पष्टता आ जाती है, सो यह तो युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि इन्द्रियव्यापारको संहृत कर अथवा आंखोंको मींचकर विचार करनेवाले या गाढान्धकारसे ढकी हुयी आंखवाले पुरुषको कामिनी आदिमें उस विकल्पज्ञान होनेके अभावका प्रसंग होगा । अर्थात् इन्द्रियव्यापारके विना भी कामिनी आदिके ज्ञानमें स्पष्टता झलक रही है ।

भावनातिशयजनितत्वात्तस्य योगिप्रत्यक्षतेत्यसम्भाव्यं, भ्रान्तत्वात् । ततो विकल्पस्यैवाक्षजस्य मानसस्य वा कस्यचित्स्पष्टमतिज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्याभ्रान्तस्य भ्रान्तस्य वा निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वादवयविविकल्पस्य स्वतः स्पष्टतोपपत्तेः सिद्धमंशिनः स्पष्टज्ञानवेद्यत्वमंशवत् । तच्च न कल्पनारोपितत्वे सम्भवतीति तस्यानारोपितत्वसिद्धेः ।

भावना ज्ञानके चमत्कारसे उत्पन्न हो जानेके कारण उस कामिनी आदिके ज्ञानको योगिप्रत्यक्षपना मान लिया जाय यह तो असम्भव है । क्योंकि कामपीडित पुरुषोंको वियुक्त अवस्थामें कामिनीका ज्ञान होना या शोकी पुरुषको मृतपुत्रका सन्मुख दीखना ये सब विपर्ययज्ञान हैं । भला अतीन्द्रियदर्शी योगीके विपर्ययज्ञान होनेकी सम्भावना कहां है ? बौद्धोंका साहस तो देखिये

कि जिन्होंने इन्द्रियोंकी सहायता विना हुए झूंठे विकल्पज्ञानोंमें स्पष्टताकी रक्षा करनेके लिये काङ्क, शोकी जीवोंको प्रत्यक्षदर्शी योगी माननेका विचार कर लिया है। ऐसी बुद्धपनेकी बातोंको भोंडा मनुष्य ही कह सकता है। कल मेरा भाई आवेगा, चांदीका भाव गिर जावेगा इत्यादि प्रकारके प्रतिभामें उत्पन्न हुए भावना ज्ञान कभी तो सच्चे हो जाते हैं, सर्वदा नहीं। किन्तु कामपीडित, शोकग्रस्त आदि पुरुषोंके तो मिथ्यावासनाओंसे हुए कामिनी, पुत्र आदिकको सन्मुख देखनेवाले स्पष्ट ज्ञान तो सर्वथा ही झूंठे हैं। तिस कारण बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य अथवा अन्तरंग मन इन्द्रियसे जन्य किसी भी विकल्पज्ञानको स्पष्ट मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षासे स्पष्टपना प्राप्त होता है। भावार्थ—स्पष्टपना इन्द्रियोंसे नहीं आता है। किन्तु ज्ञानावरणके स्पष्ट क्षयोपशमसे ज्ञानमें स्पष्टता मानी गयी है। चाहे समीचीन ज्ञान हो अथवा भले ही भ्रान्तज्ञान हो। दोनोंमें स्पष्टपना अपने कारणरूप क्षयोपशमसे ही प्राप्त होगा। प्रकरणमें अवयवीका विकल्पज्ञान बाधकरहित प्रतीतियोंसे सम्यग्ज्ञानस्वरूप सिद्ध हो रहा है, उसकी स्पष्टता भी स्वयं अपने आप होती हुयी बन रही है। अतः अंशीका अंशके समान स्पष्ट ज्ञानसे जाना गयापन सिद्ध होगया। यदि अंशीको कल्पनासे आरोपित मान लिया जाय तो वह स्पष्टज्ञानसे जानागयापन नहीं सम्भवता है। इस कारण उस अंशीको वास्तविक होनेके कारण कल्पनाओंसे अनारोपितपना सिद्ध है। यहांतक पहिले दिये हुये इस अनुमानकी पुष्टि हो गयी कि अंशके समान अंशी भी स्पष्ट ज्ञानसे वेद्य होनेके कारण कल्पना गढन्त नहीं है। अर्थात् अंशी या अवयवी वास्तविक पदार्थ है।

ननु स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं नावयविनो अनारोपितत्वं साधयति कामिन्यादिना स्पष्टभावनातिशयजनिततद्विकल्पवेद्येन व्यभिचारादिति चेन्न, स्पष्टसत्यज्ञानवेद्यत्वस्य हेतुत्वात्। तथा स्वसंवेद्येन सुखादिनानैकांत इत्यपि न मन्तव्यं, कल्पनानारोपितत्वस्याक्षजत्वस्य साध्यतयानभ्युपगमात्। परमार्थसत्त्वस्यैव साध्यत्वात्।

यहां बौद्धोंका स्वपक्षके अवधारणार्थ आक्षेप है कि स्पष्ट ज्ञानसे जानागयापनरूप हेतु तो अवयवीका अनारोपितपना नहीं सिद्ध करा सकता है। क्योंकि विशदरूप हुयी भावनाके अतिशयसे उत्पन्न हुए उन विकल्पज्ञानों द्वारा जाने गये कामिनी, पिशाच, आदि करके हेतुका व्यभिचार हो जाता है। भावार्थ—स्पष्टज्ञानसे वेद्यपना कामिनी आदिमें है, किन्तु वहां अनारोपितपना नहीं है। जैसे कामिनी आदिक कल्पित हैं, तैसे ही अवयवी कल्पित है। अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि हमारे हेतुके शरीरमें सत्यशब्द निविष्ट हो रहा है। वास्तविक स्पष्टपना सत्यज्ञानमें ही माना गया है जो स्पष्टपनेसे सत्यज्ञानके द्वारा जाना जावेगा। वह अनारोपित अवश्य होगा। अब कोई व्यभिचार दोष नहीं है। तथा हमारे हेतुका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लिये गये सुख, इच्छा, आदिसे व्यभिचार हो जायगा यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियोंसे जन्य कल्पना अनारोपितपनेको हमने साध्य नहीं स्वीकार किया है, जिससे कि सुख आदिमें

साध्यके न रहनेसे हेतु व्यभिचारी होता किन्तु वास्तविक रूपसे विद्यमानपनेको ही हम साध्य कह रहे हैं। भावार्थ—कल्पनासे नहीं आरोपितपने साध्यमें इन्द्रियोंसे जन्यपना हमको इष्ट नहीं है। यद्यपि घट, पट, आदि अवयवियोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानसे वेद्य होकर अकल्पितपना है, फिर भी सुख, ज्ञान, आदिसे व्यभिचार होनेकी सम्भावनाका लक्ष्य कर शुद्ध अनारोपितपनेको यानी परमार्थरूपसे सत्पनेको ही हमने साध्य किया है।

ननु परमार्थसतोऽवयविनः स्पष्टज्ञानेन वेदनं सर्वावयववेदनपूर्वकं कतिपयावयववेदनपूर्वकं वावयववेदनपुरःसरं वा ? न तावदाद्यः पक्षः सर्वदा तदभावप्रसंगात्, किंचिज्ज्ञस्य सर्वावयवोदनस्तत्राकृत् । स्थूलवानपि स्थवीयसामवयवित्वेन सकलावयववेदनपुरःसरत्वे तस्य परमाणूनामवयवानामवेदनेन तदारब्धशताणुकादीनां वेदनाननुषंगादभिमतपर्वतादेरपि वेदनानुपपत्तेः। एतेन द्वितीयपक्षोपाकृतः, कतिपयपरमाणुवेदने तद्वेदनानुपपत्तेरविशेषात्। तृतीयपक्षे तु सकलावयवशून्ये देशेवयविवेदनप्रसंगस्ततो नावयविनः स्पष्टज्ञानेन वित्तिः। यतः स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं तत्त्वतः सिद्धयेत्। इत्यपि प्रतीतिविरुद्धं, सर्वस्य हि स्थवीयानर्थः स्फुटतरमवभासत इति प्रतीतिः।

बौद्ध पुनः कुचोद्य उठाते हैं कि जैनोंसे माने गये वास्तविक सत् रूप अवयवीका स्पष्ट ज्ञान करके जो जानना हो रहा है। वह सम्पूर्ण अवयवोंका पहिले ज्ञान होकर पश्चात् उत्पन्न होता है ? अथवा कितने ही अवयवोंको पहिले जानकर पीछे पूरे अवयवीका ज्ञान हो जाता है ? या पूर्वमें किसी भी अवयवको न जानकर झट अवयवीका ज्ञान हो जाता है। बताओ ! तिन तीन पक्षोंमेंसे पहिले आदिका पक्ष ग्रहण करना तो आप जैनोंको ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि सदा ही उस अवयवीके अभावका प्रसंग हो जावेगा। सर्वज्ञके ही सम्पूर्ण सूक्ष्म, स्थूल, अवयवोंका ज्ञान होना बन सकता है। कुछ थोडासा जाननेवाले हम लोगोंके तो सम्पूर्ण अवयवोंका ज्ञान होना असम्भव है। उन घट, पट आदिक अवयवियोंके कपाल, तन्तु, आदिक अवयव भी तो अतीव स्थूल होनेके कारण अवयवी हैं। अतः उन अवयवरूप अवयवियोंका ज्ञान भी पहिले सम्पूर्ण कपालिका, छोटे तन्तु, आदि सम्पूर्ण अवयवोंके ज्ञान हो चुकनेपर ही होगा, इस प्रकार षडणुक, पञ्चाणुक, आदिके क्रमसे परमाणुरूप अवयवोंतक पहुंचना पडेगा। अन्तमें प्राप्त हुए परमाणुरूप अवयवोंका ज्ञान नहीं होनेके कारण उनसे मिलाकर बनाये गये सौ परमाणुओंके शताणुक आदिकोंका ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रसंगकी आपत्ति होनेसे अभीष्ट बडे पर्वत, समुद्र, आदिक अवयवियोंका भी ज्ञान होना न बन सकेगा। मूल ही नहीं तो शाखा कहांसे बन सकती है। परमाणुओंका ज्ञान न होनेसे द्वयणुकका और द्वयणुकका ज्ञान न होनेसे त्र्यणुकका ज्ञान न होगा। इस प्रकार कारणभूत नीचेके अवयवोंका ज्ञान न होनेसे कार्यरूप ऊपरके महाअवयवीका ज्ञान न हो सकेगा। इस कथनसे जैनोंके दूसरे पक्षका भी खण्डन हो चुका समझा लिया जाता है। सुनिये।

द्वितीय पक्षके अनुसार कितने ही एक परमाणुओंका अस्मदादिकको ज्ञान होता नहीं है। अतः किसी भी अवयवीका ज्ञान होना न बन सकेगा। पहिले और दूसरे पक्षमें कुछ परमाणुओंका ज्ञान करना तो आवश्यक है, किन्तु जैन मतानुसार परमाणुओंका ज्ञान हम लोगोंको होता नहीं है। अतः उनसे बने हुए अवयवीका ज्ञान न हो सकनारूप दोष दोनों पक्षोंमें समानरूपसे लागू होजाता है कोई अन्तर नहीं है। तीसरा पक्ष ग्रहण करनेपर तो सम्पूर्ण अवयवोंसे रीते पडे हुए देशमें अवयवीके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। अर्थात् अवयवोंका सर्वथा ज्ञान हुए विना ही जब अवयवीका ज्ञान होने लगेगा तो जहां घट, पट, आदिकका अंशमात्र भी नहीं है। वहां भी घट, पट, पर्वत, आदिकका ज्ञान हो जाना चाहिये। अवयवोंके विद्यमान रहनेकी या उनके ज्ञान होनेकी तो कोई आवश्यकता पडती नहीं है। तिस कारण आप जैनोंके यहां अवयवीकी स्पष्ट ज्ञानद्वारा प्रमिति नहीं हो सकती है। जिससे कि स्पष्ट ज्ञानसे जानागयापन हेतु वास्तविकरूपसे सिद्ध होवे। यानी अवयवीको वास्तविक सिद्ध करनेके लिये आप जैनोंसे कहा गया स्पष्टज्ञानवेद्यपना हेतु अवयवीमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह सब कहना भी लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। क्योंकि अतीव स्थूल, घट, पट, पर्वत, आदिक अर्थ अधिक स्पष्टपनेसे जाने जा रहे हैं, यह प्रतीति सब जीवोंको निश्चयसे हो रही है। जिस अवयवीका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, व्यर्थमें कोरे झूंठे विकल्प लगानेसे उसके बालाग्रका भी खण्डन नहीं हो सकता है। कोई दरिद्र पुरुष किसी श्रेष्ठीके द्रव्य कमानेका विकल्प उठाकर खण्डन करना चाहे कि मैं भी पुरुष हूं और सेठ भी पुरुष है। हम दोनोंके ही हाथ पांव विद्यमान हैं, इत्यादि कुतर्कोंसे उस भाग्यवान्के सेठपनेका खंडन नहीं हो जाता है। बाल गोपालोंको भी स्वतन्त्र अवयवीका स्पष्टरूपसे ज्ञान हो रहा है। ऐसी दशामें पक्षमें रहता हुआ हेतु अवयवीके वास्तविकपनेको सिद्ध कर ही देता है। लेज, या लाठीके एकदेशको खींचनेपर पूरे पिण्डका आकर्षण होता है। यदि अवयवीको न माना जावेगा तो रेत अथवा बालूके समान खण्डित टुकडोंके द्वारा पानी खींचना, बोझ लादना आदि कार्य नहीं हो पाते। किन्तु उक्त कार्य होते हैं। अतः भेद अथवा संघात या उभयसे उत्पन्न हुए स्थूल अवयवीका स्पष्टज्ञान होना प्रतीतिसिद्ध है।

भ्रान्तिरिन्द्रियजेयं चेत्स्थविष्ठाकारदर्शिनी ॥
काभ्रान्तामिन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षमिति सिद्धयतु ॥ ९ ॥
प्रत्यासन्नेष्वयुक्तेषु परमाणुषु चेन्न ते ॥
कदाचित्कस्यचिद्बुद्धिगोचराः परमात्मवत ॥ १० ॥

वहां बौद्ध यों कहें कि अधिक स्थूल आकारको दिखलानेवाली यह इन्द्रियजन्य प्रसिद्धि तो भ्रान्तिरूप है। जैसे कि अनेक धान्योंके समुदायको एक राशि मान लेना विपर्ययज्ञान है। इस

प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस ढंगसे भला इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भ्रान्तिरहित प्रत्यक्ष कहां सिद्ध होवेगा ? बताओ ! भावार्थ—आप बौद्धोंने भी प्रत्यक्षको अभ्रान्त स्वीकार किया है और बहिरंग इन्द्रियां स्थूलपदार्थोंका ही प्रत्यक्ष कराती हैं। ऐसी दशामें इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानोंमेंसे किसी एकको भी भ्रमरहितपना सिद्ध नहीं हो पाता है। बौद्धोंके मन्तव्यानुसार इन्द्रियजन्य सभी ज्ञान भ्रान्त हुए जाते हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि जिसको तुम जैन या नैयायिक पण्डित भ्रान्तिवश अवयवी मान रहे हो, प्रमाणिक विद्वानोंको वहां परस्पर अतिनिकट रखे हुए किन्तु एक दूसरेसे संयुक्त नहीं ऐसे अनेक सूक्ष्म परमाणुओंमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अभ्रान्त प्रत्यक्ष हो जावेगा, यह उन बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय होनेके कारण परमशुद्ध आत्माका कभी किसीको जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान होना नहीं होता है, उसीके समान वे सूक्ष्म अतीन्द्रिय परमाणुएं भी कभी किसी भी जीवके इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय नहीं होते हैं। भावार्थ—बौद्धजन परमात्माको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा परमात्माका ज्ञान होना तो किसी भी वादीने इष्ट नहीं किया है। अतः परमात्माका दृष्टान्त देकर सूक्ष्म परमाणुओंमें भ्रान्तिरहित इन्द्रियज्ञान होनेका निषेध सिद्ध कर दिया है। अथवा ब्रह्माद्वैतवादियोंके परमब्रह्मका जैसे जैन या बौद्धोंको ज्ञान नहीं होता वैसे ही बौद्धोंकी मानी गयी परमाणुओंका भी ज्ञान होना नहीं बनता है।

सर्वदा सर्वथा सर्वस्येन्द्रियबुद्ध्यगोचरान् परमाणूनसंस्पृष्टान् स्वयमुपयंस्तत्रेन्द्रियजं प्रत्यक्षमभ्रान्तं कथं ब्रूयात्, यतस्तस्य स्थविष्ठाकारदर्शनं भ्रान्तं सिद्धचेत्।

बौद्ध लोक परस्परमें भले प्रकार नहीं चुपटे हुए परमाणुओंको सदा सर्व प्रकारसे सभी जीवोंके इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें नहीं विषय होते हुए स्वयं स्वीकार करते हैं। ऐसा मन्तव्य कर चुकनेपर वे उन परमाणुओंमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षज्ञानको भला अभ्रान्त कैसे कह सकेंगे ? जिससे कि उन बौद्धोंके यहां अत्यन्त स्थूल आकारवाले अवयवीका दीखना भ्रान्त सिद्ध हो जावे। अर्थात माणिक रेती या रत्नराशिके समान परस्परमें नहीं भिडे हुए न्यारे न्यारे सूक्ष्म परमाणुओंका जब इन्द्रियोंसे ज्ञान ही नहीं होता है तो ऐसी दशामें उनसे माने गये परमाणुओंका भ्रम भिन्न प्रत्यक्षज्ञान भला कैसे हो सकेगा ? किन्तु वहां विपर्ययरहित समीचीन ज्ञान हो रहा है। अतः स्थूल आकार वाले एक अवयवीका प्रत्यक्ष प्रमाणसे दीखना बन जाता है। इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है। हमारा हेतु निर्दोष होकर सिद्ध है।

कयाचित् प्रत्यासत्त्या तानिन्द्रियबुद्धिविषयानिच्छत् कथमवयविवेदनमपाकुर्वीत सर्वस्यावयव्यारम्भकपरमाणूनां कात्स्न्र्यतोऽन्यथा वा वेदनसिद्धेस्तद्वेदनपूर्वकावयविवेदनोपपत्तेः सहावयवावयविवेदनोपपत्तेर्वा नियमाभावात्।

आप बौद्ध किसी सम्बन्धविशेषसे उन परमाणुओंका इन्द्रियजन्य ज्ञानमें विषय पड जाना यदि इष्ट कर रहे हो तब तो स्थूल अवयवीके प्रत्यक्ष होनेका खंडन आप कैसे कर सकेंगे ? सभी वादियोंके यहां अवयवीको बनानेवाले परमाणुओंका सम्पूर्णरूपसे अथवा अनुमान द्वारा दूसरे प्रकारसे ज्ञान होना सिद्ध है। पहिले उन परमाणुरूप अवयवोंका ज्ञान करके पीछे अवयवीका ज्ञान होना बन जाता है, अथवा एक साथ भी अवयव और अवयवीका ज्ञान होना बन जाता है। कोई एकान्त रूपसे नियम नहीं है। अर्थात् इन्द्रियगोचर अवयवोंका ज्ञान होकर पीछे अवयवीका ज्ञान हो जाता है। जैसे कि तन्तुओंको देखकर पट (थान) का ज्ञान हो जाता है। तथा अवयव और अवयवीका दोनोंका ज्ञान एक साथ भी हो जाता है। जैसे पमोली और पौडेका या बूंदी और लड्डुका एक साथ ज्ञान हो जाता है। स्याद्वादियोंने जैनसिद्धान्तमें अवयव और अवयवीके प्रत्यक्ष करनेमें नैयायिक या सांख्योंके समान कोई कुत्सित हठ नहीं पकड रखा है।

यदि पुनर्न परमाणवः कथंचित्कस्यचिदिन्द्रियबुद्धेर्गोचरा नाप्यवयवी। न च तेन्द्रियजं प्रत्यक्षमभ्रान्तं सर्वमालम्बते, भ्रान्तमिति वचनात्। सर्वज्ञानानामनालम्बनत्वादिति मतिस्तदा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचोनर्थकमेव स्यात् कस्यचित्प्रत्यक्षस्याभावात्।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य हो कि परमाणुएं किसी भी प्रकार किसीके भी इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय नहीं हैं और अवयवी भी किसीके ज्ञानसे नहीं जाना जाता है। तथा उनमें उत्पन्न हुआ इन्द्रियजन्य भ्रान्ति रहित प्रत्यक्षज्ञान भी ठीक सभी विषयोंको आलम्बन नहीं करता है। क्योंकि बहिरंग विषयोंको जाननेवाले सम्पूर्ण ज्ञान भ्रान्त हैं ऐसा हमारे शास्त्रोंमें कहा है। सम्पूर्ण ज्ञान स्वको ही जानते हैं। विषयको नहीं। सभी ज्ञानोंका विषयभूत कोई आलम्बन कारण नहीं है, जिसको कि ज्ञानद्वारा जाना जाय, इस प्रकार योगाचार या वैभाषिकोंका विचार है। तब तो हम कहेंगे कि आप बौद्धोंने प्रत्यक्षका लक्षण कल्पनाओंसे रहित और भ्रान्तिरहित जो स्वीकार किया है वह वचन व्यर्थ ही हो जावेगा। क्योंकि आपके विचारानुसार तो किसी भी प्रत्यक्षज्ञानका होना सम्भव नहीं है। यानी सौत्रान्तिक बौद्धोंने बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य और मनसे जन्य तथा योगियोंका एवं स्वसंवेदन इस प्रकार चार प्रत्यक्ष माने हैं। किन्तु ये चारों ही अपने विषयोंको जानते हुए आलम्बनसहित हैं। सभी ज्ञानोंको यदि निर्विषय माना जावेगा तो कोई भी प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा।

स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षं यदि तत्त्वतः।
सिद्धिरंशांशिरूपस्य चेतनस्य ततो न किम् ॥ ११ ॥

यदि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध अन्य प्रत्यक्षोंको न मानकर केवल स्वसंवेदनको ही वास्तविकरूपसे एक प्रत्यक्ष स्वीकार करेंगे, तब तो उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अंश और अंशीस्वरूप महान् (लम्बे चौडे) चेतन आत्माकी सिद्धी क्यों न हो जावेगी ? अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो स्थूल,

सांश, आत्माको सिद्ध कर देवेगा। प्रत्युत बौद्धोंके माने हुए परमाणुरूप विज्ञानकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि न हो सकेगी।

यथेन्द्रियजस्य बहिःप्रत्यक्षस्य तत्त्वतोऽसद्भावस्तथा मानसस्य योगिज्ञानस्य च स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वात्। ततः स्वसंवेदनमेकं प्रत्यक्षमिति चेत् सिद्धं तर्हि चेतनातत्त्वमंशांशिस्वरूपं स्वसंवेदनात्तस्यैव प्रतीयमानत्वात्। न हि सुखनीलाद्याभासांशा एव प्रतीयन्ते स्वशरीरव्यापिनः सुखादिसंवेदनस्य महतोऽनुभवात्। नीलाद्याभासस्य चेन्द्रनीलादेः प्रचयात्मनः प्रतिभासनात्।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे चक्षुः आदि पांच इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए बहिरंग प्रत्यक्षकी परमार्थरूपसे सत्ता सिद्ध नहीं है, तिसी प्रकार अन्तरंग मन इंन्द्रियसे उत्पन्न हुए मानस प्रत्यक्षकी और योगियोंके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी भी सत्ताको हम नहीं मानते हैं। कोई भी बहिरंग ज्ञेय पदार्थ वस्तुभूत नहीं है, केवल विज्ञान परमाणुएं ही परमार्थस्वरूप हैं। सभी ज्ञान केवल अपने स्वरूपको जाननेमें ही लवलीन (टकटकी लगाये रखना) रहते हैं, तिस कारण हम योगाचार केवल स्वको जाननेवाले एक स्वसंवेदनको ही केवल मानते हैं। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो अंश और अंशीस्वरूप चेतना (ज्ञान) तत्त्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तो उस धर्म धर्मीरूप चेतनकी ही प्रतीति की जारही है, अन्तरंग सुख, इच्छा, आदिको और बहिरंग नील, पीत आदिको प्रकाश करनेवाले केवल अंश ही नहीं प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु साथमें अपने शरीर (डील) में व्यापक रूपसे रहनेवाले महान् (लम्बे, चौडे, मोटे,) सुख आदि अंशीके संवेदनका भी अनुभव होरहा है, तथा इन्द्रनील मणि, माणिक्य, आदिके अनेक प्रदेशोंका समुदायरूप नील, रक्त, आदि प्रकाशोंका प्रतिभास हो रहा है। भावार्थ—नील, लाल, आदिको जाननेवाले ज्ञानोंमें अंशोंके समान लम्बे चौडे अंशीरूप ज्ञानप्रकाशका भी अनुभव हो रहा है। अतः बहिरंग और अन्तरंग पदार्थोंके ज्ञानोंमें अंशीपना भी स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिया गया मान लेना चाहिये।

विज्ञानप्रचयोऽप्येष भ्रान्तश्चेत् किमविभ्रमम्।
स्वसंवेदनमध्यक्षं ज्ञानाणोरप्रवेदनात्॥ १२॥

यदि बौद्ध यों कहें कि यह विज्ञानोंका प्रदेशसमुदायरूप महान् प्रकाश भी भ्रान्तरूप है। अर्थात् घट, पट, आत्मा, आदिक पदार्थोंका महान्पना जैसे कोरा कल्पित है वास्तविक नहीं, तैसे ही विज्ञानके प्रकाशका महान्पना भी भ्रान्त है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि बताओ! कौनसा तुम्हारा माना हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भला प्रमाणरूप अभ्रान्तसिद्ध होगा? सभी स्वसंवेदन तो अंश अंशीरूप होकर अनुभूत हो रहे हैं। कहीं भी प्रमाणज्ञानके प्रसिद्ध होनेपर दूसरे स्थलमें वस्तुके नहीं होते सन्ते भ्रान्तज्ञान होता हुआ माना जाता है। सर्वत्र भ्रान्ति होनेपर

तो प्रमाणकी व्यवस्था नहीं बनती है। बौद्धोंसे माने गये ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म परमाणुओंका ज्ञान तो होता नहीं है। ऐसी दशामें आप स्वसंवेदनको और उससे जानने योग्य विज्ञानको वस्तुभूत कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? सोचिये !

न हि स्वसंविदि प्रतिभासमानस्य विज्ञानप्रचयस्य भ्रान्ततायां किञ्चित्स्वसंवेदनमभ्रान्तं नाम यतस्तदेव प्रत्यक्षं सिद्ध्येत्, विज्ञानपरमाणोः संवेदनं तदिति चेत् न, तस्य सर्वदाप्यप्रवेदनात्। सर्वस्य ग्राह्यग्राहकात्मनः संवेदनस्य सिद्धेः।

स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहे अंशीरूप विज्ञान समुदायको भ्रान्त माना जावेगा। तब तो ऐसे अन्धेरमें कोई भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भला भ्रांतिरहित प्रमाणात्मक कैसे भी नहीं माना जा सकता है। जिससे कि योगाचारसे माना गया वह स्वसंवेदन ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हो सके। यहांपर बौद्ध यदि यों कहें कि क्षणिक विज्ञानके परमाणुका भले प्रकार स्वकीय ज्ञान होना ही वह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है। सो यह तो न कहना। क्योंकि उस विज्ञानके परमाणुका सब कालोंमें भी भली भांति ज्ञान नहीं होता है। सभी जीवोंके यहां ग्राह्य और ग्राहकरूप संवेदनकी सिद्धि हो रही है। भावार्थ—प्रत्येक ज्ञान अपने ग्राह्य स्वरूपके ग्राहक हैं। ग्राह्य अंश और ग्राहक अंशोंका समुदायरूप अंशी ज्ञान है। दीपकमें प्रकाश्यपना और प्रकाशकपना दोनों अंश विद्यमान हैं। नाव स्वयं तैरती है तथा उसमें बैठे हुए अन्य जीवोंको भी तारती है। पाचक चूर्ण स्वयं पचता है और अन्य भुक्त पदार्थको भी पचाता है। निर्मली या फिटकिरी पानीमें स्वयं नीचे बैठती है और मलको भी नीचे बैठा देती है। उक्त पदार्थोंमें दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। तैसे ही ज्ञानमें भी ज्ञापकपने और ज्ञेयपनेके दो स्वभाव विद्यमान हैं। यह सिद्धान्त सभी वादियोंको परिशेषमें स्वीकार करना पडता है।

स्यान्मतं, न बुद्ध्या कश्चिदनुभाव्यो भिन्नकालोऽस्ति सुप्रसिद्धभिन्नकालाननुभाव्यवत्। तस्य हेतुत्वेनाप्यनुभाव्यत्वसाधने नयनादिनानेकान्तात्। स्वाकारार्पणक्षमेणापि तेन तत्साधने समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेन व्यभिचारात् तेनाध्यवसायसहितेनापि तत्साधने भ्रान्तज्ञानसमनन्तरप्रत्ययेनानेकान्तात्। तत्त्वतः कस्यचित्तत्कारणत्वाद्यसिद्धेश्च।

इस प्रकरणमें शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका सौत्रान्तिक बौद्धों द्वारा माने गये द्वैतवाद या ज्ञान ज्ञेयव्यवस्थाके खण्डनार्थ सम्भवतः यह मन्तव्य भी होवे कि उत्तरक्षणमें ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला पूर्वक्षणवर्ती भिन्न कालमें रहनेवाला कोई भी पदार्थ बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं है। जैसे कि भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहे चिरतर भूत, या भविष्यत् यों भिन्न कालोंमें रहनेवाले पदार्थ वर्तमान बुद्धिके ज्ञेय नहीं है, तैसे ही अव्यवहित पूर्वसमयमें रहनेवाला जनक पदार्थ भी बुद्धिका ज्ञेय नहीं है। बुद्धि स्वयं बुद्धिको ही जानती रहती है, अन्यको नहीं। यदि उस पूर्व समयवर्ती विषयको बुद्धिका कारणपना होनेसे भी उसके द्वारा ज्ञेयपना साधोगे तो चक्षुः, पुण्य, पाप, आदिसे व्यभिचार दोष

हो जावेगा। क्योंकि चक्षु, पुण्य, पाप, ये विज्ञानके कारण हैं, किन्तु इनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान तो अतीन्द्रिय चक्षुः और कर्मोंके क्षयोपशमको नहीं जान पाता है। अतः ज्ञानका कारणभूत विषय तज्जन्यज्ञानसे जाना ही जाय यह व्याप्ति बनाना अच्छा नहीं है। इस दोषको दूर करनेके लिये तज्जन्मपनेके साथ अपने आकारको देनेमें समर्थपनेसे ज्ञेयपना यदि सौत्रान्तिकों द्वारा माना जावेगा। अर्थात् इन्द्रियां और अदृष्टज्ञानके जनक अवश्य हैं, किन्तु ज्ञानमें अपने आकारोंका समर्पण नहीं करते हैं। अतः ज्ञान इनको नहीं जानता है। घट, पट, आदिक विषय तो अपने आकारोंको ज्ञानके लिये अर्पण कर देते हैं, अतः ज्ञान उन घट आदिकोंको जान लेता है। इस प्रकार अपने आकारको सौंप देनेकी उस सामर्थ्यसे भी वह अनुभाव्यपना यदि साधा जावेगा तो भी समान अर्थके अव्यवहित उत्तर कालवर्ती ज्ञानसे व्यभिचार हो जावेगा। भावार्थ—एक सांचेमें ढले हुए घट, कटोरा या एकसी मुद्रित पुस्तकें अथवा रुपये, पैसे आदि इनमेंसे एकको देख लेनेपर बची हुयी सभी एक जातिकी समान वस्तुओंका प्रत्यक्षज्ञान हो जाना चाहिये। कारण कि सदृश अर्थके उत्तरक्षणवर्ती—ज्ञानमें परिशिष्ट पदार्थोंके भी आकारोंका अर्पण हो गया है। सन्मुख रखे हुए घटको जाननेवाले घटज्ञानमें प्रकृत घटने अपना आकार दे दिया है। यद्यपि बचे हुए देशान्तर कालान्तरवर्ती अन्य सदृश घडोंने अपना आकार स्वकीय उन्मुखतासे इस ज्ञानको अर्पित नहीं किया है तो भी सर्वथा समान पदार्थोंका प्रतिबिम्ब एकसा ही होता है। जब कि ज्ञानमें समान आकार आ चुका है। तो परिशिष्ट पदार्थोंको जाननेमें क्यों आनाकानी की जा रही है? दूसरी बात यह है कि पहिले ज्ञानमें भले ही बचे हुये सदृश पदार्थोंका आकार न आया हो किन्तु पहिले ज्ञानके उत्तरकालमें उत्पन्न हुआ ज्ञान जैसे प्रकृत घटको आकारके बलसे जानता है, उसी प्रकार आकार देनेकी सामर्थ्य होनेके कारण परिशिष्ट पदार्थोंको भी क्यों न जान लेवें? उत्तरवर्ती ज्ञानमें प्रकृत घट और समान घटोंका आकार बडी सुलभतासे आ जाता है। जैसे कि एक प्रतिबिम्ब (तस्वीर) से दूसरी तस्वीर उतारनेपर सदृशोंका आकार आ जाना अनिवार्य है। अतः तज्जन्यत्वके समान तदाकारता भी ज्ञेयपनेकी नियामक नहीं है। अकेले तज्जन्यत्वका इन्द्रिय, अदृष्ट आदिसे व्यभिचार है तथा अकेले तदाकारपनेका समान अर्थोंसे व्यभिचार है। यानी घटका ज्ञान अनेक समान घटोंको भी जान लेवे, किन्तु चक्षु द्वारा जानता नहीं है। तथा तज्जन्यत्व और तदाकारता इन दोनोंको मिलाकर यदि ज्ञेयपनेका नियम करानेवाला माना जावेगा तो समान अर्थके अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञानसे व्यभिचार होगा। समनन्तरज्ञान परम्परा करके सदृश पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ भी है और सदृश पदार्थोंके आकार (तस्वीर) को भी धारण करता है, तो फिर प्रकृत अर्थोंको क्यों नहीं जानता है? बताओ। जिस ज्ञानका उपादान कारण घटज्ञान है वह सदृशघटके अव्यवहित उत्तरकालवर्ती ज्ञानको सानन्द जान लेवें, तदाकारता तदुत्पत्ति दोनों घटजाते हैं, किन्तु जानता तो नहीं यह व्यभिचार हुआ, इन दोषोंके निवारणार्थ यदि तज्जन्यत्व और तदाकारता इन दोनोंको उस

तदध्यवसायसे सहित करके वह ज्ञेयपनेका नियामकपना साधा जावेगा। अर्थात् विषयसे जन्य और विषयके आकारवाले निर्विकल्पक ज्ञानके उत्तरकालमें जिस विषयका निर्णयात्मक विकल्पकज्ञान उत्पन्न हो जायगा उसी विषयको निर्विकल्पकज्ञान जान सकेगा। समान अर्थके उत्तर समयवर्ती ज्ञानके पीछे परिशिष्ट सदृश पदार्थोंका या उसके ज्ञानका अध्यवसाय करनेवाला विकल्पज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ है। अतः वह सभी सदृश पदार्थों या ज्ञानको नहीं जान पाता है, इस प्रकार उक्त व्यभिचारोंका वारण हो जाता है। फिर भी भ्रान्त ज्ञानके अव्यवहित उत्तर समयवर्तीज्ञानसे व्यभिचार हो ही जावेगा। कामल या पीलिया रोगवाले पुरुषको शुक्ल शंखमें पैदा हुए पीलेपनके भ्रमज्ञानके पीछे उत्पन्न हुए उत्तरवर्तीज्ञानसे व्यभिचार है। वह ज्ञान शंखसे उत्पन्न हुआ है, शंखके आकारको भी लेता है और शंखका अध्यवसाय (निर्णय) करानेवाला भी है। उत्तरज्ञानमें पूर्वकालवर्त्ती भ्रान्तज्ञानका आकार पड गया है। और उत्तरवर्तीज्ञान उस पूर्ववर्त्ती भ्रान्तज्ञानको उपादान कारण मानकर उत्पन्न हुआ भी है। फिर उस भ्रमज्ञानसे शंखकी या उसके ज्ञानकी समीचीन प्रमिति क्यों न मानी जावे, किन्तु शंखकी प्रमिति होती हुयी नहीं मानी गयी है। अतः सिद्ध होता है कि तज्जन्यपना, तदाकारपना और तदध्यवसायीपन ये तीनों मिलकर भी बुद्धिके द्वारा अनुभाव्यपनेका नियम नहीं करा सकते हैं। शुद्ध ज्ञानाद्वैतका पक्ष लेते हुये योगाचार बौद्ध कह रहे हैं कि वास्तवमें विचारा जाय तो एक बात यह भी है कि किसी भी क्षणिक परमाणुरूप विज्ञानको उस बुद्धिका कारणपना, आकार देनापना और निर्णय करानापन आदि ये सब धर्म असिद्ध हैं। अतः विषयविषयीभाव वास्तविक नहीं है। केवल बुद्धि (विज्ञान) ही एक पदार्थ है। यहां सौत्रान्तिकोंके ऊपर जो दोष जैनोंकी ओरसे उठाये जाते हैं, योगाचार या शुद्धज्ञानाद्वैतवादी वैभाषिक भी उन्हीं दोषोंको ज्ञान ज्ञेय व्यवस्था माननेवाले सौत्रान्तिकोंके ऊपर उठा रहे हैं।

नापि समानकालस्तस्य स्वतन्त्रत्वात्, योग्यताविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्यासम्भवात् तस्याप्यनुभाव्यत्वासिद्धेः,। परेण योग्यताविशेषेणानुभाव्यत्वेनवस्थानात्, प्रकारान्तरासम्भवाच्च।

अभी विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ही अपना मत कह रहे हैं कि बुद्धिके आगे पीछे रहनेवाले भिन्न कालीन पदार्थ उस बुद्धिके द्वारा अनुभव कराने योग्य नहीं हैं। इसका विचार हो चुका। अब बुद्धिके समानकालमें रहनेवाला पदार्थ भी बुद्धिका अनुभाव्य नहीं है, इसका हम योगाचार बौद्ध खण्डन करते हैं। सौत्रान्तिकोंने विषयको ज्ञानका कारण मानते हुए ज्ञेय और ज्ञानका पूर्वापरभाव माना है, समानकालमें रहनेवाले दोनों पदार्थ अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होकर वर्तमानमें स्वतन्त्र हैं ऐसी दशामें किसको विषयरूप कारण कहा जाय और किसको विषयीरूप कार्य कहा जाय ? कार्यको करते समय एक (कारण) स्वतन्त्र होय और दूसरा (कार्य) परतन्त्र होय तब कार्यकारण भाव माना गया है। सौत्रान्तिकोंने ज्ञाप्यज्ञापकभावमें भी यही व्यवस्था मानी है।

किन्तु स्वतन्त्र दोनोंके एक कालमें विद्यमान होनेपर अनुभाव्य अनुभावकभाव नहीं बन सकता है। यदि समानकालवाले पदार्थोंमें भी किसी दूसरे योग्यता विशेषसे अनुभाव्यपना माना जावेगा तो उस योग्यता विशेषका भी उस शुद्धज्ञानसे अतिरिक्त होरहेका असम्भव है। अतः उस योग्यताविशेषको भी अनुभाव्यपना असिद्ध है। यदि इस योग्यताविशेषको दूसरे योग्यताविशेषसे अनुभाव्यपना माना जावेगा तब तो अनवस्था दोष होगा। अर्थात् बुद्धिमें ही अनुभावकपनेकी योग्यता है, विषयमें नहीं। और विषयमें अनुभाव्यपनेकी योग्यता है, बुद्धिमें नहीं। इसके नियम करानेके लिये पुनः दूसरी योग्यताकी आवश्यकता पड़ेगी, इसी प्रकार दूसरी योग्यताकी व्यवस्था करनेके लिये तीसरी विशेषयोग्यताकी आकांक्षा बढ़ती जावेगी। यह अनवस्थादोष हुआ और दूसरे प्रकारोंकी शरण लेना यहां संभव भी नहीं है। विशेष यह है कि हम शुद्धाद्वैतवादियोंके यहां जब बुद्धिसे अतिरिक्त कोई भिन्नकाल या समकालमें रहनेवाला पदार्थ ही नहीं माना गया है तो बुद्धिसे निराला अनुभव करानेयोग्य भला कौन हो सकता है? अतः उस योग्यताविशेषकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

नापि बुद्धेर्ग्राहकत्वेन परोऽनुभवोऽस्ति सर्वथानुभाव्यवदनुभावकस्यासम्भवे तदघटनात्। ततो बुद्धिरेव स्वयं प्रकाशते ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्। तदुक्तं—" नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्यानानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते " इति। अत्रोच्यते।

बुद्धिका ग्राहकपनेसे अतिरिक्त कोई दूसरा अनुभव भी तो नहीं है। सभी प्रकारोंसे अनुभाव्य पदार्थके समान अनुभव करनेवाले ज्ञानके असम्भव होजानेपर वह अनुभव होता नहीं घटता है। अर्थात् दो पदार्थ होवें तब तो एक अनुभाव्य और दूसरा अनुभावक माना जावे। किन्तु अकेले शुद्ध ज्ञान माननेपर अनुभावक द्वारा अनुभाव्यका अनुभव होता है इस प्रकार करण, कर्म और क्रिया इन तीनोंका विवेचन असम्भव है। तिस कारण अकेली शुद्धबुद्धि ही स्वयं प्रकाशमान होती रहती है कारण कि वह ग्राह्यपने और ग्राहकपनेसे रहित है। जैनोंसे माने गये ज्ञानमें ग्राह्य अंश और ग्राहक अंश हमको तो इष्ट नहीं है। सो ही हमारे यहां कहा है कि बुद्धिके द्वारा कोई उससे भिन्न पदार्थ अनुभव करानेयोग्य नहीं है, तथा बुद्धिसे भिन्न उसका फल कोई अनुभव भी नहीं है। ग्राह्यभाव और ग्राहकभावोंसे सर्वथा खाली होनेके कारण वह बुद्धि स्वयं ही अकेली चमकती रहती है। मूलग्रन्थमें बुद्धिका विशेषण ग्राह्यग्राहकविवेक है। यहां विवेक शब्द विचारने अर्थमें प्रसिद्ध विचिर् धातुसे बनाया जाता है। तब तो जैनोंके समान सौत्रान्तिक पण्डित बुद्धिमें ग्राह्यग्राहक अंशोंको स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु पृथग्भाव अर्थको कहनेवाली विचिर् धातुसे विवेकशब्दको बनाकर वैभाषिक बौद्ध बुद्धिमें ग्राह्य, ग्राहक अंशोंका अभाव मान लेते हैं। कामधेनु वेदके समान अनेकार्थक वाक्योंसे अपने अपने मनमाने अर्थ निकाले जा रहे हैं। जो कि हिंसा, अहिंसा, सर्वज्ञ, सर्वज्ञाभाव, पौरुषेय अपौरुषेय आदिके समान परस्परमें विरुद्ध हैं। इस प्रकार स्यान्मतसे आगे प्रारम्भकर अपनी

ग्रन्थोक्त कारिका पर्यन्त शुद्ध विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध अपना मन्तव्य कह चुके हैं। ऐसा साटोप कटाक्ष कर चुकने पर अब यहां आचार्य महाराज करके ज्ञानको सांश सिद्ध करनेके लिये प्रकरण कहा जाता है।

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

बौद्धोंकी कारिकामेंसे ही एव के स्थानमें न को धरके एक अक्षरका परिवर्तन कर आचार्य महाराज बौद्धमतके निरासार्थ वार्त्तिक कहते हैं कि बुद्धिके द्वारा कोई ज्ञेयरूप अनुभाव्य नहीं है और बुद्धिका कोई न्यारा अनुभवरूपी फल नहीं है। ऐसी दशामें ग्राह्यग्राहक भावोंसे रिक्त होनेके कारण वह बुद्धि स्वयं कभी प्रकाशमान नहीं हो रही है, किन्तु तीनों अंशोंसे तदात्मक होती हुयी बुद्धि सदा चकचका रही है। प्रदीपको यदि बिब्बीमें भी बन्द कर दिया जाय तो भी उसमें प्रकाश्यपना और प्रकाशकपना विद्यमान है। बुद्धि अपने पतिपुत्र समान ग्राहक, ग्राह्य, अंशोंसे युक्त होरही सदा सुहागिन है। आजतक किसीको भी ग्राह्य, ग्राहक, गृहीति, अंशोंसे रहित बुद्धिका प्रतिभास नहीं हुआ है। अतः बुद्धि (ग्राहिका) के द्वारा अनुभाव्य (ग्राह्य) का प्रकाश (गृहीति) होना मान लेना चाहिये। अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपलाप करना न्याय्य नहीं है। सारांश यह है कि बुद्धिसे जानने योग्य पदार्थ निराला है। उसका अनुभव भी बुद्धिसे कथंचित् भिन्न हो रहा है। ग्राह्य ग्राहक स्वभावोंसे सहित बुद्धि सदा प्रकाशित हो रही है।

न हि बुद्ध्यान्योऽनुभाव्यो नास्ति सन्तानान्तरस्यानुभाव्यत्वानुषंगात्। कुतश्चिदव-स्थितेरयोगात्। तदुपगमे च कुतः स्वसन्तानसिद्धिः? पूर्वोत्तरक्षणानां भावतोनुभाव्यत्वात्।

बुद्धिके द्वारा कोई अन्य विषय अनुभव कराने योग्य नहीं है यह नहीं कहना। क्योंकि अपनी सन्तानसे अतिरिक्त दूसरी देवदत्त, जिनदत्त, आदिकी सन्तानोंको अनुभवमें नहीं प्राप्त होनेपनका प्रसंग हो जावेगा। बुद्धिके अतिरिक्त किसी भी अन्य उपायसे दूसरे सन्तानोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। बुद्धिके द्वारा अन्य सन्तानोंको नहीं जानने योग्यपनको यदि स्वीकार कर लोगे तो बताओ अपनी सन्तानकी सिद्धि भी कैसे करोगे? क्योंकि अन्य सन्तानोंके समान अपनी सन्तानके आगे पीछे होनेवाले क्षणिक परिणामोंको भी वास्तविकरूपसे अनुभाव्यपना नहीं आता है। अर्थात् बौद्धमतमें क्षणिक बुद्धि अपने एक क्षणके परिणामरूप होती हुयी चमकती रहती है। वह अपने पहिले और पीछेके अनेक परिणामोंको प्रकाशित नहीं करती है। अतः बुद्धिके द्वारा ज्ञेय नहीं होनेके कारण अन्य सन्तानोंका जैसे अभाव कर दिया जाता है तैसे ही अपनी सन्तानका भी अभाव हो जावेगा, केवल एक समयका क्षणवर्ती परिणाम ही सिद्ध हो सकेगा। चालिनी न्यायसे उसका भी अभाव अनिवार्य है। देवदत्त यदि जिनदत्तकी सन्तानका अभाव मानता है तो जिनदत्त भी देवदत्तकी सन्तानको नहीं जानता है, इस प्रकार शून्यवाद छा जावेगा। दूसरोंकी सन्तानको मेटनेवाला स्वयं

भी तो जीवित नहीं रह सकता है अन्योंकी अपेक्षा वह भी दूसरा है। सार्वजनिक ज्ञानमें अन्यायी राजाके समान पक्षपात चलाना समुचित नहीं है। देवदत्त कोई विशिष्ट ज्योतिःपिण्डमेंसे थोडा ही निकला है जिससे वही अकेला जगत्में बना रहे।

स्यादाकूतं यथा वर्तमानबुद्धेः स्वरूपमेव वेदयते न पूर्वामुत्तरां वा बुद्धिं सन्तानान्तरं बहिरर्थं वा। तथातीतानागता च बुद्धिस्ततः स्वसंविदितः स्वसंतानः स्वसंविदितक्रमवर्त्यनेकबुद्धिक्षणात्मकत्वादिति। तदसत्। वर्तमानया बुद्धया पूर्वोत्तरबुद्ध्योरवेदनात्, स्वरूपमात्रवेदित्वानिश्चयात्। ते चानुमानबुद्धया वेद्येते। स्वरूपमात्रवेदिन्यावित्यप्यसारम्, सन्तानान्तरासिद्धिप्रसंगात्। तथा च सन्तानान्तरं स्वसन्तानश्चानुमानबुद्धयानुभाव्यो न पुनर्बहिरर्थ इति कुतो विभागः सर्वथा विशेषाभावात्।

सम्भव है, इस खंडनका प्रतिखंडन करनेके लिये बौद्धोंकी यह भी अकाण्ड चेष्टा होवे कि जैसे वर्तमानकालमें होनेवाली बुद्धि अपने स्वरूपका ही ज्ञान कराती है पहिले और पीछे होनेवाले अपने बुद्धिरूप परिणामोंका तथा जिनदत्त, इन्द्रदत्त, आदि अन्य सन्तानोंका अथवा घट, पट, नील, पीत, आदि बहिरंग अर्थोंका ज्ञान नहीं कराती है। क्योंकि ज्ञेय पदार्थोंके कालमें ज्ञान नहीं उपज पाया और ज्ञानकालमें ज्ञेय नहीं रहे। तिस प्रकार भूत, भविष्यत, कालमें परिणत हो रहे बुद्धिके क्षणिक परिणाम भी अपने अपने क्षणवर्त्ती स्वरूपको ही जान पाते हैं। तिस कारण अपनी लम्बी चौडी ज्ञानधारारूप सन्तान तो स्वसंवेदनसे जानने योग्य है। क्योंकि वह सन्तान स्वसंवेदनसे जान लिये गये और क्रम क्रमसे होनेवाले बुद्धिके क्षणिक परिणामोंका समुदायरूप है। अतः अपनी लम्बी ज्ञानधारा तो बुद्धिसे अनुभाव्य मान ली जाती है, इस प्रकार बौद्ध अपने सन्तानकी सिद्धि करते हैं। आचार्य समझाते हैं कि उनका वह चेष्टित प्रशंसनीय नहीं है। कारण कि वर्तमान समयकी बुद्धिके द्वारा आगे पीछे होनेवाले बुद्धिक्षणोंका ज्ञान नहीं हो पाता है, तब तो वे बुद्धिके पूर्वसमयवर्त्ती या उत्तरसमयवर्त्ती परिणाम स्वको ही जानते हैं, बहिरंग विषयोंको नहीं जानते हैं, इसका पता नहीं चला। अतः केवल स्वरूपको ही जाननेवालेपनका निश्चय नहीं हुआ। ऐसी दशामें अपनी सन्तान (क्षणोंकी लम्बी डोरी) भला स्वसंवेदनसे जानने योग्य कैसे मानी जा सकती है? केवल एक क्षणवर्ती बुद्धि क्षणका ज्ञान तो सन्तानका स्वसंवेदन नहीं हो सकता है, तथा इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अनुमानस्वरूप बुद्धि करके उन आगे पीछे होनेवाले बुद्धिक्षणोंका ज्ञान कर लिया जावेगा और वे (क्षणिकबुद्धियां) केवल अपने स्वरूपको जान रहे भी हैं, यह भी बौद्धोंका कहना निस्सार है। क्योंकि यों तो स्वसन्तानके समान अन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि हो जानेका प्रसंग होगा और नील, पीत, आदि बहिरर्थोंकी सिद्धि हो जाना भी क्यों छोड दिया जावेगा? और तिस प्रकार अनुमान ज्ञानोंसे अन्य सन्तान और स्वसन्तानको अनुभव कराने योग्य मान लिया जाय, किन्तु फिर बहिरंग अर्थको ज्ञेय न माना जाय इस प्रकार पक्षपातपूर्ण विभाग कैसे किया जा सकता है? सभी प्रकारोंसे

स्वसन्तान और परसन्तान तथा बहिरंग अर्थोंमें अनुमानसे जानने योग्यपनकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

विवादापन्ना बहिरर्थबुद्धिरनालम्बना बुद्धित्वात् स्वप्नादिबुद्धिवदित्यनुमानाद्बहिरर्थोननुभाव्यो बुद्ध्या सिद्ध्यति न पुनः सन्तानान्तरं स्वसन्तानश्चेति न बुध्यामहे, स्वप्नसन्तानान्तरस्वसन्तानबुद्धेरनालम्बनत्वदर्शनादन्यत्रापि तथात्वसाधनस्य कर्तुं शक्यत्वात्। बहिरर्थग्राह्यतादूषणस्य च सन्तानान्तरग्राह्यतायां समानत्वात् तस्यास्तत्र कथञ्चिददूषणत्वे बहिरर्थग्राह्यतायामप्यदूषणत्वात्। कथं ततस्तत्प्रतिक्षेप इत्यस्त्येव बुध्यानुभाव्यः।

बौद्ध जन अपनी सन्तानको सिद्ध करनेके लिये "अपना जीवन चाहते हो तो दूसरेका जीवन स्थिर रखो" इस न्यायसे दूसरोंकी ज्ञानसन्तानको तो इष्ट कर लेते हैं, किन्तु घट, पट, आदिक बहिरंग अर्थोंको नहीं मानते हुए अनुमान करते हैं कि "विवादमें प्राप्त हुयीं बहिरंग अर्थोंको जाननेवाली बुद्धि (पक्ष) अपने जानने योग्य विषयरूप आलम्बनसे रहित है (साध्य), क्योंकि वह बुद्धि है (हेतु), जैसे कि [illegible] की दशा, उन्मत्तपनेमें हुयीं बुद्धियां अपने विषयभूत अर्थोंसे रहित हैं। इस अनुमानसे बहिरंग अर्थ तो बुद्धिके द्वारा नहीं अनुभवमें आने योग्य सिद्ध कर दिया जाता है। किन्तु दूसरे सन्तान और अपनी आगे पीछे समयोंमें वर्तनेवाली सन्तानको जाननेवाली बुद्धियां आलम्बनरहित नहीं सिद्ध की जा रही हैं। हम नहीं समझते हैं कि ऐसी पक्षपातकी कृतिमें क्या रहस्य है। स्वप्नका दृष्टान्त लेकर वास्तविक घट, पट, नील, आदिकके ज्ञानको यदि निर्विषय मान लिया जाता है तो स्वप्न, मद्यपान, कठिन रोग, आदिकी अवस्थामें नहीं विद्यमान हो रहे अन्य सन्तान और स्वसन्तानको जाननेवाली बुद्धियोंका निर्विषयपना दीखनेसे अन्य जागृत, स्वस्थ आदि अवस्थाओंमें हुए वस्तुभूत स्वपरसन्तानोंके ज्ञानको भी तिस प्रकार निर्विषयपना साधा जा सकता है। दृष्टान्त तो सभी प्रकारके मिल जाते हैं किन्तु उनके धर्म दार्ष्टान्तिकमें घटें तब तो तदनुसार सिद्धि की जा सके अन्यथा नहीं। भ्रान्तज्ञानका दृष्टान्त देकर अभ्रान्त ज्ञानके विषयको न स्वीकार करना प्रामाणिकपना नहीं है। दूसरी बात यह है कि बहिरंग अर्थके ग्राह्यपनेमें जो दूषण आपकी ओरसे दिये जावेंगे वे ही दूषण सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें भी समानरूपसे लागू हो जावेंगे। आप बौद्धोंकी मानी हुयी क्षणिक बुद्धि केवल अपने स्वरूपको ही जानती है, बहिरर्थको नहीं। अतः बहिरर्थका ग्राह्यपना यदि दूषण है तो वह सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें भी उसी प्रकार लगेगा। अपनी बुद्धिकी अपेक्षा सन्तानान्तर भी तो बहिर्भूत अर्थ है। यदि उस सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें उस बहिरर्थकी ग्राह्यताको किसी इष्ट कारण वश कैसे भी दूषण न मानोगे तो बहिरर्थकी ग्राह्यतामें भी बुद्धिसे बहिर्भूत अर्थका जान लेनापन दूषण न होगा। तब तो उन नील परमाणु आदि बहिर्भूत अर्थोंका निराकरण आप कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं। इस प्रकार बुद्धिके द्वारा सन्तानान्तर या बहिर्भूत अर्थ अवश्य अनुभव कराने योग्य हैं ही। बौद्धोंकी कही हुयी कारिकाके

" नान्योनुभाव्यो बुध्यास्ति " इस प्रथम पादका खण्डन हो चुका। अब द्वितीय, तृतीय पाद, का निरास करते हैं। —

एतेन बुद्धेर्बुध्यन्तरेणानुभवोऽपि परोस्तीति निश्चितं ततो न ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं बुद्धिरेव प्रकाशते।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह भी निर्णीत हो चुका कि दूसरी बुद्धिसे प्रकृत बुद्धिका अनुभव भी निराला हो जाता है। स्वयं बुद्धिसे अपना अनुभव भी कथंचित् भिन्न है, जैसे कि बह्निकी दाहकत्व शक्तिसे दाहपरिणाम कथंचित् भिन्न है। उसी प्रकार करणस्वरूप बुद्धिसे भावरूप अनुभव किसी अपेक्षा भिन्न है। तिस कारण ग्राह्य और ग्राहक अंशोंसे रिक्तपने स्वरूपसे स्वयं बुद्धि ही प्रकाश रही है, यह न मानना। निष्कर्ष यह है कि विषयके साथ बुद्धि स्वयं अपनेको भी उसी समय जान लेती है। अतः संवेद्य, संवेदक, और संवेदन तीनों अंश युगपत् बुद्धिमें हैं। किन्तु चलाकर इच्छा होनेपर दूसरी बुद्धिसे प्रकृत बुद्धिको जाननेकी दशामें बुद्धिका अनुभव भिन्न होकर भी स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। यहां ग्राह्य, ग्राहक, अंशोंसे सहितपना भी स्पष्टरूपसे दीख रहा है।

मा भूत् सन्तानान्तरस्य स्वसन्तानस्य वा व्यवस्थितिर्बहिरर्थवत्संवेदनाद्वैतस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकेन स्वयं प्रकाशनादित्यपरः। तस्यापि सन्तानान्तराद्यभावोऽनुभाव्यः, संवेदनस्य स्यादन्यथा तस्याद्वयस्याप्रसिद्धेः।

शुद्धसंवेदनाद्वैतवादी वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि बहिरंग अर्थके समान अन्य सन्तानोंकी और अपने सन्तानोंकी भी व्यवस्था भले ही नहीं होवे हमको इष्ट है। क्योंकि ग्राह्य, ग्राहक, आकारोंसे पृथग्भाव करके अकेले संवेदनाद्वैतका स्वयं प्रकाश हो रहा है। " विचिर् पृथग्भावे " धातुसे बने हुए विवेक शब्दका अर्थ पृथग्भाव होता है और " विचिल्ट विचारणे " धातुसे निष्पन्न हुए विवेकशब्दका अर्थ जानना होता है, यहां पृथग्भाव अर्थ इष्ट है, इस प्रकार दूसरा बौद्ध कह रहा है। इसपर आचार्य कहते हैं कि उस बौद्धके यहां भी अन्य सन्तान, स्वसन्तान, नील, आदिका अभाव तो संवेदनके द्वारा अवश्य अनुभव कराने योग्य होगा। अन्यथा यानी सन्तानान्तर आदिके अभावको यदि ज्ञेय नहीं माना जावेगा तो सन्तानान्तर आदिकी सत्ता बन बैठेगी। ऐसी दशामें उसके अद्वैतपनेकी भले प्रकार सिद्धि नहीं हो सकती है। द्वैत आगया। " सेयमुभयतः पाशा रज्जुः "।

स्वानुभवनमेव सन्तानान्तराद्यभावानुभवनं संवेदनस्येति च न सुभाषितं, स्वरूपमात्रसंवेदनस्यैवासिद्धिः। नहि क्षणिकानंशस्वभावं संवेदनमनुभूयते, स्पष्टतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वात् क्षणिकं वेदनमनुभूयत एवेति चेत् न, एकक्षणस्थायित्वस्याक्षणिकत्वस्याभिधानात्।

अकेले अपने स्वरूपका अनुभव करना ही संवेदनका सन्तानान्तर आदिके अभावका अनुभव करना है। संवेदनसे अभाव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है जो कि अनुभाव्य होय। इस प्रकार अद्वैतवा-

दियोंका भाषण अच्छा नहीं है। क्योंकि संवेदनसे अतिरिक्त सन्तानान्तर आदि पदार्थोंके अभावको स्वतंत्ररूपसे व्यक्त जाने विना केवल स्वरूपके संवेदनकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है। एक बात यह भी तो है कि जिस प्रकारके क्षणिक निरंश स्वभाववाले संवेदनको बौद्ध इष्ट करते हैं वैसा उसका अनुभव नहीं होता है। यदि बौद्ध यों कहें कि स्पष्टज्ञान तो क्षणवर्ती पदार्थका ही होता है। स्पष्ट-रूपसे अपना अनुभव हो जाना ही क्षणिकपना है। अतः एकक्षणवर्त्ती अद्वैत संवेदनका ज्ञान होना अनुभूत हो रहा ही है, यह तो न कहना। क्योंकि एक क्षणमें स्थितिस्वभावसे रहनेका अर्थ अक्षणिकपना कहा गया है, अर्थात् जो एक क्षण भी स्थिरशील है वह ध्रुव है। उत्पाद, व्ययके समान ध्रुवपना भी एक समयमें स्वीकार किया है, तभी वह सत् पदार्थ हो सकेगा। यही ढंग पूर्व-कालोंसे चला आ रहा है और आगे भी यही क्रम (सिलसिला) रहेगा।

अथ स्पष्टानुभवनमेवैकक्षणस्थायित्वं अनेकक्षणस्थायित्वे तद्विरोधात्। तत्र तदविरोधे वानाद्यनन्तस्पष्टानुभवप्रसंगात्। तथा चेदानीं स्पष्टं वेदनमनुभवामीति प्रतीतिर्न स्यादिति मतम्, तदसत्। क्षणिकत्वे वेदनस्येदानीमनुभवामीति प्रतीतौ पूर्वं पश्चाच्च तथा प्रतीति-विरोधात्। तदविरोधे वा कथमनाद्यनन्तसंवेदनासिद्धिर्न भवेत्, सर्वदेदानीमनुभवामीति प्रतीतिरेव हि नित्यता सैव च वर्तमानता तथाप्रतीतेर्विच्छेदाभावात्, ततो न क्षणिकसंवेदनसिद्धिः।

इसके अनन्तर पुनः बौद्ध कहनेका प्रारम्भ करते हैं कि स्पष्टरूपसे अनुभव होना ही एक क्षणमें स्थित रहनापन है। यदि ज्ञानको अनेकक्षणस्थायी माना जावेगा तो वह स्पष्ट अनुभव होना विरुद्ध पडेगा। पुनरपि यदि अनेक क्षणमें स्थायी होते हुए भी वहां उस स्पष्ट अनुभव होते रहनेका कोई विरोध न मानोगे तो अनादिकालसे अनन्तकाल तकके ज्ञानक्षणोंका स्पष्टरूप करके अनुभव होनेका प्रसंग होगा। सभी त्रिकालदर्शी हो जावेंगे और तब तो इसी समय क्षण मात्र ठहरे हुए स्पष्ट संवेदनका मैं अनुभव कर रहा हूं, इस प्रकारकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार बौद्धोंका मन्तव्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो वह प्रशस्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानको यदि सर्वथा क्षणिक माना जावेगा तो इस समयमें अनुभव कर रहा हूं, ऐसी प्रतीति होनेपर पहिले और पीछे कालोंमें तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका विरोध हो जावेगा। अनुभवामिका कर्त्ता तो ज्ञान ही है और वह ज्ञान सर्वथा क्षणिक है। ज्ञानका अन्वय माने विना पहिले पीछेके ज्ञानक्षणोंमें स्पष्ट अनुभव नहीं हो सकता है। यदि क्षणिक होते हुए भी उस पहिले पीछे सदा ही स्पष्ट अनुभव होते रहनेका कोई विरोध न माना जावेगा तब तो अनादि अनन्त संवेदनकी सिद्धि क्यों न हो जावेगी? इस समय वर्तमानकालमें मैं अनुभव कर रहा हूं। इस प्रकार सदा प्रतीति होते रहना ही नित्यपना है और वही वर्तमानपना है। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका कभी अन्तराल नहीं पडा है। अतः अनेक कालस्थायी नित्य संवेदनकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारण आपके क्षणिक सम्वेदनकी सिद्धि नहीं हुयी।

इदानीमेवानुभवनं स्पष्टं न पूर्वं न पश्चादिति प्रतीतेः क्षणिकं संवेदनमिति चेत्, स्यादेवं यदि पूर्वं पश्चाद्वानुभवस्य विच्छेदः सिध्यत् । न चासौ प्रत्यक्षतः सिध्यति तदनुमानस्य वैफल्यप्रसंगात् । पश्यन्नपीत्यादिग्रन्थस्य विरोधात् । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पादिदानीमनुभवनं ममेति निश्चयान्नोक्तग्रन्थविरोधः । तद्बलादिदानीमेवेत्यनिश्चयाच्च नानुमाने नैष्फल्यं ततस्तथा निश्चयादिति चेत्, नैतत्सारम् । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्येदानीमनुभवो मे न पूर्वं पश्चाद्वेति विधिनिषेधविषयतयानुत्पत्तौ वर्तमानमात्रानुभवव्यवस्थापकत्वायोगात् । पश्यन्नपीत्यादिविरोधस्य तदवस्थत्वादन्यथा सर्वत्रेदमुपलभे नेदमुपलभेऽहमिति विकल्पद्वयानुत्पत्तावपि द्रष्टव्यवहारप्रसंगात् । तदन्यव्यवच्छेदविकल्पाभावेऽपीदानीं तेनानुभवननिश्चये तदेवानुमाननैष्फल्यमिति यत्किंचिदेतत् ।

बौद्ध कहते हैं कि इस समय वर्तमानकालमें ही स्पष्ट अनुभव हो रहा है, पहिले पीछे समयोंमें नहीं, इस प्रकार प्रतीति होनेसे एक क्षणवर्ती संवेदन ही सिद्ध हुआ। यों बोलनेपर तो अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो तब सिद्ध होता कि यदि स्पष्ट अनुभवका पहिले और पीछे कालके परिणामोंसे व्यवधान सिद्ध हो जाता, किन्तु वह अन्तराल तो प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं हो रहा है, ऐसी दशामें मध्यवर्ती अकेले क्षणिकज्ञानका स्पष्ट अनुभव कैसे माना जा सकता है ? । यदि अन्तरालकी प्रत्यक्षसे सिद्धि हो गयी तो उसके अनुमान करनेकी निष्फलताका प्रसंग होता है और आपके इस ग्रन्थवाक्यका भी विरोध होता है कि " पश्यन्नपि न पश्यति " देखता हुआ भी नहीं देख रहा है। जब कि भूत, भविष्यत् क्षणोंके मध्यवर्ती अन्तरालका प्रत्यक्ष हो रहा है फिर बलात्कारसे अन्तरालका प्रत्यक्ष न होना क्यों कहा जाता है ? । इसपर यदि आप बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानके पीछे होनेवाले विकल्पज्ञानसे " इस समय मुझको स्पष्ट अनुभव है " इस प्रकार निश्चय हो जाता है। अतः हमारे कहे हुए कथनका हमारे सिद्धान्तग्रन्थसे कोई विरोध नहीं है। तथा उस प्रत्यक्ष और विकल्पकी सामर्थ्यसे " इस ही समय अनुभव है ऐसा पक्का निश्चय नहीं हो पाया है। अतः अनुमानमें भी निष्फलता नहीं है। तिस प्रकारका निश्चय उस अनुमानसे कराया जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि बौद्धोंका यह कहना साररहित है । क्योंकि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान " इसी समय मुझको स्पष्ट अनुभव है । पहिले पीछेके क्षणोंका स्पष्ट अनुभव नहीं है । इस प्रकारके विधि और निषेधको विषय करता हुआ नहीं उत्पन्न हुआ है। ऐसी दशामें उस विकल्पको केवल वर्तमान कालीन संवेदनके अनुभव करनेकी व्यवस्था करा देनापन बनता नहीं है। बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षके द्वारा जाने हुए विषयको ही निश्चय करनेवाला विकल्पज्ञान इष्ट किया है, प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है । दूसरी बात यह है कि अप्रमाण ज्ञानसे प्रमाण ज्ञानकी व्यवस्था करना भला क्या हो सकेगा ? पण्डितगनेका निर्णय यदि मूर्ख करने लगे तब तो सबके इष्ट मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे। तथा देखता हुआ भी

नहीं देख रहा है इत्यादि ग्रन्थका विरोध वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अन्यथा इसको मैं देख रहा हूं। इसको मैं नहीं देख रहा हूं। इस प्रकार दो विकल्पोंके उत्पन्न न होनेपर भी प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थके निर्णीत व्यवहार करा देनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—इतर पदार्थोंका निषेध करनेपर ही प्रकृत पदार्थका निर्णय होता है। आगे पीछेके परिणामोंका निषेध करते हुए ही मध्यवर्ती परिणामोंका अवधारण हो सकेगा। केवल घटका ही निश्चय तब हो सकता है जब कि अन्य पट आदिकोंके अभावका निश्चय कर दिया जाय। यदि उन अन्य पूर्व अपरवर्ती ज्ञानक्षणोंके व्यवधानका विकल्प नहीं होनेपर भी इस वर्तमान क्षणमें उस विकल्प करके केवल संवेदनके अनुभवका निश्चय मान लिया जावेगा तो वही अनुमानके निष्फल हो जानेका दोष लागू रहेगा। इस प्रकार यह बौद्धोंका स्वमत–पोषण करना मन चाहा जो कुछ भी कहना है। इसमें तत्त्व कुछ नहीं है। "सुखमस्तीति वक्तव्यम्" मात्र है।

एतेनानुमानादनुभवस्य पूर्वोत्तरक्षणव्यवच्छेदः सिध्यतीति निराकृतं स्वतस्तेनाध्यक्षतो व्याप्तेरसिद्धेः, परतोनुमानात् सिद्धावनवस्थाप्रसंगात्।

इस पूर्वोक्त कथन करके इसका भी निराकरण हो गया कि अनुमानसे पूर्व उत्तर क्षणवर्ती परिणामोंका व्यवधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि अनुमानमें व्याप्तिकी आवश्यकता है। अपने आप तो इस साध्यके साथ हेतुकी प्रत्यक्षप्रमाणसे व्याप्ति बन जाना सिद्ध नहीं होता है। मालाके दानोंका अन्तराल जैसे प्रत्यक्षगम्य है। उसी प्रकार सत्त्व आदि हेतुओंके साथ रहनेवाला क्षणोंका मध्यवर्ती अन्तराल प्रत्यक्षगम्य नहीं है, दूसरी बात यह है कि अनुमाताओंका प्रत्यक्ष सम्पूर्ण देशकालके पदार्थोंका उपसंहार (संकोच) नहीं कर सकता है और व्याप्ति तो सब देश और कालके प्रकृत साध्य, हेतुओंका उपसंहार करनेवाली होती है। यदि दूसरे अनुमानसे प्रकृत अनुमानमें पडे हुए साध्योंकी व्याप्तिका निर्णय सिद्ध करोगे तो अनवस्थादोष होनेका प्रसंग आता है। व्याप्तिका निर्णय यदि अनुमानसे होने लगे तो अनवस्थादोष स्पष्ट ही है। अनुमानके उत्थानमें व्याप्तिकी आवश्यता पडनेकी आकांक्षा बढती चली जावेगी।

विपक्षे बाधकप्रमाणबलाद्व्याप्तिः सिद्धेति चेत्, किं तत्र बाधकं प्रमाणम्? न तावदध्यक्षं तस्य क्षणिकत्वनिश्चायित्वेनाक्षणिके बाधकत्वायोगात्। नाप्यनुमानं क्षणिकत्वविषयं तस्यासिद्धव्याप्तिकत्वात्। प्रथमानुमानाच्चव्याप्तिसिद्धौ परस्पराश्रयणात्। सति सिद्धव्याप्तिके विपक्षे बाधकेऽनुमाने प्रथमानुमानस्य सिद्धव्याप्तिकत्वं तत्सिद्धौ च तत्सद्भाव इति। विपक्षे बाधकस्यानुमानस्यापि परस्माद्विपक्षे बाधकानुमानाद्व्याप्तिसिद्धौ सैवानवस्था।

निश्चयसे साध्यके अभाववाले विपक्षमें हेतुके सद्भावका बाधक प्रमाण है। इस सामर्थ्यसे हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध हो जावेगी। ऐसा कहने पर तो बौद्धोंके प्रति हम प्रश्न करते हैं

कि बताओ, वहां बाधक प्रमाण कौनसा है ? सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण तो बाधक है नहीं, क्योंकि वह तो क्षणिकपनेका निश्चय करानेवाला माना गया है। अतः अक्षणिकपनेमें बाधक नहीं हो सकता है। शुक्लको जाननेवाला प्रत्यक्ष कृष्ण आदिका निषेध करनेवाला नहीं होता है। विशिष्ट बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान विचारक नहीं है। वह इतने व्याप्ति सम्बधी विचारोंको नहीं कर सकता है। क्षणिकपनेको विषय करनेवाला अनुमान प्रमाण भी विपक्षमें बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि स्वयं उस अनुमानमें पडे हुए सत्त्व और क्षणिकत्वकी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकी है। जो स्वयं रुग्ण है वह दूसरोंकी चिकित्सा क्या करेगा ? पूर्वोत्तर क्षणोंके मध्यवर्ती व्यवच्छेदको सिद्ध करनेवाले पहिले अनुमानसे इस क्षणिकत्वको सिद्ध करनेवाले अनुमानकी व्याप्तिको साधोगे तो अन्योन्याश्रयदोष होगा। जो कि इस प्रकार है। विपक्षमें हेतुके सद्भावका बाधक अनुमानकी उत्थापक व्याप्तिके सिद्ध हो चुकनेपर पहिले अनुमानका व्याप्ति सिद्ध हो चुकनापन बनता है, और सिद्ध हो चुकी है हेतुके साथ व्याप्ति जिसकी ऐसे प्रथम अनुमानके सिद्ध हो जानेपर इस प्रकृत अनुमानकी सिद्धि होवे। विपक्षमें बाधा करनेवाले अनुमानकी व्याप्तिका निर्णय भी यदि विपक्षमें बाधा करने वाले दूसरे अनुमानसे साधोगे तो फिर वही अनवस्थादोष होगा।

एतेन व्यापकानुपलम्भात् सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिं साधयन् निक्षिप्तः। सत्त्वमिदमर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमयौगपद्याभ्यां, ते चाक्षणिकाद्विनिवर्तमानेऽर्थक्रियां स्वव्याप्यां निवर्तयतः सापि निवर्तमाना सत्त्वं। ततस्तीरादर्शिशकुनिन्यायेन क्षणिकत्व एव सत्त्वमवतिष्ठत इति हि प्रमाणान्तरं क्रमयौगपद्ययोरर्थक्रियया तस्याश्च सत्त्वेन व्याप्यव्यापकभावस्य सिद्धौ सिध्यति। तस्य वाध्यक्षतः सिध्यसम्भवेनुमानान्तरादेव सिद्धौ कथमनवस्था न स्यात् ?।

जहां व्यापक ही नहीं है वहां व्याप्य तो भला कैसे भी नहीं रहता है। जैसे वृक्षके न रहने पर शीशमका न रहना। अतः अक्षणिकरूप विपक्षमें अर्थक्रिया और क्रम यौगपद्यरूप व्यापकोंके न दीखनेसे व्याप्यरूप सत्त्व भी नहीं दीखता है। अतः सत्त्व हेतुकी अक्षणिकत्वके साथ व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। ऐसा भी कहनेवाला बौद्ध इस उक्त कथनसे तिरस्कृत हो जाता है। बौद्ध यों साध रहा है कि यह सत्त्व हेतु अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति रखता है और वह अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्यके साथ व्याप्त है वे क्रम और यौगपद्य यदि अक्षणिक पदार्थसे निवृत्त होवेंगे तो अपने व्याप्य अर्थक्रियाको साथमें निवृत्त करा लेवेंगे तथा वह अर्थक्रिया भी निवृत्त होती हुयी अपने व्याप्य सत्त्वको हटा लेवेगी। अर्थात् जैसे घोडे आदिक पशुओंसे निवृत्त होता हुआ मनुष्यत्व अपने व्याप्य माने गये ब्राह्मणत्व, गौडत्व, आदिको भी निवृत्त करा देता है, तैसे ही जो सत् पदार्थ है, उसमें अर्थक्रिया अवश्य होवेगी और अर्थक्रिया जो होगी वह अवश्य क्रम या युगपत्पनेसे ही होगी। कूटस्थ नित्यमें क्रम और युगपत्पना नहीं है। अतः अर्थक्रिया भी नहीं है। अर्थक्रिया

न होनेसे सत्त्व भी नहीं है। इस कारण समुद्रमें तीरको नहीं देखनेवाले पक्षीके अनुसार सत्त्वहेतु क्षणिकत्वके होनेपर ही अवस्थित रहता है। भावार्थ—पोतके काकको नाव (जहाज) के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार सत्पदार्थोंका क्षणिकपना ही शरण है। इस प्रकार बौद्धोंका व्याप्तिको सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण देना तब सिद्ध हो सकता है जब कि क्रम और यौगपद्यका अर्थक्रियाके साथ और उस अर्थक्रियाका सत्त्वके साथ व्यापकव्याप्यभावसिद्ध हो जावे, किन्तु उसकी प्रत्यक्षसे तो सिद्धि होना सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष विचारोंको नहीं करता है, वह तो भभकेसे झट (एकदम) पैदा हो जाता है। चाहे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो, भले ही केवलज्ञान हो। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षसे यदि उक्त संबन्ध निर्णीत हो जाते तो विवाद क्यों पड़ता? । बालगोपाल सभी प्रसन्नतापूर्वक प्रत्यक्ष किये सिद्धान्तको मान लेते। तथा यदि दूसरे अनुमानोंसे ही सत्त्वका व्यापक अर्थक्रियाको और अर्थक्रियाका व्यापक क्रम, यौगपद्यको साधोगे तब तो अनवस्थादोष कैसे नहीं होगा? क्योंकि उन अनुमान प्रमाणोंकी प्रवृत्ति भी व्याप्तिके विना न होगी और वहां व्याप्यव्यापकभावको सिद्ध करनेके लिये पुनः अनेक प्रमाणों की मूलतत्त्वको नाशनेवाली आकांक्षा बढती ही जावेगी। जो कि अनवस्थाका कारण है।

तत्सिद्धावपि नाक्षणिके क्रमयौगपद्ययोर्निवृत्तिर्सिद्धा शश्वदविच्छिन्नात्मन्येवानुभवेऽनेककालवर्तित्वलक्षणस्य क्रमस्योपपत्तेर्यौगपद्यस्य वाविच्छिन्नानेकप्रतिभासलक्षणस्य तत्रैव भावात्।

अस्तुतोष न्यायसे उस व्याप्यव्यापक भावके सिद्ध हो जानेपर भी अनेक क्षणोंतक रहनेवाले अक्षणिकमें क्रम और यौगपद्यकी निवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि सदा ही (सर्वदा) नहीं विच्छिन्न स्वरूप वस्तुमें ही अनुभव (विज्ञान) द्वारा अनेक कालोंमें वर्तनेवालापन स्वरूप क्रमका होना बन पाता है और अविच्छिन्न होकर अनेक प्रतिभास कराना स्वरूप युगपत्पना भी अनेक क्षणवर्ती उस वस्तुमें ही अनुभव द्वारा पाया जाता है। भावार्थ—मृत्तिकाके अनेक क्षणोंतक अविच्छिन्नरूपसे स्थित रहनेपर ही स्थास, कोष, कुशूल, आदि पर्यायोंके क्रम बनते हैं और आत्माके कालान्तरस्थायी होनेपर बाल्य, कुमार, यौवन, आदि अवस्थाओंके क्रम बनते हैं तथा घटके नील, मीठा, सुगन्ध, ठण्डा, गोल, आदि परिणामोंका युगपत्पना कालान्तरतक घटके स्थित रहनेपर ही बनता है। एक क्षणमें ही समूल चूल घटके नष्ट हो जानेपर वे परिणाम कैसे भी नहीं हो सकते हैं। ऐसे ही आत्माके स्थिर होनेपर ही इच्छा, क्रोध, राग, द्वेष, मतिज्ञान, आदि परिणामोंका युगपत्पना बनता है। अन्यथा अश्वविषाणके समान असत्से उपादान कारणके विना किसीकी भी युगपत् उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तैसे ही ज्ञानका अनेक कालोंमें वर्तना रूप क्रम और एकदम अनेक नील, पीत, आदिक आकारोंका प्रतिभास होनारूप यौगपद्य उस ज्ञानके अविच्छिन्न अनेक क्षणवर्ती अक्षणिक माननेपर ही बनते हैं। सर्वथा क्षणिक ज्ञानमें नहीं।

सुखसंवेदने प्राच्यदुःखसंवेदनाभावान्नाविच्छिन्नमेकं संवेदनं यदनाद्यनन्तकालवर्तितया क्रमवत् स्यादिति चेन्न, सुखदुःखाद्याकाराणामनाद्यविद्योपदर्शितानामेव विच्छेदात्। एतेन नानानीलपीतादिप्रतिभासानां देशविच्छेदाद्युगपत्सकलव्यापिनोनुभवस्याविच्छेदाभावः प्रत्युक्तः, तत्त्वतस्तद्विद्विच्छेदाभावात्। ततो न क्षणिकमद्वयं संवेदनं नाम तस्य व्यापि नित्यस्यैव प्रतीतिसिद्धत्वात्।

यदि यहां कोई यों कहे कि सुखका भले प्रकार ज्ञान करनेपर पहिलेके दुःखका प्रतिभास नहीं होता है। अतः अन्तरालसहित चला आया हुआ एक संवेदन नहीं सिद्ध हुआ जो कि अनादिकालसे अनन्तकालतक वर्तनेवाला होकरके क्रमवान् (क्रमसहित) हो जाता। आचार्य समझाते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि सुख, दुःख, पश्चात्ताप, आत्मगौरव आदि विकल्पनाएं जो कि अनादिकालकी अविद्याके द्वारा दिखायी जारही हैं उन्हींका विच्छेद हो रहा है। भावार्थ— सुखमें दुःखका तथा कषाय करते समय मन्दकषाय भावोंका भले ही अन्वय न होय, किन्तु प्रतिभासपनेकी सन्तति अविच्छिन्न होकर चलती रहती है। इस कथनसे अनेक नील, पीत, आदि स्वसंवेदनोंका देशसे व्यवधान होनेके कारण एक समयमें ही सम्पूर्ण सम्वेदनोंमें व्यापक रहनेवाले अनुभवका अविच्छिन्नपना नहीं है यह भी खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि परमार्थरूपसे उस प्रकाशरूप संवित्तिका विच्छेद नहीं हो पाया है। अर्थात् एक द्रव्यके क्रमसे होनेवाले परिणामोंमें और एक साथ होनेवाले परिणामोंमें ध्रौव्यरूप अन्वय बने रहनेके कारण कालान्तरस्थायी पदार्थमें ही क्रम, युगपत्पना, अर्थक्रिया, और सत्त्व, बन सकते हैं। कूटस्थ या क्षणिकमें उसीका क्रमसे होकरके हो जानापन और युगपत् नवीन नवीन अनेक परिणामोंकी धाराका बहना ये दोनों नहीं बनते हैं। तिस कारण सिद्ध हुआ कि एक क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाला शुद्ध अद्वैत संवेदन कोई नाम मात्रको भी वस्तु नहीं है। किन्तु अनेक आकारोंमें व्यापनेवाले तथा अनेक समयों तक ठहरने वाले स्वरूप नित्य उस संवेदन की ही प्रतीतियोंसे सिद्धि हो रही है।

तदेवास्तु ब्रह्मतत्त्वमित्यपरस्तं प्रत्याहः—

सर्वथा क्षणिक और अणुरूप विज्ञानके अद्वैतको माननेवाले बौद्धों प्रति स्याद्वादियोंके द्वारा नित्य और व्यापक संवेदनकी सिद्धि करा देनेपर दूसरे ब्रह्माद्वैतवादी अपना प्रयोजन सिद्ध हो गया समझते हुए बोल उठे कि वह नित्य, व्यापक, चैतन्य ही परब्रह्म तत्त्व हो जाओ! इस प्रकार सुयोग्य अवसर पाकर एकान्तकी पुष्टि करनेवाले उन ब्रह्माद्वैतवादियोंके प्रति आचार्य महाराज प्रकर्ष पूर्वक स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

यच्चित्प्रकाशसामान्यं सर्वत्रानुगमात्मकम्।
तत्प्रकाशविशेषाणामभावे केन वेद्यते ॥ १४ ॥

जो तुम्हारा माना हुआ चैतन्यस्वरूप प्रतिभाससामान्य सर्वत्र अविच्छिन्नरूपसे रहनेवाला अनुगम स्वरूप है वह विशेष विशेष प्रकारोंके न होनेपर भला किससे जाना जा सकता है ? अर्थात् सभी प्रकार विशेषोंसे रीते उस चित्सामान्यका ज्ञान नहीं हो सकता है। जगत्में कोई भी पदार्थ विशेष अंशोंसे रहित नहीं है। " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

केनचिद्विशेषेण शून्यस्य संवेदनस्यानुभवेऽपि विशेषान्तरेणाशून्यत्वान्न सकलविशेषविरहितत्वेन कस्यचित्तदनुभवः खरशृंगवत्।

किसी एक विशेषसे सर्वथा रहित संवेदनका अनुभव हो जानेपर भी अन्यविशेषोंसे वहां शून्यपना नहीं है कारण कि गर्दभके सींग समान सम्पूर्ण विशेषोंसे रहितपनेसे किसी भी पदार्थका वह समीचीन अनुभव नहीं हो सकता है। अर्थात् किसी न किसी विशेषसे सहित (आक्रान्त) ही सामान्यका संवेदन होता है विशेषोंसे रीता कोरा सामान्य खरविषाणके समान असत् है।

नात्र संवेदनं किंचिदनंशं बहिरर्थवत्।
प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च सांशस्यैकस्य वेदनात् ॥ १५ ॥

इस जगत्में बहिर्भूत अर्थके समान कोई भी संवेदन अंशोंसे रहित नहीं है। यानी नील, घट, आदि बहिरंग अर्थ जैसे अंशोंसे परिपूर्ण हैं उसी भान्ति अंतरंग ज्ञान, सुख, आदि भी अनेक स्वांशोंसे भरे हुए हैं। बहिरंग पदार्थ हो और चाहे अन्तरंग पदार्थ हो, एक सांशका ही प्रत्यक्षरूपसे ज्ञान हो रहा है। ऐसी दशामें ब्रह्माद्वैत भला कैसे ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं। विशेष अंशोंको मानना ही पडा जो कि अद्वैतका विरोधी है।

यथैव हि क्षणिकमक्षणिकं वा नानैकं वा बहिर्वस्तु नानंशं तस्य क्षणिकेतरात्मनो नानैकात्मनश्च साक्षात् प्रतिभासनात् तथान्तःसंवेदनमपि तदविशेषात्।

जिस ही प्रकार पर्यायार्थिक नयसे एक क्षणतक ठहरनेवाला क्षणिकरूप और नानारूप तथा द्रव्यार्थिक नयसे अक्षणिक और एकरूप बहिरंग वस्तु अंशोंसे रहित नहीं है। क्योंकि हम क्या करें। क्षणिक और इससे निराला अक्षणिकरूप तथा अनेक और एक स्वरूप तदात्मक हो रही उस बहिरंग वस्तुका प्रत्यक्षसे प्रतिभास हो रहा है। तिस ही प्रकार अन्तरंग संवेदन भी अनंश नहीं है। क्योंकि अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंके अंशसहितपनेकी प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रतीति होनेमें कोई विशेषता नहीं है, समानता है।

स्वांशेषु नांशिनो वृत्तौ विकल्पोपात्तदूषणम्।
सर्वथार्थान्तरत्वस्याभावादंशांशिनोरिह ॥ १६ ॥

तादात्म्यपरिणामस्य तयोः सिद्धेः कथञ्चन ।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाच्च न प्रतीतिविरुद्धता ॥ १७ ॥

स्याद्वादियों करके अंतरंग और बहिरंग पदार्थोंकी सांश रूपसे सिद्धि हो चुकनेपर एकान्तवादी अपने अंशोंमें अंशीके वर्तनेके विकल्प ग्रहण कर पहिले दिये गये दूषणोंको कहते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां अंश अंशीका सर्वथा भेद माननेपर वे दोष लागू हो जाते हैं। किन्तु यहां स्याद्वादसिद्धान्तमें अंशी और अंशोंका सभी प्रकारोंसे भेद होना नहीं माना है। उन अंश और अंशीका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नामका परिणाम होना प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो रहा है। किसी भी प्रतीतिसे विरोध नहीं है। हस्त, पाद, ग्रीवा, पेट, आदि अवयवोंमें शरीर अवयवीका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है यह प्रतीतिसिद्ध है। संयोग, समवाय, आदि सम्बन्ध माननेपर अनेक दोष आते हैं।

स्वांशेष्वंशिनः प्रत्येकं कात्स्न्र्येन वृत्तौ बहुत्वमेकदेशेन सावयवत्वमनवस्था चेति न दूषणं सम्यक्त्वस्य स्वांशेभ्यो भिन्नस्यानभ्युपगमात् । कथंचित्तादात्म्यपरिणामस्य प्रसिद्धेस्तस्यैव समवायत्वेन साधनात् ।

उक्त वार्तिकोंका भाष्य इस प्रकार है। अद्वैतवादी कहते हैं कि अपने अंशोंमें अंशीका पूर्ण रूपसे वर्तना मानोगे तब तो जितने अंश हैं उतने प्रत्येक अंशी हुए। इस ढंगसे अंशी बहुत हो जावेंगे। यदि एक देशसे वृत्ति मानोगे तो उक्त दोष टल गया। किन्तु प्रथमसे ही अवयवीको सांशपना मानना पडेगा और इन पहिले अंशोंमें भी अवयवीकी एक देशसे वृत्ति मानी जावेगी तो फिर भी पहिलेसे ही अवयवीको सांशपना यानी पूर्ववर्ती अन्य अवयवोंसे सहितपना सिद्ध हो चुका होगा। तब तो तीसरे एकदेशरूपी अंशोंसे सहित अवयवीको सांशपना मानते हुए अनवस्था हो जावेगी। भावार्थ—सहस्र तन्तुरूप अवयवोंमें एक पटरूप अंशीकी यदि सम्पूर्ण पटपनेसे एक एक तन्तुमें वृत्ति मानी जावेगी तब तो एक तन्तुमें पूरा एक पट रह गया और दूसरेमें दूसरा पट रह गया, इस प्रकार वे पटसहस्र हो जावेंगे। यदि हजार तन्तुओंमें एक एक भागसे पटकी वृत्ति मानी जावेगी, यानी हजार भागोंसे एक पट हजार तन्तुओंमें विद्यमान है, इस पक्षमें पटके बहुत (हजार) पनेका प्रसंग तो निवृत्त हो गया, किन्तु अवयवोंमें वृत्ति होनेके पूर्व ही दूसरे अवयवोंकी अपेक्षा पटमें सांशपना था यों मानना पडेगा। तभी तो वह अपने एक देशसे रहेगा अब उन दूसरे अनेक अंशोंमें भी एक एक भागसे पटकी वृत्ति मानी जावेगी तो तीसरे अंशोंसे भाग सहितपना पटको पहिले हीसे मान लेना पडेगा। उन तीसरे अंशोंमें भी चौथे अंशोंसे सहित पटकी एक एक भाग करके वृत्ति मानते मानते अनवस्था हो जावेगी। पांचवें अंशोंमें वर्तनेके लिये छठवें आदि अंशोंसे बनाये गये एक एक भागकी आकांक्षायें बढती जावेगी। कहीं दूर जाकर भी ठहर नहीं

सकोगे। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार दिये गये दूषण समीचीन नहीं है। क्यों कि उस अवयवीको अपने अंशोंसे सर्वथा भिन्न हम स्वीकार नहीं करते हैं। अंश और अंशीका सम्बन्ध कथञ्चित् तादात्म्य परिणाम ही प्रसिद्ध हो रहा है। उस तादात्म्य सम्बन्धकी ही समवायपनेसे सिद्धि की गयी है। अर्थात् वैशेषिकोंके माने गये नित्य, एक, और अनेकोंमें रहनेवाले समवायमें अनेक दूषण आते हैं। परिशेषमें वह समवाय कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धरूप ही निर्दोष सिद्ध होता है। अंश और अंशी कथञ्चित् भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। जबसे वे दोनों हैं, तभीसे कथञ्चित् तदात्मक परिणमन करते हुए ही चले आ रहे हैं, ऐसा सबको दीख रहा है।

न चांशांशिनोस्तादात्म्यातादात्म्ये विरुद्धे प्रत्यक्षतस्तथोपलम्भाभावप्रसंगात्। न च तथोपलम्भोनुमानेन बाध्यते तस्य तत्साधनत्वेन प्रवृत्तेः। तथाहि—ययोर्न कथञ्चित्तादात्म्यं तयोर्नांशांशिभावो यथा सह्यविन्ध्ययोः, अंशांशिभावश्चावयवावयविनोर्धर्मधर्मिणोर्वा स्वेष्टयोरिति नैकान्तभेदः। तदेवं परमार्थतोंशांशिसद्भावात्सूक्तं वस्त्वंश एव तत्र च प्रवर्तमानो नयः।

अंश और अंशियोंका कथञ्चित् तदात्मक होना और कथञ्चित् तदात्मक न होकर कथञ्चित् भेद होना ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं है, यदि विरुद्ध माने जावेंगे तो प्रत्यक्षके द्वारा अंश और अंशीके तिस प्रकार भिन्न अभिन्न रूपसे दीखनेके अभावका प्रसंग होगा। परस्परमें कथंचित् भिन्न, अभिन्न, हो रहे तन्तु और पट तथा लेज और डोरा ये प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाने जा रहे हैं। तथा तिस प्रकार अंश और अंशीका दीखना अनुमान प्रमाणसे भी बाधित नहीं है। वह अनुमान तो प्रत्युत उस प्रत्यक्षका साधक होकर प्रवर्त रहा है। तिसीको स्पष्ट कर दिखाते हैं कि जिन पदार्थोंमें कथंचित् तादात्म्य नहीं है उनमें अंश अंशीपना भी नहीं है। जैसे कि दूरवर्ती उत्तर और दक्षिणमें पडे हुए विन्ध्याचल तथा सह्यपर्वतमें अवयव अवयवीपना नहीं है। कपाल घट, तन्तु पट, डोरा लेज, आदि अवयव अवयवियोंमें तथा ज्ञान आत्मा, प्रतिभास विज्ञान, रूप पुद्गल अथवा सत्त्व वस्तु, आदि अपने अपने इष्ट होरहे धर्म और धर्मियोंमें अंशअंशी भाव है। अतः उनमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। उनमें एकान्तसे भेद नहीं है। तिस कारण इस प्रकार परमार्थरूप करके अंशअंशीभावके विद्यमान होनेसे हमने इस सूत्रकी चौथी पांचवीं कारिकाओंमें बहुत अच्छा कहा था कि विकलादेशी वाक्यका विषय वस्तुका अंश ही है। अवस्तु नहीं है। उसमें प्रवर्त रहा स्व और अर्थके एकदेशका निर्णय स्वरूपनय ज्ञान है। भावार्थ—स्व और अर्थके एकदेशको निर्णय करनेवाला वस्त्वंशग्राही नय होता है। यहांतक उस प्रकरणका सन्दर्भ मिला दिया है।

स्वार्थैकदेशव्यवसायफललक्षणो नयः प्रमाणमिति कश्चिदाह।

अपने ज्ञानस्वरूप और विषयरूप अर्थके एकदेशका निर्णय करनारूप फल है, स्वरूप जिसका, ऐसा नयज्ञान तो प्रमाण हो जावेगा, इस प्रकार कोई कह रहा है।

यथांशिनि प्रवर्त्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता ॥
तथांशेष्वपि किं न स्यादिति मानात्मको नयः ॥ १८ ॥

चौथी वार्त्तिकमें उठायी गयी शंकाका किया गया समाधान हमको सन्तोषजनक नहीं हुआ है। क्योंकि अंशीमें प्रवर्त रहे ज्ञानको प्रमाणपना जैसे इष्ट किया है, तिसी प्रकार अंशोंमें प्रवृत्त हो रहे नयज्ञानोंको भी स्वार्थ ग्राहकपना होनेसे प्रमाणपना क्यों न हो जावे। इस कारण नयज्ञान भी प्रमाणस्वरूप ही है। अंशीने भी वस्तुके पूरे शरीरका ठेका नहीं ले रखा है। वह अंशी भी तो वस्तुका एक कोण है, यह तिसी तार्किकका आक्षेप है।

यथांशो न वस्तु नाप्यवस्तु। किं तर्हि ? वस्त्वंश एवेति मतं, तथांशी न वस्तु नाप्यवस्तु तस्यांशित्वादेव वस्तुनोंशांशिसमूहलक्षणत्वात्। ततोंशेष्विव प्रवर्तमानं ज्ञानमंशिन्यपि नयोस्तु नो चेत् यथा तत्र प्रवृत्तं ज्ञानं प्रमाणं तथांशेष्वपि विशेषाभावात्। तथोपगमे च न प्रमाणादपरो नयोस्तीत्यरः।

आप जैनोंने पांचवीं कारिकामें कहा था तदनुसार नयके द्वारा जाना गया अंश ही पूर्ण वस्तु नहीं है और वह अंश वस्तुका सर्वथा निषेधरूप अवस्तु भी नहीं है। तो क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वह वस्तुका अंश ही है। इस प्रकार जैसे आप जैनोंका मन्तव्य है। तिसी प्रकार यों भी कहो कि अंशी ही पूरा वस्तु नहीं है। और अवस्तु भी नहीं है। क्योंकि वह तो अंशी ही है जब कि इन अंगरूप प्रत्येक अंश और अंशियोंसे निराली अंश अंशियोंका समुदायस्वरूप ही पूर्ण वस्तु है। तिस कारण एक कोण अंशोंमें प्रवर्त रहा ज्ञान जैसे नय माना जाता है, वैसे ही वस्तुके अंशीमें भी प्रवर्त रहा ज्ञान नय हो जाओ ! उसको बलात्कारसे प्रमाण क्यों कहा जाता है। यदि अंशीमें वर्त रहे ज्ञानको नय न कहोगे तो जैसे अंशीमें प्रवृत्त हो रहा ज्ञान प्रमाण माना जाता है, तिसी प्रकार अंशोंमें भी प्रवर्त रहा ज्ञान प्रमाण हो जाओ ! उसको पक्षपात वश नय क्यों कहा जाता है ? क्योंकि वस्तुके अंगभूत अंश और अंशीके जाननेकी अपेक्षा इनमें कोई अन्तर नहीं है और ऐसी परिस्थिती हो जानेपर हमारे प्रभावमें आकर आप जैन यदि तिस प्रकार स्वीकार कर लोगे यानी एक एक अंशको जाननेवाले ज्ञानको भी प्रमाण मान लोगे तो प्रमाणसे भिन्न कोई दूसरा नय ज्ञान नहीं हो पाता है। इस प्रकार कोई दूसरा वादी आक्षेप कर रहा है। अब ग्रंथकार उत्तर देंगे कि–

तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ॥ १९ ॥
धर्मिधर्मसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥ २० ॥

वह आक्षेप करना ठीक नहीं है क्योंकि जब सम्पूर्ण धर्मोंको गौणरूपसे जानना अभिप्रेत है और अंशीका प्रधानरूपसे जानना इष्ट है। तब उस अंशीमें भी मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिक नयका ही व्यापार माना गया है। प्रमाणका नहीं। किन्तु जब धर्म और धर्मी दोनोंके समूहको प्रधानपनेकी विवक्षासे जानना अभीष्ट है। तब उस ज्ञानको प्रमाणपनेसे निर्णय किया गया है। इस कारण प्रमाणसे भिन्न नयज्ञान है। भावार्थ—अंशीको प्रधान और अंशको गौण या अंशोंको प्रधान अंशीको गौणरूपसे जाननेवाला ज्ञान नय है और अंश अंशी दोनोंको प्रधानरूपसे जाननेवाला ज्ञानप्रमाण है।

गुणीभूताखिलांशेंशिनि ज्ञानं नय एव तत्र द्रव्यार्थिकस्य व्यापारात्। प्रधानभावार्पितसकलांशे तु प्रमाणमिति नानिष्टापत्तिरंशिनोत्र ज्ञानस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगमात्। ततः प्रमाणादपर एव नयः।

गौण हो रहे हैं अंश जिसके ऐसे अंशीको विषय करनेवाला ज्ञान नय ही है। क्योंकि वहां द्रव्यार्थिक नयका जाननेके लिये व्यवहार हो रहा है। किन्तु प्रधानपनेसे विवक्षित हो रहे हैं सम्पूर्ण अंश जिसके ऐसे अंशीमें प्रवृत्त हो रहा ज्ञान तो प्रमाण है। इस प्रकार हम जैनोंको यहां कोई अनिष्ट प्रसंग हो जानेकी आपत्ति नहीं है। यहां प्रधान अंशवाले अंशीके ज्ञानको प्रमाणपनेसे हमने स्वीकार किया है। तिस कारण उस अंशीको जाननेवाले प्रमाणसे भिन्न ही नय है।

नन्वेवमप्रमाणात्मको नयः कथमधिगमोपायः स्यान्मिथ्याज्ञानवदिति च न चोद्यम्। यस्मात्—

यहां शंका है कि नय यदि इस प्रकार प्रमाणसे भिन्न है तो अप्रमाणस्वरूप नय भला जीवादिकोंके समीचीन अधिगम करनेका उपाय कैसे हो सकेगा? जैसे कि मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञप्तिको नहीं करा सकता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो कुचोद्य न करना। जिस कारणसे कि—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥ २१॥

नयज्ञान न तो अप्रमाण है और न प्रमाणस्वरूप माना गया है। किन्तु वह ज्ञानस्वरूप होता हुआ प्रमाणका एकदेश तो हो सकेगा। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं है। विरोध यहां उपलक्षण है। साथमें कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, संशय, व्यभिचार आदि भी दोष नहीं आते हैं।

प्रमाणादपरो नयोऽप्रमाणमेवान्यथा व्याघातः सकृदेकस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वनिषेधासम्भवात्। प्रमाणत्वनिषेधेनाप्रमाणत्वविधानादप्रमाणप्रतिषेधेन च प्रमाणत्वविधेर्गत्यन्तराभावादिति न चोद्यं, प्रमाणैकदेशस्य गत्यन्तरस्य तद्भावात्। नहि तस्य प्रमाणत्वमेव

प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नस्य नयस्यापि प्रमाणत्वं भेदस्यैवानुपगमात् देशदेशिनोः कथञ्चिद्भेदस्य साधनात् ।

इसका कारिका भाष्य यों है कि जैनोंके द्वारा प्रमाणसे भिन्न मान लिया गया नयज्ञान अप्रमाण ही है । अन्यथा यानी प्रमाणपने और अप्रमाणपने दोनोंका उसमें निषेध करोगे तो व्याघात दोष होगा । एक ही समय एक पदार्थमें विप्रतिषिद्ध प्रमाणपने और अप्रमाणपनेका निषेध करना असंभव है। अर्थात् जीव और अजीव या घट और अघट ये तुल्यबल विरोधी पदार्थ दोनों एक समय कहीं नहीं पाये जाते है । जो घट है, वह अघट नहीं और जो अघट है, वह घट नहीं है । घटका निषेध करनेपर उसी समय अघटका विधान हो जावेगा और अघटका निषेध करनेपर उसी समय घटकी विधि होजावेगी । दोनोंका निषेध किसी वस्तुमें एक समय नहीं कर सकते हो । ऐसे ही जीव अजीवमें लगा लेना । जीवका निषेध करते ही उसी समय अजीवपनेकी विधि हो जाती है और अजीवके निषेध करनेपर तत्काल जीवकी विधि हो जाती है। दोनोंका एकदम किसीमें निषेध नहीं कर सकते हो। यहां प्रकरण प्राप्त नयमें प्रमाणपनेका निषेध करनेसे उसी समय अप्रमाणपनका विधान हो जावेगा और अप्रमाणपनेका प्रतिषेध करनेसे प्रमाणपनेकी विधि हो जावेगी । विप्रतिषिद्ध हो रहे दोनों धर्मोंके युगपत् निषेध करनेका आप जैनोंके पास अन्य कोई उपाय नहीं है । दो नाव या दो घोडेपर चढनेवालेके समान वस्तुका विरुद्ध धर्मोंसे आरूढ हो जानेपर पेट फटकर नाश हो जाता है । अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह कुचोद्य न करना। क्योंकि प्रमाणका एकदेशपन हमारे पास अन्य तीसरा उपाय विद्यमान है । जैसे सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद इन दोनोंसे न्यारा तीसरा कथंचित्भेद, अभेद प्रशस्त मार्ग है अथवा समुद्र और असमुद्रसे भिन्न समुद्रका एकदेश है । तैसे ही प्रमाण और अप्रमाणसे भिन्न होता हुआ नयज्ञान प्रमाणका एकदेश है । उस नयको पूर्णरूपसे प्रमाणपना ही नहीं है । क्योंकि एकान्त करके प्रमाणसे अभिन्न नयको हमने इष्ट नहीं किया है । तथा वह नय सर्वथा अप्रमाणरूप भी नहीं है । क्योंकि एकान्तरूपकरके प्रमाणसे नयका भेद ही हमने स्वीकार नहीं किया है । देश और देशवान्का किसी अपेक्षासे भेद माना गया है । एकदेशरूप नयका और सर्वदेशीस्वरूप प्रमाणका कथंचित् भेद हमने सिद्ध किया है । जहां सर्वथा दो ही प्रकार हैं । वहां विप्रतिषिद्ध दोनोंका एकदम निषेध नहीं कर सकते हैं, किन्तु जहां तीसरा, चौथा, मार्ग अवशिष्ट है । वहां दोका निषेध करनेपर भी तीसरा पथ निकल आता है ।

येनात्मना प्रमाणं तदेकदेशस्य भेदस्तेनाप्रमाणत्वं येनाभेदस्तेन प्रमाणत्वमेवं स्यादिति चेत् किमनिष्टं देशतः प्रमाणाप्रमाणत्वयोरिष्टत्वात्, सामस्त्येन नयस्य तन्निषेधात् समुद्रैकदेशस्य तथासमुद्रत्वासमुद्रत्वनिषेधवत् ।

कोई कहता है कि जिस स्वरूप करके उस एकदेशरूप नयका प्रमाणसे अपेक्षाकृत भेद माना गया है तिस स्वरूपसे नयको अप्रमाणपना आया और जिस स्वरूप करके प्रमाणसे नयका अपेक्षाकृत अभेद है उस स्वरूपसे एकदेश नयको प्रमाणपना ही प्राप्त होगा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो कहना क्या हमको अनिष्ट है ? अर्थात् इष्ट है। हम नयज्ञानमें एक एक देशसे प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों इष्ट करते हैं। हां, नयको सम्पूर्णपनेसे प्रमाणपन और अप्रमाणपनेका निषेध किया गया है, जैसे कि समुद्रके एकदेशको तिस प्रकार पूर्णरूपसे समुद्रपन और असमुद्रपनका निषेध किया जाता है। हां एक अंशसे उसमें दोनों धर्म विद्यमान हैं।

कात्स्न्येन प्रमाणं नयः संवादकत्वात्तस्येष्टप्रमाणवदिति चेन्न, अस्यैकदेशेन संवादकत्वात् कात्स्न्येन तदसिद्धेः। कथमेवं प्रत्यक्षादेस्ततः प्रमाणत्वसिद्धिस्तस्यैकदेशेन संवादकत्वादिति चेन्न, कतिपयपर्यायात्मकद्रव्ये तस्य तत्त्वोपगमात्। तथैव सकलादेशित्वप्रमाणत्वेनाभिधानात् सकलादेशः प्रमाणाधीन इति।

यहां कोई अनुमान करता है कि नय (पक्ष) सम्पूर्णपनेसे प्रमाण है (साध्य) सफल प्रवृत्ति या समीचीन ज्ञप्ति करानेवाला होनेसे (हेतु) जैसे कि अपनेको इष्ट प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रमाण हैं (दृष्टान्त)। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस नयको एकअंश करके संवादकपना है। पूर्णरूपसे संवादकपना वह हेतु पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। इसपर पुनः कोई बोलता है कि तब तो प्रत्यक्ष, स्मृति आदिको उस संवादकपना हेतुसे इस प्रकार प्रमाणपना कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि वे अस्मदादिकोंके प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान, आदिक भी तो एकदेश करके ही सम्वादक हैं। संपूर्णरूपसे सफल प्रवृत्ति करानेवाले नहीं हो सकते हैं। द्रव्यकी कुछ इनी गिनी पर्यायोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष भला पूर्णरूपसे निर्णय करानेवाला संवादक कैसे हो सकता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि कितनी एक पर्यायस्वरूप द्रव्यमें प्रवर्त रहे उस प्रत्यक्षको पूर्णतासे वह संवादकपना इष्ट किया है। सकल वस्तुको कहनेवाले वाक्यका तिसही प्रकार प्रमाणपने करके कथन किया गया है। वस्तुका पूर्णरूपसे कथन करनारूप सकलादेश तो प्रमाणके अधीन है। भावार्थ—सर्वज्ञके अतिरिक्त अस्मदादिकोंके प्रमाणज्ञानोंको सकलादेशीपना यथायोग्य संभवतः ही माना जाता है वस्तुका जितना अंश हम लोग जान सकते हैं उसमें ही सकलपने और विकलपनेका विभाग कर दिया जाता है, उतने अंशमें प्रत्यक्ष, स्मरण, आदिको संवादकपना प्रसिद्ध हो ही रहा है, यह तात्पर्य है।

न च सकलादेशित्वमेव सत्यत्वं विकलादेशिनो नयस्यासत्यत्वप्रसंगात्। न च नयोऽपि सकलादेशी, विकलादेशो नयाधीन इति वचनात्। नाप्यसत्यः सुनिश्चितासंभवद्बाधत्वात् प्रमाणवत्। ततः सूक्तं सकलादेशि प्रमाणं विकलादेशिनो नयादभ्यर्हितमिति सर्वथा विरोधाभावात्।

वस्तुके सकल अंगोंको कथन करनारूप सकलादेशीपन ही अकेला सत्य नहीं है। यों तो वस्तुके विकल अंगका निरूपण करनेवाले नयको असत्यपनेका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है। मिश्रित अन्नोंके स्वाद समान प्रत्येक अन्नमें भी गम्भीर स्वाद है। इस प्रसंगको दूर करनेके लिये नयको भी सकलादेशी कह देना ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि विकल आदेश करना नयके अधीन है। ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। और वह वस्तुका एकदेशी निरूपण करना रूप विकलादेश या नयज्ञान असत्य भी नहीं है। क्योंकि प्रमाण ज्ञानकी सत्यताके समान बाधक प्रमाणोंका भले प्रकार निश्चय-रूपसे असम्भव होनेके कारण नयज्ञान भी सत्य माना गया है। तिस कारण हमने इस सूत्रकी तीसरी वार्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि सकलादेशी प्रमाण उस विकलादेशी नयसे अधिक पूज्य है। इस प्रकार कहनेमें सभी प्रकारोंसे विरोधका अभाव है।

प्रमाणेन गृहीतस्य वस्तुनोंशेविगानतः।
संप्रत्ययनिमित्तत्वात्प्रमाणाच्चेन्नयोर्चितः॥ २२॥
नाशेषवस्तुनिर्णीतेः प्रमाणादेव कस्यचित्।
तादृक् सामर्थ्यशून्यत्वात् सन्नयस्यापि सर्वदा॥ २३॥

प्रमाणके द्वारा ग्रहण कर लिये गये वस्तुके अंशमें निर्दोषरूपसे भली प्रतीतिका निमित्त हो जानेके कारण नयज्ञान प्रमाणसे पूज्य है। अथवा प्रमाणसे जान लिये गये विषयके अवान्तर अंशमें कुछ संशय रह गया था। उस संशयको दूर कर समीचीन ज्ञप्तिका जनक होनेके कारण नयज्ञान प्रमाण से पूज्य है। इस प्रकार कटाक्ष होनेपर आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि चाहे किसी भी प्रमाणके सम्पूर्णरूपसे वस्तुका निर्णय करना प्रमाणज्ञानसे ही होता हुआ संभव है। समीचीन से भी अधिक समीचीन किसी भी नयकी तिस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुका निर्णय कर लेनेकी सदा (कभी भी) सामर्थ्य नहीं है। अर्थात् वस्तुको संपूर्णरूपसे प्रमाण ज्ञान जानता है। प्रमाणसे जान चुकनेपर उस वस्तुके एक अंशमें नयज्ञान प्रवर्तता है। ऐसी दशामें प्रमाणसे अधिक पूज्य नयज्ञान नहीं हो सकता है। एक विदग्ध विद्वान् व्याकरण, सिद्धांत, न्याय, साहित्य, दर्शन आदि अनेक विषयोंका पारगामी है। और दूसरा विद्वान् केवल साहित्यके कुछ विशेष अंशोंको ही भले प्रकार जानता है। फिर भी वह उस षट् शास्त्रीसे अधिक आदरणीय कैसे भी नहीं माना जाता है।

नयोऽभ्यर्हितः प्रमाणात् तद्विषयांशे विप्रतिपत्तौ संप्रत्ययहेतुत्वादिति चेन्न, कस्यचित्प्रमाणादेवाशेषवस्तुनिर्णयात्तद्विषयांशे विप्रतिपत्तेरसम्भवान्नयात् संप्रत्ययासिद्धेः। कस्यचित् तत्संभवे नयात्संप्रत्ययसिद्धिरिति चेत्, सकले वस्तुनि विप्रतिपत्तौ प्रमाणात् किं न

संप्रत्ययसिद्धिः। सोयं सकलवस्तुविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थात् प्रमाणाद्वस्त्वेकविप्रतिपत्ति-निरसनसमर्थं सन्नयमभ्यर्हितं ब्रुवाणो न न्यायवादी।

व्याख्या इस प्रकार है नैयायिकका आक्षेप है कि प्रमाणसे नय अधिक पूज्य है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि उस प्रमाणके विषयभूत वस्तुके विशेष अंशमें विवाद उत्पन्न होनेपर नयज्ञान ही निर्णय करानेका निमित्त होता है (हेतु)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये। कारण कि किसी भी जीवको प्रमाण द्वारा पूरे वस्तुका निर्णय हो जानेसे उस विषयके विशेष अंशमें जब संशयपूर्वक विवाद होना ही असम्भव है, तब नयसे सम्प्रतिपत्ति होना तो असिद्ध है। यदि यहां पर नैयायिक यों कहें कि किसी किसी ज्ञाताको विशेष अंशमें उस विप्रतिपत्तिके सम्भव होनेपर नयज्ञानसे भली प्रतीति होना सिद्ध देखा गया है, अतः नय पूज्य है। ऐसा कहनेपर तो हम समझाते हैं कि सम्पूर्ण वस्तुमें विवाद हो जानेपर क्यों नहीं प्रमाणके द्वारा समीचीन निर्णय होना सिद्ध माना जाता है। वस्तुके एक अंशमें विवाद होनेपर निर्णय करानेवाले नयज्ञानसे वस्तुके सकल अंशमें समारोप हो जानेपर निर्णय करानेवाले प्रमाणज्ञानको ही पूज्यपना आता है। एक रोगको दूर करनेवाली औषधिसे सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाली औषधि अधिक आदरणीय है। अतः यह प्रसिद्धवादी पक्षपातवश संपूर्ण वस्तुमें हुयी विप्रतिपत्तिके निराकरण करनेमें समर्थ हो रहे प्रमाण ज्ञानसे वस्तुके एक अंशमें हुयी विप्रतिपत्तिके निवारणमें समर्थ हुये समीचीन नयको पूज्य कह रहा है, ऐसा आग्रही पण्डित न्यायपूर्वक कहनेवाला नहीं समझा जा सकता है। नामसे नहीं किन्तु अर्थसे भी जिसको न्यायपूर्वक कहनेकी टेव है उसके ऊपर भारी उत्तरदायित्व स्थित है। तभी तो आचार्यने नयकी अपेक्षा पूज्य प्रमाणका पहिले प्रयोग किया है।

मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशोस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥ २४ ॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वाविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥ २५ ॥

कोई शंका करते हैं कि आप जैनोंने यों कहा था कि प्रमाणोंसे जान ली गयी वस्तुके अंशोंमें नयज्ञान प्रवर्तते हैं, किन्तु मतिज्ञानसे अथवा अवधिज्ञानसे भी एवं मनःपर्ययज्ञानसे भी जान-लिये गये अर्थके अंशोंमें तो नयोंकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है। क्योंकि वे मति आदिक तीन ज्ञान सम्पूर्ण देश कालके अर्थोंको विषय नहीं कर पाते हैं ऐसा विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका है। किन्तु सम्पूर्ण देशकालवर्ती वस्तुका समीचीन ज्ञान होनेपर ही नयज्ञानकी प्रवृत्ति होना माना गया है।

अतः तीन प्रमाणोंसे जान ली गयी वस्तुके अंशमें तो उस नयकी प्रवृत्ति न हुयी। इस प्रकार किन्हीं तर्क करनेवालोंने भाषण किया था। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो युक्त ही है, क्योंकि तिस प्रकार हम इष्ट करते हैं। यानी मति, अवधि और मनःपर्ययसे जान ली गयी वस्तुके अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं है।

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात् मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिरप्यशेषविषयाकरणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः।

जो अर्थ मति, अवधि, और मनःपर्यय, इन तीन ज्ञानोंमेंसे किसी एक प्रमाणसे भी ग्रहण कर लिया गया है। उस अर्थके अंशमें नयज्ञान नहीं प्रवर्तते हैं, क्योंकि वे नयज्ञान संपूर्ण देश,काल, सम्बन्धी अर्थके अंशोंको विषय करते हैं। जैसे कि द्रव्यार्थिक नयसे सभी नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयसे सब पदार्थ अनित्य हैं। किन्तु मति आदि यानी मति, अवधि, मनःपर्यय, ये तीनों ज्ञान परिमित देश कालोंके अर्थोंको जानते हैं, उन सम्पूर्ण देश कालोंके अर्थोंको ये तीन ज्ञान विषय नहीं करते हैं। मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ मानस मतिज्ञान भी सम्पूर्ण देश कालके विषयोंको नहीं जान पाता है। क्योंकि इन्द्रियोंके योग्य विषयमें अथवा उनकी जातिवाले अतीन्द्रिय विषयोंमें भी मानस मतिज्ञान प्रवर्तता है। पुद्गल, धर्मद्रव्य, संसारी आत्मा, आदिके संपूर्ण देश कालवर्ती अंशोंमें परोक्षरूपसे भी मानस मतिज्ञान नहीं प्रवर्तता है। भलें ही धर्म आदिको कुछ अंशोंसे जानले, किन्तु नैगम, संग्रह, आदि नयोंकी प्रवृत्तिका क्षेत्र तो बहुत बडा माना गया है।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥ २६ ॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥ २७ ॥

तीनों काल संबन्धी विषय होरहे संपूर्ण पदार्थोंके अंशोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण उन नयज्ञानोंका मूल कारण केवलज्ञान मान लिया जाय, यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि अपने विषयोंकी परोक्ष (अस्पष्ट) रूपसे विकल्पना करते हुए नयज्ञान वर्त रहे हैं। किन्तु केवलज्ञानका प्रतिभास तो स्पष्ट होता है। केवलज्ञानको मूल भित्ति मानकर यदि नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होती तो नयोंके द्वारा पूर्ण विशद प्रतिभास हो जानेका प्रसंग आवेगा। नयज्ञान तो विषयोंको विशद जानता नहीं है। अतः परिशेष न्यायसे श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर ही नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है। प्रमाणोंके समान नयके इस सिद्धान्तको भविष्य ग्रन्थमें स्पष्ट कहेंगे अथवा जैसे समीचीन युक्तियोंसे

प्रमाण की सिद्धि है वैसे ही प्रथम अध्यायके अन्तिम सूत्रमें नय कही जावेंगी। वे भी श्रुतज्ञान मूलक ही सिद्ध होवेंगी।

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः।

तात्पर्य यह है कि जैसे ही प्रमाणभूत श्रुतज्ञान अधिगमसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनके कारण होरही तत्त्वार्थोंकी अधिगतिका समीचीन उपाय होता हुआ सिद्ध है। और मति, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान स्वरूप प्रमाणोंकी सिद्धि भी भविष्य ग्रन्थमें कह दी जावेगी। तिस ही प्रकार श्रुतज्ञानको मूल कारण मानकर सिद्ध हो रहे नयज्ञान भी कह दिये जावेंगे। अर्थात् मति आदिक पांच ज्ञानोंको जैसे प्रमाणपना कहा जावेगा, तैसे ही श्रुतमूलक नैगम आदिको नयपना भी सिद्ध कर दिया जावेगा। प्रमाण और नय दोनों करके पदार्थोंका अधिगम होता है। वे नय परोक्ष आकारपनेसे वर्त रहे हैं, यानी नयोंसे जाने गये पदार्थका अस्पष्ट प्रतिभास होता है। सर्वज्ञके पास नयज्ञान नहीं हैं। निर्विकल्पक समाधि अथवा उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणीमें श्रुतज्ञान तथा नयज्ञान होते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यय, ज्ञानका वहां विशेष उपयोग नहीं हैं। हां! कभी कभी अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञानसे पदार्थका प्रत्यक्ष कर उसका ध्यान लगाया जा सकता है। पांच ज्ञानोंमें चार ज्ञान अविचारक हैं। अकेला श्रुतज्ञान ही विचार करनेवाला है। नयज्ञान भी विचारक है। तभी तो श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर नयोंकी प्रवृत्ति मानी है।

ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्याम स्तद्वत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात्। तर्हि स्पष्टस्यावधेर्मनःपर्ययस्य वा भेदाः स्वयमस्पष्टा न युज्यन्ते श्रुताख्यप्रमाणमूलत्वे तु नयानामस्पष्टावभासित्वेनाविरुद्धानां सूक्तं तेभ्यः प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वात् प्राग्वचनम्।

तिस ही कारण यानी नयोंके द्वारा परोक्ष (अस्पष्ट) प्रतिभास होनेके कारण ही हम इस कथनको युक्त नहीं समझते हैं कि तीनों काल सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थोंके अंशोंमें वर्तनेके कारण नयोंका मूलकारण केवलज्ञान मान लिया जाय। क्योंकि उस केवलज्ञानके समान उन नयोंको भी स्पष्ट प्रतिभासीपनका प्रसंग हो जावेगा। मूलके अनुसार शाखायें होती हैं। तब तो विशदस्वरूप अवधि अथवा मनःपर्ययज्ञानोंके भेद स्वयं अस्पष्ट होयं, यह भी तो युक्त नहीं है। इस कारणसे भी नयज्ञान अवधि, मनःपर्ययके विशेष अंश नहीं कहे जा सकते हैं। किन्तु श्रुतज्ञान नामक प्रमाण ज्ञानको मूल कारण माननेपर तो नयोंका अस्पष्ट प्रतिभासीपनेसे कोई विरोध नहीं है। अतः हमने इस सूत्रकी दूसरी वार्तिकमें बहुत ठीक कहा था कि अकेले श्रुतज्ञानसे जाने गये अंशको अविशदरूप जाननेवाले उन नयोंसे स्पष्ट और अस्पष्टरूप करके संपूर्ण सांश वस्तुओंको जाननेवाले केवलज्ञान,

अवधि, मनःपर्यय, और मति, श्रुतज्ञानरूप प्रमाणोंका पूज्यपन होनेके कारण सूत्रमें पहिले वचनप्रयोग किया गया है।

ननु प्रमाणनयेभ्योऽधिगमस्याभिन्नत्वान्न तत्र तेषां करणत्वनिर्देशः श्रेयानित्यारेकायामाहः—

यहां तर्क है कि प्रमाण और नयोंसे अधिगम होना जब अभिन्न है तो सूत्रमें उन प्रमाण नयोंको साधकतमरूप करणपनेसे तृतीयान्त कथन करना अच्छा नहीं है। अधिगमके समान प्रमाण नय भी प्रथमान्त होने चाहिये। इस प्रकार शंका होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट (टकासा) उत्तर कहते हैं—

प्रमाणेन नयैश्चापि स्वार्थाकारविनिश्चयः।
प्रत्येयोधिगमस्तज्ज्ञैस्तत्फलं स्यादभेदभृत् ॥ २८ ॥
तेनेह सूत्रकारस्य वचनं करणं कृतः।
सूत्रे यद्घटनां याति तत्प्रमाणनयैरिति ॥ २९ ॥

प्रमाण और नयों करके भी अपने और अर्थका उल्लेख करता हुआ ठीक निश्चय होता है उन प्रमाण नयोंके वेत्ता विद्वानों करके उस निश्चयको ही अधिगम समझ लेना चाहिये। प्रमाण नयोंसे अभेदको धारण करनेवाला अधिगम उन प्रमाण नयोंका फल है। तिस कारण इस सूत्रमें सूत्रकार श्रीउमास्वामीका वचन करणरूप कर दिया गया है। जिस प्रकार सूत्रमें घटित हो जाता है। उस प्रकार " प्रमाणनयैः " ऐसा तृतीयान्त निर्देश किया गया है। क्रियारूप फल प्रथमान्त होता है। उसका जनक तृतीयान्त होता है। भावार्थ—अग्निना दहति, अग्निसे जलता है, यहां करणसे क्रिया अभिन्न हो रही है। तैसे ही प्रमाण और नयोंसे अधिगम होना यहां भी करणसे फलरूप क्रिया कथंचित् अभिन्न है। किसी अपेक्षासे भिन्न भी है।

न हि प्रमाणेन नयैश्चाव्यवसायात्माधिगमः क्वचित्संभाव्यः क्षणक्षयादावपि तत्प्रसंगात्। व्यवसायजननः स्वयमनध्यवसायात्माप्यधिगमो युक्त इति चेन्न, तस्य तज्जननविरोधात् स्वलक्षणवत्।

बौद्धोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि तुम्हारे मतमें प्रमाण और नयों करके निश्चय रूप अधिगम होना कहीं भी संभावित नहीं है। अन्यथा क्षणिकपने, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिमें भी निश्चय हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—बौद्धोंने निर्विकल्पक प्रमाण ज्ञानसे अनध्यवसाय रूप निर्विकल्पक ज्ञप्ति होना ही इष्ट किया है। निर्विकल्पक प्रमाणोंसे निश्चयात्मक ज्ञप्ति होना असम्भव है। स्वलक्षणके क्षणिकपनेका और दानी जीवकी स्वर्गप्रापणशक्तिका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं

होता है, किंतु अनध्यवसाय रूप ज्ञान होता है। बौद्धोंके यहां वास्तविक पदार्थोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (अनिश्चयरूप) ज्ञान होना माना है। निश्चयरूप ज्ञप्ति तो मिथ्याज्ञानोंसे होती है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वयं अनध्यवसाय स्वरूप निर्विकल्पक अधिगमसे भी उत्तरक्षणमें व्यवसाय (निश्चय) हो जाना युक्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि स्वलक्षणके समान निर्विकल्पक ज्ञानसे निश्चयात्मक सविकल्पककी उत्पत्ति होनेका विरोध है। अर्थात् बौद्धोंके यहां स्वलक्षण अनिर्देश्य है। धर्म धर्मी, स्वभाव स्वभाववान्, आधार आधेय, आदि झूंठी कल्पनाएं उसमें नहीं हैं। अतः विकल्परहित है। तभी तो विकल्परहित स्वलक्षणसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक माना गया है। इसी युक्तिसे हमारा कहना है कि निर्विकल्पक अर्थ (स्वलक्षण) से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे व्यवसायरूप नहीं होता है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञानसे भी निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। बौद्धोंके यहां वस्तुभूत क्षणिक परमाणु, विज्ञान, नील, पीत आदि पदार्थोंकेलिये स्वलक्षण शब्दका प्रयोग करना पारिभाषिक है।

बोधः स्वयमविकल्पकोपि विकल्पमुपजनयति न पुनरर्थ इति किं कृतो विभागः ? पूर्वविकल्पवासनापेक्षादविकल्पप्रतिभासाद्विकल्पस्योत्पत्तौ कथमर्थात्तादृशान्नोत्पत्तिः। यथा चाप्रतिभातादर्थात्तदुत्पत्तावतिप्रसंगस्तथा स्वयमनिश्चितादपि।

बौद्धोंकी निर्बलताको आचार्य महाराज बता रहे हैं कि प्रमाण ज्ञान स्वयं निर्विकल्पक होता हुआ भी निश्चयरूप विकल्पको उत्पन्न कर देवे, किन्तु निर्विकल्पक स्वलक्षणरूप अर्थ सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न न करे, यह विभाग किस नियमसे किया गया है ? अर्थात् जिस कारणसे ज्ञान उत्पन्न होगा वह ज्ञान उस कारणके अनुरूप ही बनेगा। तभी तो निर्विकल्पक अर्थसे उत्पन्न निर्विकल्पक प्रमाण माना है। तिसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी निर्विकल्पक ही होगा। निश्चयरूप सविकल्पक कैसे भी नहीं। यदि आप बौद्ध पूर्वकालमें हुयीं विकल्प वासनाओंकी अपेक्षा रखते हुए निर्विकल्पक ज्ञानसे निश्चयस्वरूप विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मान लोगे तो पूर्व विकल्पवासनाओंकी अपेक्षा रखनेवाले तैसे अर्थसे ही क्यों नहीं सीधी (व्यवधानरहित) विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मान ली जाय, बीचमें निर्विकल्पक ज्ञानकी परम्परा देनेका परिश्रम व्यर्थ क्यों उठाया जाता है ? जिस प्रकार आप बौद्ध यों कह सकते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञानसे नहीं जान लिये गये अर्थसे एकदम उस विकल्पकी उत्पत्ति माननेमें अतिप्रसंगदोष होगा। यानी नील, पीत, आदि अर्थसे पर्वत, समुद्र, आदि चाहे जिसका भी विकल्पज्ञान बन बैठेगा। तिस प्रकार ही हम कह सकते हैं कि स्वयं नहीं निश्चय किये निर्विकल्पकसे भी विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें अतिप्रसंगदोष होगा। अर्थात् चाहे जिस अनिश्चित अर्थका विकल्पक ज्ञान हो जाओ ! कौन रोक सकता है ?।

यदि पुनरर्थदर्शनं तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकत्वाद्विकल्पस्य जनकं तदा क्षणक्षयादौ विकल्पजननप्रसंगस्तत एव तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषात्।

यदि फिर बौद्ध यों कहें कि अर्थका निर्विकल्पक दर्शन तो उसकी विकल्पवासनाका जगानेवाला होनेसे विकल्पज्ञानको उत्पन्न कर देता है। विना जाने हुए अर्थसे चित्तमें बैठी हुयी विकल्पवासनाएं प्रबुद्ध नहीं होपाती हैं। तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण क्षणमें क्षय हो जाना, स्वर्गप्रापण करा देना आदि निर्विकल्पकसे जाने हुए विषयोंमें भी विकल्पके उत्पन्न हो जानेका प्रसंग होगा जब कि नील पीत, आदि स्वलक्षणोंके उस निर्विकल्पक ज्ञानने नील आदिमें होनेवाले विकल्पज्ञानकी जननी विकल्पवासनाका जैसे प्रबोध कराया है। उसी प्रकार क्षणिकत्वका निर्विकल्पक ज्ञान भी वहां क्षणिकत्वके विकल्पज्ञानको उत्पन्न करानेमें भी सहायक हो रही विकल्पवासनाका प्रबोधक हो जावेगा। कोई अन्तर नहीं है तो फिर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा अनध्यवसायरूपसे जानलिये गये क्षणनाशीकपनेका या दानी विज्ञानकी स्वर्गप्रापणशक्तिका अथवा हिंसककी नरकप्रापणशक्तिका निश्चयरूप विकल्पज्ञान क्यों न हो जाय ? जो कि आपको इष्ट नहीं है।

क्षणक्षयादावनभ्यासान्न तत्तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकमिति चेत्, कोयमभ्यासो नाम ? बहुशो दर्शनमिति चेन्न, तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषादभावासिद्धेः। तद्विकल्पोत्पत्तिरभ्यास इति चेत् तस्य कुतः क्षणक्षयादिदृष्टावभावः ? तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावादिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावेभ्यासाभावस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति।

यदि बौद्ध यों कहें कि क्षणिकत्व आदिमें अभ्यास नहीं होनेके कारण वह क्षणिकत्वका निर्विकल्पक ज्ञान उसकी विकल्पवासनाका उद्बोधक नहीं है। नील, पीतमें अभ्यास हो जानेसे वासना शीघ्र उद्बुद्ध हो जाती है, इसपर तो हम पूंछेंगे कि आपके यहां यह अभ्यास भला क्या पदार्थ माना गया है ? बताओ ! बहुत बार किसी विषयका निर्विकल्पक ज्ञान हो जाना तो अभ्यास नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा अभ्यास तो नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंमें जैसे है उसीके समान उन क्षणक्षय आदिके दर्शनमें भी विद्यमान है कोई अन्तर नहीं है। अतः उस अभ्यासका क्षणिकत्व आदिमें अभाव कहना असिद्ध है। जो नील, पीत, आदिको जानता है उसी समय उनके वस्तुभूत क्षणिकत्व आदिको भी निर्विकल्पक द्वारा जान लेता है। यदि उनके विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जाना ही अभ्यास माना जावेगा तो क्षणिकत्व आदिके निर्विकल्पक दर्शनमें उस अभ्यासका अभाव है। यह कैसे कहा जाय ? बताओ। यदि उनकी विकल्पवासनाओंका प्रबोध करानेवाला न होनेसे अभ्यासका अभाव कहा जावेगा तब तो यह वही अन्योन्याश्रयदोष हुआ। क्षणिकत्व आदिमें हुए निर्विकल्पकदर्शनको उन क्षणक्षय आदिकी विकल्पवासनाओंके प्रबोधकपनेका अभाव सिद्ध हो जाय। तब विकल्प उत्पन्न हो जानारूप अभ्यासका अभाव सिद्ध होय, और अभ्यासके अभावकी सिद्धि हो जानेपर क्षणिकत्वमें हुए निर्विकल्पकको उसकी विकल्पवासनाका प्रबोधकत्वाभाव सिद्ध

होवे। विकल्पकी उत्पत्तिके नियम करनेका प्रश्न चल रहा है, किन्तु उसीमें विकल्पकी उत्पत्तिरूप अभ्यासको नियामक माना जावेगा तो स्पष्टरूपसे परस्पराश्रय दोष है।

एतेन नीलादौ दर्शनस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वाभ्यासेभ्योऽन्योन्याश्रयो व्याख्यातः। सति तद्वासनाप्रबोधकत्वे तद्विकल्पोत्पत्तिलक्षणोभ्यासस्तत्र च सति तदिति नीलादाविव क्षणक्षयादावपि दर्शनस्यास्याविशेष एव, क्वचिदभ्यासस्यानभ्यासस्य वा व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

इस कथनसे नील, पीत आदिमें हुए दर्शनको उनकी विकल्प वासनाओंका प्रबोधकत्वरूप अभ्यासोंसे भी अन्योन्याश्रय [illegible] व्याख्यान कर दिया जान लेना चाहिये। उन नील, आदिकोंकी वासनाओंका प्रबोधकपना होनेपर उनका विकल्पज्ञान उत्पन्न होना स्वरूप अभ्याससिद्ध होय और विकल्पोत्पत्तिरूप उस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर उनकी वासनाका प्रबोधकत्व सिद्ध होय। भावार्थ—पहिले विकल्पवासनाओंके प्रबोधकपनेको मध्यमें डालकर विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासका अन्योन्याश्रयदोष दिया था और अब वासनाको प्रबोध करनेवाले विकल्पकी व्यवस्था करनेके लिये विकल्पोत्पत्तिको मध्यमें डालकर वासनाप्रबोधकत्वसे अन्योन्याश्रयदोष दिया है। इस प्रकार नील आदिके समान क्षणक्षय, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिमें भी इस निर्विकल्पक दर्शनके हो जानेका कोई अन्तर नहीं है। ऐसी दशामें कहीं नील, पीत, आदिको हीमें तो अभ्यास स्वीकार कर लेना और कहीं क्षणिकत्व आदिमें अभ्यास न मानना ऐसी पक्षपातपूर्ण व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

वस्तुस्वभावान्नीलादावनुभवः पटीयांस्तद्वासनायाः प्रबोधको न तु क्षणक्षयादाविति चेत्, किमिदं तत्रानुभवस्य पटीयस्त्वं ? तद्विकल्पजनकत्वमिति चेत् तदेव कुतः ? तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत् सोयमन्योन्यसंश्रयः। स्पष्टत्वं तु यदि तस्य पटीयस्त्वं तदा क्षणक्षयादावपि समानम्।

बौद्ध कहते हैं कि हम क्या करें ? वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। जिससे कि नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंमें उत्पन्न हुआ अत्यन्त कुशल अनुभव तो उन नील, पीत, आदिके विकल्पज्ञानोंकी वासनाका प्रबोधक हो जाता है। किन्तु क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदिकोंमें उत्पन्न हुआ अनुभव इतना दक्ष नहीं है जो कि उनके विकल्पोंकी वासनाओंका जगानेवाला हो सके। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि बतलाओ ! उन नील, आदिमें हुए प्रत्यक्ष ज्ञानरूप अनुभवकी यह अत्यन्त कुशलता क्या पदार्थ है ?। इसपर बौद्ध यदि यह उत्तर देवें कि उनमें विकल्पज्ञानको पैदा करा देना ही अनुभव की दक्षता है, तब तो फिर हम पूंछेंगे कि वह विकल्पज्ञानकी जनकतारूप दक्षता भला कहांसे आयी ? बतलाओ ! इसका समाधान बौद्ध यदि यह करें कि उन नील, आदिककी विज्ञानरूप आत्मामें बैठी हुयी वासनाका उद्बोधकपना हो जानेसे अनु-

भवको विकल्पज्ञानकी जनकता आ जाती है ऐसा माननेपर तो यह वही परस्पराश्रयदोष हुआ। कारकपक्षमें हुआ अन्योन्याश्रय विशेष खटकनेवाला दोष है। यदि स्पष्टपना उस अनुभवकी दक्षता कही जावेगी तब तो वह स्पष्टपना क्षणिकत्व आदिमें भी समानरूपसे विद्यमान है। भावार्थ— बौद्ध मतके अनुसार नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा जैसे स्पष्ट अनुभव हुआ है, वैसा ही पदार्थोंके क्षणिकपनेका या हिंसक जीव की नरकप्रापणशक्ति आदिका भी स्पष्ट ज्ञान हो चुका है, अन्यथा वे क्षणिकत्व आदिक वास्तविक नहीं हो सकते थे। वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना ही बौद्धोंने माना है। अनुमान प्रमाण तो जान लिये गये विषयमें भ्रमवश उत्पन्न हुए समारोपको दूर करनेवाला बौद्धोंने स्वीकार किया है।

प्रकरणार्थित्वापेक्षो नीलादावनुभवस्तद्वासनायाः प्रबोधक इत्यप्यसारम्, क्षणक्षयादावपि तस्याविशेषात्। सत्यपि क्षणक्षयादौ प्रकरणार्थित्वे च तद्विकल्पवासनाप्रबोधकाभावाच्च नीलादौ न तदपेक्षं दर्शनं तत् प्रबोधकं युक्तं, व्यभिचारात्।

अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव और अर्थीपन ये चार उद्बोधक कारण माने गये हैं। नील, पीत, आदिके समान क्षणिकपने आदिमें भी विकल्पज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है? बौद्धोंकी ओरसे इसके उत्तरमें दिये गये अभ्यास और बुद्धिकी अतीव पटुताका विचार होकर खण्डन कर दिया गया है। अब प्रकरण और अर्थीपनका विचार करते हैं। बौद्ध कहते हैं कि नील आदिकोंके विकल्पज्ञान होनेका प्रकरण है। तथा अभिलाषुकता है। अतः प्रकरण और अभिलाषा या जिज्ञासाका विषय हो जानापनकी अपेक्षा रखनेवाला नील आदिकोंमें उत्पन्न हुआ अनुभव तो उनकी विकल्पवासनाओंका उद्बोधक हो जाता है, किन्तु क्षणिकत्व आदिका प्रकरण और प्रयोजन नहीं है। अतः क्षणिकपनेको जाननेवाला निर्विकल्पक ज्ञान उसकी वासनाका प्रबोधक नहीं होता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी साररहित है। क्योंकि क्षणिकत्व आदिमें भी उत्पन्न हुए उस अनुभवको प्रकरण और अर्थित्वकी अपेक्षासे सहितपना समानरूपसे विद्यमान है। कोई विशेषता नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्षणिकत्व आदिमें प्रकरण और अर्थित्वके होनेपर भी अनुभवको उनके विकल्पज्ञानोंकी वासनाका उद्बोधपना नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि नील, आदिकमें भी उन प्रकरण और अर्थित्वकी अपेक्षा रखते हुए निर्विकल्पक ज्ञानको भी उस वासनाका प्रबोधक कहना युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि आप बौद्धोंके माने गये कार्यकारणभावमें व्यभिचारदोष देखा जाता है। कारणके होनेपर कार्यका न होना यह अन्वयव्यभिचार लागू हुआ। व्यभिचारदोष लग जानेसे कोई कार्य समीचीन नहीं हो पाते हैं।

नीलादौ दर्शनस्य सामर्थ्यविशेषस्तत्कार्येण विकल्पेनानुमीयमानस्तद्वासनायाः प्रबोधको नाभ्यासादिति चेत् तर्हि सामर्थ्यविशेषोर्थस्यैव साक्षाद्व्यवसायेनानुमीयमानो व्यवसायस्य जनकोस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया?

बौद्ध कहते हैं अभ्यास, बुद्धिपाटव, प्रकरण, और अभिलाषीपनेसे उन वासनाओंका प्रबोध होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु नील आदिकके निर्विकल्पक ज्ञानके अनन्तर उसका कार्य नील आदिका सविकल्पक ज्ञान होना देखा जाता है और क्षणिकत्वके ज्ञानके पश्चात् उसका विकल्पज्ञानरूप कार्य होता हुआ नहीं दीखता है। अतः नील आदिमें हुए उस निर्विकल्पक दर्शनके कार्यरूप विकल्पज्ञानसे नीलदर्शनकी विशेष सामर्थ्यका अनुमान कर लिया जाता है। वह अनुमानसे ज्ञात किया विलक्षण सामर्थ्य ही नील आदिककी विकल्पवासनाका उद्बोधक है। किन्तु वह विशेषसामर्थ्य क्षणिकत्वके दर्शनमें नहीं है। अतः उसकी विकल्पवासनाओंका प्रबोध नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंके माननेपर तब तो हम कहेंगे कि यह आपका कार्यकारण भाव ठीक है, कार्योंके अनुसार कारणोंमें सामर्थ्य मानना अच्छा मार्ग है। किन्तु आपके कहनेमें थोडीसी कसर है, उसको दूर कर दीजिये। एकदम पदार्थोंमें उत्पन्न हुए निश्चय ज्ञानके द्वारा अनुमान किया गया वह विशेष-सामर्थ्य अर्थके ही साक्षात् निर्णय करनेका जनक हो जाओ! नहीं देखे गये अप्रामाणिक पदार्थकी कल्पनासे क्या लाभ है? अर्थात् अर्थसे पहिले निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न करना और पीछे उस निर्विकल्पकी सामर्थ्यसे सविकल्पक ज्ञान पैदा होना, ऐसा क्रम दीखता नहीं है। किन्तु पहिलेसे ही एकदम वास्तविक अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। विशेष शक्तिका मानना तो आपको आवश्यक है ही, फिर शिरका चक्कर देकर नाक पकडनेके समान परम्परा डालनेकी क्या आवश्यकता है? आप ही सोचो।

यतश्च सामर्थ्यविशेषाद्दर्शनं व्यवसायस्य जनकं तद्वासनायाश्च प्रबोधकं तत एवात्मा तज्जनकस्तत्प्रबोधकश्चास्तु। तथा च नाम्न्येव विवादो दर्शनमात्मेति नार्थे तत्तदावरणविच्छेदविशिष्टस्यात्मन एवेन्द्रियादिबहिरंगकारणापेक्षस्य यथासम्भवं व्यवसायजनकत्वेनेष्टत्वात् तद्व्यतिरेकेण दर्शनस्याप्रतीतिकत्वाच्चेति निवेदयिष्यते प्रत्यक्षप्रकरणे। ततो नाव्यवसायात्मा प्रत्येयोधिगमोर्थानां सर्वथानुपपन्नत्वात्।

दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान जिस विशेष शक्तिके बलसे निश्चयात्मक विकल्पज्ञानका उत्पादक है और उसकी वासनाका उद्बोधक है, तिसही सामर्थ्यसे आत्मा उस निश्चयका जनक और उसकी वासनाका प्रबोधक हो जाओ! एवं तिस प्रकार होनेपर तो हम स्याद्वादी और आप बौद्धोंके नाम रखनेमें ही विवाद है, सिद्धान्त अर्थमें कोई विवाद नहीं। जिसको आप दर्शन कहते हैं, वही हमारे यहां आत्मा है। उन उन ज्ञानावरणोंके क्षयोपशमरूप विशेष अपगमसे युक्त हुआ आत्मा ही इन्द्रिय, मनः, क्वचित् प्रकाश, आदि बहिरंग कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ यथायोग्य निश्चय ज्ञानका जनक होरहा है, ऐसा हम स्याद्वादियोंने इष्ट किया है। यह भी समझने योग्य है कि उस आत्मद्रव्यके अतिरिक्त कोई निर्विकल्पक दर्शन कभी प्रतीत भी नहीं हुआ है।

इस बातका आगेके प्रत्यक्ष प्रकरणमें विस्तारके साथ निवेदन कर दिया जावेगा। तिस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि प्रमाण और नयोंके द्वारा अर्थोंका निश्चयात्मक अधिगम होता है। प्रमाण नयोंसे अर्थोंका अनिश्चयात्मक दर्शन या अनध्यवसाय स्वरूप ज्ञान नहीं होता है। यह विश्वास रक्खो क्योंकि सब ही प्रकारोंसे बौद्धोंका सिद्धान्त युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सका है। यहांतक प्रकरणका उपसंहार कर दिया है।

पुरुषस्य स्वव्यवसाय एवाधिगमो नार्थव्यवसायस्तद्व्यतिरेकेणार्थस्याभावादिति केचिद्वेदान्तवादिनः, तेऽपि न तात्त्विकाः। पुरुषाद्भिन्नस्याजीवार्थस्य जीवादिसूत्रे साधितत्वात् तद्व्यवसायस्यापि घटनात्।

अट्ठाइसवीं कारिकामें श्रीविद्यानन्द आचार्यने कण्ठोक्त कहा है कि प्रमाण और नयों करके स्वयं अपना और अर्थका विकल्प (आकार) करनेवाला निश्चय होता है। इसपर ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि आत्माके अपना व्यवसाय होनेका अधिगम ही होता है। अर्थका निश्चय करना रूप अधिगम नहीं होता। क्योंकि उस ब्रह्मके अतिरिक्त बहिरंग अर्थ कोई नहीं है। इस प्रकार कोई वेदान्तवादी कह रहे हैं, वे भी वास्तविक तत्त्वोंको जाननेवाले नहीं हैं। क्योंकि आत्मासे भिन्न होरहे अजीव पदार्थको हमने चौथे " जीवाजीवास्रव " आदि सूत्रमें सिद्ध कर दिया है। अतः ज्ञान या आत्माके सिवाय उस अजीव अर्थका निर्णय होना भी घटित हो जाता है।

अर्थस्यैव व्यवसायो न स्वस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधात् इत्यपरः सोऽपि यत्किञ्चनभाषी, स्वात्मन्येव क्रियायाः प्रतीतेः। स्वात्माहि क्रियायाः स्वरूपं यदि तदा कथं तत्र तद्विरोधः सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपे विरोधानुषक्तेर्निःस्वरूपत्वप्रसंगात्। क्रियावदात्मा स्वात्मा चेत्, तत्र तद्विरोधे क्रियायाः निराश्रयत्वं सर्वद्रव्यस्य च निष्क्रियत्वमुपढौकेत। न चैवम्। कर्मस्थायाः क्रियायाः कर्मणि कर्तृस्थायाः कर्तरि प्रतीयमानत्वात्।

वैशेषिकका कहना है कि प्रमाण या नयों करके अकेले अर्थका ही निश्चय होता है, स्वयं अपना व्यवसाय नहीं हो पाता है। क्योंकि स्वयं की अपनी आत्मामें क्रिया होनेका विरोध है। कितनी ही पैनी तलवार क्यों न हो, स्वयं अपनेको आप ही नहीं काट सकती है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसी दूसरे वैशेषिक या नैयायिकका कहना है। वह भी जो कुछ मनमें आवे, वैसा कहनेवाला है, युक्त अयुक्तका विचार करनेवाला नहीं है। वास्तवमें देखा जाय तो सम्पूर्ण क्रियाओंकी अपनी आत्मामें ही प्रवृत्ति होना प्रतीत होरहा है। निश्चय नयसे घट, पट, गृह, आत्मा, लोक, आदि सम्पूर्ण पदार्थ अपने आपमें ही रहते हैं। व्यवहार नयसे भी दीपक अपना प्रकाश अपने आप करता है। स्वात्मामें क्रियाका होना विरुद्ध है ऐसा सिद्धान्त करनेपर

आपसे हम पूंछते हैं कि क्रियाका स्वरूप ही यदि स्वात्मा है तब तो भला उस क्रियाके स्वरूपमें क्रियाके वर्तनेका विरोध क्यों होने लगा ? अन्यथा सभी वस्तुओंका अपने अपने स्वरूपमें विरोध होनेका प्रसंग होगा। तथा च सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वरूपरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। अग्निका स्वरूप उष्णता है। आत्माका स्वरूप ज्ञान है। यदि स्वरूपके साथ विरोध होने लग जाय तो अग्नि अनुष्ण हो जायगी और आत्मा अज्ञान जड हो जायगा। यदि स्वात्मामें क्रियाका विरोध है। यहां स्वात्माका अर्थक्रिया आधारस्वरूप अर्थ लिया जाय और ऐसा करनेपर उस क्रियावान्में उस क्रियाके रहनेका विरोध माना जाय। तब तो सम्पूर्ण क्रियायें आश्रयरहित हो जायगी और सम्पूर्ण द्रव्योंको क्रिया-रहितपनेका प्रसंग बढेगा। भावार्थ—जब क्रिया अपने अधिकरणमें ही न रहेगी। विरोध होनेके कारण क्रियाएं स्वार्थ क्रियाके अपने पास न आने देंगे तो क्रिया अवश्य निराश्रय हो जायगी। और विना आश्रयके क्रिया रह नहीं सकती, तथा विरोध होनेके कारण क्रिया जब क्रियावानोंमें न वर्तेगी तो सम्पूर्ण जीव, पुद्गल द्रव्य क्रियारहित होते हुए जहांके तहां ठहरे रहेंगे। किन्तु इस प्रकार क्रियाओंका निराधारपना और द्रव्योंका क्रियारहितपना नहीं देखा जाता है। प्रत्युत देवदत्त भातको पकाता है। यहां कर्ममें रहनेवाली सकर्मक पाकक्रियाका भातरूप कर्ममें ठहरना प्रतीत हो रहा है और बालक डरता है। विद्यार्थी जागता है। यहां कर्तामें रहनेवाली डरना, जागना, रूप अकर्मक क्रियाएं बालक और विद्यार्थियोंमें ठहरती हुयी देखी जा रही हैं। यानी क्रिया साश्रय है और द्रव्य सक्रिय है।

यदि पुनः ज्ञानक्रियायाः कर्तृसमवायिन्याः स्वात्मनि कर्मतया विरोधस्ततोन्यत्रैव कर्मत्वदर्शनादिति मतं, तदा ज्ञानेनार्थमहं जानामीत्यत्र ज्ञानस्य करणतयापि विरोधः स्यात् क्रियातोऽन्यस्य करणत्वदर्शनात्। ज्ञानक्रियायाः करणज्ञानस्य चान्यत्वादविरोध इति चेत्, किं पुनः करणज्ञानं का वा ज्ञानक्रिया ? विशेषणज्ञानं करणं विशेष्यज्ञानं तत्फलत्वात् ज्ञानक्रियेति चेत्, स्यादेवं यदि विशेषणज्ञानेन विशेष्यं जानामीति प्रतीतिरुत्पद्येत्। न च कस्यचिदुत्पद्यते। विशेषणज्ञानेन विशेषणं विशेष्यज्ञानेन च विशेष्यं जानामीत्यनुभवात्। करणत्वेन ज्ञानक्रियायाः प्रतीयमानत्वादविरोधे कर्मत्वेनाप्यत एवाविरोधोऽस्तु, विशेषाभावात्।

यदि फिर किसीका यह मन्तव्य होय कि कर्तामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाली सकर्मक ज्ञान-क्रियाका स्वयं अपने स्वरूपमें कर्मपनेसे रहनेका विरोध है। क्योंकि उस अपने स्वरूपसे भिन्न पदार्थमें ही कर्मपना देखा जाता है। देवदत्त लड्डूको खाता है। यहां खानेवाला देवदत्त है, लड्डूका खाना है, खानारूप क्रिया स्वयं खानेमें नहीं रहती। भक्षणका भक्षण नहीं हो सकता है। इसीके सदृश घटका ज्ञान हो सकता है। ज्ञानका स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता है। एक ज्ञानको

जाननेके लिये दूसरा ज्ञान उठाना पडता है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तब तो " ज्ञान करके अर्थको मैं जानता हूं । " इस स्थलमें ज्ञानका करणपनेके साथ भी विरोध हो जायगा। क्योंकि देवदत्त कुठार करके काठको काटता है, यहां छेदनक्रियासे भिन्न कुठारको करणपना देखा जाता है । अतः ज्ञानक्रियाका ज्ञानकरण भी न होना चाहिये । इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि ज्ञप्तिरूप ज्ञानक्रियासे करणरूप ज्ञान भिन्न है । अतः भिन्न ज्ञानद्वारा ज्ञप्तिक्रिया हो जानेका कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहनेपर हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि फिर बताओ ! आप वैशेषिकोंके मतमें करणज्ञान क्या पदार्थ है ? और उससे न्यारी ज्ञानक्रिया क्या वस्तु है ? बतलाइये । यदि आप विशेषणके ज्ञानको करण और विशेष्यके ज्ञानको उसका फल हो जानेसे ज्ञानक्रिया कहोगे तो इस प्रकार कहना तब सिद्ध हो सकता था कि यदि विशेषणके ज्ञानसे विशेष्यको मैं जान रहा हूं ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती। किन्तु किसी भी जीवके उक्त प्रकारकी प्रतीति उत्पन्न नहीं हो रही है । प्रत्युत विशेषण ज्ञान करके विशेषणको और विशेष्यके ज्ञान करके विशेष्यको मैं जान रहा हूं ऐसा स्पष्टरूपसे अनुभव हो रहा है । दण्डज्ञानसे दण्डीका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु करणरूप दण्डज्ञानसे दण्डज्ञप्ति और करणरूप दण्डिज्ञानसे दण्डीकी ज्ञप्ति हो रही है । हां ! क्वचित् अनुमानके प्रकरणमें धूमज्ञानसे व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा अग्निकी ज्ञप्ति अथवा पुरुष स्मरणकी सहायता पाकर दण्डज्ञानसे दण्डी पुरुषकी ज्ञप्ति हो जाती है । वहां कारकपक्ष या परम्परा ज्ञापकपक्ष है। धूमज्ञान अग्निज्ञानका सहायक कारक हो सकता है, किन्तु यहां अव्यवहित ज्ञापकका पक्ष चल रहा है । यदि वैशेषिक यों कहें कि प्रतीतिके अनुसार वस्तुव्यवस्था मानी जाती है, ज्ञानक्रियाकी करणपनेसे ज्ञानके साथ रहनेकी प्रतीति हो रही है, अतः कोई विरोध नहीं है, तब तो हम कहेंगे कि इस ही प्रतीति होनेके कारण ज्ञानक्रियाका ज्ञानके साथ कर्मपनेसे भी विरोध न होओ ! कथञ्चित् भेदकी अपेक्षा कर्मपने और करणपनेमें कोई अन्तर नहीं है ।

चक्षुरादिकरणं ज्ञानक्रियातो भिन्नमेवेति चेन्न, ज्ञानेनार्थं जानामीत्यपि प्रतीतेः। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुराद्येव ज्ञानक्रियायां साधकतमं करणमिति चेत् न, तस्य साधकतमत्वनिराकरणात् । तत्र ज्ञानस्यैव साधकतमत्वोपपत्तेः ।

वैशेषिकोंका नेत्र, आलोक, सन्निकर्ष, आदिक करण तो ज्ञानक्रियासे भिन्न ही हैं । इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि चक्षुःकरके मैं देख रहा हूं । इससे बढकर ज्ञान करके मैं अर्थको जान रहा हूं ऐसी भी प्रतीति हो रही है । इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि ज्ञान करके मैं जान रहा हूं, यहां जाना जाय जिस करके इस निरुक्ति द्वारा ज्ञान शब्दके अर्थ नेत्र, आलोक, आदिक ही ज्ञानक्रियामें प्रकृष्ट उपकारक करण पडते हैं सो यह तो न कहना । क्योंकि उन नेत्र,

सन्निकर्ष, आदिको ज्ञप्ति क्रियाके साधकतमपनेका खण्डन कर दिया गया है। उस ज्ञप्ति क्रियामें ज्ञानको ही करणपना युक्तियोंसे सिद्ध हो चुका है।

ननु यदेवार्थस्य ज्ञानक्रियायां ज्ञानं करणं सैव ज्ञानक्रिया, तत्र कथं क्रियाकरणव्यवहारः प्रातीतिकः स्याद्विरोधादिति चेन्न, कथञ्चिद्भेदात्। प्रमातुरात्मनो हि वस्तुपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्यापृतं रूपं करणम्, निर्व्यापारं तु क्रियोच्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्यापृियमाणः कर्तात्मेति निर्णीतप्रायम्। तेन ज्ञानात्मक एवात्मा ज्ञानात्मनार्थं जानातीति कर्तृकरणक्रियाविकल्पः प्रतीतिसिद्ध एव। तद्वत्तत्र कर्मव्यवहारोऽपि ज्ञानात्मात्मानमात्मना जानातीति घटते।

यहां [साक्षेप] शंका है जो ही अर्थकी ज्ञानक्रिया करनेमें ज्ञानकरण है वही तो ज्ञानक्रिया है। फिर भला उसमें क्रियापने और करणपनेका व्यवहार कैसे प्रमाणप्रतीतियोंसे सिद्ध माना जावेगा। यह तो ठेठ विरोध दीख रहा है। जो ही ज्ञानक्रिया है, भला वही करण कैसे हो सकता है? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना; क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्तमें ज्ञप्तिक्रियाका और करणज्ञानका किसी अपेक्षासे भेद माना गया है। जैसे कि अग्निका दाहकं परिणाम और दाहक्रिया न्यारी है। प्रमितिको करनेवाले आत्माके वस्तुकी ज्ञप्ति करनेमें प्रकृष्ट उपकारकपनेसे ही व्यापार करनेवाले स्वरूपको तो करणज्ञान कहते हैं और व्यापाररहित शुद्धज्ञानरूप भावार्थको ज्ञप्तिक्रिया कहते हैं। तथा "स्वतन्त्रः कर्त्ता" फिर स्वतन्त्रतासे व्यापार करनेमें लग रहा कर्ता आत्मा है। इस सिद्धान्तको पहिले हम बहुभाग निर्णीत कर चुके हैं। तिस कारण ज्ञानस्वरूप ही आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव करके अर्थको ज्ञानस्वरूपपन जानता है। इस प्रकार कर्ता, कर्म और क्रियाके आकारोंका विकल्प करना प्रतीतियोंसे सिद्ध ही है। तिन ही के समान उस ज्ञानमें कर्मपनेका व्यवहार भी प्रतीतिसिद्ध समझ लेना। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपको अपने ज्ञानस्वरूप करके ही जानता है यह समीचीन व्यवहार होना घट जाता है। "जानातीति ज्ञानं" जो जानता है, वह ज्ञान है। इस प्रकार कर्तामें युट् प्रत्यय करनेसे ज्ञानका अर्थ आत्मा हो जाता है और "ज्ञायते अनेन" ऐसा करणमें युट् करनेसे ज्ञानका अर्थ प्रमाणरूप करणज्ञान हो जाता है तथा "ज्ञायते यत्" ऐसा कर्ममें युट् करनेपर ज्ञानका अर्थ स्वयं ज्ञानका स्वरूप हो जाता है। "ज्ञानं ज्ञप्तिर्वा ज्ञानं" इस प्रकार भावमें युट् करनेपर ज्ञानका अर्थ ज्ञप्तिक्रिया हो जाता है। ज्ञान पदार्थमें अनेक स्वभाव हैं। अतः भिन्न भिन्न निमित्तोंकी अपेक्षासे कर्ता, कर्म, करण, और क्रियापन बन जाता है।

सर्वथा कर्तृकरणकर्मक्रियानामभेदानभ्युपगमात्, तासां कर्तृत्वादिशक्तिनिमित्तत्वात् कथञ्चिद्भेदसिद्धेः। ततो ज्ञानं येनात्मनार्थं जानाति तेनैव स्वमिति वदतां स्वात्मनि

क्रियाविरोध एव, परिच्छेद्यस्य रूपस्य सर्वथा परिच्छेदकस्वरूपादभिन्नस्योपगतेश्च । कथञ्चित्तद्भेदवादिनां तु नायं दोषः ।

सभी प्रकारोंसे कर्तापन, करणपन, कर्मपन और क्रियापनका अभेद होना हम स्वीकार नहीं करते हैं । उन कर्ता, करण, कर्म और क्रियाओंका कर्त्तापन आदि न्यारी न्यारी शक्तियोंके निमित्तसे किसी अपेक्षा भेद भी सिद्ध हो रहा है । अथवा एक ज्ञान धर्मीमें कर्तापन आदिका सर्वथा अभेद नहीं है, किन्तु द्रव्यकी अपेक्षा कथञ्चित् अभेद है । और कर्तापने आदि पर्यायोंकी अपेक्षा कथञ्चित् भेद है । तिस कारण ज्ञान जिस स्वरूपकरके अर्थको जान रहा है, उस ही स्वरूपकरके यदि स्वयं अपनेको जानता है, इस प्रकार कहनेवाले वादियोंके यहां तो अवश्य ही स्वात्मामें क्रियाके होनेका विरोध है ही। क्योंकि जानने योग्य स्वरूपको ज्ञापक स्वरूप करणसे सभी प्रकार अभिन्न मान लिया गया है । विचारकर देखो तो बैलमें स्वयं चलने और गाडी चलानेके स्वभाव न्यारे न्यारे हैं । दीपकमें भी अपनेको प्रकाश करनेवाली और घट आदिकको प्रकाश करनेवाली शक्तियां न्यारी न्यारी हैं । अतः एक ही स्वभावसे स्वको और अर्थको जानने माननेवालोंके मतमें स्वात्मनि क्रियाविरोध नामका दोष अवश्य लागू होगा । किन्तु उन ज्ञेयस्वरूप और ज्ञायक स्वभावका कथञ्चित् भेद माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां तो यह दोष लागू नहीं होता है ।

ननु च येनात्मना ज्ञानमात्मानं व्यवस्यति येन चार्थं तौ यदि ततोऽनन्यौ तदा तावेव न ज्ञानं तस्य तत्र प्रवेशात् स्वरूपवत् ज्ञानमेव वा तयोस्तत्रानुप्रवेशात्, तथा च न स्वार्थव्यवसायः, यदि पुनस्तौ ततोऽन्यौ, तदा स्वसंवेद्यौ, स्वाश्रयज्ञानवेद्यौ वा ? प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञानत्रयप्रसंगः तत्र च प्रत्येकं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च। द्वितीयपक्षेऽपि स्वार्थव्यवसायहेतुभूतयोः स्वस्वभावयोर्ज्ञानं यदि व्यवसायात्मकं तदा स एव दोषोऽन्यथा प्रमाणत्वाघटनात्। ततो न स्वार्थव्यवसायः सम्भवतीत्येकान्तवादिनामुपालम्भः, स्याद्वादिनां न, यथाप्रतीति तदभ्युपगमात् स्वार्थव्यवसायस्वभावद्वयात् कथञ्चिदभिन्नस्यैकस्य ज्ञानस्य प्रतिपत्तेः, सर्वथा ततस्तस्य भेदाभेदयोरसम्भवात्, तत्पक्षभाविदूषणस्य निर्विषयत्वादूषणाभासतोपपत्तेः ।

यहां स्वको और अर्थको जाननेवाला ज्ञान है । इस प्रकार माननेवाले जैनोंके ऊपर बौद्धोंका कटाक्ष है कि जिस स्वभाव करके ज्ञान अपना निश्चय करता है और जिस स्वभाव करके अर्थका निश्चय करता है । ज्ञानके वे दोनों स्वभाव यदि उस ज्ञानसे अभिन्न हैं तब तो उन दो स्वभावोंको ही मानलो ! ज्ञानको मत मानो ! क्योंकि उस ज्ञानका उन दोनों स्वभावोंमें अन्तर्भाव हो जायगा । जैसे

कि दोनों स्वभावोंके स्वभाव (निजस्वरूप)का तादात्म्य होनेके कारण दोनों स्वभावोंमें गर्भ हो जाता है। अथवा ज्ञान और ज्ञानके दोनों स्वभाव यदि अभिन्न हैं तो अकेले ज्ञानको ही मान लिया जाय। उसके दो स्वभावोंको नहीं मानो! उन दोनों स्वभावोंका उस ज्ञानमें अन्तर्भाव हो जायगा और तिस प्रकार अवस्था होनेपर ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थका निर्णय होना नहीं बनता है। यदि जैन फिर उन दोनों स्वभावोंको उस ज्ञानसे भिन्न मानेंगे, तब तो हम बौद्ध पूंछेंगे कि वे ज्ञानके दोनों स्वभाव अपनेको अपने आप जान लेते हैं अथवा अपने आधारभूत ज्ञानके द्वारा दोनों जाने जाते हैं? बतलाइये। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो जैनोंको अपने आप अपनेको जाननेवाले तीन स्वसंवेदी ज्ञान माननेका प्रसंग होगा। एक तो आधारभूत ज्ञान स्वसंविदित माना, दूसरे उसमें रहनेवाले भिन्न दो स्वभाव स्वसंवेद्य मानें। फिर उन तीनों ज्ञानोंमें भी प्रत्येकको स्व और अर्थका निश्चयात्मकपना माना जायगा तो वे ही दो प्रश्न पुनः उठाये जायंगे। अर्थात् वे तीनों ज्ञान या एकज्ञान दो स्वभाव विचारे जिस स्वभावसे अपना और जिस स्वभावसे अर्थका निर्णय करते हैं वे स्वभाव ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न हैं? बताओ। अभेद पक्षलेनेपर दो स्वभावोंको ही मानो! या अकेले ज्ञानको ही मानो! तीनको माननेकी क्या आवश्यकता है? और तैसा माननेपर ज्ञानके द्वारा स्व और उससे न्यारे अर्थका व्यवसाय होना नहीं बन पाता है। भेद पक्ष लेनेपर यद्यपि यह दोष तो लागू नहीं होता है, किन्तु उनको स्वसंवेद्य माना जायगा तो नौ ९ स्वसंविदित ज्ञान मानने पडेंगे और फिर उन नौ ज्ञानोंमें भी प्रत्येकको स्वार्थ निश्चायक मानते हुए यह प्रश्नमाला तदवस्थ रहेगी और महती अनवस्था हो जायगी। दूसरा पक्ष लेनेपर अर्थात् ज्ञानके भिन्न दो स्वभावोंको उनके आधारभूत ज्ञानके द्वारा वेद्य माना जावेगा तो भी स्व और अर्थके निश्चय करानेके कारणभूत उन अपने दोनों स्वभावोंका ज्ञान यदि निश्चयात्मक है तब तो फिर वही दोष लागू होगा। भावार्थ— भिन्न दो स्वभावोंको ज्ञानके द्वारा स्वव्यवसायी माननेपर भिन्न भिन्न अनेक स्वभावोंकी कल्पना करनी पडेगी और वे स्वभाव भी अपने अपने आधारभूत ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य होंगे। अतः पुनः वे ही प्रश्न उठाये जावेंगे और महान् अनवस्था दोष होगा। अन्यथा यानी अपने स्वभावोंको जाननेवाला ज्ञान यदि निश्चयात्मक न माना जायगा तो उसमें प्रमाणपना घटित न होगा क्योंकि जैन लोग निश्चयात्मक ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं। तिस कारण हम बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानके द्वारा अपना और अर्थका निश्चय होना नहीं सम्भवता है। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तवादी बौद्धोंका उलाहना बौद्धोंके ऊपर ही लागू होता है। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई दोष नहीं आता है। क्योंकि हम स्याद्वादी प्रतीतिके अनुसार उस व्यवस्थाको स्वीकार करते हैं। अपने और अर्थके निश्चय करानेवाले दो स्वभावोंसे किसी अपेक्षा अभिन्न ऐसे एक ज्ञानकी विश्वाससहित प्रतीति हो रही है। ज्ञानके स्वभावोंसे ज्ञानका सर्वथा भेद या अभेद होना असम्भव है। अतः बौद्धोंकी ओरसे दिये गये सर्वथा भेद या अभेद पक्षमें होनेवाले दूषणोंका यह स्थल नहीं है। आधारभूत

विषयके विना दूषण भला कहां रहे ? इस कारण उस दिये गये अनवस्थादोषको दोषाभासपना सिद्ध हुआ। स्वभाव और स्वभाववानोंका अग्नि और उष्णताके समान कथंचित् भेद इष्ट किया गया है।

परिकल्पितयोर्भेदाभेदैकान्तयोस्तदूषणस्य प्रवृत्तौ सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसंगात् कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमात्रमपि हि स्वरूपं संवेदयमानं येनात्मना संवेदयते तस्य हेतोर्भेदाभेदैकान्तकल्पनायां यथोपवर्णितदूषणमवतरपि, किं पुनरन्यत्र।

अपने अपने घरमें दूसरों द्वारा कल्पना कर लिये गये सर्वथा भेद और एकान्तरूपसे अभेदको मानकर यदि उन अनवस्था आदि दूषणों की प्रवृत्ति मानी जायगी, तब तो सभी प्रमाणसिद्ध पदार्थोंमें अनेक दूषणोंकी प्रवृत्तिका प्रसंग हो जावेगा। किसी भी वादीके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। आंखें दो होनी चाहिये और अंगूठा एक। काणेपनके समान दो अंगूठेका होना भी दोष है। काणा अपने घरमें एक अंगूठेका दृष्टान्त देकर निर्दोष नहीं हो सकता है और तिस ही प्रकार दो अंगूठेवाला भी दो आंखोंका दृष्टान्त देकर अपनेको निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता है। प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंके द्वारा वस्तुकी व्यवस्था मानी जाती है। मनमानी घरजानी नहीं चल सकती है। हम कहते हैं कि आप बौद्धोंका माना हुआ केवल संवेदनाद्वैत भी अपने स्वरूपका वेदन करता हुआ जिस स्वभावसे संवेदन कर रहा है, उस स्वभावका अपने कारणभूत संवेदनसे सर्वथा भेद या एकान्त अभेद माना जावेगा ठीक वैसा ही तो कुछ तो कल्पना करोंगे। आप बौद्धोंके ऊपर भी उन ही उक्त दूषणोंका अवतार होता है जिस प्रकार कि आपने हम जैनोंके ऊपर दूषण उठाये हैं। फिर अन्य स्थलोंकी तो क्या बात कही जाय ? भावार्थ—अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूट रहा है। दीपक अपने प्रकाशकपन स्वभावसे प्रकाश कर रहा है। बांस अपनी लम्बाई या भारीपनसे नम रहा है। जल अपने द्रवत्वसे बह रहा है, आदि स्थानोंमें भी स्वभाव और स्वभाववानोंका सर्वथा भेद या अभेद माननेपर अनेक दूषण आजावेंगे। जब अद्वैतवादमें ही अनेक दोष उतर आते हैं तो सौत्रान्तिकोंके द्वैतवादमें तो सुलभतासे कल्पित दोषोंका प्रसार हो जायगा। किन्तु जैनोंके कथञ्चित् भेद, अभेद, रूप अभेद्य गढमें दोष सेनाका प्रवेश असम्भव है।

यदि पुनः सम्वेदनं संवेदनमेव, तस्य स्वरूपे वेद्यवेदकभावात् संवृत्या तत्स्वरूपं संवेदयत इति वचनम्। तदा स्वार्थव्यवसायः स्वार्थव्यवसाय एव स्वस्यार्थस्य च व्यवसाय इत्यपोद्धारकल्पनया नयव्यवहारात्। ततो नासम्भवः।

यदि फिर योगाचार यों कहें कि संवेदन तो संवेदन ही है हम बहिरंग पदार्थोंको नहीं मानते हैं। उस विज्ञानके स्वरूपमें ही वेद्यपना और वेदकपना विद्यमान है। वह सम्वेदन अपने स्वरूपको जान रहा है। इस प्रकार भेदपक्षमें होनेवाला वचन केवल व्यवहारसे मान लिया गया है। वस्तुतः अकेले संवेदनमें कर्ता, कर्म, क्रियापना भला कैसे बन सकता है ? इस प्रकार बौद्धोंके

कहनेपर तब तो हम जैन भी कहते हैं कि स्व और अर्थका निर्णय करना तो स्वार्थ निर्णय ही है। अपना और अर्थका निश्चय इस प्रकार पृथक्पनेकी कल्पनासे तो व्यवहार नयके द्वारा भेद मान-लिया गया है। सूर्य स्व, पर, प्रकाशक है ही। यहां भेद डालकर स्व और परके टुकडे कर देना केवल शिष्योंके समझानेका उपाय है। वस्तुतः ज्ञानके स्व पर व्यवसायमें न तो भेद करना चाहिये और न उसका कोई उपमान ही बन सकता है। तिस कारण प्रमाणका स्वार्थ निश्चय करना यह लक्षण असम्भव दोषवाला नहीं है। जैसा कि बौद्धोंने असम्भव दोष देनेका प्रक्रम बांधा था। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रमाणसे स्वार्थका निश्चय होना प्रत्येक सहृदयके अनुभवमें आरहा है।

स्वार्थविनिश्चयस्य स्वसंवेदनेऽर्थव्यवसायासत्त्वादव्याप्तिरिति चेन्न, ज्ञानस्वरूपस्यैवार्थत्वात् तस्यार्थमाणत्वात् अन्यथा बहिरर्थस्याप्यनर्थत्वप्रसंगात्।

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें बहिरंग अर्थका निश्चय होना विद्यमान नहीं है। अतः प्रमाणके स्वार्थविनिश्चय इस लक्षणकी अव्याप्ति हुयी। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वहां ज्ञानका स्वरूप ही अर्थ हो जाता है। "अर्यते गम्यत इत्यर्थः" इस निरुक्तिसे जो जाना जाय या अपनी पर्यायों करके अनुगत किया जाय वह अर्थ है। अतः वह ज्ञानका स्वरूप ही गम्यमान् होनेके कारण अर्थ है। अन्यथा बहिरंग माने गये घट, पट, आदि अर्थोंको भी अनर्थपनेका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ—निरुक्तिसे प्राप्त हुए अभिप्रायके अनुसार जैसे परमाणु, घट, आदि अर्थ हैं उसीके समान ज्ञान भी अर्थ है। यदि ज्ञानको अनर्थ कहोगे तो बहिरंग पदार्थ भी अनर्थ हो जांयगे। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके द्वारा ज्ञानको वास्तविक अर्थ मानना तो अत्यावश्यक पडेगा।

ननु स्वरूपस्य बाह्यस्य चार्थत्वेऽर्थव्यवसाय इत्यस्तु, नार्थः स्वग्रहणेन। सत्यम्। केवलं स्वस्मै योग्योऽर्थः स्वात्मापरात्मा तदुभयं वा स्वार्थ इत्यपि व्याख्याने तद्ग्रहणस्य सार्थकत्त्वान्न दोषः।

फिर बौद्धोंका कटाक्ष है कि अन्तरंग ज्ञानके स्वरूपको और बहिरंग घट, स्वलक्षण, आदि पदार्थोंको यदि अर्थपना इष्ट है तो प्रमाणका लक्षण "अर्थका व्यवसाय करना" इतना ही रहो! स्वपदके ग्रहणसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्व शब्दका अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जो प्रमाणका विषय अर्थ है, वह स्वके लिये योग्य होना चाहिये। केवल स्वके लिये यानी ज्ञानके लिये योग्य अर्थ स्वस्वरूप है। अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, अन्य परस्वरूप, यानी घट, पट आदि रूप है। अथवा उन दोनों स्वरूप स्वार्थ है, इस प्रकारका भी व्याख्यान करनेपर उस स्वका ग्रहण करना प्रयोजनसहित हो जाता है। अतः हमारे प्रमाणके लक्षणमें कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् स्व पदके दिये विना स्वयं ज्ञानके योग्य स्व, पर

और उभय अर्थका ज्ञान द्वारा निर्णय होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता था। ज्ञानके द्वारा योग्य अर्थका ही ग्रहण होता है। अयोग्यका नहीं। ज्ञान महाराज प्रभु हैं दूरवर्तीको जान लें। निकटवर्तीको छोड दें। छोटेको जानें, मोटेको न जानें। सगे कारणको न जानें, विना लग्गाके तटस्थ पदार्थोंको जान लें। पवित्रोंको न जानें, अपवित्रोंको जान लें, योग्यताके विना उनको कोई पराधीन नहीं कर सकता है। मनमौजी सम्राट्के ऊपर पर्यनुयोग नहीं चलता है।

स्वरूपलक्षणेर्थे व्यवसायस्याप्रमाणेऽपि भावादतिव्याप्तिरिति चेत् न, तत्र सर्ववेदनस्य प्रमाणत्वोपगमात्। न च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र विरोधः, संवादासंवाददर्शनात्तथा व्यवस्थानात्। सर्वत्र प्रमाणेतरत्वयोस्तावन्मात्रायत्तत्वादिति वक्ष्यते।

किसीका आक्षेप है कि यदि ज्ञानके स्वरूपको भी अर्थ मान लिया जायगा तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप अप्रमाण ज्ञानोंमें भी प्रमाणका लक्षण पाया जा सकेगा। मिथ्याज्ञान भी अपने स्वरूपको जानते हैं। अतः जैनोंके ऊपर अतिव्याप्ति दोष लगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि उस अपने स्वरूपको जाननेमें प्रमाण, अप्रमाण, रूप सभी ज्ञानोंको प्रमाणपना इष्ट किया गया है। " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " इस कारिकाके द्वारा श्री समन्तभद्र आचार्यने सभी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञानोंको स्वांशमें प्रमाणपन माना है। अतः लक्ष्यमें लक्षण चले जानेसे अतिव्याप्तिका भय नहीं है। एक मिथ्याज्ञानमें स्वको जाननेकी अपेक्षा प्रमाणपन और बहिरंग चांदी, स्थाणु, आदि विषयोंको जाननेकी अपेक्षा अप्रमाणपनाका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि स्वांशको जाननेमें संवाद और बहिरंग विषयको जाननेमें विसंवाद देखा जाता है। अतः एक मिथ्याज्ञानमें प्रमाण और अप्रमाणपनेकी व्यवस्था हो रही है। सभी ज्ञानोंमें प्रमाणपना और अप्रमापना केवल उतने संवाद और विसंवादके अधीन ही माना जाता है। इस बातको आगेके ग्रन्थमें और भी स्पष्ट कह दिया जावेगा। स्वविषयकी निश्चितिको संवाद कहते हैं और स्व विषयकी अनिश्चिति या निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वको विसंवाद कहते हैं।

चक्षुर्दर्शनादौ किञ्चिदिति स्वार्थविनिश्चयस्य भावादतिव्याप्तिरित्यपि न शंकनीयम्। आकारग्रहणात्। न हि तत्र स्वार्थाकारस्य विनिश्चयोऽस्ति निराकारस्य सन्मात्रस्य तेनालोचनात्।

पुनः आरेका है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष या रासनप्रत्यक्षके पूर्वमें होनेवाले चक्षुर्दर्शन या अचक्षुर्दर्शन आदिमें " कुछ है " ऐसा महासत्ताका आलोचनेवाला अपना और अर्थका निश्चय हो जाता है। अतः प्रमाणके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष हुआ। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि लक्षणमें आकारका ग्रहण हो रहा है। " स्वार्थाकार विनिश्चयः " उस दर्शनमें अपना और अर्थका विकल्प करना रूप आकारका विनिश्चय नहीं है। आकाररहित केवल

महासत्ताका तिस दर्शनके द्वारा सामान्य आलोचन होता है। अतः विशेषरूपसे स्वार्थ आकारके निश्चय करानेवाले प्रमाण, नय ज्ञान ही हैं।

विपर्ययज्ञाने कस्यचित्कदाचित् क्वचित्स्वार्थाकारनिश्चयस्य भावादपि नातिव्याप्तिर्विग्रहणात्। विशेषेण देशकालनरान्तरापेक्षबाधकाभावरूपेण निश्चयो हि विनिश्चयः, स च विपर्ययज्ञाने नास्तीति निरवद्यः स्वार्थाकारविनिश्चयोऽधिगमः कात्स्न्र्यतः प्रमाणस्य देशतो नयानामभिन्नफलत्वेन कथञ्चित्प्रत्येयः प्रमाणनयतत्फलविद्भिः। एवञ्च प्रमाणनयैरधिगम इत्यत्र सूत्रे प्रमाणनयानां यत्करणत्वेन वचनं सूत्रकारस्य तद्घटनां यात्येव, भेदेऽधिगमस्य फलस्य कथञ्चिद्भेदसिद्धेः।

किसी निरपेक्ष व्यक्तिको कभी घाम चमकनेपर किसी स्थलपर मृगतृष्णामें जलको जान लेने रूप हुये विपर्यय ज्ञानमें अपने और अर्थके आकारका निश्चय विद्यमान है तो भी प्रमाणके कार्य लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि विनिश्चयमें वि पदका ग्रहण हो रहा है। विशेषरूपसे अर्थात् दूसरे देश, काल, और मनुष्योंकी अपेक्षा बाधकोंके उत्पन्न न होने स्वरूप करके जो निश्चय है। वही विनिश्चय है। ऐसा विशेष निश्चय विपर्ययज्ञानमें नहीं है। रेलगाडीमें जाते हुए मनुष्यको मध्याह्नके समय दूरस्थलमें भले ही बालू, रेत या फूले हुये कासोंमें जलज्ञान हो जाय। किन्तु अन्य निकट रहनेवाले अभ्रान्त मनुष्योंको प्रातःकालके समय वहां जलका विशेष निश्चय नहीं होता है। इस कारण उक्त कारिकाओंमें कही गयी यह बात निर्दोष सिद्ध हो गयी कि प्रमाणरूप करणका सर्वाङ्गरूपसे स्वार्थाकार विनिश्चय स्वरूप अधिगम अभिन्न फल है और एकदेशरूपसे स्वार्थकारका विनिश्चयरूप अधिगम नयोंका अभिन्न फल है। इस ढंगसे प्रमाण, नय और उनके फलको जाननेवाले विद्वानों करके प्रमाणनयोंके अधिगमकी कथंचित् अभिन्न फलपनेसे प्रतीति कर लेनी चाहिये। भावार्थ—प्रमाण और नयकरण हैं तथा उनके द्वारा होनेवाला अधिगम फल है। वह करणज्ञानोंसे कथञ्चित् भिन्न है। कथञ्चित् अभिन्न है। ऐसी व्यवस्था होनेपर "प्रमाणनयैरधिगमः" ऐसे सूत्रमें प्रमाण और नयोंको जो तृतीयान्त करणपनेसे कथन किया है। वह सूत्रकारका वचन घटित हो ही जाता है। तिन प्रमाण और नयोंसे अधिगमरूपी फलका कथञ्चित् भेद होना प्रसिद्ध है। जैसे कि प्रकाशक प्रदीपका प्रकाशसे कथञ्चित् भेदाभेद है।

सारूप्यस्य प्रमाणस्य स्वभावोऽधिगमः फलम्।
तद्भेदः कल्पनामात्रादिति केचित्प्रपेदिरे॥ ३०॥

प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद माननेवाले बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानमें दर्पणके समान पदार्थोंका आकार पड जाता है। अतः संवेदनकी अर्थके साथ तदाकारता हो जाना प्रमाण है। कहा

गया है कि " तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " तदाकारतारूप प्रमाणका स्वभाव अधिगम है और वही फल है। अतः केवल कल्पनासे उन प्रमाण, फलोंका भेद मान लिया जाता है। वास्तवमें नहीं है। इस प्रकार कोई समझ बैठे हैं।

संवेदनस्यार्थेन सारूप्यं प्रमाणं तत्र ग्राहकतया व्याप्रियमाणत्वात्। पुत्रस्य पित्रा सारूप्यवत्। पितृस्वरूपो हि पुत्रः पितृरूपं गृह्णातीति लोकोभिमन्यते न च तत्त्वतस्तस्य ग्राहको नीरूपत्वप्रसंगात्। तद्वदर्थस्वरूपसंवेदनमर्थं गृह्णातीति व्यवहरतीति तत् तस्य ग्राहकत्वात् प्रमाणमर्थाधिगतिः फलं तस्य तदर्थत्वात्। न च संवेदनादर्थसारूप्यमन्यदेव स्वसंवेद्यत्वादधिगतिवत्। न ह्यधिगतिः संवेदनादन्या तस्यानधिगमप्रसंगात्। ततस्तदेव प्रमाणं फलं न पुनः प्रमाणात्तत्फलं भिन्नमन्यत्र कल्पनामात्रादिति केचित्।

सौगत कह रहे हैं कि संवेदनकी अर्थके साथ तदाकारता हो जाना प्रमाण है, क्योंकि उस आकारको देनेवाले विषयमें ग्राहकपनेसे प्रमाण व्यापार कर रहा है। जैसे कि पुत्रको पिताके साथ घटना करानेवाला पिताका सदृश आकार है। जननी और जनकसे उत्पन्न हुआ पुत्र पितास्वरूप होता हुआ ही पिताके रूपको ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सभी लौकिक जन मान रहे हैं। " आत्मा वै जायते पुत्रः "। किन्तु वस्तुतः विचारा जाय तो पुत्र उस पिताके आकारको ग्रहण नहीं करता है। यदि ऐसा मान लिया जायगा तब तो पिता अपना स्वरूप जब पुत्रको दे चुकेगा तो स्वयं निःस्वरूप हो जायगा। अतः वह पुत्र प्रथमसे ही तदाकार उत्पन्न हुआ है, यह मानो। तिस ही के समान अर्थके आकारवाला ज्ञान अर्थको ग्रहण करता है। यह केवल लोक-व्यवहार है कि वह ज्ञान उस ज्ञेयका ग्राहक होनेसे प्रमाण है और अर्थका अधिगम होना उसका फल है। क्योंकि उस प्रमाणकी उत्पत्ति उस प्रमाणके अधिगमके लिये ही हुयी थी। किन्तु विचारा जाय तो अर्थाकारता संवेदनसे भिन्न ही नहीं है क्योंकि, वह स्वसंवेद्य है। जैसे कि स्वसंवेद्य होनेके कारण अधिगम प्रमाणसे भिन्न नहीं है। तथा अधिगम भी संवेदनसे भिन्न नहीं है। अन्यथा संवेदनको अज्ञान हो जानेका प्रसंग हो जायगा। तिस कारण वही प्रमाण है और वही फल है। तो फिर प्रमाणसे वह फल भिन्न कैसे भी नहीं है, केवल कल्पनाके सिवाय। यानी कल्पना भले ही करली जाय, हम तो सारूप्य प्रमाण और अधिगमको भिन्न नहीं मानते हैं। इस प्रकार कोई कह रहे हैं। यहांतक पूर्वपक्षीकी कारिकाका व्याख्यान हुआ। अब आचार्य बोलते हैं कि—

तन्न युक्तं निरंशायाः संवित्तेर्द्वयरूपताम्।
प्रतिकल्पयतां हेतुविशेषासम्भवित्वतः॥ ३१॥

बौद्धोंका वह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि स्वभाव या अंशोंसे रहित कोरे संवेदनके

प्रमाण और फलस्वरूप दो स्वभावोंकी कल्पना करनेवालोंके यहां विशेष हेतुका असम्भव है। अर्थात् विना कारण निरंश ज्ञानमें प्रमाणपन और फलपन व्यवहृत नहीं हो सकता है।

न हि निरंशां संविदं स्वयमुपेत्य प्रमाणफलद्वयरूपतां तत्त्वप्रविभागेन कल्पयन्तो युक्तिवादिनस्तथाकल्पने हेतुविशेषस्यासम्भवित्वात्।

स्वभाव, अतिशय, धर्म, आदि अंशोंसे सर्वथा रहित माने गये संवेदनको स्वीकार कर तत्त्वोंके प्रकृष्ट विभाग करके उस प्रमाण फलके व्यवहारसे संवेदनमें प्रमाण और फलपना ऐसे दो स्वरूपोंकी कल्पना करनेवाले बौद्ध युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं। क्योंकि निःस्वभाव पदार्थमें तिस प्रकार प्रमाण फलपनेकी कल्पना करनेमें किसी विशेष हेतुका होना नहीं सम्भवता है।

विना हेतुविशेषेण नान्यव्यावृत्तिमात्रतः।
कल्पितोऽर्थोऽर्थसंसिद्धयै सर्वथातिप्रसंगतः॥ ३२॥

विशेष हेतुके विना केवल अन्यव्यावृत्तिसे ही कल्पना कर लिया गया अर्थ तो प्रयोजनकी भले प्रकार सिद्धिके लिये सभी प्रकारसे समर्थ नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् लकडीका बना हुआ घोडा भी बालकको भगा ले जायगा। कागजके फूलसे भी गन्ध आने लगेगी। कल्पित मोदक भी तृप्तिके कारण हो जायेंगे। यदि कल्पनासे ही कार्य होने लग जांय तो हाथ, पैर हिलाने और पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही न रहेगी। अतः कोरी अप्रमाण व्यावृत्तिसे प्रमाणपना और अफल व्यावृत्तिसे फलपना ज्ञानमें व्यवस्थित नहीं हो सकता है। किन्तु तदनुरूप यथार्थ स्वभाव मानने पडेंगे।

न हि तत्र निमित्तविशेषाद्विना कल्पितं सारूप्यमन्यद्वा किञ्चिदर्थं साधयति, मनोराज्यादेरपि तथानुषंगात्। नाप्यसारूप्यव्यावृत्तितः सारूप्यं अनधिगतिव्यावृतोऽधिगतिः संवेदनेनंशेपि वस्तुतो व्यवहियत इति युक्तं, द्ररिद्रेऽराज्यव्यावृत्या राज्यं अनिन्द्रत्वव्यावृत्या इंद्रत्वमित्यादिव्यवहारानुषंगात्।

आचार्य कहते हैं कि विशेष निमित्तके विना कोरा कल्पना करलिया गया सारूप्य अथवा दूसरे घोडा मनोमोदक आदि पदार्थ किसी भी प्रयोजनको सिद्ध नहीं कराते हैं। फिर भी आग्रह करोगे तो खेलते हुए बालकोंके समान अपने मनमें कल्पना कर लिये गये राजापन या पण्डिताई आदिको भी तिस प्रकार राजा और पण्डितोंके समान अर्थक्रिया करानेका प्रसंग होगा। यदि बौद्ध यों कहें कि हम अन्यापोहको मानते हैं, वस्तुतः गौ कोई पदार्थ नहीं है। हमारे यहां वस्तुभूत माना गया स्वलक्षण तो अवाच्य है। गौसे भिन्न अश्व, महिष, आदिक सभी अगो हैं और उन अगो

पदार्थोंसे पृथग्भूत अगोव्यावृत्तिरूप गौ है। अतः अगोव्यावृत्ति ही गोपना है। प्रकृत गो वस्तुसे पृथग्भूत अनन्त पदार्थोंकी ओरसे भिन्नपनेके न्यारे न्यारे स्वभावोंका बोझ वस्तुके शिरपर व्यर्थ क्यों लादा जाय ? प्रकरणमें सारूप्य प्रमाण है और अधिगम फल है। ये सब संवेदनस्वरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुतः अंशोंसे रहित माने गये संवेदनमें भी सारूप्यसे भिन्न असारूप्यकी पृथग्भूततासे प्रमाणभूतसारूप्यका व्यवहार हो जाता है। और अनधिगमकी व्यावृत्तिसे अधिगमरूप फलका व्यवहार हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि दरिद्रमें भी अराज्यकी व्यावृत्तिसे राजापने और अनिन्द्रपनेकी व्यावृत्तिसे इन्द्रपन इत्यादि व्यवहार हो जानेका प्रसंग होगा। बौद्धोंके मतानुसार व्यावृत्ति तुच्छ पदार्थ माना गया है। वह सर्वत्र सुलभतासे मिल जाता है। उनके यहां वस्तुगत स्वभावोंके अनुसार चलनेवाली व्यावृत्तियां नहीं मानी गयी हैं। अग्निमें जैसे अनुष्णव्यावृत्ति है वैसे ही उष्णव्यावृत्ति भी है। इसमें वास्तविक उष्णपन और शीतपनकी कोई अपेक्षा नहीं रखी गयी है। तिस ही के सदृश दरिद्रपुरुषमें जैसे अदरिद्रव्यावृत्ति है वैसे ही राजारहितपनेकी भी व्यावृत्ति है। निर्धनता और प्रभुतारूप परिणामोंकी अपेक्षा नहीं है। तैसा होनेपर दरिद्रमें भी राजापनेका व्यवहार हो जाना चाहिये। तुच्छ पदार्थोंमें कोई बोझ नहीं होता है। चाहे जिस वस्तुमें चाहे कितने भी असंख्य तुच्छ पदार्थ लादे जा सकते हैं। बौद्धमतानुसार तुच्छ पदार्थोंमें कोई विरोध भी नहीं पडता है।

यदि पुनस्तत्र राज्यादेरभावात्तद्व्यावृत्तिरसिद्धा तदा संवेदनस्य सारूप्यादिशून्यत्वात् कथमसारूप्यादिव्यावृत्तिः ? यतस्तन्निबन्धनं सारूप्यकल्पनं तस्यात्र स्यात्। ततो न साकारो बोधःप्रमाणम्।

यदि फिर बौद्ध यों कहे कि उस दरिद्रमें वस्तुतः राजापन, इन्द्रपन, पण्डिताई आदिका अभाव है इस कारण अराज्यव्यावृत्ति या अनिन्द्रव्यावृत्ति उसमें सिद्ध नहीं होती हैं। आचार्य समझाते हैं कि तब तो बहुत अच्छा हुआ, आप वस्तुधर्मोंके अनुसार व्यावृत्तियोंको मानने लग गये। किन्तु आपका निरंश संवेदन तो सारूप्य, अधिगम, आदि स्वभावोंसे शून्य है। अतः असारूप्य व्यावृत्ति या अनधिगम व्यावृत्ति भी उसमें कैसे सिद्ध मानी जा सकती है ? जिससे कि उन व्यावृत्तियोंको कारण मानकर उस संवेदनको प्रमाणरूप सारूप्यकी और अधिगमरूप फलकी कल्पना करना यहां हो सके। तिस कारण सिद्ध होता है कि बौद्धों द्वारा माना गया दर्पणके समान विषयोंके आकारको धारण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं है। आकारका अर्थ स्व और अर्थका विकल्प करना है, ऐसे साकार ज्ञानको तो हम जैन प्रमाण मानते हैं। यदि आकारका अर्थ प्रतिबिम्बको ग्रहण करना है तो ऐसे साकार ज्ञानको हम प्रमाण नहीं मानते हैं। क्योंकि ऐसी दशामें स्मृतिज्ञान और सर्वज्ञका ज्ञान प्रमाण न हो सकेगा। ज्ञानको साकार माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। पुद्गलका विवर्त माना

गया प्रतिबिम्ब भला चेतन ज्ञानमें कैसे पड सकता है ?। प्रतिबिम्बको लेना और देना दोनों पुद्गलके पर्याय है। अमूर्तज्ञानके नहीं।

प्रतिकर्मव्यवस्थानस्यान्यथानुपपत्तितः।
साकारस्य च बोधस्य प्रमाणत्वोपवर्णनम् ॥ ३३ ॥
क्षणक्षयादिरूपस्य व्यवस्थापकता न किम्।
तेन तस्य सरूपत्वाद्विशेषान्तरहानितः ॥ ३४ ॥

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानको साकार माने विना प्रतिनियत विषयको जाननेकी व्यवस्था होना दूसरे प्रकारोंसे बन नहीं सकती है। इस कारण प्रतिबिम्बको धारण करनेवाले साकार ज्ञानको प्रमाणपनेका कथन किया जाता है। अर्थात् जब कि घटज्ञान प्रकाशमान चेतन पदार्थ है तो वह घटको ही क्यों जानता है ? पट, पुस्तक, आदिको क्यों नहीं प्रकाशता है ? सूर्य क्या शूद्र या अपवित्र पदार्थके प्रकाश करनेमें आनाकानी करेगा? अर्थात् नहीं। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानमें जिसका आकार (छाया) पडा है उसीको ज्ञान जान सकता है, अन्यको नहीं। तदाकारपनेसे तत्को जाननेकी व्यवस्था नियत हो रही है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वह ज्ञान क्षणिकत्व, स्वर्गगमन शक्ति, आदि विषयस्वरूपकी व्यवस्था क्यों नहीं करा देता है ? उस क्षणक्षयादिकका उन नीलादिकके साथ अभेद होनेके कारण ज्ञानमें तदाकारता तो है ही, अन्य कोई विशेषता है नहीं। अर्थात् बौद्धोंने नीलज्ञानको नीलका व्यवस्थापक तो माना है। किन्तु नीलसे माने गये अभिन्न उसके क्षणिकपनेका व्यवस्थापक नहीं माना है, तभी तो क्षणिकत्वके निर्णयार्थ अनुमान और विकल्पज्ञान उठाये जाते हैं। आत्माकी स्वर्गप्रापणशक्तिको जाननेके लिये भी आत्मज्ञानसे निराले ज्ञान उपयोगी होते हैं। अतः तदाकार होनेसे ज्ञान तत्का व्यवस्थापक है इस नियममें व्यभिचार हुआ।

यथैव हि नीलवेदनं नीलस्याकारं बिभर्ति तथा क्षणक्षयादेरपि तदभिन्नत्वाद्विशेषान्तरस्य चाभावात्। ततो नीलाकारत्वान्नीलवेदनस्य नीलव्यवस्थापकत्वे क्षणक्षयादिव्यवस्थापकतापत्तिरन्यथा तदाकारेण व्यभिचारात्।

जिस ही प्रकार नीलस्वलक्षणको जाननेवाला निर्विकल्पक ज्ञान नीलके आकारको धारण करता है, तैसे ही नीलके स्वभावभूत क्षणिकत्व, अणुत्व, असाधारणत्व, आदिके आकारोंको भी धारण करता है। क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं, तथा नीलके आकार क्षणिकत्वादिके आकारोंके धारणमें भेद सूचक अन्य कोई विशेषता नहीं है। तिस कारण नीलका आकार धारण करनेसे नीलज्ञानको यदि नील विषयका व्यवस्थाक माना जायगा तो उस ज्ञानको क्षणिकत्व आदिकी व्यवस्था करानेवालेपनकी आपत्ति हो जायगी। अन्यथा यानी पेटसे निकाले हुए पुत्रोंके साथ ही यदि पक्षपात किया

जायगा तो तदाकारके द्वारा विषयव्यवस्था करनेके नियमका व्यभिचार हो जायगा । देखिये, ज्ञानमें क्षणिकत्वका आकार है, किन्तु वह उसका व्यवस्था करानेवाला नहीं माना गया है ।

न तदाकारत्वात्तद्व्यवस्थापकत्वं साध्यते । किं तर्हि तद्व्यवस्थापकत्वात्तदाकारत्वमिति चेन्न, स्वरूपव्यवस्थापकत्वेनानेकान्तात् ।

बौद्ध कहते हैं कि हम घटका आकार लेनेसे घटज्ञान घटविषयकी व्यवस्था करा देता है । यों ज्ञानमें तदाकारपनेसे तत्की व्यवस्था करादेनापनको नहीं साधते हैं तब तो क्या कहते हैं । सो पहिले सुन लो । तत्की व्यवस्था करा देनेसे ही ज्ञान तत्के आकारको धारण करनेवाला है । अतः उक्त व्यभिचार नहीं होता है । आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त व्याप्तिको नहीं माननेसे क्षणिकत्व आदिका व्यभिचार तो टल गया । किन्तु ज्ञान जिस पदार्थकी व्यवस्था करता है उसका आकार अवश्य लेता है । तुम्हारी यह भी व्याप्ति ठीक नहीं है । क्योंकि फिर भी ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपकी व्यवस्था करादेनेपनसे व्यभिचार दोष लग जायगा । भावार्थ—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने ज्ञान स्वरूप शरीरका व्यवस्थापक तो है । किन्तु उस ज्ञानमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं पडा हुआ है । अभिमुख पदार्थका प्रतिबिम्ब पडा करता है, स्वयं दर्पणका अपनेमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है, ज्ञानका भी ज्ञानमें प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है ; बौद्ध भी ऐसा मानते हैं । अतः व्यभिचार स्थल उनके अनुसार ही प्रसिद्ध है ।

प्रमाणं योग्यतामात्रात्स्वरूपमधिगच्छति ।
यथा तथार्थमित्यस्तु प्रतीत्यनतिलंघनात् ॥ ३५ ॥
स्वरूपेऽपि च सारूप्यान्नाधिगत्युपवर्णनम् ।
युक्तं तस्य द्विनिष्ठत्वात् कल्पितस्याप्यसम्भवात् ॥ ३६ ॥
कल्पने वानवस्थानात् कुतः सम्वित्तिसम्भवः ।
स्वार्थेन घटयत्येनां प्रमाणे स्वावृतिक्षयात् ॥ ३७ ॥
नायं दोषस्ततो नैव सारूप्यस्य प्रमाणता ।
नाभिन्नोधिगमस्तस्मादेकान्तेनेति निश्चयः ॥ ३८ ॥

तदाकार न होते हुए भी प्रमाणज्ञान केवल योग्यतासे जैसे अपने स्वरूपको ठीक जान लेता है, तैसे ही केवल योग्यतासे ही अर्थको भी जान लेता है, ऐसा मान लो ! प्रतीतिके अनुसार वस्तु व्यवस्था मानी जाती है । ज्ञानमें विषयोंका आकार माननेसे प्रतीतिका उल्लंघन होता है । स्मृतिके

द्वारा मृत मनुष्यको जाननेपर या नष्ट-पदार्थका स्मरण करनेपर एवं ज्योतिष या निमित्तशास्त्रसे भविष्य चन्द्र-ग्रहण, इष्टप्राप्ति आदिको जान लेनेपर ज्ञानमें उन पदार्थोंका आकार नहीं पड रहा है। फिर भी वे ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। वर्तमानमें वे पदार्थ होते तो अपनी छाया ज्ञानमें डाल सकते थे। अतः ज्ञानको प्रतिबिम्बरहित माननेसे ही प्रतीतियोंका उल्लंघन नहीं होता है। बौद्धोंका ज्ञानके स्वरूपमें भी तदाकारता होनेसे ही ज्ञानशरीरका अधिगम हुआ है, यह कहना भी युक्ति-पूर्ण नहीं है। क्योंकि वह तदाकारता प्रतिबिम्ब्य और प्रतिबिम्बक दोमें रहनेवाला धर्म है। अकेले ज्ञानमें तदाकारता नहीं बन सकती है। कल्पना की गयी तदाकारताका भी एक ज्ञानमें रहना असम्भव है। यदि एकमें भी सारूप्यकी कल्पना करोगे, तो अनवस्था हो जायगी। प्रतिबिम्बक दर्पणमें प्रतिबिम्ब्य दर्पणका यदि आकार पड जाना माना जायगा तो प्रतिबिम्ब्य दर्पण भी तो दर्पण है। वह प्रतिबिम्बक बन बैठेगा। पुनः उसमें प्रतिबिम्ब्य दर्पणके शरीरका आकार माना जायगा। यह क्रम दूरतक अमर्यादित होकर चला जायगा। इस ही प्रकार ज्ञानके शरीरमें स्वयं ज्ञानका आकार पड जानेसे अनवस्था हो जायगी। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार जब ज्ञान अपने डील की ही व्यवस्था नहीं कर सकेगा तो भला उससे पदार्थोंकी सम्वित्ति होना कैसे सम्भवेगी ?। आप बौद्ध जो यह मान बैठे हैं कि " अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपतां, तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " चेटीसमान सविकल्पक बुद्धि इस निर्विकल्पक बुद्धिस्वरूप नववधूको अर्थ नामक दूल्हाके साथ सम्बन्ध करा देती है। वह सम्बन्ध अर्थका आकार पड जानेको छोडकर अन्य कोई नहीं है, उस अर्थाकारसे प्रमेयका परिज्ञान होजाता है, अतः पडगया अर्थाकार ही प्रमाण है। यों चेतन ज्ञानका अचेतन घट आदिकके साथ यदि कोई सम्बन्ध है तो वह तदाकारता ही है। सो यह आपका मानना समुचित नहीं है। स्वावरणके क्षयोपशम या क्षयसे इस सविकल्पक बुद्धिको अपने विषयके साथ सम्बन्ध करा देनेवाले प्रमाणके माननेपर कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् घटका ज्ञान घटको ही जानता है। उसका कारण यही है कि वह घटावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ है। हाटमें गेहूं, चावल, फल, वस्त्र, आदि अनेक भोग उपभोगके पदार्थ पडे हुए हैं। उन सर्वथा भिन्न पदार्थोंमेंसे देवदत्तके भोगनेमें वे ही आसकते हैं जिनका कि देवदत्तके पुण्य, पापसे सम्बन्ध है। प्रत्येक गेहूं, तन्तु या घृत, दूध, पानीकी बूंदमें भोक्ताके अदृष्टका सम्बन्ध ही नियामक है। तभी तो वे नियत पदार्थ ही देवदत्तके पास आजाते हैं। अन्य नहीं आते हैं। लाखों कोस दूर पडी हुयी वस्तुका यदि हमको भोग करना है तो वह हमारे पास कथमपि आजायगी। कोई चोर, डाकू, कीट, बिगाड न सकेगा। पदार्थोंके परिणमनोंका पुण्य पापसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानका भी ज्ञेयके साथ स्वावरण क्षयोपशम द्वारा विषयविषयिभाव सम्बन्ध हो रहा है। पतिपत्नी, या देवदत्त और धनके स्वस्वामिसम्बन्धमें भी तो कोई तदाकार सम्बन्ध नहीं है। तैसे ही प्रमाणका भी अर्थके साथ तदाकार होना कोई योजक सम्बन्ध नहीं है। तिस कारण बौद्धोंकी मानी गयी तदा-

कारताको प्रमाणपना नहीं है और न उस प्रमाणसे सर्वथा एकान्तरूपसे अभिन्न मान लिया गया अधिगम उसका फल ही कहा जा सकता है। यह निश्चय कर दिया है। " स्वावरणक्षयोपशम-लक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति " यही परीक्षामुखमें कहा है।

स्वरूपे प्रतिनियमव्यवस्थापकत्वं संवेदनस्य सारूप्यापायेऽपि ब्रुवाणः कथमर्थे सारूप्यं ततः साधयेत्। निराकारस्य बोधस्य केनचिदर्थेन प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् सर्वैकवेदनापत्तिरित्ययुक्तं, स्वरूपसंवेदनस्यापि तथा प्रसंगात्।

संवेदनके अपने स्वरूपमें तदाकारता न होते हुए भी प्रतिनियत अपने ज्ञानरूपविषयकी व्यवस्थापकपनेको कह रहा बौद्ध उस प्रतिनियत विषयकी व्यवस्थापकतासे अर्थमें भी तदाकारताको कैसे सिद्ध करा सकेगा ? अर्थात् नहीं। जैनोंके ऊपर बौद्ध यह कटाक्ष किया करते हैं कि यदि ज्ञानको साकार नहीं माना जायगा तो निराकार ज्ञानका किसी अर्थके साथ सदा निकटसम्बन्ध या दूरका नाता तो है नहीं, तब फिर सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ज्ञानके द्वारा वेदन होनेका प्रसंग होगा। अर्थात् एक ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ जान लेने चाहिये। ज्ञान अभ्यन्तर स्वतन्त्र पदार्थ है। किसी भी रुपयेसे बाजारकी कोई भी वस्तु मोल ली जा सकती है, यह उनका कटाक्ष भी अयुक्त है। क्योंकि आपके मतमें भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षको निराकार माना है। अकेले ज्ञानको जाननेवाले निराकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे भी तिस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा। उसका निवारण आप बौद्ध क्या करेंगे। बताओ ? वही समाधान यहां समझ लेना।

ननु च सम्वेदनमसम्वेदनाद्भिन्नं स्वकारणात्तदुत्पन्नं स्वरूपप्रकाशकं युक्तमेव अन्यथा तस्यासम्वेदनत्वप्रसक्तेरिति चेत्, तर्ह्यर्थसंवेदनमप्यनर्थसंवेदनाद्भिन्नं स्वहेतोरुपजातमर्थप्रकाशकमस्तु तस्यान्यथानर्थसंवेदनत्वापत्तिरिति समानम्।

ऊपरसे अपने मन्तव्यका अवधारण करते हुए बौद्ध अपने सिद्धान्तमें शंकित होकर कहते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही है। वह असंवेदनसे भिन्न होता हुआ अपने कारणोंसे उत्पन्न होकर स्वरूपका प्रकाशक है यह युक्त ही है। अन्यथा यानी बहिरंग घट आदिकोंको तो वह निराकार होनेके कारण प्रथमसे ही नहीं जानता है। अब यदि स्वशरीरको भी न जानेगा तो उस संवेदनको अज्ञानपनेका प्रसंग होगा। ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तब तो अर्थका संवेदन भी अर्थसंवेदन ही है। वह अनर्थसंवेदनसे भिन्न होकर अपने चक्षुः, क्षयोपशम, आदि कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ अर्थका प्रकाशक हो जाओ ! अन्यथा यानी अर्थसंवेदनमें दर्पणके समान तदाकारताका या चक्षुजन्यके समान तज्जन्यताका पुच्छला लगाया जायगा तो उसको अनर्थसंवेदनपनेकी आपत्ति हो जायगी। इस प्रकार आपके स्वसंवेदन और हमारे अर्थसंवेदनमें आक्षेप या समाधान सदृश हैं। रेफमात्र अन्तर नहीं है।

सर्वस्यार्थस्य प्रकाशकं कस्मान्नेति चेत्, स्वसंवेदनमपि पररूपस्य कस्मान्न प्रकाशकम् ? स्वरूपप्रकाशने योग्यतासद्भावात् । पररूपप्रकाशने तु तदभावादिति चेत्, प्रतिनियतार्थप्रकाशने सर्वप्रकाशनाभावात् समः परिहारः । प्रतीत्यनतिलंघनस्याप्यविशेषात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि जब ज्ञानमें विषयोंका आकार ही नहीं है तो वह घटज्ञान सभी अर्थोंका प्रकाशक क्यों नहीं हो जाता ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कह सकते हैं कि आप बौद्धोंका निराकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी ज्ञानके समान अन्य घट, पट, आदि स्वरूप स्वलक्षणोंका प्रकाशक क्यों नहीं हो जाता है ? बताओ ! । इसका उत्तर आप यदि यों कहें कि स्वसंवेदनकी अपने स्वरूपको प्रकाश करनेमें योग्यता विद्यमान है, अन्य रूपके प्रकाशनमें तो योग्यता नहीं है। इस कारण वह स्वको ही जानता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी भी कहते हैं कि घटज्ञानकी प्रतिनियत अर्थमें प्रकाश करनेकी योग्यता है । अतः उस घटज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण अर्थोंका प्रकाशन नहीं हो सकता है । इस ढंगसे दोषका परिहार करना हमारा और आपका समान है । देवदत्तके घरका दीपक परिमित पदार्थोंका ही प्रकाश कर सकता है । सूर्य भी पचास हजार योजन तक अपना प्रकाश फैंकता है । अधिक नहीं । निकटवर्ती या दूरवर्ती पदार्थोंसे कोई भाईचारा या शत्रुता तो नहीं है । हम क्या करें ? योग्यता ही इतनी है । योग्यताको मान लेनेपर तो प्रतीतिका उल्लंघन नहीं करना भी हमारे और तुम्हारे यहां अन्तररहित है ।

संवृत्या सारूप्येऽपि संवेदनस्य सारूप्यादधिगतिरित्ययुक्तं, तस्य द्विष्ठत्वादेकत्रासम्भवात् । ग्राह्यस्य स्वरूपस्य ग्राहकात् स्वरूपाद्भेदकल्पनया तस्य तेन सारूप्यकल्पनाददोष इति चेत् । तदपि ग्राह्यं ग्राहकं च स्वरूपम् । यदि स्वसंविदितं तदान्यग्राह्यग्राहकस्वरूपकल्पने प्रत्येकमनवस्था । तदस्वसंविदितं चेत् कथं संवेदनस्वरूपमिति यत्किञ्चिदेतत् ।

व्यवहारसे कल्पना कर संवेदनकी तदाकारतामें भी सारूप्यसे ही स्वका अधिगम होना मानना यह भी अयुक्त है । क्योंकि सदृशरूपता दोमें रहती है । संयोग, सादृश्य, सारूप्य, विभाग आदि द्विष्ठ पदार्थोंका एकमें रहना असम्भव है । बौद्ध फिर यों कहें कि हम स्वसंवेदनमें दो अंश कल्पित करेंगे । एक ग्राह्य अंश, दूसरा ग्राहक अंश । ग्रानी एक आकारको देनेवाला और दूसरा आकारको लेनेवाला । ग्राह्यस्वरूपकी ग्राहकस्वभाव स्वशरीरसे भेदकल्पना करके उसकी उसके साथ तदाकारता कल्पना कर लेनेसे कोई दोष नहीं आता है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि वे स्वसंवेदनके दोनों ग्राह्य और ग्राहक स्वरूप यदि स्वका संवेदन करनेवाले हैं, तब तो फिर इनमें दूसरे ग्राह्यग्राहक स्वरूपोंकी कल्पना की जायगी और वे भी प्रत्येक अंश ग्राह्य, ग्राहकरूप होकर स्वसंवेदी माने जायंगे । इस प्रकार एकके दो, और दोके छह, तथा छहके अठारह इत्यादि प्रकारसे ग्राह्य ग्राहक अंशवाले स्वसंवेदनोंकी कल्पना करते करते अनवस्थादोष होगा । हां, अनवस्था

दोषसे भयभीत होकर यदि आप बौद्ध उन स्वसंवेदनके ग्राह्यग्राहक स्वरूपोंको स्वसंविदित नहीं मानोगे तो वे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके स्वरूप भला कैसे कहे जा सकते हैं ! इस प्रकार आप बौद्धोंका यह उक्त निरूपण करना जो कुछ भी कह देना मात्र है। इसमें सार कुछ नहीं है। " मुखमस्तीति वक्तव्यम् " मुख है, इस कारण कुछ कहते रहना चाहिये। सैकडों श्रोताओंमेंसे सम्भव है कोई हमारे निःसार तत्त्वका ही समर्थन समझने लग जाय, किन्तु यह वञ्चना प्रशंसा मार्ग नहीं है।

न चायं दोषः समानः संवित्तिं स्वार्थेन घटयति सति प्रमाणे स्वावरणक्षयात् क्षयोपशमाद्वा तथा स्वभावत्वात् प्रमाणस्य। तत्र सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमेकान्ततोनर्थान्तरं तत इति निश्चितम्।

एक बात यह भी है कि यह उक्त दोष आप बौद्धोंके समान हम स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं होता है, जब कि प्रमाणज्ञान संवित्तिको अपने विषयके साथ स्वावरणोंके क्षय अथवा क्षयोपशमसे संयोजन करा रहा है। ऐसा होनेपर विषय और विषयीका स्वावरणक्षयोपशमस्वरूप योग्यता ही सखी बनकर सम्बन्ध करा देती है। हम क्या करें ? प्रमाणका तिस ही प्रकार स्वभाव है। स्वभावमें तर्क नहीं चलती है। तिस कारण इस विषयकी तदाकारता ही प्रमाण है और एकान्तरूपकरके प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न उसका फल है। यह बौद्ध सिद्धान्त उससे सिद्ध नहीं होता है। इस बातका हम स्पष्टरूपसे निर्णय कर चुके हैं।

भिन्न एवेति चायुक्तं स्वयमज्ञानतास्थितः।
प्रमाणस्य घटस्येव परत्वात् स्वार्थनिश्चयात् ॥ ३९ ॥

तथा स्व और अर्थका अधिगमरूप फलसे प्रमाणको यदि भिन्न ही कहा जाय, यह भी अयुक्त है। क्योंकि तब तो स्वार्थ निश्चयसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण प्रमाणको घटके समान जडपनेकी प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप निश्चयसे सभी प्रकार भिन्न है, वह जड है।

यत्स्वार्थाधिगमादत्यन्तं भिन्नं तदज्ञानमेव यथा घटादि। तथा च कस्यचित्प्रमाणं न चाज्ञानस्य प्रमाणता युक्ता।

व्याप्तिपूर्वक अनुमान बनाते हैं कि जो अपने और अर्थोंके अधिगमसे अत्यन्त भिन्न है, (हेतु) वह अवश्य अज्ञान है (साध्य)। जैसे कि घडा, कपडा, आदि (दृष्टान्त) तिस प्रकार किसी एक नैयायिकके द्वारा माना गया प्रमाण है (उपनय)। तिस कारण वह प्रमाण जड हो जायगा (निगमन) और अज्ञान पदार्थको तो प्रमाणपना युक्त नहीं है। अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रमिति चेतन ज्ञानके द्वारा ही साध्य है। अन्धकारका नाश प्रकाशसे ही हो सकता है। अन्धकारके सजातीयसे नहीं।

चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते ।
न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ॥ ४० ॥
चितस्तु भावनेत्रादेः प्रमाणत्वं न वार्यते ।
तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तितः ॥ ४१ ॥

यदि वैशेषिक या नैयायिक यों इष्ट करें कि " चक्षुषा प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते, शब्देन प्रमीयते " यानी चक्षु करके जाना जाता है, धूमसे अनुमिति हो जाती है । शब्दसे श्रुतज्ञान होता है इत्यादि स्थलोंपर अचेतन नेत्र, आदिक भी प्रमाण माने गये हैं, सो यह उनका कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि उन जड कहे गये नेत्र आदिकोंको प्रमितिका प्रकृष्ट साधकपना सर्वदा नहीं है । प्रमितिका करण वस्तुतः ज्ञान ही है । ज्ञानका सहायक होनेसे चक्षुः आदिको उपचारसे करणपना मानकर स्थूल दृष्टिवाले वैयाकरणोंने करणमें तृतीया विभक्ति कर दी है । जड पदार्थ कभी भी प्रमितिका करण नहीं हो सकता है। हां ! चेतनस्वरूप नेत्र आदि भावेन्द्रियोंको तो प्रमाणपना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि उस प्रमिति क्रियामें प्रकृष्ट उपकारक करणपनेकी सिद्धि भावेन्द्रियोंमें किसी न किसी अपेक्षासे हो जाती है । लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रियां चेतनस्वरूप हैं । चेतनको प्रमाणपना हमें अभीष्ट है ।

साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं तदर्थपरिच्छित्तौ चक्षुरादेरुपलभ्यमानं प्रमाणत्वं साधयतीति यदीष्यते तदा तद्द्रव्यचक्षुरादि भावचक्षुरादि वा ? न तावद्द्रव्यनेत्रादि, तस्य साधकतमत्वासिद्धेः । न हि तत्साधकतमं स्वार्थपरिच्छित्तावचेतनत्वाद्विषयवत् । यत्तु साधकतमं तच्चेतनं दृष्टं यथा विशेषणज्ञानं विशेष्यपरिच्छित्तौ । न च चेतनं पौद्गलिकं द्रव्यनयनादीति न साधकतमं, यतः प्रमाणं सिद्ध्येत् ।

प्रमितिके साधकतमपनेकी प्रमाणपनेके साथ व्याप्ति है । वह अर्थकी ज्ञप्तिमें साधकतमपना चक्षु आदि जड पदार्थोंके भी दीख रहा है । अतः वह उनको प्रमाणपना सिद्ध करा देवेगा । यदि इस प्रकार वैशेषिक मानेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि वह अर्थपरिच्छित्तिका करणपना द्रव्यचक्षु, द्रव्यकर्ण आदिको मानते हो या भावचक्षुः भावरसना आदिको मानते हो ? बताओ । देखो, इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं । बाल, वृद्ध, सबको प्रतीत हो रहे नेत्र गोलकके भीतर बाहरके अवयव तो द्रव्येन्द्रिय हैं । इन्द्रियोंके निकट विद्यमान आत्माके प्रदेश भी द्रव्येन्द्रिय हैं । तथा कर्मवियोगसे होनेवाली आत्मविशुद्धिरूप लब्धि और उस लब्धि द्रव्यचक्षु आदिसे जन्य ज्ञानोपयोग, या दर्शनोपयोग, ये भावेन्द्रिय हैं । तहां पहिले द्रव्यनेत्र आदिक तो प्रमितिके साधकतम नहीं हैं । क्योंकि उनको प्रमितिका प्रधान उपकारकपन असिद्ध है । अनुमान है कि वे द्रव्यनेत्र आदिक (पक्ष)

अपने और अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्टपनेसे साधक नहीं हैं (साध्य)। जड होनेसे (हेतु)। जैसे कि घट, पट, आदिक ज्ञेय विषय साधकतम नहीं हैं (दृष्टान्त)। हां, जो भला ज्ञप्तिका साधकतम देखा गया है वह तो चेतनपदार्थ ही है। जैसे कि विशेषणका ज्ञान चेतन होनेसे ही विशेष्यकी ज्ञप्तिमें करण हो सका है। अर्थात् प्रथम सामान्यरूपसे दस मनुष्योंको जानलेनेपर पुनः एकके हाथमें दण्डके दीख जानेपर उस मनुष्यके दण्डीपनका ज्ञान हो जाता है। यह दृष्टान्त वैशेषिकोंके प्रति उनके मतानुसार दे दिया है। वस्तुतः ज्ञप्तिके करणपनका यदि विचार किया जायगा तो विशेषणके ज्ञानसे विशेषणकी ही परिच्छित्ति होगी और विशेष्यके ज्ञानसे ही विशेष्यकी ज्ञप्ति हो सकेगी। यों धूमज्ञानसे वह्निज्ञानके सदृश सामान्य ज्ञापक कारणकी अपेक्षासे भले ही अन्यके ज्ञानको ज्ञापक कह दिया जाय। प्रकरणमें यह कहना है कि पुद्गल द्रव्यके बनाये गये द्रव्यनेत्र आदिक तो चेतन नहीं है। इस कारण परिच्छित्तिमें साधकतम करण नहीं हो सकते हैं। जिससे कि वे प्रमाणस्वरूप सिद्ध हो सकें। यानी द्रव्यनेत्र, कान आदि प्रमाणरूप नहीं हैं। रहे अभ्यन्तर द्रव्य इन्द्रिय इस नामको धारनेवाले थोडे आत्मप्रदेश, वे भी अखंडपिण्ड या ज्ञान तादात्म्यकी अपेक्षा नहीं रखते हुये पुद्गल सदृश ही हैं। हां, परिपूर्णप्रदेशी ज्ञानी आत्मा तो ज्ञप्तिका कर्ता है, करण नहीं।

छिदौ परश्वादिना साधकतमेन व्यभिचार इति चेन्न, स्वार्थपरिच्छत्तौ साधकतमत्वाभावस्य साध्यत्वात्। न हि सर्वत्र साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं परश्वादेरपि प्रमाणत्वप्रसंगात्। भावनेत्रादि चेतनं प्रमाणमिति तु नानिष्टं तस्य कथञ्चित्साधकतमत्वोपपत्तेः, आत्मोपयोगस्य स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्तस्य भावेन्द्रियत्वोपगमात्।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि " परशुना काष्ठं छिनत्ति " यहां छेदनक्रियामें साधकतम तो कुठार, फरसा, वसूला, आदि भी देखे जाते हैं। अतः जो जो छित्तिमें साधकतम हैं वे वे चेतनप्रमाण हैं, इस व्याप्तिका व्यभिचारदोष हुआ। सो यह तो न कहना। क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान द्वारा स्व और अर्थकी ज्ञप्तिमें साधकतमपनेका अभाव परशु आदिमें साध्य किया है। अर्थात् फरसा आदिक तो ज्ञप्तिक्रियाको करनेमें प्रकृष्ट उपकारक नहीं हैं, जब कि सभी क्रियाओंमें साधकतमपना प्रमाणपनके साथ व्याप्ति नहीं रखता है। अन्यथा तब तो फरसा, दण्ड आदिकको भी प्रमाणपनका प्रसंग हो जायगा। हां! भावइन्द्रियस्वरूप नेत्र, कान आदि तो चेतन होनेके कारण प्रमाण हैं, यह तो अनिष्ट नहीं है, यानी इष्ट ही है। उनको किसी अपेक्षासे ज्ञप्तिक्रियाका करणपना सिद्ध हो रहा है। आत्माके उपयोगरूप ज्ञानको अपनी और अर्थकी प्रमिति करनेमें साधकतमपना है। जैनसिद्धान्तमें उस उपयोगको भावेन्द्रियपना स्वीकार किया गया है। "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्"। इस ही प्रकार अग्निकी ज्ञप्ति और वाच्यअर्थकी ज्ञप्तिमें भी अग्निज्ञान और वाच्यज्ञान करण हैं, धूम और शब्द तो कथमपि करण नहीं हैं। अन्यथा सोते हुए बालकको या संकेतको नहीं ग्रहण करनेवाले

पुरुषको भी धूम और शब्दसे अग्नि और वाच्यार्थका ज्ञान हो जाना चाहिये था ! हां ! करणज्ञानके सहायक होनेसे धूमज्ञान और शब्दज्ञान उपचारसे ज्ञापक माने जा सकते हैं ।

हानादिवेदनं भिन्नं फलमिष्टं प्रमाणतः ।
तदभिन्नं पुनः स्वार्थाज्ञानव्यावर्तनं समम् ॥ ४२ ॥
स्याद्वादाश्रयणे युक्तमेतदप्यन्यथा न तु ।
हानादिवेदनस्यापि प्रमाणात्तद्विधेक्षणात् ॥ ४३ ॥

हेय पदार्थमें हानका ज्ञान करना और आदि पदसे उपादेयको उपादानरूपसे समझना तथा उपेक्षणीयमें उपेक्षा ज्ञान होना ये तीनों ज्ञानरूप फल तो प्रमाणसे भिन्न इष्ट किये गये हैं और फिर उस क्षण अपने तथा अर्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिका होना तो प्रमाणसे अभिन्न फल है । इस प्रकार स्याद्वादसिद्धान्तके आश्रय करनेपर तो यह भेद अभेदकी व्यवस्था करना युक्त भी है । अन्यथा यानी अन्य प्रकार बौद्धोंके मतानुसार प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद मानना और वैशेषिकोंके मतानुसार प्रमाण और फलका सर्वथा भेद मानना तो समुचित नहीं है । हान, उपादान, और उपेक्षाके ज्ञानका भी प्रमाणसे कथञ्चित् अभेद दीख रहा है । यानी ये प्रमाणसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं । कभी घट, सर्प, चन्द्रमा आदिको देखकर कुछ समय पीछे उपादान, हान, उपेक्षा, बुद्धियां होती हैं और कभी प्रमाणके समय ही उपादान आदि बुद्धियां संकरात्मक हो जाती हैं । हां, अज्ञाननिवृत्ति तो नियमसे प्रमाणके समयमें ही होती है । अतः प्रमाण और फलका कथञ्चित् भेदाभेद मानना ही सर्व सम्मत होना चाहिये ।

हानोपादानोपेक्ष्यज्ञानं व्यवहितं फलं प्रमाणस्याज्ञानव्यावृत्तिरव्यवहितमित्यपि स्याद्वादाश्रयणे युक्तमन्यथा तदयोगात्, हानादिज्ञानस्यापि प्रमाणात् कथंचिदव्यवधानोपलब्धेः सर्वथा व्यवहितत्वासिद्धेः । तथाहि—

हेयको छोडना, उपादेयको ग्रहण करना, उपेक्षणीयकी अपेक्षा नहीं करना, उपेक्षा करना ये कृतियां या इनका ज्ञान तो प्रमाणके व्यवहित फल हैं । क्योंकि प्रमाण होनेके पीछे होनेवाले हैं और उस विषयके अज्ञानकी व्यावृत्ति हो जाना साक्षात् अव्यवहित फल है। कारण कि प्रमिति उसी समय हो जाती है । यह कथञ्चित् भेदाभेदका सिद्धान्त भी कथञ्चिद्वाद अथवा अनेकान्त मतका सहारा लेनेपर युक्त होगा । अन्यथा उस प्रमाणफलपनेका अयोग है । कचित् हेयका छोडना आदि ज्ञान भी प्रमाणसे कथञ्चित् व्यवधान रहितपनेसे होते हुए देखे जाते हैं । अतः सभी प्रकारोंसे उनको व्यवहितपना असिद्ध है। तिसी प्रकारको ग्रन्थकार स्पष्टरूपसे भविष्यग्रन्थ द्वारा कथन करते हैं।

येनैवार्थो मया ज्ञातस्तेनैव त्यज्यतेऽधुना ।
गृह्येतोपेक्ष्यते चेति तदैक्यं केन नेष्यते ॥ ४४ ॥
भेदैकान्ते पुनर्न स्यात् प्रमाणफलता गतिः ।
सन्तानान्तरवत्स्वेष्टप्येकत्रात्मनि संविदोः ॥ ४५ ॥

जिस ही मुझने अर्थको जाना था, उसी मेरे द्वारा वह हेय अर्थ अब छोड दिया जारहा है और मैंने जो अर्थ जाना था वह उपादेय अर्थ मुझसे ग्रहण किया जाता है । अथवा जो अप्रयोजनीय अर्थ मैंने जाना था, वही मुझसे उपेक्षणीय होरहा है । इस प्रकार उसी समय प्रमाण और फलका एकपना किसके द्वारा इष्ट नहीं किया गया है ? अर्थात् प्रमाणके हानबुद्धि आदि फल भी प्रमाणके समसमयवर्ती होकर अव्यवहित अभिन्न फल प्रतीत हो रहे हैं, यह बात सबको माननी पडती है । यदि यहां एकान्तरूपसे सर्वथा भेद माना जायगा तब तो फिर प्रमाणपने और फलपनेका निर्णय न हो सकेगा । जैसे कि देवदत्तके घटज्ञानका फल अन्य सन्तान माने गये इन्द्रदत्तकी पटज्ञप्ति या हान आदि ज्ञान नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार अपने अभीष्ट विवक्षित एक आत्मामें भी उत्पन्न हुये सर्वथा भिन्न दो ज्ञानोंमें प्रमाणपन और फलपना निर्णीत नहीं हो सकता है ।

न ह्येकेन प्रमितेऽर्थे परस्य हानादिवेदनं तत्प्रमाणफलं युक्तमतिप्रसंगात् । यस्य यत्र प्रमाणं ज्ञानं तस्यैव तत्र फलज्ञानमित्युपगमे सिद्धं। प्रमाणफलयोरेकप्रमात्रात्मकयोरेकत्वम् । न चैवं तयोर्भेदप्रतिभासो विरुध्यते, विशेषापेक्षया तस्य व्यवस्थानात् ।

एक पुरुषके द्वारा अर्थकी प्रमिति कर चुकनेपर दूसरे पुरुषके हुआ हान (त्याग) आदिकका ज्ञान उस पूर्व पुरुषके प्रमाणका फल है यह युक्त नहीं है । क्योंकि अतिप्रसंगदोष हो जायगा । यानी चाहे जिसके ज्ञानसे किसी भी तटस्थ पुरुषको ज्ञप्ति होना बन बैठेगा, तब तो सर्वज्ञके ज्ञानसे अल्पज्ञोंको भी सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्रत्यक्षज्ञप्ति हो जायगी । स्नेही पंडितोंके पुत्र मूर्ख नहीं रह सकेंगे, उनको कौन रोक सकेगा ? । यदि वैशेषिक यों कहें कि जिस आत्माको जिस ज्ञेयमें प्रमाणज्ञान हुआ है उस ही आत्माको तिस ज्ञेयमें हुआ हान आदिका ज्ञान तो फल ज्ञान माना जायगा । अन्यका अन्यमें नहीं, इस प्रकार नियमका संकोच स्वीकार करनेपर तो एक प्रमातास्वरूप प्रमाण और फलको एकपना (अभेद) सिद्ध होगया । यही तो हम स्याद्वादी कह रहे हैं । इस प्रकार कथञ्चित् अभेद हो जानेपर उन प्रमाण फलोंका कथञ्चित् भिन्नरूपसे दीखना विरुद्ध पड जायगा । सो नहीं समझना । कारण कि विशेषकी अपेक्षासे उनमें भेद प्रतिभासकी व्यवस्था हो रही है । एक ज्ञानमें प्रमाणपन और प्रमिति जैसे अविभक्त हो रहे हैं, उसी प्रकार किसी ज्ञानमें हानोपादान बुद्धियां भी संकरपनेसे तदात्मक हो रही हैं ऐसा अनुभवमें आ रहा है । बढिया क्षयोपशम होनेपर प्रमाणकालमें ही कचित् प्रमाणसे अभिन्न हान, उपादान, बुद्धियां हो जाती हैं । केवल ज्ञानी महाराजके

उसी समय निजस्वरूपसे भिन्न सम्पूर्ण पदार्थोंमें प्रमाणआत्मक उपेक्षा बुद्धि हो रही है। विशेष अंशोंकी अपेक्षा प्रमाण और उपेक्षा बुद्धिमें कथञ्चित् भेद भी है।

पर्यायार्थार्पणाद्भेदो द्रव्यार्थादभिदास्तु नः।
प्रमाणफलयोः साक्षादसाक्षादपि तत्त्वतः॥ ४६॥

हम स्याद्वादियोंके यहां पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता की विवक्षा होनेपर प्रमाण और फलका भेद है, तथा द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे अभेद रहे। और वास्तविक रूपसे करणज्ञानरूप प्रमाणमें और अज्ञाननिवृत्तिरूप फलमें समयका व्यवधान नहीं है, अतः अभेद है। और प्रमाणके पीछे व्यवधान होनेवाले हान आदिके ज्ञानरूप फलसे भेद है। दोनोंका एक ही आत्मा उपादान है। इस कारण भी प्रमाण और फलमें अभेद है।

साक्षात्प्रमाणफलयोरभेद एवेत्ययुक्तं पर्यायभेदशक्तिमन्तरेण करणसाधनस्य भावसाधनस्य च फलस्यानुपपत्तेः सर्वथैक्ये तयोरेकसाधनत्वापत्तेः करणाद्यनेककारकस्यैकत्रापि कल्पनामात्रादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्त्वतः संवेदनस्याकारकत्वानुपपत्तेः न चाकारकं वस्तु कूटस्थवत्।

प्रमाण और फलका साक्षात् अव्यवहित रूपसे अभेद ही है यह एकान्त करना अयुक्त है। क्योंकि पर्यायरूप शक्तियोंका भेद माने विना करणमें निरुक्ति कर साधा गया प्रमाण और भावमें युट् प्रत्यय कर साधागया फलरूप प्रमाण बन नहीं सकता है। यदि सभी प्रकारसे उनमें एकपना (अभेद) माना जायगा तो दोनों प्रमाण शब्दोंकी करण या भावमेंसे किसी एक द्वारा ही निरुक्ति कर सिद्ध हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अकौआमेंसे ही शिलाजीत निकल आवे तो पर्वतपर जानेका क्लेश क्यों उठाया जाय? किन्तु ऐसा है नहीं। यदि बौद्ध यों कहें कि करण आदि अनेक कारकोंकी एक पदार्थमें भी केवल कल्पनासे ही सिद्धि हो सकती है। सभी कारक प्रायः कल्पित होते हैं, आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि यों तो संवेदनको वास्तविकरूपसे कारकपना प्राप्त न होगा। अश्वविषाणके समान अकारकपनेका प्रसंग हो जायगा। किन्तु बौद्धोंने संवेदनको करणकारक, कर्ताकारक, व्यवहृत किया है और देखो जो यथार्थरूपसे अर्थक्रियाका कारक नहीं है, वह वस्तुभूत नहीं है, जैसे कि सांख्योंका कूटस्थ आत्मा। आप बौद्ध सांख्योंके प्रति अर्थक्रिया न करनेकी अपेक्षासे कूटस्थ आत्माको अवस्तुपनेका दोष लगाते हैं, उस ही प्रकार कारकोंको वास्तविक रूपसे न माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धोंके ऊपर वही दोष लग बैठता है।

तयोरसाक्षाद्भेद एवेत्यप्यसंगतं, तदेकोपादानत्वाभावप्रसंगात्। न च तयोर्भिन्नोपादानता युक्ता संतानान्तरवदनुसन्धानविरोधात्।

उन प्रमाण और हान आदि फलरूप बुद्धिका समयव्यवधान होनेके कारण भेद ही है। यह भी कहना पूर्वापर संगतिसे रहित है, क्योंकि ऐसा माननेपर उन दोनोंका उपादान कारण एक आत्मा न हो सकेगा यह प्रसंग अच्छा नहीं। यदि नैयायिक या बौद्ध यों कहें कि उनका उपादान कारण भिन्न ही मान लिया जाय क्या हानि है ? सो यह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि भिन्न सन्तानोंके समान प्रत्यभिज्ञान होनेका विरोध हो जायगा। अर्थात् जैसे देवदत्तसे जाने गये विषयका यज्ञदत्तके द्वारा हानोपादान नहीं होता है वैसे ही प्रमाण और फलज्ञानके भिन्न उपादान कारण मान लेनेपर जिसी मैंने जो अर्थ जाना है उसी मुझसे वह अर्थ छोडा जाता है या ग्रहण किया जाता है। इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान न हो सकेगा, किन्तु होता है। अतः प्रमाण और फलका सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है।

यदा पुनरव्यवहितं व्यवहितं च फलं प्रमाणाद्द्रव्यार्थादभिन्नं पर्यायार्थाद्भिन्नमिष्यते तदा न कश्चिद्विरोधस्तथाप्रतीतेः।

और जब अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात् फल तथा हान आदि बुद्धिरूप व्यवहित फल ये दोनों प्रमाणसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभिन्न माने जाय और पर्यायार्थिक नयसे भिन्न इष्ट किये जावें। तब तो किसी प्रकार कोई भी विरोध नहीं आता है क्योंकि तिस रीतिसे प्रमाण और फलकी कथंचित् भेद अभेद स्वरूपकरके प्रतीति हो रही है। सर्वथा भेद या अभेद माननेपर प्रमाणफलपनेका विरोध है। तभी तो श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यने कहा है कि जो ही प्रमाता जाननेवाला है, वही तत्क्षण अज्ञानकी निवृत्तिको करता हुआ शीघ्र हानोपादान उपेक्षाओंको कर लेता है। अतः बौद्ध और नैयायिकोंके द्वारा माने गये अभेद एकान्त तथा भेद एकान्त दोनों युक्तिरहित हैं।

तत्प्रमाणान्नयाच्च स्यात्तत्त्वस्याधिगमोपरः।
स स्वार्थश्च परार्थश्च ज्ञानशब्दात्मकात्ततः ॥ ४७ ॥
ज्ञानं मत्यादिभेदेन वक्ष्यमाणं प्रपञ्चतः।
शब्दस्तु सप्तधा वृत्तो ज्ञेयो विधिनिषेधगः ॥ ४८ ॥

तिस कारण सूत्रका अर्थ सिद्ध हो जाता है कि प्रमाण और नयसे तत्त्वोंका अधिगम होता है जो कि प्रमाण और नयसे कथञ्चित् भिन्न है। ज्ञानस्वरूप उन प्रमाण और नयोंसे होता हुआ वह अधिगम स्वयं अपने लिये उपयोगी है। क्योंकि ज्ञान गुण आत्मामें ही जडा हुआ रहता है दूसरेकी ओर फेंका नहीं जा सकता है। तथा वचनस्वरूप उन प्रमाण और नयोंसे हुआ अधिगम दूसरोंके लिये उपयोगी है। क्योंकि शब्दको सुनकर संकेतज्ञ जन झट ज्ञान कर लेते हैं। वह प्रमाण स्वरूपज्ञान मति, श्रुत, आदि भेदों करके विस्तारसे भविष्य ग्रन्थमें कहा जायगा। जो कि स्वार्थ

माना गया है और दूसरोंके लिये उपयोगी हो रहा शद्ब तो विधि और निषेधका अवलम्ब लेकर सात प्रकारसे प्रवृत्त होता हुआ समझ लेना चाहिए। विशेष बात यह है कि स्वयं गानेमें या चिल्लाकर पाठ करनेमें शद्ब स्वयंको भी उपयोगी हो जाता है। ऐसी दशामें श्रावण प्रत्यक्ष या श्रुतज्ञान करनेवाले उसी आत्मामें कथञ्चित् भेद है। दूसरोंका गाना सुनकर जैसा आनन्द आता है वैसा ही स्वयं गाना गाकर भी हर्ष विशेष होता है। यहां गाना गानेवाले और उसका आनन्द लेनेवाले आत्माके दो परिणाम हैं। इस अपेक्षा शद्ब परार्थ हो गया वही पाठ करनेमें समझ लेना। कुछ तो पहिले समझे हुए थे और अपने ही शद्ब कानोंमें गये, अतः दृढ प्रतिपत्ति हो गयी। यहां भी दो परिणाम हैं। किसी समय एक ही आत्मा गुरु और चेला बन जाता है। अपने ही विचारोंसे निकाले गये नवीन तत्त्वसिद्धान्तको पुनः स्मरण रखनेके लिये पुस्तकमें लिख लेते हैं। अपनी आत्मासे हम स्वयं पढते हैं तथा कभी कभी स्वयं अपने भावोंमें विशिष्ट ज्ञान कर लेते हैं, उसीसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है। शद्ब बोलनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। यहां भी अव्यक्त, अनुक्त, शद्बोंके अभिप्राय मान लिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि स्वयं गानेमें शद्बोंके आलापका जो श्रावण प्रत्यक्ष हुआ है वह ज्ञान स्वके लिये उपयोगी है शब्द तो नहीं। जैनसिद्धान्त अगाध है, एकान्त नहीं है। अपेक्षासे अनेक धर्मोंकी सिद्धि होती है।

मत्यादिज्ञानं वक्ष्यमाणं तदात्मकं प्रमाणं स्वार्थं, शद्बात्मकं परार्थं, श्रुतविषयैकदेशज्ञानं नयो वक्ष्यमाणः स स्वार्थः शद्बात्मकः परार्थः कात्स्न्यतो देशतश्च तत्त्वार्थाधिगमः फलात्मा स च प्रमाणान्नयाच्च कथञ्चिद्भिन्न इति सूक्तं प्रमाणनयपूर्वकः।

आगे ग्रन्थमें कहे जानेवाले मति श्रुत आदिक ज्ञान प्रमाण हैं वे ज्ञान स्वरूप होते हुये तो स्वकीय आत्माके लिये हैं और शद्बस्वरूप वे दूसरे श्रोताओंके लिये हैं। " तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् " तथा श्रुतज्ञानसे जाने गये विषयके एकदेशको जाननेवाला नय जो कि आगे कहा जायगा, वह भी ज्ञान स्वरूप तो स्वके लिये है और शद्बस्वरूपनय दूसरे आत्माओंके प्रयोजनका साधक है। वचनको भी उपचारसे प्रमाण माना है। पूर्णरूपसे और एकदेशसे हुआ तत्त्वार्थोंका अधिगम तो फलस्वरूप हैं। और वह साधकतम प्रमाण और नयसे कथंचित् भिन्न है। इस कारण श्रीउमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा था कि प्रमाण और नयको कारण मानकर हमको और सर्व श्रोताओंको अधिगम हो जाता है। विशेष यह है कि सभी गुणोंमेंसे अकेले ज्ञानका ही शद्बके द्वारा प्रतिपादन होता है। सुमेरुपर्वतका वर्णन, नन्दीश्वरका निरूपण, धर्मद्रव्यका कथनरूप रसका प्ररूपण, सम्यग्दर्शनका व्याख्यान करना इन सबका अभिप्राय यह है कि सुमेरु आदिके ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। तभी तो सुमेरुकी लम्बाई, चौडाई, ऊंचाई, सौमनसवन, पाण्डुकवनका विन्यास समझानेपर हमारी आत्मामें सुमेरुका ज्ञान उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य अपने सुखदुःखका निरूपण करता है तो श्रोताकी आत्मामें सुख या दुःख उत्पन्न नहीं होता है,

किन्तु सुखदुःखोंका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। शुद्ध निर्विकल्पक आत्माका स्वयं अनुभव तो हो सकता है। किन्तु सहस्र गलोंसे भी कोई उपदेष्टा उसका उपदेश नहीं कर सकता है। श्रीपूज्यपाद स्वामीने कहा है कि " यत्परैः प्रतिपद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये। उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः "। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ही समझा और समझाया जा सकता है। ज्ञानोंमें भी बहुभाग ज्ञान अवक्तव्य हैं। " पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो। " गोम्मटसारमें कहा है कि प्रज्ञापनीय (अवक्तव्य) पदार्थोंका अनन्तवां भाग ज्ञान द्वारा समझाने योग्य है और समझाने योग्यमेंसे अनन्तवां भाग शास्त्रोंमें लिखा जा सकता है। वक्ताके हृदयमें जितना ज्ञान है उतना वह सिर, हाथ, आदिकी चेष्टा या भावपूर्ण शब्दोंके उच्चारण, सुनियोजनसे समझा जा नहीं सकता है और जितना चेष्टा, शब्द बोलना, आरोह, अवरोह, आंखोंका स्पन्दन, अतिशययुक्तभाव आदिसे समझा जा सकता है, उतना लिखा नहीं जा सकता है। तभी तो वक्ताके उपदेशको सुननेके लिये दूर दूरके मनुष्य पहुंचते हैं। पत्रोंपर लिखे हुए उनके भाषण पढ लेनेसे उतना सन्तोष नहीं हो पाता है। बडी प्रसन्नतासे कहना पडता है कि आत्माओंमें यह स्वभाव बहुत अच्छा है कि थोडासा निमित्त पाकर क्षयोपशमके अनुसार अपने आप बहुत ज्ञानको उत्पन्न कर लेता है। सभी श्रुतज्ञान शब्दोंके ही अधीन होय ऐसा नियम नहीं। तभी तो क्वचित् गुरुके ज्ञानसे शिष्यका ज्ञान बढकर हो जाता है। किन्तु यहां गुरुकी कृतज्ञता शिष्यको विस्मरणीय नहीं होनी चाहिये। अभव्योंके उपदेशसे असंख्य विनीत भव्यजीव कैवल्य प्राप्त कर सिद्ध हो गये। पांच ज्ञानोंमें मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये चार तो अवाच्य हैं। दूध, मोदक, मिश्री, आदिकके रासन प्रत्यक्षोंका कथन नहीं हो सकता है आदि। हां, अकेले श्रुतज्ञानके भी अल्पभागका प्रतिपादन हो सकता है। फिर भी यहां पांचों ज्ञानोंको यथायोग्य शब्दात्मक इस अपेक्षासे कह दिया है कि वे भी अपने अविनाभावी श्रुतज्ञानोंके साथ समझे समझाये जा सकते हैं। साझेदारीमें एकका धर्म दूसरेमें भी व्यवहृत हो जाया करता है। आत्माके जब सभी गुणोंमें भाईचारा है तो उसके ज्ञानोंमें समानाभिहार होना अवश्यंभावी है।

शब्दो विधिप्रधान एवेत्ययुक्तं, प्रतिषेधस्य शब्दादप्रतिपत्तिप्रसंगात्। तस्य गुणभावेनैव ततः प्रतिपत्तिरित्यप्यसारं, सर्वत्र सर्वदा सर्वथा प्रधानभावेनाप्रतिपन्नस्य गुणभावानुपपत्तेः। स्वरूपेण मुख्यतः प्रतिपन्नस्य क्वचिद्विशेषणत्वादिदर्शनात्।

ब्रह्माद्वैतवादीका कथन है कि शब्दको सुनकर श्रोताकी पदार्थोंके विधान करनेमें ही प्रवृत्ति होती है। " घटमानय " को सुनकर श्रोता घटको ले आता है। " गां नय " को सुनकर गौ को ले जाता है। अतः भाव पदार्थकी विधिको ही प्रधानतासे कहनेवाले सभी शब्द हैं। आप जैनोंने उक्त वार्त्तिकमें विधि और निषेधको कहनेवाले सभी शब्दोंको कैसे कहा ? आचार्य बोलते हैं कि यह कहना अयुक्त है। क्योंकि शब्दके द्वारा विधि होना ही माना जायगा तो शब्दसे निषेध की

प्रतिप्रत्ति न होनेका प्रसंग होगा। घटको लानेवाला मनुष्य अन्य कपडा, भैंसा, पुस्तक, आदिका निषेध करता हुआ ही अभीष्ट घटको लाता है। यदि विधिवादी यों कहें कि शद्ध द्वारा निषेधकी गौणरूपसे ही प्रतिपत्ति होती है, प्रधानरूपसे तो निषेधकी प्रतीति कभी नहीं होती है, सो यह कहना भी निस्सार है। क्योंकि जो निषेध सभी स्थलोंमेंसे कहीं भी और सभी कालोंमेंसे कभी तथा सभी प्रकारोंमें किसी भी प्रकार प्रधानरूप करके नहीं जाना गया है उसका गौणपना भी असिद्ध है। अपने स्वरूप करके जो कहीं मुख्यपनेसे जान लिया गया है वह अन्यत्र भी विशेषण, गौणपन, आदि धर्मोंसे व्यवहृत होता हुआ देखा जा सकता है। मुख्यरूपसे प्रसिद्ध अग्नि या बैलका किसी बालकमें अध्यारोप किया जा सकता है। अन्यथा नहीं।

प्रतिषेधप्रधान एव शद्ध इत्यनेनापास्तम्।

प्रधानरूपसे निषेध करनेको ही शद्ध कहता है यह एकान्त भी इस कथनसे खण्डित हो जाता है। क्योंकि प्रायः सभी शद्धोंसे विधि और निषेध दोनोंकी प्रतीति हो रही है। यह बात दूसरी है कि कहीं विधिका विशेषण निषेध है और क्वचित् निषेधका विशेषण विधि है। अतः द्वितीय भंगका एकान्त ठीक नहीं।

क्रमादुभयप्रधान एव शद्ध इत्यपि न साधीयः, तस्यैकैकप्रधानत्वप्रतीतेरप्यबाधितत्वात्।

क्रमसे विधि और निषेध दोनोंको ही प्रधानरूपसे शद्ध कहता है। यह भी एकान्तरूपसे कहना अधिक अच्छा नहीं है। क्योंकि उस शद्धकी एक एकको प्रधानपनेसे कहनेकी प्रतीति भी बाधारहित हो रही है। "स्वाध्यायं कुर्यात्" तहां स्वाध्यायकी विधि तो प्रधान है और वृथा क्रीडन आदिका निषेध गौण है। "मधु नाश्नीयात्" यहां मधुभक्षणका निषेध प्रधान है। शुद्ध प्रासुक पदार्थके सेवनकी विधि गौण है। अतः उभयआत्मक तृतीय भंगका भी एकान्त उचित नहीं।

सकृद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवेति च मिथ्या, तस्यावाच्यशद्धेनाप्यवाच्यत्वप्रसक्तेः।

एक बारमें विधि और निषेधरूप दोनों अर्थका कथन करनेवाला कोई वाचक शद्ध है ही नहीं। अतः शद्ध अवाचक ही है। यह कथन भी झूंठा है। क्योंकि यदि अर्थ सभी प्रकारसे अवाच्य है तो अवाच्य शद्धसे भी उसको अवाच्यपनेका प्रसंग होगा। अन्यथा शद्ध उसका अवाचक नहीं कहा जा सकेगा। अतः शद्ध वाचक सिद्ध हो गया है। अर्थात् अर्थ जब वाच्य है तो उसका वाचक शद्ध है। अतः अवक्तव्य नामका चतुर्थभङ्ग भी एकान्तरूपसे नहीं व्यवस्थित हुआ।

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचक एवोभयात्मनो युगपदवाचक एवेत्येकान्तोऽपि न युक्तः, प्रतिषेधात्मनः उभयात्मनश्च सहार्थस्य वाचकत्वावाचकत्वाभ्यां शद्धस्य प्रतीतेः।

शद्ध विधिस्वरूप अर्थका वाचक ही है और विधि, निषेध द्वयस्वरूप अर्थका एक समयमें अवाचक ही है। इस प्रकार पांचवे भंगका एकान्त करना भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रतिषेधस्वरूप

अर्थका वाचकपन और विधिनिषेध उभयस्वरूप अर्थके एक साथ अवाचकपनसे भी शद्वकी प्रतीति हो रही है।

इत्थमेवेत्यप्यसंगतमन्यथापि संप्रत्ययात्।

इस छटवे ढंगसे ही अर्थात् प्रतिषेधरूप अर्थका वाचकपन और विधि निषेधरूप अर्थका एक साथ अवाचकपनेसे ही शद्वकी प्रतीति हो रही है यह कहना भी असंगत है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे भी यानी पांचवें, तीसरे, पहिले, आदि भंगोंसे भी शद्वकी प्रतीति हो रही है।

क्रमाक्रमाभ्यामुभयात्मनोऽर्थस्य वाचकश्चावाचकश्च नान्यथेत्यपि प्रतीतिविरुद्धं विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेरिति सप्तधा प्रवृत्तोऽर्थे शद्वः प्रतिपत्तव्यो विधिनिषेधविकल्पात्।

शब्द क्रमसे विधि निषेधात्मक अर्थका वाचक है और अक्रमसे विधि निषेधद्वयरूप अर्थका अवाचक है। इस सातवें ढंगके सिवाय अन्य कोई प्रकार नहीं है। यह भी एकान्त करना प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। क्योंकि केवल विधि या अकेले निषेध आदि प्रथम, द्वितीय प्रभृति भंगोंकी प्रधानतासे भी उस शब्दकी प्रवृत्ति होना प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वोक्त एकान्तोंको समुदितकर सात प्रकारसे अर्थमें प्रवृत्त हो रहा शद्व मान लेना चाहिये। विधि और निषेधके अवाच्य को साथ लेकर सात भेद हो सकते हैं। अतः उक्त वार्तिकमें सात प्रकारसे शद्वकी प्रवृत्ति कही गयी समझनी चाहिये। वाच्य धर्म सात हैं। अतः उनके वाचक शब्दोंके विकल्प भी सात हैं।

तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शद्वः प्रवर्तते।
स्यादस्त्येवाखिलं यद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ॥ ४९ ॥
स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने।
स्यादद्वैतमेव तद्द्वैतादित्यस्तित्वनिषेधयोः ॥ ५० ॥
क्रमेण यौगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत्।
स्यादस्त्यवाच्यमेवेति यथोचितनयार्पणात् ॥ ५१ ॥
स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति तत एव निगद्यते।
स्यादुद्वयावाच्यमेवेति सप्तभंग्यविरोधतः ॥ ५२ ॥

तिन सात प्रकारके वाचक शद्वोंमें कोई शद्व तो प्रश्नके वशसे विधान करनेमें प्रवृत्त रहा है। जैसे कि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन अपने स्वरूपभूत चार अवयवोंसे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् अस्तिरूप ही हैं (१)। तथा कोई शद्व यों निषेध करनेमें प्रवृत्त रहा है। जैसे कि स्वरूप

आदिके विपर्यास यानी परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् नास्तिस्वरूप ही है (२)। विधि और निषेधके क्रमसे उस द्वैतपनकी विवक्षासे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् अस्तिनास्ति उभयरूप ही हैं (३)। अथवा अस्तित्व और निषेधकी युगपत् कथन विवक्षा होनेपर वह वस्तु अवक्तव्य ही है (४)। तथा यथायोग्य उचित नयकी विवक्षा करनेसे यानी स्वरूपचतुष्टय और एक समयमें दोनोंके कहनेकी अपेक्षासे वस्तु कथञ्चित् अस्त्यवक्तव्यरूप ही है (५)। तिस उचित नयकी योजनासे ही यानी परचतुष्टय और युगपत् कथनकी विवक्षासे वस्तु कथञ्चित् नास्त्यवक्तव्य ही कही जाती है (६)। तथा स्वचतुष्टय और परचतुष्टय एवं युगपत् कथनकी अर्पणा करनेसे वस्तु कथञ्चित् अस्तिनास्त्यवक्तव्य स्वरूप ही है (७)। इस प्रकार धर्मोके अविरोधसे शब्दोंकी प्रवृत्ति द्वारा सात भंगोंके समुदायकी योजना हो जाती है।

न ह्येकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद्विधिनिषेधयोर्व्यस्तयोः समस्तयोश्च कल्पनयोः सप्तधा वचनमार्गो विरुध्यते, तत्र तथाविधयोस्तयोः प्रतीतिसिद्धत्वादेकान्तमन्तरेण वस्तुत्वानुपपत्तेरसम्भवात्।

प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें न्यारे न्यारे विधि और निषेधकी अथवा मिले हुए विधि निषेधकी सप्त कल्पनाओंके हो जानेपर सात प्रकार वचन मार्ग प्रवर्तना विरुद्ध हो जाय, सो नहीं समझना। क्योंकि उस एक वस्तुमें तिस प्रकारके उन विधिनिषेधोंकी कल्पना करना प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहा है। एक ही धर्मस्वरूपके विना वस्तुपनकी उपपत्ति न होनेका असम्भव है। अर्थात् एकान्तपनेके आग्रहको छोडकर वस्तुत्वकी सिद्धि हो सकती है। एक एकको ही एकत्रित करनेसे अनेक बन जाते हैं। अकेला एक धर्म अवस्तु है और है भी तो नहीं। सम्पूर्ण वस्तुओंमें विधि और निषेधकी वस्तुभूत कल्पनाएं प्रतीतिसिद्ध हो रही हैं।

स्वलक्षणे तयोरप्रतीतेर्विकल्पाकारतया संवेदनान्न प्रतीतिसिद्धमिति चेत्, किं पुनर्व्यस्तसमस्ताभ्यां विधिप्रतिषेधाभ्यां शून्यं स्वलक्षणमुपलक्ष्यते कदाचित्? संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यत एव तदनन्तरं व्युत्थितचित्तदशायामिदमित्थमस्त्यन्यथा नास्तीत्यादिविधिप्रतिषेधधर्मविशेषप्रतीतेः पूर्वं तथाविधवासनोपजनितविकल्पबुद्धौ प्रवृत्तेः। केवलं तान् धर्मविशेषांस्तत्र प्रतिभासमानानपि कुतश्चिद्विभ्रमहेतोः स्वलक्षणेऽप्यारोपयंस्तदपि तद्धर्मात्मकं व्यवहारी मन्यते। वस्तुतस्तद्धर्माणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रत्यक्षे प्रतिभासप्रसंगादेकत्रापि नानाबुद्धीनां निवारयितुमशक्तेरिति केचित्।

बौद्ध कहते हैं कि हमारे माने गये स्वलक्षण तत्त्वमें उन विधि निषेधोंकी प्रतीति नहीं हो रही है। वस्तुको नहीं छूनेवाले कोरे विकल्पाकार ज्ञानसे उनका संवेदन हो जाता है। अतः वे धर्म प्रतीतियोंसे सिद्ध नहीं हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन उनसे पूंछते हैं कि क्या फिर अकेले या मिले हुए विधि प्रतिषेधोंसे रहित स्वलक्षणको कभी आपने देखा है? बताओ! भला जिसका

शरीर स्वकी विधि और परके निषेधसे अलंकृत नहीं है उसका देखना भी क्या होगा ? । इसके उत्तरमें कोई बौद्ध यों कह रहे हैं कि जिस समय सम्पूर्ण मेरे, तेरे, अनित्य, है, नहीं, आदि विकल्पोंका संहार (निरोध) कर दिया जाता है उस अवस्थामें विधि निषेधोंसे रहित स्वलक्षण तत्त्व दीख ही जाता है। हां ! उसके पीछे रागद्वेषकी दशामें चित्तवृत्तिके नाना विकल्पोंमें सलग्न हो जानेपर " यह इस प्रकारका है, दूसरे प्रकारसे नहीं है " इत्यादिक अनेक विधि प्रतिषेध रूप विशेषधर्मोंकी प्रतीति होने लग जाती है । पहिले समयोंमें तिस प्रकारके झूंठे विकल्पक ज्ञान हो चुके हैं, उनकी वासनाएं हृदयमें बैठी हुयी हैं । उन वासनाओंसे उत्पन्न हुयी विकल्प बुद्धिमें अस्ति, नास्ति, की कल्पना प्रवृत्त हो जाती है। केवल उस झूंठी विकल्प बुद्धिमें प्रतिभास रहे भी उन अस्ति नास्ति आदि विशेष धर्मोंको जो कि स्वलक्षणमें नहीं प्रतिभास रहे हैं किसी भ्रान्तिके कारणसे वस्तुभूत स्वलक्षणमें भी अध्यारोप करता हुआ यह व्यवहार करनेवाला जीव उस स्वलक्षणको भी उन कल्पित धर्मस्वरूप मान रहा है। जैसे कोई भोला बालक या बन्दर दर्पणमें स्थित प्रतिविम्बके वास्तविक धर्मोंको मान लेता है, अथवा कोई उद्भ्रान्त पुरुष स्वप्नको देखकर भयभीत, कम्पित, हो जाता है । अपनी छतके ऊपर उदित हो रहे चन्द्रमाको शिशु अपना जान रहा है । सर्व साधारणका समान अधिकार या कुछ भी अधिकार न होते हुए भी बाजारकी चांदी, या कपडेमें मेरी तेरी कल्पना गढ ली जाती है परमार्थरूपसे विचारा जाय तो निरंश निर्विकल्पक स्वलक्षणोंमें उन धर्मोंकी वृत्ति असम्भव है । वे धर्म यदि वस्तुमें ठीक ठीक होते तो वस्तुके पूर्ण स्वरूपको देखनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानमें अवश्य प्रतिभासको प्राप्त हो जाने चाहिये थे । जो वस्तुभूत हैं उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो जाना प्रसंग प्राप्त है, तब तो एक पदार्थमें भी धर्मी धर्मोंके अनेक ज्ञान हो जानेको रोका नहीं जा सकता है । किन्तु हमारा मत ऐसा है कि " प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः " अंश, धर्म, पर्याय, इन सबसे रहित कोरा एक द्रव्य है उस एक अर्थका ही ज्ञान होता है, न एक पदार्थके अनेक ज्ञान हैं और न अनेक पदार्थोंका एक ज्ञान होता है। तथा जैनोंके द्वारा माने गये दर्शनमें भी तो धर्मोंका प्रतिभास नहीं होता है । इस प्रकार कोई सौगत कह रहे हैं । अब आचार्य बोलते हैं कि—

तेऽपि पर्यनुयोज्याः । कुतः ? सकलधर्मविकलं स्वलक्षणमभिमतदशायां प्रतिभासमानं विनिश्चितमिति । प्रत्यक्षत एवेति चेन्न तस्यानिश्चायकत्वात् । निश्चयजनकत्वान्निश्चायकमेव तदिति चेत्, तर्ह्यस्तित्वादिधर्मनिश्चयजननात्तन्निश्चयोऽपि प्रत्यक्षोऽस्तु तस्य तन्निश्चायकत्वोपपत्तेः अन्यथा स्वलक्षणनिश्चायकत्वस्य विरोधात् ।

वे बौद्ध भी इस प्रकार प्रश्नमालाको उठाकर आपादन करने योग्य हैं कि जिस दशामें विकल्पोंका संहार हो चुका है उस इष्ट दशामें स्वलक्षणतत्त्व सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित प्रतिभास रहा है, इस बातको आप बौद्धोंने विशेषरूपसे कैसे निश्चय किया ? बताओ ! यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही निश्चय

किया कहो सो तो ठीक नहीं। क्योंकि आपने उस प्रत्यक्षको निश्चय करानेवाला नहीं माना है। यदि आप यों कहे हैं कि प्रत्यक्षज्ञान स्वयं तो निश्चयरूप नहीं है। किन्तु निश्चयका जनक होनेसे वह प्रत्यक्ष प्रमाण निश्चायक अवश्य है। तब यों कहनेपर तो हम जैन कहते है कि अस्तिपन, नास्तिपन, आदि धर्मोंका विकल्पज्ञानरूप निश्चयकी उत्पत्ति करनेसे उनका निश्चयज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण हो जाओ। क्योंकि जो निश्चयको पैदा करता है वह प्रत्यक्ष आपने माना है। पीछेसे दृढतर निश्चयका उत्पाद करनेसे अस्तित्वादिके पहिले उस निश्चय ज्ञानको उसका निश्चायकपना सिद्ध हो रहा है अथवा प्रत्यक्षके पीछे निश्चय और उसके अनन्तर दृढतर निश्चयको करानेवाले उस प्रत्यक्षको उन अस्तित्वादिका निश्चायकपन सिद्ध हो रहा है। अन्यथा प्रत्यक्षको स्वलक्षणके निश्चायकपनेका विरोध होगा।

यदि पुनरस्तित्वादिधर्मवासनावशात्तद्धर्मनिश्चयस्योत्पत्तेर्न प्रत्यक्षं तन्निश्चयस्य जनकमिति मतं तदा स्वलक्षणं शुद्धं प्रतिभातमिति निश्चयस्यापि स्वलक्षणवासनाबलादुदयान्न तत्तस्य जनकं स्यात्। स्वलक्षणेऽनुभवनाभावे निश्चयायोगो न पुनरस्तित्वादिधर्मेष्विति स्वरुचिप्रकाशमात्रम्।

यदि फिर बौद्धोंका इस प्रकार मन्तव्य है कि अस्तित्व आदि धर्मोंकी हृदयमें बैठी हुयी मिथ्या वासनाओंकी अधीनतासे उन अस्तित्व आदि धर्मोंका निश्चय उत्पन्न होता है। अतः उस निश्चयका जनक प्रत्यक्ष नहीं है, यानी मिथ्या संस्कार अस्तित्वादि धर्मोंके निश्चायक हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण उनका निश्चायक नहीं है, तब तो हम बौद्धोंके प्रति कहेंगे कि सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध स्वलक्षण प्रतिभासित हो गया है इस निश्चयकी भी उत्पत्ति स्वलक्षणकी झूंठी वासनाके सामर्थ्यसे हो जायगी। अतः वह प्रत्यक्ष उस निश्चयका जनक न होवे। स्वलक्षण और अस्तित्वादि धर्म इन सबके निश्चय करानेका उपाय वासनाएं हो सकती हैं। स्वलक्षणमें प्रत्यक्षरूप अनुभवके न करनेपर पीछेसे निश्चय नहीं हो सकेगा, यह तो माना जाय और फिर अस्तित्वादि धर्मोंमें प्रत्यक्षरूप अनुभव किये विना निश्चय न होना यह न माना जाय, इस प्रकार पक्षपात करना केवल अपनी मनमानी रुचिका प्रकाश करना मात्र है। जैसे कि दरिद्र मनुष्य अपने अनेक मनोरथोंमें रुचि करते रहते हैं। इस ढंगसे प्रामाणिक पुरुषोंके सन्मुख तत्त्वव्यवस्था नहीं हो सकती है।

श्रुतिमात्रात्तद्धर्मनिश्चयोत्पत्तौ स्वलक्षणनिर्णयस्यापि तत एवोत्पत्तिरस्तु। तथा च न वस्तुतः स्वलक्षणस्य सिद्धिस्तद्धर्मवत् स्वलक्षणस्य तन्निश्चयजननासमर्थादपि प्रत्यक्षात्सिद्धौ तद्धर्माणामपि तथाविधादेवाध्यक्षात् सिद्धिः स्यात्।

वासनाओंसे न मानकर केवल शब्द सुननेसे ही उन अस्तित्वादि धर्मोंके निश्चयकी उत्पत्ति मानी जायगी तो स्वलक्षणके निर्णयकी भी उत्पत्ति सिस ही सुनने मात्रसे हो जाओ, और तैसा होने पर तो वास्तविकरूपसे स्वलक्षणकी सिद्धि नहीं हुयी। जैसे कि उसके धर्म अस्तित्वादिकोंकी सिद्धि कोरे शब्दके सुननेसे नहीं होती। यदि उस स्वलक्षणके निश्चयको उत्पन्न करनेमें नहीं समर्थ

भी प्रत्यक्षसे स्वलक्षणकी सिद्धि मानी जायगी तब तो उस स्वलक्षणके अस्तित्वादि धर्मोंकी भी निश्चयको पैदा न करनेवाले तिस ही प्रकारके प्रत्यक्षसे सिद्धि हो जावेगी। फिर आप स्वलक्षणको अस्तित्व आदि सात धर्मोंसे रहित कैसे कह रहे हैं ?

प्रत्यक्षे स्वलक्षणमेव प्रतिभाति न तु कियन्तो धर्मा इत्ययुक्तं, सत्त्वादिधर्माक्रान्तस्यैव वस्तुनः प्रतिभासनात्। प्रत्यक्षादुत्तरकालमनिश्चिताः कथं प्रतिभासन्ते नाम तद्धर्मा इति चेत्, स्वलक्षणं कथम् ? स्वलक्षणत्वेन सामान्येन रूपेण निश्चितमेव तत् प्रत्यक्षपृष्ठभाविना निश्चयेनेति चेत्, तद्धर्माः कथं सामान्येनानिश्चिताः। सामान्याकारस्यावस्तुत्वात् तेन निश्चिता न ते वास्तवा स्युरिति चेत् स्वलक्षणं कथं तेन निश्चीयमानं वस्तुसत्। तथा तदवस्त्वेवेति चेत् यथा न निश्चीयते तथा वस्तुसदित्यायातम्। तच्चानुपपन्नम्। पुरुषाद्वैतवत्।

प्रत्यक्ष प्रमाणमें स्वलक्षण ही स्पष्ट प्रतिभास रहा है, उसके कितने ही धर्म तो नहीं दीख रहे हैं। इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंसे घिरी हुयी वस्तुका ही प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभास हो रहा है। बौद्ध पूंछते हैं कि प्रत्यक्षसे पीछे उत्तरकालमें उसके धर्म होकर नहीं निश्चित किये गये अस्तित्वादिक धर्म भला कैसे प्रतिभास हो रहे हैं ? अर्थात् किसी प्रकार उनका प्रतिभास भी हो जाय किन्तु पीछेके निश्चय हुये विना वे धर्म उस स्वलक्षणके हैं इसका नियम कैसे होय ?। ऐसा कहनेपर तो हम जैन उनसे पूंछते हैं कि तुम्हारा स्वलक्षण भी कैसे प्रतिभास रहा है ? अर्थात् उसका भी तो प्रत्यक्षके पीछे निश्चय नहीं हुआ है ? बताओ ! इसपर आप बौद्ध यदि यों कहें कि वह स्वलक्षण तो प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले निश्चयके द्वारा सामान्यस्वरूप स्वलक्षणपने करके निश्चित ही है, इसपर तो हम जैन भी कहते हैं कि इस स्वलक्षणके अस्तित्व आदि धर्म भी सामान्यस्वरूपसे निश्चित हो चुके हैं वे भला अनिश्चित क्यों समझे जावें ? इसपर बौद्ध यों कहेंगे कि विशेष ही वास्तविक पदार्थ है समान आकार तो अवस्तु है। इस कारण उस सामान्यपनेसे निश्चित किये गये वे धर्म वास्तविक न हो सकेंगे। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि उस सामान्यपनेसे निश्चित किया गया स्वलक्षण तत्त्व भी भला वास्तविक सद्भूत कैसे कहा जारहा है ? बताओ। इसपर बौद्ध यों कहते हैं कि तिस प्रकार उस अवास्तविक सामान्यसे निश्चय किया गया वह स्वलक्षण अवस्तु ही है। ऐसा कहनेपर तो यह अभिप्राय आया कि जिस प्रकार स्वलक्षणका निश्चय न किया जाय, उसी प्रकारसे वह परमार्थभूत है, किन्तु वह बात तो उपपत्तिसे रहित है, यानी इस ढंगसे स्वलक्षणकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादी, शद्धाद्वैतवादी, आदि अपने ब्रह्म, शद्ध, आदिका निश्चय न कराते हुए कोरे सत्पनेसे या शद्धानुविद्धपनेसे अपने अभीष्ट तत्त्वोंको सिद्ध नहीं कर पाये हैं, वैसे ही बौद्ध अनिश्चित स्वलक्षणको नहीं सिद्ध कर सके हैं। अर्थात् जैसा वस्तुका स्वस्वरूप निश्चित हो रहा

है। वैसा वे मानते नहीं हैं। और जो स्वरूप नहीं निश्चित हो रहा है उसे वे मान बैठे हैं भला कहीं खड्डा भी पेडा हुआ करता है ? नहीं।

स्वलक्षणमेव वस्तु सत् स्वार्थक्रियानिमित्तत्वान्नात्माद्यद्वैतमित्यपि न सत्यं, सत्त्वादिधर्माणामभावे तस्य तन्निमित्तत्वासिद्धेः खरशृंगादिवत् सर्वत्र सर्वथैकान्तेऽर्थक्रियानिमित्तत्वस्य निराकृतत्वाच्च बहिरन्तर्वानेकान्तात्मन्येव तस्य समर्थनात्।

स्वलक्षण तत्त्व ही वास्तविकरूपसे सत्पदार्थ है, क्योंकि वह अपने योग्य अर्थक्रियाओंका कारण है। ब्रह्म, शुद्ध, ज्ञान, आदिका अद्वैत अर्थक्रियाका कारण न होनेसे वास्तविक नहीं है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्व, आदि धर्मोका अभाव माननेपर उस स्वलक्षणको उस अर्थक्रियाका निमित्तपना सिद्ध नहीं होता है, जैसे कि गधेके सींग, आकाशके फूल, आदिको सत्त्व न होनेसे अर्थक्रियाकारीपन नहीं है। जो सत् होगा वही तो अर्थक्रियाको करेगा। आप बौद्धोंने उक्त अनुमानमें सत्त्वको साध्य बना रखा है, वह स्वलक्षणरूप पक्षमें रहना ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकारसे क्षणिकपनका एकान्त ग्रहण करनेपर सर्व पदार्थोंमें अर्थक्रियाके निमित्तपनका निराकरण कर दिया गया है जो प्रथम क्षणमें आत्मलाभ कर चुका है, वही तो द्वितीय क्षणमें ठहर कर अर्थक्रियाको कर सकता है। किन्तु जो द्वितीय क्षणमें समूलचूल मर जायगा, वह किस कार्यको करेगा। घट, पट, आदि बहिरंग अथवा आत्मा, ज्ञान, आदि अन्तरंग पदार्थोंके अनेक धर्मात्मक होनेपर ही उस अर्थक्रियाके निमित्तपनका युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है।

क्षणिकस्वलक्षणस्य तन्निमित्तत्वमंगीकृत्याशक्यनिश्चयस्यापि धर्माणां तत्प्रतिक्षेपे तानप्यंगीकृत्य स्वलक्षणे तत् प्रतिक्षेपस्य कर्तुं सुशकत्वात्। तथाहि—सत्त्वादयो धर्मा एवार्थक्रियाकारिणः संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यन्ते न स्वलक्षणं तस्य स्ववासनाप्रबोधाद्विकल्पबुद्धौ प्रतिभासनात्। केवलं तत्रावभासमानमपि तद्धर्मेऽध्यारोपयन् कुतश्चिद्विभ्रमादर्थक्रियानिमित्तमिव जनोऽनुमन्यते परमार्थतस्तस्यासम्भवात्। सम्भवे वाध्यक्षेऽवभासानुषंगात् चित्रसंविदां सकृदपनेतुमशक्तेः।

एक क्षण ठहर कर झट दूसरे क्षणमें नष्ट हो जानेवाले स्वलक्षणको उस अर्थक्रियाका निमित्तपना स्वीकार करके जिसका निश्चय न किया जा सके ऐसे भी स्वलक्षणके अस्तित्व आदि धर्मोका वह अर्थक्रियाका निमित्तपन निषिद्ध किया जायगा। ऐसा होनेपर तो उन धर्मोको भी अर्थक्रियाका निमित्तपन अंगीकार करके स्वलक्षणमें उस अर्थक्रियाके निमित्तपनका निषेध सुलभतासे किया जा सकता है। उसीको हम स्पष्ट कर कहते हैं कि सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित निर्विकल्पक दशामें सत्त्व, आदिक धर्म ही अर्थक्रियाको करते हुए दीख रहे हैं। स्वलक्षण तो अर्थक्रियाको करता हुआ नहीं जाना जा रहा है। अपनी वासनाके जागृत हो जानेसे उस विकल्पबुद्धिमें ही प्रतिभास रहे भी उस स्वलक्षणको निष्ठत्वसम्बन्धसे उसके सत्त्वादि धर्मोमें अध्यारोप करता हुआ व्यवहारी मनुष्य किसी

भ्रान्तिसे अर्थक्रियाका निमित्त सदृश स्वलक्षणको मान रहा है। वास्तविकरूपसे उस स्वलक्षणके अर्थक्रियाका असम्भव है अथवा वास्तविक धर्मोंमें असद्रूप स्वलक्षणका आरोप करना असम्भव है। यदि सम्भव माना जावेगा तो प्रत्यक्षमें ही स्वलक्षणके प्रतिभासनेका प्रसंग होगा ऐसा होनेपर धर्म और स्वलक्षणके अनेक आकारवाले ज्ञानोंका एक बार भी दूरीकरण नहीं किया जा सकता है। विनिगमनाविरह होनेसे दोनों सिद्ध हो जावेंगे। भावार्थ—जैसे बौद्धोंने प्रायः बीस पंक्तिके पहिले पूर्वपक्ष करते समय अस्तित्वादि धर्मोंका खण्डन कर दिया था, तिस ही प्रकार उनके स्वलक्षणका भी निराकरण किया जा सकता है। न्याय्य आपादन करनेमें लज्जाकी कोई बात नहीं है। दूसरेके ऊपर कटाक्ष करनेवालेको अपने ऊपर आये हुये आक्षेपोंका भी सहन करना पडेगा।

स्वलक्षणस्य वस्तुतोऽसत्त्वे कस्यायत्ताः सत्त्वादयो धर्मा इति चेत् तेषां परमार्थतोऽसत्त्वे कस्य स्वलक्षणमाश्रय इति समः पर्यनुयोगः। स्वरूपस्यैवेति चेत् तर्हि धर्माः स्वरूपायत्ता एव सन्तु स्वलक्षणमनिर्देश्यं स्वस्य परस्य वाश्रयत्वेनान्यथा वा निर्देष्टुमशक्यत्वादिति चेत् तत एव धर्मास्तथा भवन्तु विरोधाभावात्। स्याद्वादिनां शुद्धद्रव्यस्येवार्थपर्यायाणामनिर्देश्यत्वोपगमात्। यथा च व्यञ्जनपर्यायाणां सदृशपरिणामलक्षणानां निर्देश्यत्वं तैरिष्टं तथा द्रव्यस्याप्यशुद्धस्येति नैकान्ततः किञ्चिदनिर्देश्यं निर्देश्यं वा।

बौद्ध कहते हैं कि यदि स्वलक्षणको वास्तविकरूपसे असत्पना माना जायगा तो किसके अधीन होकर वे सत्त्व आदिक धर्म ठहर सकेंगे? ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहेंगे कि यदि उन अस्तित्वादि धर्मोंको परमार्थरूपसे असत् माना जायगा तो तुम्हारा स्वलक्षण किसका आश्रय होगा? जैसे कि अग्निके बिना उष्णता नहीं ठहरती तैसे ही उष्णता आदिके बिना अग्नि भी किसका आधार होगी? इस प्रकार दोनों ओरसे प्रश्न उठानारूप कटाक्ष समान हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अस्तित्व, आदिके बिना भी अपने स्वरूप ही का स्वलक्षण हो जायगा। तब तो हम जैन भी कह देंगे कि स्वलक्षणरूप आधारके बिना भी अस्तित्व आदिक धर्म अपने स्वरूपके अधीन होकर ही ठहर जावें। यदि बौद्ध यों कहें कि स्वलक्षण तत्त्व तो अवाच्य है, निर्विकल्पक है। अपने या दूसरोंके आश्रयपनेसे अथवा अन्य प्रकारोंसे शद्बद्वारा उसका कथनोपकथन नहीं किया जा सकता है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कहेंगे कि तिस ही कारण धर्म भी शद्ब द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। अतः तिस प्रकार स्वरूपके ही अधीन होते हुए वे अवक्तव्य हो जाओ! कोई विरोध नहीं आता है। स्याद्वादियोंके यहां शुद्धद्रव्यके समान सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको भी शद्ब द्वारा अवक्तव्य माना गया है और जिस प्रकार कि सदृश परिणाम है स्वरूप जिनका ऐसी व्यञ्जन पर्यायोंका शद्बके द्वारा कथन किया जानापन उन्होंने स्वीकृत किया है। तिस ही प्रकार परद्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त हो रहे अशुद्ध द्रव्यका भी शद्ब द्वारा वचन होना माना है। भावार्थ—" वृत्तिर्वाचामपरसदृशी " वचनोंकी प्रवृत्ति दूसरोंके सदृश होती है। न्यायदर्शनके शद्ब खण्ड ग्रन्थोंमें इसपर भारी विवेचन

है, जैनसिद्धान्त अनुसार सहज योग्यता और संकेतग्रहणसे शब्द वाच्यअर्थका प्रतिपादन करते हैं, वह व्यवहारद्वारा संकेतग्रहण व्यक्त मोटी पर्यायोंमें या अशुद्धद्रव्य संसारी जीव और स्कन्धात्मक पुद्गलोंमें होता है। शुद्धद्रव्य और सूक्ष्म परिणामोंका जानना ही अतीव कठिन है, तथा शब्द द्वारा समझना, समझाना तो असम्भव है। अतः एकान्तरूपसे कोई भी पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं है अथवा सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थके सदृश परिणामरूप अंश कहे जाते हैं और उसके सूक्ष्मअंश अर्थपर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, नहीं कहे जा सकते हैं। अनेक द्रव्य ऐसे हैं जो कथमपि नहीं कहे जा सकते हैं। उनकी यहां विवक्षा नहीं है। वस्तुस्थितिको द्वादशांगवाणी भी नहीं पलट सकती है। सर्वत्र अनेकान्त व्याप रहा है।

कुतः समानेतरपरिणामा धर्मा इति चेत् स्वलक्षणानि कुतः? तथा स्वकारणादुत्पत्तेरिति चेत् तुल्यमितरत्र। स्वलक्षणान्येककार्यकरणाकरणाभ्यां समानेतररूपाणीत्ययुक्तं, केषाञ्चिदेक कार्यकारिणामपि विसदृशत्वेक्षणात् कथमन्यथेन्द्रियविषयमनस्काराणां गडूच्यादीनां च ज्ञानादेर्ज्वरोपशमनादेश्चैककार्यस्य करणं भेदे स्वभावत एवोदाहरणार्हम्। चित्रकाष्ठकर्माद्यनेककार्यकारिणामपि मनुष्याणां समानत्वदर्शनात् समान इति प्रतीतेरन्यथानुपपत्तेः।

ऊर्ध्वता और तिर्यक् सामान्यरूप समान परिणाम तथा पर्याय, व्यतिरेकरूप विशेष परिणाम, एवं अस्तित्व आदि ये वस्तुके धर्म कैसे सिद्ध हैं? बताओ! ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि तुम्हारे यहां स्वलक्षण तत्त्व कैसे सिद्ध माने गये हैं? यदि तुम यों कहो कि तिस प्रकार अपने अपने कारणोंसे उत्पत्ति होनेसे वे स्वलक्षण हैं। तब यों बोलनेपर तो अन्यत्र (दूसरी जगह) भी यह समाधान समान है। अर्थात् समान परिणाम और विशेष परिणाम भी अपने अपने विशेष कारणोंसे उत्पन्न होकर वस्तुके धर्म बन रहे हैं। बौद्धोंके माने गये स्वलक्षण ही एक कार्यको करने और न करने की अपेक्षासे समान और विसमानस्वरूप हो जाते हैं। समान धर्म और विसदृश धर्म कोई न्यारे नहीं हैं, इस प्रकार कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि उसमें व्यभिचार देखा जाता है। एक कार्यको करनेवाले किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके विसमानता देखी जाती है। अन्यथा इन्द्रिय, विषय और मनको ज्ञान, सुख आदिमेंसे किसी एक कार्यका करनापन भला कैसे सम्भव है? अर्थात् इन्द्रिय पुद्गलकी बनी हुयी है उससे जानने योग्य विषय बाहर पडा हुआ है और मन अन्तरंग इन्द्रिय है। किन्तु ये कई विजातीय पदार्थ एक ज्ञानरूप कार्यको करते हैं, तथा गिलोय, कुटकी, चिरायता, आदि पदार्थ प्रकृति (तासीर) से भेद होनेपर भी ज्वरका उपशम, खांसी दूर करना आदि किसी भी एक कार्यको कर देते हैं। अन्यथा वे कोई औषधियां एक रोगको दूर कैसे करतीं? अतः अनेक भी एक कार्यको करते हैं। इसमें इन्द्रिय आदिक और गडूची (गिलोय) आदिक उदाहरण देने योग्य हैं। यह व्यभिचार हुआ, तथा चित्र लिखना, काठका

काम करना, ईटें चिनना, आदि अनेक कार्योंको करनेवाले भी मनुष्योंके समानपन देखा जाता है। अन्यथा ये चितेरा, बढई, राज आदि समान हैं इस प्रकारकी प्रतीति नहीं हो सकती थी। अतः व्यभिचार हो जानेसे एक कार्यको करने और न करनेकी अपेक्षासे समानपने और विसमानपनेकी व्यवस्था करना ठीक नहीं।

समानासमानकार्यकरणाद्भावानां तथाभाव इति चेत् कुतस्तत्कार्याणां तथा भावः ? समानेतरस्वकार्यकरणादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च।

जो समान कार्योंको करें वे समान पदार्थ हैं और जो विसदृश कार्योंको करें, वे विसमान भाव हैं, इस प्रकार सदृश और विसदृश कार्योंके करनेसे पदार्थोंके तिस प्रकार सदृशपन और विसदृशपन व्यवस्थित हैं ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो हम पूंछेंगे कि उन सदृश, विसदृश, कार्योंका तिस प्रकार समानपन और असमानपन कैसे हुआ ? बताओ ! इसका उत्तर तुम बौद्ध यदि यों दो कि उन कार्योंने भी सदृश और विसदृश अपने उत्तरवर्त्ती कार्योंको किया, अतः वे सदृश विसदृश माने गये, तब तो पुनः उन कार्योंके कार्योंपर भी वही हमारा प्रश्नरूप आक्षेप होता जायगा और आप बौद्ध उत्तर भी वही अपने अपने सदृश विसदृश कार्योंके करनेका देते जांयगे और यों अनवस्था दोष हो जाता है।

तथोत्पत्तिरिति चेत् सर्वभावानां तत एव तथाभावोऽस्तु। समानेतरकारणत्वात्तेषां तथाभावः इत्यप्यनेनापास्तं, समानेतरपरिणामयोगादर्थास्तथेत्यप्यसारं, तत्परिणामानामपरथापरिणामयोगात् तथाभावेनवस्थितेः। स्वतस्तु तथात्वेऽर्थानामपि व्यर्थस्तथापरिणामयोगः।

यदि बौद्ध यों कहें कि तिस प्रकार समान और असमानपनेसे पदार्थोंकी उत्पत्ति हो जाती है हम क्या करें ? इसमें अनवस्थादोष कुछ नहीं है, ऐसा उनके कहनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी तिस ही कारणसे वैसी समान और विसमानपनेकी व्यवस्था हो जाओ ! यह उपाय अच्छा है। स्याद्वादियोंको अभीष्ट है। समान और विसमान कारणोंसे उत्पन्न हो जानेके कारण उन पदार्थोंकी तिस तिस प्रकार सदृशता और विसदृशता है इस प्रकार बौद्धोंका निर्वाह करना भी इस उक्त कथनसे निराकृत हो गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन कारणोंमें और उनके भी कारणोंमें सदृशता, विसदृशताकी व्यवस्था करनेके लिये प्रश्न उठाते उठाते अनवस्था हो ही जायगी। समान परिणतियों और विसमान परिणतियोंके योगसे पदार्थ तिस प्रकार सदृश, विसदृश हैं। इस प्रकार कहना भी निस्सार है। क्योंकि उन परिणामोंके सदृश विसदृशपनेके नियामक दूसरे प्रकारसे अन्य परिणाम माने जांयगे, उनके योगसे तिस प्रकार व्यवस्था माननेपर फिर वहां भी प्रश्न उठेगा। उसका उत्तर भी तिस प्रकारका दिया जायगा। ऐसा होनेपर अनवस्थादोष है। इस ढंगसे किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं होती है। हां ! अन्यकी अधीनताके विना स्वतः ही अपनी अपनी योग्यतावश उन परिणामोंके सदृशविसदृशपन, की व्यवस्था मानोगे तब तो पदार्थोंकी भी अपनी योग्यतावश

स्वतः ही सदृश, विसदृशपनकी व्यवस्था हो जायगी, बीचमें तिस प्रकारके परिणामका सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। अर्थात् परिणामोंमें सदृशता, विसदृशता, स्वतः मानी जाय और पदार्थोंमें उन परिणतियोंसे सदृशता, विसदृशताकी व्यवस्था की जाय, इस प्रकार परम्पराकी क्या आवश्यकता है ? भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थ अपनी योग्यतासे ही समान और विसमान स्वरूपसे परिणत हो रहे हैं पहिले हीसे तिस प्रकार आत्मलाभ कर रहे हैं। तभी तो जैनसिद्धान्त अनुसार समान परिणाम और विसदृश परिणाम वस्तुके तदात्मक धर्म हैं।

समानेतराकारौ विकल्पनिर्भासिनावेव स्वलक्षणेष्वध्यारोप्येते न तु वास्तवावित्यप्ययुक्तं तयोस्तत्र स्पष्टमवभासनात् तद्विकलानां तेषां जातुचिदप्रतिपत्तेरिति। तथा परिणतानामेव स्वलक्षणानां तथात्वसिद्धिरप्रतिबन्धा तद्धर्माणामस्तित्वादीनामपीति परमार्थत एव समानाकाराः पर्यायाः शब्दैर्निर्देश्याः पर्यायिवत्। सूक्ष्मास्त्वर्थपर्यायाः केचिदत्यन्तासमानाकारा न तैर्निर्देश्या इति निरवद्यं दर्शनं न पुनर्विकल्पप्रतिभासिनो विकल्प्यात्मन एव समानाकाराः शब्दैरभिधेयाः। बाह्यार्थः सर्वथानभिधेय इत्येकान्तः प्रतीतिविरोधात्। प्रतिपादयित्रा य एवोद्भूत्य कुतश्चिज्जात्यन्तरादर्थात् स्वयमधिगत्य धर्मी धर्मो वा शब्देन निर्दिष्टः स एव मया प्रतिपन्न इति व्यवहारस्य विसंवादिनः सुप्रसिद्धत्वाच्च तद्धान्तत्वव्यवस्थानुपपत्तेरसाधीयः।

बौद्ध कहते हैं कि हमको स्वलक्षणके सदृशपने और विसदृशपनेकी व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। पदार्थोंके समान विसमान आकार तो वस्तुको नहीं छूनेवाले विकल्पज्ञानमें प्रतिभासते हुए ही मोटी बुद्धिवाले व्यवहारियोंके द्वारा स्वलक्षणमें आरोपित कर दिये जाते हैं। वे सदृश, विसदृश, आकार तो वस्तुभूत नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन समान, विसमान, आकारोंका उस स्वलक्षणमें स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षद्वारा प्रतिभास हो रहा है। उन सामान्य, विशेष, आकारोंसे रहित हो रहे स्वलक्षणोंकी तो कभी प्रतिपत्ति नहीं होती है। अतः तिस प्रकार समान, असमानरूपसे परिणमन करते हुए ही स्वलक्षणोंके तिस प्रकार सदृश, विसदृशपनकी सिद्धि हो जाती है, कोई प्रतिबन्ध करनेवाला नहीं है। उसीके सदृश अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मों या उनके भी सदृश, विसदृशपनेकी बाधारहित सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार वास्तविकरूपसे ही विद्यमान हो रहीं सदृश आकाररूप पर्यायें तो शब्दोंके द्वारा कथन करने योग्य हैं। जैसे कि समान पर्यायोंसे युक्त अशुद्ध द्रव्यरूप पर्यायी पदार्थ शब्दोंका वाच्य है। हां ! सूक्ष्म अर्थपर्यायें तो कोई अत्यन्तपनेसे असमान आकारवाली हैं। भावार्थ—घट, पट, गौ, घोडा, आदि व्यक्त पर्याय या पर्यायी पदार्थ तो शब्दोंके वाच्य हैं और दुग्ध, घृत, शर्करा, मिश्री आदिके मीठेपनके तारतम्य समान अनेक ज्ञानांश, कषायांश, वेदनांश आदि अर्थपर्यायोंका शब्दोंद्वारा कथन नहीं हो पाता है। अतः समान ही अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंद्वारा किसीके समान

नहीं ऐसी सूक्ष्म अर्थपर्यायोंका निरूपण नहीं होता है। भला आप यह तो विचारो कि मैं यदि उन अर्थपर्यायोंको शब्दके द्वारा कहनेको समर्थ होऊं कि कौनसी अर्थपर्यायें अवाच्य हैं, तब तो वे वाच्य ही हो जातीं, इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त निर्दोष सिद्ध हुआ। यानी कुछ पदार्थ वक्तव्य हैं और कुछ पदार्थ अवक्तव्य हैं। बौद्धोंके मतानुसार झूंठे विकल्पज्ञानमें प्रतिभास हो रहे विकल्प्य स्वरूप सदृश आकार ही शब्दोंके द्वारा कहे जाने योग्य हैं। किन्तु वास्तविक बहिरंग घट, पट, आदि अर्थ अथवा अन्तरंग अर्थ तो सभी प्रकारोंसे अवाच्य हैं, इस प्रकारका एकान्त तो फिर सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध आ रहा है। दूसरी बात यह है कि वस्तुको शब्दके द्वारा कथन करनेवाले वक्ता करके किसी भी सजातीय, विजातीय, अन्य अर्थसे उद्धार कर जो ही धर्मी अथवा धर्म स्वयं जानकर शब्दके द्वारा कहा जाता है, वही अर्थ मुझ श्रोता करके जान लिया गया है इस प्रकारका अविसंवादी प्रत्यभिज्ञा प्रमाणस्वरूप व्यवहार भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहा है। उस प्रमाणभूत व्यवहारके भ्रान्तपनकी व्यवस्था करानेका कोई उपाय नहीं है। अर्थात् बौद्ध अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञान और आगमज्ञान भी अभ्रान्त तथा अविसंवादी हैं। वक्तासे जो कहा जाय, वही श्रोतासे सुना समझा और प्रवृत्त किया जाय अथवा एक प्रमाणसे जाने गये विषयमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनारूप यह अविसंवाद शब्दसे जन्य वाच्यके समीचीन ज्ञानोंमें है, अतः वस्तुके कतिपय वास्तविक धर्म वक्तव्य सिद्ध हुए।

नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानाम्युपगमादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुः न पुनः सप्तैव वाच्येयत्तायत्तत्वात् वाचकेयत्तायाः। ततो विरुद्धैव सप्तभंगीति चेत् न, विधीयमाननिषिध्यमान धर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात् " प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनी " इति वचनात् तथानन्ताः सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टं, पूर्वाचार्यैरस्तित्वनास्तित्वविकल्पात्सप्तभंगीमुदाहृत्य " एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्। प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारद " इति अतिदेशवचनात् तदनन्तत्वस्याप्रतिषेधात्।

यहां शंका है कि स्याद्वादियोंने एक वस्तुमें व्यञ्जनपर्यायस्वरूप अनन्तधर्मोंको शब्दके द्वारा कथन करने योग्य स्वीकार किया है। अतः अनन्त धर्मोंके कहनेवाले वचनोंके मार्ग भी अनन्त ही हो सकेंगे फिर स्याद्वादियोंके यहां सात ही वचनमार्ग तो नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वाचक शब्दोंका इतना परिमाणपना वाच्य अर्थोंके इतने परिमाणपनके अधीन है यानी जितने वाच्य हैं, उतनी संख्या वाले वाचक शब्द होने चाहिये। कमती नहीं। अनन्त धर्मोंको भला सात शब्द कैसे कह सकते हैं? तिस कारण स्याद्वादियोंकी सात भंगोंका समाहाररूप सप्तभंगी विरुद्ध ही है। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि विधान करने योग्य और निषेध करने योग्य धर्मके भेदोंकी अपेक्षासे उन सात सात वचन मार्गोंके होनेका कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक पर्यायका अवलम्ब

लेकर वस्तुमें सप्तभंगी हो जाती है ऐसा सिद्धान्तवचन है। तिस प्रकार कथन करने योग्य अनन्त धर्मोंके विधि, निषेध, द्वारा अनन्त सप्तभंगी भी हो जावें यह भी हमें अनिष्ट नहीं है। पहिलेके पूज्य श्रीसमन्तभद्र आचार्य महाराजने अस्तित्व, नास्तित्व, धर्मोंके विकल्पसे सप्तभंगीका उदाहरण देकर आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) में कहा है कि अस्तित्व, नास्तित्व, धर्मोंके समान एक, अनेक, नित्य, अनित्य, तत्, अतत् आदि उत्तरोत्तर धर्मोंमें भी इस सप्तभंगके अधीन होनेवाली प्रक्रियाको नयवादमें प्रवीण स्याद्वादी विद्वान् सुनयों करके युक्तिपूर्वक जोड देवें या समझा देवें। जो नयचक्रको नहीं जानता है, ऐसे एकान्तवादीका सप्तभंगकी प्रक्रियाकी योजना करनेमें अधिकार नहीं है, इस प्रकार भगवान् श्री समन्तभद्र आचार्यके श्रद्धा करने योग्य और उपलक्षणरूपसे एक अर्थको समझाकर असंख्य अर्थको कहनेवाले वृद्ध-वाक्यसे उस सप्तभंगीके अनन्तपनका निषेध नहीं है किन्तु विधान है। भावार्थ—किसी भी कथन करने योग्य विवक्षित धर्मको लेकर और उससे प्रतिषेध्य धर्मकी वस्तुभूत कल्पना कर तथा दोनों धर्मोंको युगपत् न कह सकनेके कारण अवक्तव्य मानकर तीन धर्म बना लिये जाते हैं। इस प्रकार एक ही पर्यायके प्रत्येक भंग तीन, द्विसंयोगी तीन और त्रिसंयोगी एक यों मिलाकर सात भंग बन जाते हैं। इसी ढंगसे अनन्त धर्मोंकी अनन्त सप्तभंगियां हो जाती हैं। शब्दोंके द्वारा संख्यात अर्थ कहे जाते हैं। जैनोंका संख्यात भी दूसरोंके अनन्तसे बडा है। परम्परा व्युत्पत्तिकी अपेक्षासे तो शब्दद्वारा अनन्त अर्थ भी कहा जा सकता है।

ननु च प्रतिपर्यायमेक एव भंगः स्याद्वचनस्य न तु सप्तभंगी तस्य सप्तधा वक्तुमशक्तेः। पर्यायशब्दैस्तु तस्याभिधाने कथं तन्नियमः सहस्रभंग्या अपि तथा निषेद्धुमशक्तेरिति चेत् नैतत्सारं, प्रश्नवशादिति वचनात्। तस्य सप्तधा प्रवृत्तौ तत्प्रतिवचनस्य सप्तविधत्वोपपत्तेः प्रश्नस्य तु सप्तधा प्रवृत्तिः वस्तुन्येकस्य पर्यायस्याभिधाने पर्यायान्तराणामाक्षेपसिद्धेः।

पुनः बौद्धकी आक्षेपसहित शंका है कि प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षासे वचनका भंग एक ही होना चाहिये। सात भंग तो नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक अर्थका सात प्रकारसे कहना अशक्य है। यदि घट, कलश, कुम्भ या इन्द्र, शक्र, पुरन्दरके समान यहां भी पर्यायवाची सात शब्दों करके उस एकका निरूपण करोगे तब तो उन सातका ही नियम कैसे रहा ? दसों, पचासों, और हजारों, भंगोंके समाहारका भी निषेध नहीं कर सकते हो। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहोगे तो यह आप बौद्धोंका कथन साररहित है। क्योंकि सप्तभंगीका लक्षण प्रश्नके वशसे ऐसा पद डालकर कहा है। जब कि वह प्रश्न सात प्रकारसे प्रवृत्त हो रहा है तो उसके प्रत्युत्तररूप वचनको सात प्रकारपना युक्त ही है। प्रश्नोंकी सात प्रकारसे प्रवृत्ति होना तो वस्तुमें एक पर्यायके कथन करनेपर अन्य प्रतिषेध्य, अवक्तव्य आदि पर्यायोंके आक्षेप कर लेनेसे सिद्ध है। यानी एकके कथन करनेपर

उसके साथी गम्यमान छह धर्मोका अर्थापत्तिसे ग्रहण कर लिया जाता है। उनको प्रश्नकोटिमें डालकर सात प्रकारके भंगरूप उत्तर दे दिये जाते हैं।

कुतस्तदाक्षेप इति चेत् तस्य तन्नान्तरीयकत्वात्। यथैव हि क्वचिदस्तित्वस्य जिज्ञासायां प्रश्नः प्रवर्तते तथा तन्नान्तरीयके नास्तित्वेऽपि क्रमार्पितोभयरूपत्वादौ चेति जिज्ञासायाः सप्तविधत्वात् प्रश्नसप्तविधत्वं ततो वचनसप्तविधत्वम्।

बिना कहे सुने उन छह धर्मोका आक्षेपसे लाभ कैसे होगा ? इसपर यही उत्तर है कि वह एक धर्म अपने साथी उन छह धर्मोके बिना नहीं हो सकता है, उसका उनके साथ अविनाभाव है। जैसे कि किसीमें अस्तिपनके जाननेकी इच्छा होनेपर नियमसे अस्तित्वका प्रश्न प्रवर्तता है, तिस ही प्रकार उस अस्तित्वके अविनाभावी नास्तित्वमें भी और क्रमसे विवक्षा किये गये अस्तित्व नास्तित्वके उभयस्वरूप या अस्त्यवक्तव्यपन आदिमें भी प्रश्न खडा हो जाता है। इस प्रकार जाननेकी इच्छायें जब सात प्रकारकी हैं। अतः जिज्ञासुके प्रश्न भी सात प्रकारके हो जाते हैं और उन प्रश्नोंके सात प्रकारपनसे उनके उत्तरमें दिये गये वक्ताके वचन सात प्रकारके होते हैं।

क्वचिदस्तित्वस्य नास्तित्वादिधर्मषट्कनान्तरीयकत्वासिद्धेस्तज्जिज्ञासायाः सप्तविधत्वमयुक्तमिति चेन्न, तस्य युक्तिसिद्धत्वात्। तथाहि—धर्मिण्येकत्रास्तित्वं प्रतिषेध्यधर्मैरविनाभावि धर्मत्वात् साधनास्तित्ववत्। न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नं तस्य साधनाभासत्वप्रसंगात् इति सिद्धमुदाहरणम्। हेतुमनभ्युपगच्छतां तु स्वेष्टतत्त्वास्तित्वमनिष्टरूपनास्तित्वेनाविनाभावि सिद्धं, अन्यथा तदव्यवस्थितेरिति तदेव निदर्शनम्।

कोई पूंछता है कि कहीं कहीं तो अस्तित्वका नास्तिपन आदि छह धर्मोसे अविनाभावीपना असिद्ध है। दस और पांच पन्द्रह होते हैं। दूसरेको दुःख उपजावनेसे पाप बन्ध होता है, आदि स्थलोंपर अकेला अस्तिपन ही वर्त रहा है, अन्य नास्तिपन, अवक्तव्य, आदि नहीं। अतः उनकी जिज्ञासाओंको भी सात प्रकारपन अयुक्त है, मूल ही नहीं तो शाखा कैसे उपज सकती है ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस एक धर्मका छह धर्मोसे अविनाभावीपन युक्तियोंसे सिद्ध है। उसीको ग्रन्थकार स्पष्ट कर कहते हैं। अनेक धर्मवाले एक धर्मीमें एक अस्तिपना धर्म (पक्ष) अपने निषेध करने योग्य नास्तित्व और अवक्तव्य आदि धर्मोके साथ अविनाभावी है। भेद प्रतिपादक षष्ठी विभक्तिके अर्थ प्रतियोगीपनसे युक्त हो रहे पदार्थ यहां निषेध्य शब्दसे लिये गये हैं (साध्य)। क्योंकि वह धर्म है (हेतु)। जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माना गया हेतुका अस्तित्व धर्म (दृष्टान्त)। इस अनुमानमें दिया गया उदाहरण तो साध्य और साधनोंसे सहित है, कहीं सर्व या आत्मामें अनित्यपन, क्षणिकपन आदिको साध्य करनेपर दिये गये सत्त्व, कृतकत्त्व, आदि हेतुओंका पक्षमें रहना, विपक्षमें नास्तिपनके बिना नहीं सिद्ध माना गया है, अन्यथा उस हेतुको हेत्वाभासपनेका

प्रसंग हो जायगा। अर्थात् जिस सद्धेतुमें पक्षवृत्तित्व धर्म है उसमें विपक्षकी अपेक्षा नास्तित्वधर्म भी है तभी वह समीचीन हेतु है। अन्यथा विरुद्ध या व्यभिचारी है। इस प्रकार हमारा साधनास्तित्वरूप उदाहरण सिद्ध हो गया। यह साधन यानी हेतुको माननेवालोंकी अपेक्षा उदाहरण बन गया और जो चार्वाक या अद्वैतवादी हेतुको स्वीकार नहीं करते हैं उनके लिए तो माना गया तत्त्व ही दृष्टान्त बना दिया जायगा। अपने अभीष्ट जड़, पृथ्वी आदि तत्त्वोंका अस्तिपन भी अनिष्ट चेतनरूप तत्त्वोंके नास्तित्वपनेके साथ अविनाभावी सिद्ध है। अथवा अपने अभीष्ट चेतन, ब्रह्म तत्त्वका अस्तित्व अनिष्ट जड़, द्वैत आदि स्वरूपोंके नास्तिपनके विना नहीं हो सकता है। अन्यथा उन अभिप्रेत अपने तत्त्वोंके साधनेकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इस कारण उन उनके अभीष्ट तत्त्वोंको ही दृष्टान्त समझ लेना। दृष्टान्तका अर्थ अपने अपने साधने योग्य तत्त्वोंका अस्तित्व कर लेना चाहिये। सबको सन्तोष रहे यह हमारी आन्तरिक भावना है।

ननु च साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वं नियतं साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव तत्कथं तत् प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेः। स्वरूपनास्तित्वं तु यत्तत्प्रतिषेध्यं तेनाविनाभावित्वेन स्वरूपास्तित्वस्य व्याघातस्तेनैव रूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावात्। तथा स्वेष्टतत्त्वेऽस्तित्वमेवानिष्टतत्त्वे नास्तित्वमिति न तत्प्रतिषेध्यं येन तस्य तदविनाभावित्वं सिध्येत्। तेनैव तु रूपेण नास्तित्वं विप्रतिषिद्धमिति कथं निदर्शनं नाम प्रकृतसाध्यं स्यादिति चेन्न, हेतोस्त्रिरूपत्वादिविरोधात्। स्वेष्टतत्त्वविधौ चावधारणवैयर्थ्यात्।

इस बातपर बौद्धका पुनः पूर्वपक्ष है कि उक्त प्रकारके अस्तित्व, नास्तित्व, ये दो धर्म नहीं हैं। साध्यके न होनेपर साधनका नियमरूपसे नास्तिपन तो साध्यके होनेपर ही हेतुका अस्तिपन स्वरूप ही है तो फिर आप जैन उस नास्तित्वको अस्तिपनका निषेध करने योग्य धर्म कैसे कहते हैं? घटसे घटका ही निषेध योग्यपना असिद्ध है। इस प्रकार पररूपसे नास्तिपन तो स्वरूपसे अस्तिपन ही है और जो स्वरूपसे नास्तिपनको उसका प्रतिषेध्य माना जायगा तब तो तिस स्वरूप नास्तिपनके साथ स्वरूप अस्तित्वका अविनाभावीपनसे कथन करनेमें व्याघात दोष है। तिस ही स्वरूप करके अस्ति और तिस ही अपने स्वरूपसे नास्ति इस प्रकारकी प्रामाणिक प्रतीति नहीं होती है। आप जैनोंने भी स्वरूप ही करके अस्तिपन और नास्तिपनकी व्यवस्था नहीं की है। तथा चार्वाक या ब्रह्माद्वैत वादियोंके लिये जो दृष्टान्त आपने दिया था उसपर भी यह कहना है कि अपने अभीष्ट तत्त्वमें अस्तिपन ही अनिष्टतत्त्वमें नास्तिपन है। इस कारण वह भी प्रतिषेध्य नहीं हुआ। जिससे कि उस अभिप्रेत अर्थके अस्तित्वका उस अनभिप्रेत अर्थके नास्तित्वके साथ अविनाभावीपना सिद्ध होवे, यानी एक ही धर्ममें अविनाभाव नहीं बनता है। जिस ही स्वरूप करके तो अस्तिपन होय और उस ही रूप करके नास्तिपन होय इस बातमें तुल्यबल विरोध है। अर्थात् दोनों एक दूसरेके शीत, उष्ण, या सुन्द, उपसुन्द, अथवा मुनिरक्षक मुनिभक्षक शूकर, सिंहके समान

तुल्यबलवाले विरोधी हैं। एक स्थानमें भिड जानेपर दोनों नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार प्रकरण प्राप्त सात धर्मोंके अविनाभावीपन साध्यको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिया गया दृष्टान्त भला कैसे बनेगा ? अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर हेतुके तीन रूपपन आदिका विरोध हो जायगा। पक्षे सत्त्व, और विपक्षे नास्तिको यदि एक मान लिया जायगा तो हेतुके दो या एक ही रूप हो सकेंगे। किन्तु आप बौद्धोंने हेतुके पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षे नास्तित्व, ये तीन स्वरूप माने हैं। तथा चार्वाक या अद्वैतवादियोंको अपने इष्टतत्त्वके विधान करनेमें एवकारके द्वारा अवधारण करना व्यर्थ पडेगा। पृथ्वी आदिक चार तत्त्व हैं। इसीका अर्थ अन्य आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक, आदि नहीं हैं यह है तब तो चार ही तत्त्व हैं इसमें ही लगाना व्यर्थ है।

पक्षसपक्षयोरस्तित्वमन्यत्साधनस्य विपक्षे नास्तित्वं ब्रुवाणः स्वेष्टतत्त्वस्य च कथमेकस्य विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधान्निदर्शनाभावं विभावयेत्।

पक्ष और सपक्षमें हेतुका अस्तिपन भिन्न है और विपक्षमें नास्तिपन न्यारा है। ऐसा कहनेवाला अपने अभीष्ट एक तत्त्वकी विधि और निषेधका तुल्यबल विरोध हो जानेसे दृष्टान्तका अभाव भला कैसे विचार सकेगा ? अर्थात् हेतुके पक्ष, विपक्षकी, अपेक्षासे अस्तित्व, नास्तित्वमें और विधिप्रतिषेधोंमें तुल्यबलवाला विरोध नहीं है। इष्टानिष्ट तत्त्वोंके विधि, निषेध, का अविनाभाव सिद्ध हो जाता है। कथमपि दृष्टान्त सिद्ध होना चाहिये।

क्वचिदस्तित्वसिद्धिसामर्थ्यात्तस्यान्यत्रनास्तित्वस्य सिद्धेर्न रूपान्तरत्वमिति चेत् व्याहतमेतत् सिद्धौ सामर्थ्यसिद्धं च न रूपान्तरं चेति कथमवधेयं कस्यचित् क्वचिन्नास्तित्वसामर्थ्याच्चास्तित्वस्य सिद्धेस्ततो रूपान्तरत्वाभावप्रसंगात्। सोयं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षाणः सर्वथा न क्वचित् प्रवर्तेत नापि कुतश्चिन्निवर्तेत तन्निवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासम्भवादभावस्य च भावपरिहारेणेति। वस्तुतोऽस्तित्वनास्तित्वयोः क्वचिद्रूपान्तरत्वमेष्टव्यम्। तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि धर्मरूपं च यत्र हेतौ स्वेष्टतत्त्वे वा सिद्धं तदेव निदर्शनमिति न तदभावाशंका।

यदि बौद्ध यों कहें कि कहीं अस्तित्वकी सिद्धिके सामर्थ्यसे उसका दूसरे स्थलोंपर नास्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है, अतः अस्तित्व और नास्तित्व ये दो भिन्नस्वरूप नहीं हैं एक ही हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो यह व्याघातदोष है कि एककी सिद्धि हो चुकनेपर अन्यतरको सामर्थ्यसे सिद्ध कहना और फिर उनको भिन्नस्वरूप न मानना, भला धूमकी सामर्थ्यसे अग्निकी सिद्धि होनेपर क्या धूम और अग्नि एक हो जायंगे। जिस जीवके कान हैं उस जीवके आंख अवश्य हैं यह सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। एतावता आंखें और कान दोनों अभिन्न

नहीं हो जाते हैं, किन्तु भिन्न ही रहते हैं। अतः उक्त प्रकार बौद्धोंके वचन कैसे विश्वास करने योग्य हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं। किसी पदार्थके कहीं नास्तिपनकी सामर्थ्यसे दूसरे स्थानपर अस्तित्वकी भी सिद्धि हो जाती है। तिस कारण उसको भी उससे भिन्न स्वरूपपनके अभावका प्रसंग हो जायगा। जीवित देवदत्तके घरमें न रहनेकी सामर्थ्यसे बाहिर रहना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है, फिर भी घरमें न रहना और बाहिर रहना ये दो धर्म माने गये हैं। दूसरी बात यह है कि भाव और अभावके सर्वथा एकपनेको कह रहा वह यह बौद्ध किसी भी प्रकारसे किसी भी पदार्थमें न तो प्रवृत्ति ही कर सकेगा और न जिस किसी भी पदार्थसे निवृत्ति भी कर सकेगा। क्योंकि उसकी निवृत्तिका विषय भाव पदार्थ अभावको छोडकर कुछ नहीं है और अभावका भावको छोडकर सम्भव नहीं है। निवृत्तिके विषय और प्रवृत्तिके विषयका भेद माने विना इष्टमें प्रवृत्ति और अनिष्टमें निवृत्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। दोनोंके एक माननेसे भारी गुटाला मचता है। इस कारण किसी पदार्थमें अस्तित्व, नास्तित्वका परमार्थरूपसे भिन्न स्वरूपपना मान लेना चाहिये। तिस प्रकार " अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि " अस्तित्व धर्म (पक्ष) अपने प्रतिषेध करने योग्य नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभावी (साध्य) और धर्मस्वरूप (हेतु) होकर जिस हेतु (दृष्टान्त) में या अपने अभीष्ट तत्त्व (दृष्टान्त) में सिद्ध हो रहा है वही हमारे अनुमानका दृष्टान्त बन जायगा। इस प्रकार दृष्टान्तके अभावकी आशंका न करना। बौद्ध, चार्वाक, या अद्वैतवादीके प्रति प्रयोग करनेके लिये उदाहरण बन गया।

प्रतिषेध्यं पुनर्यथास्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोभयात्मकत्वादिधर्मपञ्चकमपि तस्य तद्वत् प्रधानभावार्पितादस्तित्वादन्यत्वोपपत्तेः। एतेन नास्तित्वं क्रमार्पितं द्वैतं सहार्पितं चावक्तव्योत्तरशेषभंगत्रयं वस्तुतोऽन्येन धर्मषट्केन प्रतिषेध्येनाविनाभावि साधितं प्रतिपत्तव्यम्।

फिर अस्तित्वका निषेध करने योग्य जैसे नास्तित्व है, तिस ही प्रकार प्रधानपन करके क्रमसे विवक्षित किये गये उभयस्वरूप यानी अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, आदि पांचों धर्म भी अस्तित्वके प्रतिषेध्य हैं। क्योंकि उस नास्तित्वके समान उन पांचोंको भी प्रधान भावसे विवक्षित किये गये अस्तिपनसे कथञ्चित् भिन्नपना सिद्ध है। प्रतिषेध्यका अर्थ सर्वथा अभाव करने योग्य ऐसा नहीं है। किन्तु प्रकृत धर्मसे विपरीत होकर कथञ्चित् प्रतियोगी होते हुए वहां एक वस्तुमें सहयोगितारूप साथमें रहना है। तभी तो सातों धर्म हाथमें पांच अंगुलियोंके समान परस्परमें एक दूसरेके प्रतिषेध्य बन जाते हैं। गाडीमें जुते हुए दो बैलोंमेंसे एक दूसरेका प्रतियोगी है। मल्ल प्रतिमल्लोंमें प्रतियोगी भाव है। इस कथनसे नास्तित्व १ या क्रमसे विवक्षित किया गया उभय २ अथवा एक साथ विवक्षित किया गया अवक्तव्य ३ तथा अस्त्यवक्तव्य १ नास्त्यवक्तव्य २ अस्तिनास्त्यवक्तव्य ३ ये तीन भंग इस प्रकार १+३+३=७ सात धर्मोंमेंसे कोई भी

एक धर्म पकड लिया जाय। वह अपने प्रतिषेध्य दूसरे वास्तविक छह धर्मोके साथ अविनाभाव रखनेवाला सिद्ध कर दिया गया समझ लेना चाहिये।

क्रमार्पितोभयादीनां विरुद्धत्वेन सम्भवान्न तदविनाभावित्वं शक्यसाधनं धर्मिणः साधनस्य वाऽसिद्धेरिति चेन्न, स्वरूपादिचतुष्टयेन कस्यचिदस्तित्वस्य पररूपादिचतुष्टयेन च नास्तित्वस्य सिद्धौ क्रमतस्तद्वयादस्तित्वनास्तित्वद्वयस्य सहावक्तव्यस्य सहार्पितस्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यां स्वरूपचतुष्टयाच्चास्त्यवक्तव्यत्वस्य ताभ्यां पररूपादिचतुष्टयाच्च नास्त्यवक्तव्यत्वस्य क्रमाक्रमार्पिताभ्यां ताभ्यामुभयावक्तव्यत्वस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाभावाच्च धर्मिणः साधनस्य च प्रसिद्धेः।

अब फिर शंका है कि क्रमसे अर्पित किये गये उभय, या अवक्तव्य, आदि धर्मोकी विरुद्धपनेसे सम्भावना हो रही है। अर्थात् जहां उभय है, वहां अवक्तव्य नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र विरोध है। अतः उनका अविनाभावीपना सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तब तो एक वस्तुमें अवक्तव्यत्व आदि किये गये धर्मीकी और विशेषणपन हेतुकी सिद्धि नहीं हुयी। पक्षमें हेतु न रहा। भला विरुद्ध अनेक विशेषण एकमें कैसे रह सकते हैं? आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो न करना। क्योंकि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके चतुष्टय करके किसीके अस्तित्व और पररूप आदि चतुष्टय करके नास्तित्व धर्मकी सिद्धि हम कर चुके हैं। ऐसा होनेपर क्रमसे उनके उभयसे तीसरे अस्तित्व नास्तित्व उभयका और स्वरूप, पररूप, आदि चतुष्टयोंसे एक साथ कहनेकी अपेक्षा चौथे सहावक्तव्य धर्मका कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार स्वपर चतुष्टयसे एक साथ कहा नहीं जा सकता है। किन्तु स्वरूप चतुष्टयसे अस्ति है ही, अतः पांचवें अस्त्यवक्तव्य भंगका विरोध नहीं है। एवं उन सहार्पित स्वपररूप चतुष्टयके साथ पररूप आदि चतुष्टयसे नास्तिपनकी विवक्षा करनेपर छठवें नास्त्यवक्तव्यपनका इस वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। तथा क्रमसे विवक्षित किये गये दोनों चतुष्टय और अक्रमसे अर्पित उन दोनों चतुष्टयों करके सातवें उभयावक्तव्यपन धर्मकी प्रसिद्धि हो रही है। अतः सातों धर्मोका परस्परमें कोई विरोध नहीं है। वे प्रसन्नता पूर्वक रह जाते हैं। हमारे पक्ष और हेतुकी प्रमाणसे सिद्धि हो गयी है।

न हि स्वरूपेस्ति वस्तु न पररूपेऽस्तीति विरुध्यते, स्वपररूपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्य, स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपरविभागाभावप्रसंगात्। स चायुक्तः, पुरुषाद्वैतादेरपि पररूपादपोढस्य तथाभावोपपत्तेरन्यथा द्वैतरूपतयापि तद्भावसिद्धेरेकानेकात्मवस्तुनो निषेद्धुमशक्तेः। पररूपापोहनवत्स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्वप्रसंगात्। तच्चानुपपन्नम्। ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यस्यापि सम्वित्मात्रत्वस्य स्वरूपोपादानादेव तथा व्यवस्थापनादन्यथा प्रतिषेधात्।

अपने स्वरूपमें वस्तु है। ऐसा कहनेपर परके स्वरूपमें वस्तु नहीं है ऐसा कथन करना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि अपने स्वरूपका ग्रहण करना और परके स्वरूपोंका त्याग करना इस व्यवस्थासे वस्तुका वस्तुपन सिद्ध करा दिया जाता है। यह अकलंक सिद्धान्त है। अपने स्वरूपके ग्रहण समान यदि वस्तु पररूपका भी ग्रहण करेगा तब तो सभी प्रकारोंसे अपने और परके विभाग न होनेका प्रसंग होगा। भारी सांकर्यदोष छा जायगा। किन्तु वह प्रसंग होना अयुक्त है। जो ब्रह्माद्वैतवादी या ज्ञानाद्वैतवादी आदि पंडित वस्तुको एक ही स्वरूप मानते हैं, उनके यहां भी पररूपसे रहित करनेपर ही तिस प्रकार आत्मा, ज्ञान, आदिका अद्वैतपन बन सकता है। अन्यथा द्वैत या घट, पट आदि पररूप करके भी उस अद्वैतपनकी सिद्धि हो जायगी। तब तो बहुत अच्छा हुआ। अद्वैतवादी भी एक, अनेक, स्वरूप वस्तुका निषेध नहीं कर सकते हैं। तथा पर स्वरूपके त्याग समान यदि वस्तु अपने स्वरूपका भी पृथग्भाव करती रहेगी तब तो वस्तु स्वके भावोंसे शून्य होकर निरुपाख्य हो जायगी, यह बहुत बुरा प्रसङ्ग प्राप्त हुवा। किसी भी प्रकारसे उसका ज्ञान या कथन नहीं किया जा सकेगा। किन्तु वस्तुका आकाश-कुसुमके समान वह रूपरहित हो जाना तो सिद्ध नहीं है। वे स्वयं एक अद्वैतको मान रहे हैं। ग्राह्यग्राहकभाव, वाच्यवाचकभाव आदिसे रहित भी केवल अद्वैत संवेदनकी स्वरूपके ग्रहण करनेपर ही तिस प्रकारकी व्यवस्था हो सकती है। अन्यथा उस अद्वैतका निषेध हो जायगा। स्वका ग्रहण और अपनेसे विरुद्ध होरहे परका भी ग्रहण करनेसे तुल्यबल विरोध भी है।

तथा सर्वं वस्तु स्वद्रव्येऽस्ति न परद्रव्ये तस्य स्वपरद्रव्यस्वीकारतिरस्कारव्यवस्थितिसाध्यत्वात्। स्वद्रव्यवत् परद्रव्यस्य स्वीकारे द्रव्याद्वैतप्रसक्तेः स्वपरद्रव्यविभागाभावात्। तच्च विरुद्धम्। जीवपुद्गलादिद्रव्याणां भिन्नलक्षणानां प्रसिद्धेः।

अब संपूर्ण वस्तुओंको प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे न्यारा न्यारा सिद्ध करते हैं। तिस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु अपने द्रव्यमें है। यानी अनन्तगुणोंके अखण्ड पिण्डरूप अपने देशमें है परद्रव्यमें नहीं है। क्योंकि उस वस्तुकी व्यवस्था होना स्वकीय द्रव्यके स्वीकार करनेसे और परकीय द्रव्यके तिरस्कार करनेसे साधी जाती है। यदि वस्तु स्वद्रव्यके समान परद्रव्यको भी अंगीकार करे तो संसारमें एक ही द्रव्य होनेका प्रसंग हो जायगा। स्वद्रव्य और परद्रव्यका विभाग न हो सकेगा। तथा चालिनी न्यायसे उस एक द्रव्यका भी अभाव हो जायगा। जीवको माननेपर जैसे पुद्गल आदिका अभाव हो जाता है, वैसे ही एक पुद्गलको स्वीकार कर लेनेपर जीव भी नहीं ठहर सकेगा। किन्तु वह बद्ध मुक्त, जड चेतन, सर्वज्ञ अल्पज्ञ, आदिका विभाग नहीं होना प्रतीतियोंसे विरुद्ध है। क्योंकि जीव, पुद्गल, आदि न्यारे न्यारे भिन्न लक्षणवाले अनेक द्रव्य बाल गोपालों तकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं।

कथमेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमविरुद्धमुक्तमिति चेत्, जीवादीनामनन्तद्रव्याणामनिराकरणादिति ब्रूमः, । सन्मात्रं हि शुद्धं द्रव्यं तेषामनन्तभेदानां व्यापकमेकं तदभावे कथमात्मानं लभते ।

यहां कोई अद्वैतवादी कटाक्ष करता है कि यदि एक द्रव्यके जड, चेतन, आदि अनन्त विवर्त होना विरुद्ध है तो आप जैनोंसे कहा गया एक द्रव्य अनन्तपर्यायवाला अविरुद्ध कैसे होगा ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन गौरवके साथ कहते हैं कि जीव आदि अनन्तद्रव्योंका जैन सिद्धान्तमें निराकरण नहीं है । यानी एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें हो सकती हैं । अनन्तद्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंको लिये हुए स्वतन्त्र ठहर सकते हैं । किन्तु एक द्रव्यके विवर्त अनन्तद्रव्य नहीं हो सकते हैं । स्याद्वाद सिद्धान्तमें धर्म, अधर्म, और आकाश, एक एक द्रव्य हैं । कालद्रव्य असंख्याते हैं । जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं और पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं । किन्तु अद्वैतवादी तो अनन्तविवर्तोंको वास्तविक स्वीकार नहीं करते हैं । अतः स्वपर–विधिनिषेधसे उनके अद्वैतकी व्यवस्था नहीं होती है । भला विचारो तो सही कि यदि अनन्तद्रव्योंको न माना जायगा तो उनके मतानुसार भी उन अनन्तभेदोंका व्यापक शुद्ध सत्तामात्र एक द्रव्य कैसे आत्मलाभ कर सकता है ? । अर्थात् अद्वैतवादियोंने विधिस्वरूप सन्मात्रको ब्रह्मतत्त्व माना है । अवान्तर सत्तावाले अनेक-द्रव्योंको माने विना शुद्ध धात्वर्थ सत्तारूप भाव भला किनका व्यापक होकर स्वरूप लाभ कर सकेगा ? सोचिये ।

कथमिदानीं तदेव स्वद्रव्येऽस्ति परद्रव्ये नास्तीति सिध्येत् । न हि तस्य स्वद्रव्यमस्ति पर्यायत्वप्रसंगाद्यतस्तत्रास्तित्वम् । नापि द्रव्यान्तरं यतः नास्तित्वमिति चेन्न कथञ्चित् न हि सन्मात्रं स्वद्रव्येऽस्ति परद्रव्ये नास्तीति निगद्यते । किं तर्हि, वस्तु । न च तत्संग्रहनयपरिच्छेद्यं वस्तु वस्त्वेकदेशत्वात् पर्यायवत् ततो यथा जीववस्तु पुद्गलादिवस्तु वा स्वद्रव्ये जीवत्वेऽन्वयिनि पुद्गलादित्वे वा पर्याये च स्वभावे ज्ञानादौ रूपादौ वास्ति न परद्रव्ये परस्वरूपे वा तथा परमं वस्तु सत्त्वमात्रे स्वद्रव्ये स्वपर्याये च जीवादिभेदप्रभेदेऽस्ति न परिकल्पिते सर्वथैकान्ते कथञ्चिदिति निरवद्यम् ।

पुनः अद्वैतवादीकी शंका है कि अब यह बताओ कि वही पदार्थ स्वकीय द्रव्यमें है और परकीय द्रव्यमें नहीं है यह कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि उसका कोई गांठका अपना द्रव्य तो है नहीं, अन्यथा पर्यायपनका प्रसंग हो जायगा । यानी पर्यायोंके द्रव्य हुआ करते हैं, द्रव्यके स्वकीय द्रव्य नहीं होते हैं । जिससे कि वह द्रव्य वहां अपने द्रव्यमें अस्ति सिद्ध हो सके और उस प्रकृत द्रव्यका नातेदार कोई दूसरा द्रव्य भी जैनोंने नहीं माना है जिससे कि प्रकृतद्रव्यका नास्तिपन सिद्ध किया जाय । अब आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना । क्योंकि हम द्रव्यको कथञ्चित् अस्ति और नास्तिपनस्वरूप मानते हैं । शुद्ध केवल महासत्ता " स्वद्रव्यमें है, परद्रव्यमें नहीं है " ऐसा हम नहीं कहते हैं ।

तब तो हम क्या कहते हैं उसको समझलो ! जिससे कि पुनः शंका न होवे। हम वस्तुको स्वद्रव्यमें अस्ति और परद्रव्यमें नास्ति कहते हैं। द्रव्य और पर्याय तो वस्तुके अंश हैं। प्रमाण का विषय वस्तु है। वस्तुके एकदेशको जाननेवाली संग्रह नयसे सत्ता जानी जाती है। वह पूर्ण वस्तु उस संग्रहनयसे नहीं जानी जाती है। अन्य पर्यायोंके समान महासत्ता तो वस्तुका एक देश है। तिस कारण जीव वस्तु या पुद्गल, आकाश, आदि वस्तुएं अन्वयसे रहनेवाले जीवपन या पुद्गल आदिपनरूप अपने अपने द्रव्यमें विद्यमान हैं। अथवा अपने स्वभावभूत ज्ञान, सुख आदि या रूप, रस, अवगाह, आदि पर्यायोंमें विद्यमान हैं। किन्तु परद्रव्य, काल, आदिमें अथवा वर्त्तना आदि परकीय पर्यायस्वरूपोंमें वर्तमान नहीं हैं। तिस ही प्रकार परम व्यापक वस्तु अपने सत्ता मात्र द्रव्यमें तथा जीव, पुद्गल, देव, घट, आदि भेद प्रभेदरूप अपने अंशस्वरूप पर्यायोंमें विद्यमान है। दूसरोंके द्वारा झूंठ मूंठ गढ लिये गये सर्वथा एकान्तरूप आत्मा, स्वलक्षण, आदि द्रव्य और क्षणिक नील आदि पर्यायोंमें कैसे भी नहीं विद्यमान है। इस प्रकार सत्तामात्र तत्त्वमें भी जैन सिद्धान्तके अनुसार अस्तिनास्तिपन निर्दोष होकर घट जाते हैं अन्यथा उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती। इस प्रकार वस्तुका स्वद्रव्य और स्वकीय नाम सिद्ध कर दिया गया है।

तथा स्वक्षेत्रेऽस्ति परक्षेत्रे नास्तीत्यपि न विरुध्यते स्वपरक्षेत्रप्राप्तिपरिहाराभ्यां वस्तुनो वस्तुत्वसिद्धेरन्यथा क्षेत्रसंकरप्रसंगात्। सर्वस्याक्षेत्रत्वापत्तेश्च। न चैतत्साधीयः प्रतीतिविरोधात्।

तिस प्रकार वस्तु स्वक्षेत्रमें है दूसरे क्षेत्रमें नहीं है। यह कहना भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि अखण्डित अनेक देशवाली या अखण्डित एकदेशरूप वस्तुके तिर्यगंश कल्पनारूप स्वकीय क्षेत्रकी प्राप्तिसे और परकीय क्षेत्रके परित्याग कर देनेसे वस्तुका वस्तुपना सिद्ध हो रहा है। दूसरे प्रकारसे मानोगे तो स्वक्षेत्रके अस्तिपन विना सबके क्षेत्रोंके संकर हो जानेका प्रसंग होगा। तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षेत्ररहितपनेकी आपत्ति हो जायगी, अर्थात् परका क्षेत्र जब स्वके क्षेत्रमें ही प्रविष्ट हो जायगा तो परका क्षेत्र रहा ही नहीं और चालिनी न्यायसे स्वका क्षेत्र भी इस प्रकार नष्ट हो गया तब क्षेत्रपना ही नष्ट हो जायगा, सभी वस्तुएं क्षेत्ररहित हो गयी। किन्तु यह क्षेत्ररहितपना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध आ रहा है। प्रत्येक वस्तुके अपने अपने क्षेत्र प्रतीत हो रहे हैं। बाल, गोपाल, पशु, पक्षी भी अपने अपने क्षेत्रोंका और परक्षेत्रोंका ग्रहण, परित्याग, करते हुए अनुभव कर रहे हैं।

तत्र परमस्य वस्तुनः स्वात्मैव क्षेत्रं तस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य क्षेत्रस्याभावात् तदपरस्य वस्तुनो गगनस्यानेन स्वात्मैव क्षेत्रमित्युक्तं तस्यानन्त्यात् क्षेत्रान्तराघटनात्। जीवपुद्गलधर्माधर्मकालवस्तूनां तु निश्चयनयात् स्वात्मा व्यवहारनयादाकाशं क्षेत्रं ततोऽप्यपरस्य वस्तुनो जीवादिभेदरूपस्य यथायोगं पृथ्व्यादिक्षेत्रं प्रत्येयम्। न

चैवं स्वरूपात्स्वद्रव्याद्वा क्षेत्रस्यान्यता न स्यात् तद्व्यपदेशहेतोः परिणामविशेषस्य ततोऽन्यत्वेन प्रतीतेरविरोधात् ।

तहां क्षेत्रके प्रकरणमें परम महासत्तारूप वस्तुका स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र है । क्योंकि वह परमवस्तु सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें व्यापक रहता है । उस स्वात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई क्षेत्र नहीं है । वास्तवमें स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र हो सकता है । गृह, ग्राम, प्रान्त, देश, आकाश तो यों ही व्यवहारसे गढ लिये गये क्षेत्र हैं । उस परमसत्त्वसे कथञ्चित् भिन्न आकाशरूप वस्तुका क्षेत्र भी स्वात्मा ही है, उक्त कथनसे यह बात स्पष्ट कह दी गयी है । क्योंकि वह आकाश महापरिमाणवाला अनन्तक्षेत्रमें प्रविष्ट हुआ है । अनन्त संख्यावाले प्रदेशोंको धारनेके कारण उस आकाशसे लम्बा चौडा बडा कोई पदार्थ नहीं है । अतः आकाशका क्षेत्र स्वयंके अतिरिक्त दूसरा कोई (क्षेत्र) घटित नहीं होता है । व्यवहार और निश्चयसे वह स्वयं अपना क्षेत्र है, तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल इन पांच वस्तुओंका तो निश्चय नयसे स्वकीय अखण्डदेश अपना स्वरूप ही क्षेत्र है और व्यवहारनयसे लोकाकाश भी क्षेत्र है । उनसे भी न्यारे जीव आदिकके व्याप्य भेद प्रभेदस्वरूप मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, घट, पट, जल, विजयार्ध, सुमेरु, आदि वस्तुओंके यथायोग्य मनुष्यलोक, ऊर्ध्वलोक, आदि क्षेत्र समझ लेने चाहिये । हां! इस प्रकार स्वरूप भाव अथवा स्वद्रव्यसे क्षेत्रकी भिन्नता न होगी यह न समझना । क्योंकि वस्तुमें उन उन भाव स्वरूप या स्वद्रव्य और स्वक्षेत्रोंके व्यवस्थापक न्यारे न्यारे विशेष परिणाम परस्परमें उनसे भिन्न होकरके प्रतीत हो रहे हैं । जो कि परिणाम उन उनके नियत द्रव्य आदिके व्यवहार करादेनेमें कारण हैं, अतः कोई विरोध नहीं है । साढे तीन हाथ लम्बा चौडा देवदत्त अपने पूर्ण देश, देशांश, गुण, गुणांशोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे व्यापक हो रहा है, यही उसका स्वरूप है । अनेक गुणोंका पिण्डरूप देश स्वद्रव्य है और साढे तीन हाथके विष्कम्भ क्रमसे किया गया देशांशस्वरूप ही स्वक्षेत्र है तथा ऊर्ध्वांश कल्पनारूप गुणांश पर्यायोंका पिण्ड ही स्वकाल है । एवं गुण, वर्तमानके परिणाम, अविभागप्रतिच्छेद, आदि स्वके भाव हैं ।

तथा स्वकालेऽस्ति परकाले नास्तीत्यपि न विरुद्धं, स्वपरकालग्रहणपरित्यागाभ्यां वस्तुनस्तत्त्वप्रसिद्धेरन्यथा कालसांकर्यप्रसंगात् । सर्वदा सर्वस्याभावप्रसंगाच्च ।

तिसी प्रकार स्वकीय कालमें वस्तु है दूसरेके कालमें नहीं है । उस प्रकार कथन करना भी विरुद्ध नहीं है । क्योंकि अपने कालका ग्रहण करने और दूसरे कालका हान करनेसे वस्तुको वस्तुपन सिद्ध हो रहा है । अन्यथा कालके संकर हो जानेका प्रसंग होगा । बालक यदि वृद्धपनेके समयोंकी अपेक्षा विद्यमान हो जाय तो वह बालक न रहेगा । बुड्ढा हो जायगा । इसी प्रकार बुड्ढा भी बालक हो जायगा । दूसरी बात यह है कि सभी कालोंमें सम्पूर्ण वस्तुओंके अभावका प्रसंग हो जायगा । जब कि कोई किसीका स्वकीय काल नियत नहीं है और वह परकीय कालके व्यावृत्त

नहीं है तो चालिनी न्यायसे अपने अपने नियत कालोंका अभाव हो जानेसे कोई कहीं भी नहीं रह सकता है। शून्यवाद छा जायगा। अनादिसे अनन्तकालतक महाप्रलय हो जायगा।

तत्र परमस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तः कालोऽपरस्य च जीवादिवस्तुनः सर्वदा विच्छेदाभावात् तत्र तदस्ति न परकालेऽन्यथा कल्पिते क्षणमात्रादौ महान् दोषः स्यात्, जीवविशेषरूपं तु मानुषादिवस्तु स्वायुःप्रमाणस्वकालेऽस्ति न परायुःप्रमाणे, पुद्गलविशेषरूपं च पृथिव्यादि तथा परिणामस्थितिनिमित्ते स्वकालेऽस्ति न तद्विपरीते, तदा तस्यान्यवस्तु विशेषत्वेनभावात्।

तहां कालके विचारमें परम सत् वस्तुका अपना अनादि अनन्तकाल है और उसके व्याप्य जीव, पुद्गल, आदि वस्तुओंका भी स्वकाल अनन्तानन्त हैं। क्योंकि ये वस्तुएं अनादिसे अनन्त तक तीनों कालोंमें स्थिर रहनेवाली हैं। सभी कालोंमें इनका विच्छेद (मध्यमें टूट जाना) नहीं होता है। तिन पदार्थोंमें कोई भी वस्तु हो वह अपने भूत, भविष्यत्, वर्तमान, त्रिकालवर्ती अनन्तपरिणाम रूप स्वकीय गुणांशोंमें है। परगुणांशरूप कालमें नहीं है। अन्यथा कल्पना किये गये एक क्षण या दो क्षण आदिमें भी यदि द्रव्यरूपसे वस्तुकी स्थिति हो जायगी, तब तो सत्का विनाश और असत्के उत्पादका महान् अक्षम्यदोष उपस्थित होगा। कोई समय तीन लोक तीनों कालोंका भी महाप्रलय हो जायगा। जो कि अनिष्ट है तथा जीव द्रव्यके व्याप्यरूप मनुष्य, देव, आदि वस्तुओंका स्वकीय व्यवहारकाल अपने अपने आयु प्रमाण हैं। यानी अन्तमुहूर्तसे लेकर तीन पल्यतक या दस हजार वर्षसे प्रारम्भ कर तेंतीस सागर पर्यन्त आदि है। दूसरेकी आयुके परिमाण नहीं है। यानी पुद्गल स्कन्धोंके समान शरीरधारी जीवकी आयु एक, दो, समय या पचासों सागर की नहीं है। एवं पुद्गलके विशेषस्वरूप पृथ्वी, जल, गृह, वस्तु आदि भी तिसी प्रकार अपनी पर्यायकी स्थितिके निमित्त कारण अपने व्यवहार कालमें हैं। उनसे विपरीत न्यून अधिक कालोंमें नहीं हैं। उस समय उसका अन्य वस्तुओंके विशेषपनेसे परिणाम हो रहा है। अतः स्वकालमें रहना और परकालमें न रहना ही वस्तुका व्यवस्थित हो रहा है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहारसे नियत किये गये स्वचतुष्टय और पर चतुष्टयके अस्ति, नास्तिपनको समझ लेना। यों तो मोटेरूपसे एक द्रव्यमें अनन्त द्रव्य समारहे हैं। जिस प्रदेशमें एक द्रव्य है। वहां असंख्य द्रव्य बैठे हुये हैं। जिस समय एक एक द्रव्य है, उसी समय अनन्त द्रव्य भी हैं। ज्ञान, शद्ध, आदिकी अपेक्षा भाव भी असंख्य द्रव्योंका एक हो सकता है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर निश्चयसे ऐसे चतुष्टयको लक्षित करना जिससे कि स्वद्रव्यमें परद्रव्यमें एक छोटासा अंश भी न मिल सके, तभी स्वपना व्यवस्थित हो सकेगा। अन्यथा नहीं। जैन सिद्धान्त महान् गहन है।

नन्वेवं युगपदेकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वद्वयस्य प्रसिद्धेस्तदेव प्रतिषेध्येनाविनाभावि साध्यं न तु केवलमस्तित्वं नास्तित्वादि वा तस्य तथाभूतस्यासम्भवादिति चेन्न, नयोपनीतस्य केवलास्तित्वादेरपि भावात् सिद्धे वस्तुन्येकत्रास्तित्वादौ नानाधर्मे वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धो धर्मस्तदप्रसिद्धेन धर्मेणाविनाभावी साध्यत इति युक्तिसिद्धमस्तित्वादिधर्मसप्तकं कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विप्रतिपत्तिसप्तकं जनयेत्। जिज्ञासायाः सप्तविधत्वं तच्च प्रश्नसप्तविधत्वं तदपि वचनसप्तविधत्वमिति सूक्ता प्रश्नवशादेकत्र सप्तभंगी, भंगान्तरनिमित्तस्य प्रश्नान्तरस्यासम्भवात्। तदभावश्च जिज्ञासान्तरासम्भवात् तदसम्भवोऽपि विप्रतिपत्त्यन्तरायोगात् तदयोगोऽपि विधिप्रतिषेधविकल्पनया धर्मान्तरस्य वस्तुन्यविरुद्धस्यानुपपत्तेः, तदनुपपत्तावपि प्रश्नान्तरस्याप्रवर्तमानस्यासम्बन्धप्रलापमात्रतया प्रतिवचनानर्हत्वात्।

नवीन शंका है कि इस प्रकार एक वस्तुमें एक समय सत्त्व और असत्त्व इनका उभय जब प्रसिद्ध होगया है तब तो वह उभय ही अपने प्रतिषेध्य अवक्तव्य, आदिसे अविनाभावी साध्य करना चाहिये। केवल अस्तित्व या अकेले नास्तित्व अथवा रीतिसे अवक्तव्यत्व आदिको तो प्रतिषेध्य के विना न रहनापन नहीं सिद्ध करना चाहिये। क्योंकि अकेले अस्तित्व आदिकको तिस प्रकार प्रतिषेध्योंके साथ रहनेपनका सम्भव नहीं है। अर्थात् जैनसिद्धान्तके अनुसार जब कभी पाये जायेंगे तो दोनों ही धर्म पाये जायेंगे अकेलेका मिलना असम्भव है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि नयोंके द्वारा ज्ञानलक्षणसे जान लिये गये केवल अस्तित्व या अकेले नास्तित्व आदि धर्मोका भी सद्भाव है। एक वस्तुमें अस्तित्व, अवक्तव्यत्व आदि अनेक धर्मोके सिद्ध हो चुकनेपर वादी और प्रतिवादीके यहां जो कोई भी एक धर्म प्रसिद्ध होगया है वह अप्रसिद्ध दूसरे धर्मोंके साथ अविनाभावी है ऐसा साध लिया जाता है। इस प्रकार अस्तित्व आदि सातों ही धर्म युक्तियोंसे सिद्ध होते हुये समझनेवाले पुरुषके किसी कारण सात प्रकार विवादोंको उत्पन्न करा देते हैं और वे सात प्रकारके विवाद स्थल ज्ञाताके सात प्रकार जाननेकी इच्छाओंको प्रकट करा देते हैं, तथा सात प्रकारकी जिज्ञासायें सात प्रकारके प्रश्नोंका उत्पाद कराती हैं। एवं श्रोताके वे सात प्रकार प्रश्न भी वक्ताके द्वारा उनके उत्तरमें दिये गये प्रतिवचनोंके सात प्रकारपनेको उत्पन्न कराते हैं या ज्ञापन कर देते हैं। इस प्रकार हमने एक वस्तुधर्ममें प्रश्नके वशसे सप्तभंगीका प्रवर्तना बहुत अच्छा कहा था। पचासवीं आदि वार्त्तिकोंसे इसी बातको पुष्ट किया है। सात भंगोंके समुदायसे अतिरिक्त अन्य आठवें नौमे आदि दूसरे प्रश्नोंके उत्थापन करनेका निमित्त असम्भव है। जब सातसे अधिक प्रश्न ही नहीं हैं तो उनके प्रत्युत्तरमें दिये जानेवाले आठवें आदि भंगोंके प्रतिवचन भी नहीं हो सकते, तथा उन सातसे अतिरिक्त प्रश्नोंका अभाव भी सात जिज्ञासाओंके अतिरिक्त आठवीं आदि जिज्ञासाओंके असम्भव होनेसे है और उन अन्य जिज्ञासाओंका

असम्भव भी सात विवाद-स्थलोंके सिवाय आठवीं आदि विवाद–भूमिके अभाव होनेसे है, तथा उन आठवें आदि विवाद–स्थलोंका अभाव भी क्यों है ? इसका उत्तर यही है कि एक वस्तुमें विधि और निषेधकी विभिन्न कल्पनासे सात ही अविरुद्ध धर्म बन सकते हैं। अन्य आठवें आदि धर्म अविरुद्ध होकर नहीं बनते हैं। उन आठवें आदि धर्मोंकी नहीं सिद्धि होनेमें भी यह कारण है कि सात प्रश्नोंके अतिरिक्त अन्य प्रश्नोंकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। यदि कोई बलात्कारसे व्यर्थ ही आठवें आदि प्रश्नोंको उठावें, तो वे प्रश्न विना सम्बन्धके बोले हुए केवल प्रलाप (बकवाद) स्वरूप होनेसे प्रत्युत्तर देनेके योग्य नहीं हैं। अर्थात् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यके सात ही प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आठवें आदि प्रश्नोंको उठानेवाला असम्बन्ध प्रलापी है। जब कि मूल कारण सात ही धर्म है तो उनके निमित्तसे सात विवाद और सात ही जिज्ञासाएँ तथा सात प्रश्न एवं उनके उत्तर सप्तभंगीरूप ही हो सकते हैं। नोंन, मिर्च, धनियांके अकेले और मिलाकर सात ही स्वाद बनते हैं। इस भी अधिक इनसे अधिक स्वादोंको नहीं बना सकता है।

तद्धि प्रश्नान्तरं व्यस्तास्तित्वनास्तित्वविषयं समस्ततद्विषयं वा ? प्रथमपक्षे प्रधानभावेन प्रथमद्वितीयप्रश्नावेव गुणभावेन तु सत्त्वस्य द्वितीयप्रश्नः स्यादसत्त्वस्य प्रथमः।

वे आठवें नवमें आदि अतिरिक्त प्रश्न किये जांय, उसपर हम जैनोंका यह पूंछना है कि वे प्रश्न न्यारे न्यारे अस्तित्व, नास्तित्वको विषय करनेवाले होंगे ? या मिले हुए उन अस्तित्व, नास्तित्वको विषय करेंगे ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर तो प्रधानपनसे अस्तित्व, नास्तित्वको यदि पूंछा जायगा, तब तो पहिले और दूसरे ही प्रश्न हो गये। यदि सत्त्वको गौण करके और नास्तित्व को प्रधान करके पूंछा जायगा, तो दूसरा प्रश्न ही हुआ तथा असत्त्वको गौणकर और सत्त्वको प्रधानपनेसे पूंछनेपर पहिला ही प्रश्न होगा। भला ये न्यारे प्रश्न कहां हुए ?

समस्तास्तित्वनास्तित्वविषये तु प्रश्नान्तरं क्रमतस्तृतीयः सह चतुर्थः प्रथमचतुर्थसमुदायविषयः पञ्चमः द्वितीयचतुर्थसमुदायविषयः षष्ठस्तृतीयचतुर्थसमुदायविषयः सप्तम इति सप्तस्वेवान्तर्भवति।

द्वितीय पक्षके अनुसार उन आठवें आदि प्रश्नोंको मिले हुए अस्तित्व, नास्तित्वके विषय करनेवाले कहोगे तो क्रमसे दोनोंको विषय करनेपर तो वह न्यारा प्रश्न तीसरा ही प्रश्न हुआ और अस्तित्व नास्तित्व दोनोंको साथ कहनेका प्रश्न चौथा ही हुआ तथा पहिले अस्तित्व और चौथे अवक्तव्यके समुदायको विषय करता हुआ वह प्रश्न न्यारा न होगा। पांचमा ही है। एवं दूसरे नास्तित्व और चौथे अवक्तव्यके समूहको विषय करनेवाला वह प्रश्न छट्ठा ही होगा तथा तीसरे अस्तिनास्ति उभय और चौथे अवक्तव्यके समुदायमें उठाया गया प्रश्न सातवां ही है। इस प्रकार इन सातों ही प्रश्नोंमें वे आपके अतिरिक्त माने गये प्रश्न भी गर्भित हो जाते हैं। अतः वे न्यारे नहीं माने जा सकते हैं।

प्रथमतृतीययोः समुदाये तु प्रश्नः पुनरुक्तः, प्रथमस्य तृतीयावयत्वेन पृष्टत्वात् । तथा प्रथमस्य चतुर्थादिभिर्द्वितीयस्य तृतीयादिभिस्तृतीयस्य चतुर्थादिभिश्चतुर्थस्य पञ्चमादिभिः पंचमस्य षष्ठादिना षष्ठस्य सप्तमेन सहभावे प्रश्नः पुनरुक्तः प्रत्येयस्ततो न त्रिचतुःपञ्चषट्सप्तयोगकल्पनया प्रतिवचनान्तरं सम्भवति । नापि तत्संयोगानवस्थानं यतः सप्तभंगीप्रसादेन सप्तशतभंग्यपि जायत इति चोद्यं भवेत् ।

पहिले अस्तित्व और तीसरे अस्तिनास्तिपनके समुदायमें यदि कोई नया प्रश्न खडा किया जायगा, तब तो वह प्रश्न पुनः कहा गया होनेसे व्यर्थ पडेगा । क्योंकि पहिला अस्तित्व तो तीसरे उभयका अवयव होनेके कारण पूंछा जा चुका है। एक धर्मके दो अस्तित्वोंका प्रश्न नहीं उठाया जाता । तिस प्रकार पहिलेको चौथे आदिके साथ समुदित कर एवं तृतीयको चौथे अवक्तव्य आदिके साथ मिश्रित कर पूंछा जायगा तो भी पुनरुक्त दोष होगा । क्योंकि ये कुछ तो पांचमें छठे, सातवेंमें पूंछे जा चुके हैं। शेष दो दो अवक्तव्य या दो दो अस्तित्व, नास्तित्व होनेके कारण पुनरुक्त हैं । असंगत कोरी बकवाद है । ऐसे ही चौथे अवक्तव्यको पांचमें अस्त्यवक्तव्य आदिके साथ तथा पांचमें अस्त्यवक्तव्यको छठे नास्त्यवक्तव्य आदिके साथ, एवं छठेको सातवें अस्तिनास्त्यवक्तव्यके साथ सम्मिश्रित करनेपर जो भी प्रश्न किये जावेंगे, वे सब पुनरुक्त समझ लेने चाहिये । तिस कारण इन सात भंगोंके पुनः तीन, चार, पांच, छह और सातके संयोगी भंगोंकी कल्पना कर उत्तरमें दिये गये अन्य आठवें आदि प्रतिवचन नहीं सम्भवते हैं । और उन सातों या सातोंके सम्बन्धसे बने हुए अन्य भंगोंके संयोगसे पुनः प्रश्नोंके बनानेपर हो सकनेवाला अनवस्थादोष भी नहीं है, जिसके कि सात भंगोंके समुदायके प्रसादसे सातसौ भंगोंका भी अथवा इससे भी अधिक असंख्य भंगोंका परिवार उत्पन्न हो जाय । इस प्रकारका आपादन हम जैनोंके ऊपर हो सके । भावार्थ—तीनके जैसे सात बना लिये हैं, इसी प्रकार सातके प्रत्येक भंग सात, द्विसंयोगी इकईस, त्रिसंयोगी पैंतीस, चतुःसंयोगी पैंतीस, पंचसंयोगी इक्कीस, छह संयोगी सात, सप्तसंयोगी एक । इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रश्न भी बनाये जा सके और एक सौ सत्ताईसके प्रत्येक भंग एकसौ सत्ताईस (१२७) द्विसंयोगी आठ हजार एक (८००१) और त्रिसंयोगी तीन लाख तेतीस हजार तीनसै पिचहत्तर (३३३३७५) आदि होते हुए असंख्य प्रश्न बनाये जा सकें । वास्तवमें विचारा जाय तो अपुनरुक्त प्रश्न सात ही हो सकते हैं । अतः अनवस्थादोष नहीं है । हां ! असंख्य धर्मोंमें सात प्रश्न उठाकर भले ही असंख्य सप्तभंगी बनालो ! कोई क्षति नहीं है । फलमुख गौरव दोषाधायक नहीं होता है ।

नन्वेवं तृतीयादीनामपि प्रश्नानां पुनरुक्तत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, तृतीये द्वयोः क्रमशः प्रधानभावेन पृष्टेः प्रथमे द्वितीये वा तथा तयोरपृष्टेः । सत्त्वस्यैवासत्त्वस्यैव च प्रधानतया पृष्टत्वात् । चतुर्थे तु द्वयोः सह प्रधानत्वेन पृष्टेर्न पुनरुक्तता । पञ्चमे तु सत्त्वावक्तव्यतयोः

प्रधानतया पृष्टेः पूर्वं तयोरपृष्टेरपुनरुक्तता । षष्ठेऽपि नास्तित्वावक्तव्यतयोस्तथा पृष्टेरेव सप्तमे क्रमाक्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः प्रधानतया पृष्टेः कुतः पौनरुक्त्यम् ?

शंकाकार कहते हैं कि इस प्रकार तो तीसरे, चौथे, आदि प्रश्नोंको भी पुनरुक्तपनेका प्रसंग हो जायगा । केवल पहिला और दूसरा प्रश्न ही ठीक तौरसे अपुनरुक्त रक्षित हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि तीसरेमें पहिले दो भंगोंको क्रमसे प्रधानपने करके पूंछा गया है । पहिले अथवा दूसरेमें तो तिस प्रकार क्रमसे वे दोनों नहीं पूंछे जा चुके थे । किन्तु अकेले सत्त्वको ही प्रधानरूपसे पहिलेमें पूंछा गया है और दूसरेमें प्रधानरूपसे असत्त्वको ही पूंछा गया है । एवं चौथे प्रश्नमें तो दोनोंके साथ कहनेकी प्रधानतासे पूंछा गया है । अतः पुनरुक्तपना नहीं है ; क्योंकि पहिले प्रश्नोंमें दो धर्मोंका युगपत् कहनापन विवक्षित नहीं हो चुका है । इसी प्रकार पांचमेंमें तो अस्तिपन और अवक्तव्यत्वको प्रधानपनेसे पूंछा गया है। पहिले प्रश्नोंमें उन दोनोंको नहीं पूंछा गया था । इस कारण पांचमेंमें भी अपुनरुक्तपन है । तथैव छठवेंमें भी प्रधानता नास्तित्व और अवक्तव्यपनको ही पूंछा है । अन्य भंगोंमें तिस प्रकार नहीं पूंछा गया है । ऐसी ही सातवेंमें क्रमसे सत्त्व, असत्त्व, और अक्रमसे विवक्षित किये गये सत्त्व असत्त्वके अवक्तव्यकी प्रधानतासे प्रश्न किया गया है। अतः पिछले पांच भंगोंमें भला कैसे पुनरुक्तपना आया ? अर्थात् नहीं। ये सातों प्रश्न अपुनरुक्त हैं । इनके उत्तरमें स्याद्वादी वक्ताकी ओरसे दिये गये सात उत्तर उपयुक्त हैं ।

नन्वेवं तृतीयस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वस्य प्राधान्याद् (१) द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यास्तित्वस्य क्रमशः पृष्टेना(२)पुनरुक्ततास्तु पूर्वं तथा पृष्टेरभावात् । तथा चतुर्थस्य पञ्चमेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरेकस्यास्तित्वस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरेकस्य नास्तित्वस्य (४) सप्तमेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य (५) च क्रमेण प्रधानतया पृष्टैर्न पुनरुक्तता तथा पञ्चमस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरवक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य (६) पृष्टैः पञ्चमस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरस्तित्वयोश्चैकस्य नास्तित्वस्य प्रधानतया पृष्टैस्तथा (७) षष्ठस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरवव्यक्तव्ययोर्नास्तित्वयोश्चैकस्यास्तित्वस्य (८) सप्तमस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वावक्तव्यस्य (९) च द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यास्तित्वस्यावक्तव्यस्य (१०) च तृतीयेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोनास्तित्वयोश्चैकस्यावक्तव्यस्य क्रमशः (११) प्रधानभावेन पृष्टैर्न पुनरुक्तत्वमिति तत्प्रति वचनानामप्येकादशानामपुनरुक्तत्वसिद्धेरष्टादशभंगास्तथा संयोगे च भंगान्तराणि सिध्येयुस्तथा तत्संयोगेऽपि ततो भंगांतराणीति कथं शतभंगी निषिध्यते ? द्विभंगीप्रसंगादिति केचित् ।

यहां पुनः अधिक भंगोंके बढ जानेका आपादान करनेके लिये शंका उठायी जाती है कि इस प्रकार तो तीसरे उभयका पहिले अस्तित्वके साथ संयोग होनेपर दो आस्तित्व और नास्तित्वकी प्रधानतासे (१)। तथा तृतीय उभयका दूसरे नास्तित्वके साथ सम्मेलन करनेपर दो नास्तित्व और एक अस्तित्वका क्रमसे पूंछना होनेके कारण (२), उभय अस्ति और उभय नास्ति ये दो भंग भी अपुनरुक्त हो जाओ। क्योंकि पहिले तिस प्रकार पूछना हुआ नहीं। तिस ही प्रकार चौथेका पांचवेंके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य और एक अस्तिपनका नया प्रश्न है (३)। चौथेका छठेके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य और एक नास्तित्वका भी नवीन प्रश्न है (४)। तथा चौथेका सातवेंके साथ मेल होनेपर दो अवक्तव्य एक अस्तित्व और एक नास्तित्वका क्रमसे प्रधानपन करके प्रश्न हो सकता है। पुनरुक्तपन नहीं है (५)। तथा पांचमेंका छठेके साथ मेल होनेपर दो अवक्तव्य एक अस्तित्व और एक नास्तित्वका नया प्रश्न होगा (६)। पांचमेंका सातवेंके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य दो अस्तित्व और एक नास्तित्वका प्रधानपनेसे प्रश्न हो जानेके कारण एक सातवां नया प्रश्न अस्ति हो जाता है (७)। तथा छठे नास्त्यवक्तव्यका सातवें अस्तिनास्त्यवक्तव्यके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य दो नास्तित्व और अस्तित्वका आठवां प्रश्न हुआ (८)। एवं सातवेंका पहिलेके साथ संयोग होनेपर दो अस्तित्व एक नास्तित्व और एक अवक्तव्यपनका नवमा प्रश्न हुआ (९)। तथा सातवेंका दूसरे भंगके साथ योग होनेपर दो नास्तित्व एक अस्तित्व और एक अवक्तव्यका दशवां (१०)। एवं सातवेंकी तृतीय भंगके साथ संयुक्ति होनेपर दो अस्तित्व दो नास्तित्व और एक अवक्तव्यका प्रधानभाव करके क्रमसे पूंछना होनेके कारण ग्यारहवां प्रश्न हुआ (११)। इन सात भंगोंमेंसे दो का संयोग कर बनाये गये ग्यारह प्रश्न पुनरुक्त नहीं हैं। क्योंकि पहिलेके सातों भंगोमें ये पूंछे जा चुके नहीं हैं। इस कारण उनके प्रत्युत्तरमें दिये गये ग्यारह भंगोंको भी अपुनरुक्तपना सिद्ध होता है। अतः सात और ग्यारहको मिलानेपर अठारह भंग हो जाते हैं। तिस प्रकार इन अठारहकोंके भी द्विसंयोगी आदि करनेपर अन्य भी पचासों, सैंकडों, प्रश्नोंकी सन्तान बढेगी और हजारों अन्य भंग सिद्ध हो जायंगे। तथा उनके भी संयोग करनेपर उनसे असंख्य दूसरे दूसरे भंग होते जांयगे। फिर शेंकडो भंग हो जानेका आप जैन कैसे निषेध कर सकते हैं? कबूतरोंकी सन्तान प्रतिसन्तानके समान यह भंग परिवार बढता ही चला जायगा। यदि संयोगजन्य भंगोंको न माना जायगा तो जैनोंको पहिलेके केवल दो भंग माननेका ही प्रसंग होगा। इस प्रकार कोई कह रहे हैं।

तदयुक्तम्। अस्तित्वस्य नास्तित्वस्य तदवक्तव्यस्य चानेकस्यैकत्र वस्तुन्यभावात् नानावस्तुषु सप्तभंग्याः स्वयमनिष्टेः। यत् पुनर्जीववस्तुनि जीवत्वेनास्तित्वमेवाजीवत्वेन च नास्तित्वं मुक्तत्वेनापरमुक्तत्वेन चेत्याद्यनन्तस्वपरपर्यायापेक्षयानेकं तत्सम्भवति वस्तुनोऽनन्तपर्यायात्मकत्वादिति वचनं, तदपि न सप्तभंगीविघातकृत्, जीवत्वाजीवत्वापेक्षाभ्यामिवा-

स्तिनास्तित्वाभ्यां मुक्तत्वामुक्तत्वाद्यपेक्षाभ्यामपि पृथक् सप्तभंगीकल्पनात् विवक्षितवक्तव्यत्वावक्तव्यत्वाभ्यामपि सप्तभंगी प्रकल्पमानान्यैवानेन प्रतिपादिता। प्रकृताभ्यामेव धर्माभ्यां सहार्पिताभ्यामवक्तव्यत्वस्यानेकस्यासम्भवादेकत्र तत्प्रकल्पनया भंगान्तरानुपपत्तेः। यत्तु ताभ्यामेवासहार्पिताभ्यां वक्तव्यत्वं तदपि न शेषभंगेभ्यो भिद्यते, तेषामेव वक्तव्यत्वात्। ततो नातिव्यापिनी सप्तभंगी नाप्यव्यापिन्यसम्भविनी वा यतः प्रेक्षावद्भिर्नाश्रियते।

वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व तथा उन दोनोंका यौगपद्य होनेपर अवक्तव्य ये तीन धर्म एक वस्तुमें एक एक ही रहते हैं। एक वस्तुमें अनेक अस्तित्व आदि नहीं पाये जाते हैं। अनेक वस्तुओंमें यद्यपि अनेक अस्तित्व और अनेक नास्तित्व ठहर सकते हैं। किन्तु "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी" प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोध रहितपनेसे विधि और निषेधकी सद्भूत कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। अनेक वस्तुओंमें सप्तभंगी होनेको हम स्वयं इष्ट नहीं करते हैं। हां! फिर जीव वस्तुमें जीवपने करके अस्तित्व ही अजीवपनेसे नास्तिपन है। मुक्तपनेसे अस्तिपन और अमुक्तपनेसे दूसरा नास्तिपन है। ज्ञानीपनसे अस्तित्व और अज्ञानपनसे नास्तित्व इत्यादिक अनन्त अपने परिणाम और परपरिणामोंकी अपेक्षा करके भले ही वे अस्तित्व नास्तित्व अनेक सम्भवते हैं। क्योंकि एक वस्तु अनन्त पर्यायोंमें तदात्मक परिणत हो रही है और एक एक पर्यायमें एक अस्तित्व एक नास्तित्व और एक अवक्तव्य आदि धर्म रह जाते हैं। अतः एकमें अनेक भंगोंको कथन करनेवाला वह वचन भी सप्तभंगीकी व्यवस्थाका विघातक नहीं है। जैसे एक जीव वस्तुमें जीवत्वकी अपेक्षासे अस्तित्व और अजीवत्वकी अपेक्षासे नास्तित्व आदि सप्तभंग हैं। उसीके समान मुक्तपन और संसारीपन या भव्यत्व, अभव्यत्व, आदिकी अपेक्षासे अस्तित्व नास्तित्व करके दूसरी दूसरी न्यारी सप्तभंगियां कल्पित कर ली जाती हैं। इस उक्त कथनसे यह भी कह दिया गया समझ लेना चाहिये कि विवक्षा किये गये वक्तव्यपन या अवक्तव्यपन करके भी यदि प्रश्न उठाये जायंगे तो वक्तव्य १, अवक्तव्य २, इनका उभय ३, दोनोंका युगपत् नहीं कह सकनारूप अवक्तव्य ४, आदिकी न्यारी ही सप्तभंगी कल्पना कर ली जायगी। प्रकरणमें प्राप्त हुए वक्तव्य अवक्तव्य धर्मोंके ही साथ कहनेकी विवक्षा हो जानेसे एक ही चौथा अवक्तव्य धर्म बनेगा। अनेक अवक्तव्योंका असम्भव है। एक पर्यायमें अनेक अवक्तव्यकी कल्पना करनेसे दूसरे भंग बन नहीं सकते हैं। यानी एक एक होकर सात भंग बनेंगे। अधिक नहीं। और जो तिन ही क्रमसे विवक्षित किये गये वक्तव्य अवक्तव्यपनसे वक्तव्यपना है, सो वह वक्तव्यपना भी शेष भंगोसे भिन्न नहीं है। क्योंकि वे छह भंग शब्दोके द्वारा कहे तो जा रहे हैं और चौथा भंग भी अवक्तव्य शब्दसे कहा जा रहा है। अस्ति कहो या अस्ति शब्दसे कहने योग्य कहो। एक ही तो बात है इत्यादि नास्तिके कहनेमें भी लगा लेना। तिस कारण सप्तभंगीमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है यानी सैकडों हजारों भी भंग नहीं हो सकते हैं और सप्तभंगीमें अव्याप्तिदोष भी नहीं है। यानी

केवल दो या तीन भंगोंसे ही कार्य नहीं चल सकता है। तथा सप्तभंगी असम्भवदोषग्रस्त भी नहीं है यानी वस्तुमें सातों भंग पाये जाते हैं। जिससे कि हिताहितको विचार कर कार्य करनेवाले प्रेक्षावालोंसे सप्तभंगी आश्रित न की जाती। भावार्थ—सप्तभंगी निर्दोष है। अतः विचारशील वादियोंको उसका सहारा लेना चाहिये।

ननु च सप्तसु वचनविकल्पेष्वन्यतमेनानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रधानगुणभावेन प्रतिपादनाच्छेषवचनविकल्पानामानर्थक्यादनाश्रयणीयत्वमेवेति चेत् न, तेष्वपरापरधर्मप्राधान्येन शेषधर्मगुणभावेन च वस्तुनः प्रतिपत्तेः साफल्यात्।

अन्य शंका है कि सात प्रकारके वचन भेदोंमेंसे एक भंगके वचन करके अनन्त धर्मात्मक वस्तुका प्रधानपन या गौणपनेसे कथन हो ही जाता है। अतः बचे हुए छह वचनभेदोंका प्रतिपादन करना व्यर्थ पडता है। इस कारण सप्तभंगीका आसरा कथमपि नहीं लेना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन भंगोंमें अन्य दूसरे दूसरे धर्मकी प्रधानतासे और शेषधर्मोंके गौणपनेसे वस्तुकी भले प्रकार प्रतीति हो जाती है। अतः परिशिष्ट धर्मोंका कथन करना भी सफल हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वे शेष धर्म कहे गये या न कहे गये होकर विद्यमान हैं, तभी तो एकके कहनेसे सभीका प्रतिपादन हुआ। कभी अस्तित्वके कहनेसे नास्तित्व आदि छहका और कभी नास्तित्वके कथनसे अस्तित्व आदि छहका कथन होता है। अतः विनिगमनाविरह या चालिनीन्यायसे स्वतन्त्र सात भंग माननीय करने चाहिये। आप यदि एक नियत धर्मका नाम लेते, तब तो अन्य वचनोंकी निरर्थकता आ सकती थी, किन्तु जब साधारणरूपसे एक द्वारा दूसरे छहोंका ज्ञान हो जाना मानते हैं, तब तो सात धर्म अवश्य सिद्ध हो जाते हैं। गम्यसे गमक न्यारा होता है। अतस्तत्सिद्धेः इसी तुम्हारे कटाक्षसे शेषभङ्गोंका कथन सिद्ध हो जाता है।

तत्रास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्येऽवधारणं किमर्थमित्याहः—

उन सात भंगोंमें "अस्त्येव सर्वम्" "नास्त्येव सर्वम्" सभी पदार्थ किसी अपेक्षासे हैं ही तथा सभी वस्तुएं किसी अन्य अपेक्षासे नहीं ही हैं इत्यादि वाक्योंमें एवकार करके नियम करना किस लिये है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकको कहते हैं।

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्॥ ५३॥

वाक्यमें एव लगाकर ही ऐसा जो नियम किया जाता है, वह तो अवश्य अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये करना चाहिये। अन्यथा कहीं कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है। भावार्थ— जैसे कोई व्रती पुरुष अष्टमीको जल पीता है। एक विद्यार्थी विचारकर उत्तर देता

है। यहां यदि ही लगाकर अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति न की जायगी तो कहना न कहना एकसा है। प्रायः सभी मनुष्य जल पीते हैं। अनेक बातोंका विचार कर उत्तर दिया जाता है, किन्तु यहां यह अर्थ अभीष्ट है कि अष्टमीको जल ही पीता है। अन्न हरित, औषध आदि नहीं खाता है। विद्यार्थी सभी बातोंका विचार पूर्वक ही उत्तर देता है। अण्टसण्ट नहीं। इस प्रकार हीको कहनेवाले एव करके ही अन्य अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति हो सकती है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

ननु गौरेवेत्यादिषु सत्यप्यवधारणेनिष्टार्थनिवृत्तेरभावादसत्यपि चैवकारे भावान्नावधारणसाध्यान्यनिवृत्तिस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्। न ह्येवकारोऽनिष्टार्थनिवृत्तिं कुर्वन्नेवकारान्तरमपेक्षते अनवस्थाप्रसंगात्। तत्प्रयोगे प्रकरणादिभ्योऽनिष्टार्थनिवृत्तिरयुक्ता सर्वशब्दप्रयोगे तत एव तत्प्रसक्तेस्ततो न तदर्थमवधारणं कर्त्तव्यमित्येके, तेऽपि न शब्दाम्नायं विन्दन्ति। तत्र हि ये शब्दाः स्वार्थमात्रेऽनवधारिते संकेतितास्ते तदवधारणविवक्षायामेवकारमपेक्षन्ते तत्समुच्चयादिविवक्षायां तु चकारादिशब्दम्, न चैवमेवकारादीनामवधारणाद्यर्थं ब्रुवाणानां तदन्यनिवृत्तावेवकारान्तराद्यपेक्षा सम्भवति यतोऽनवस्था तेषां स्वयं द्योतकत्वात् द्योतकारान्तरानपेक्षत्वात् प्रदीपादिवत्।

इसमें किन्हींको शंका है कि बैल ही है, भोजन ही है इत्यादि वाक्योंमें एवकार द्वारा नियम करनेपर भी अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति नहीं हो रही है। जहां बैल खडा हुआ है, किसी अज्ञात पुरुष द्वारा पूंछनेपर बैल है या अतिथिके लिये भोजन तयार है। इसका जो अर्थ निकलता है, ही लगाकर भी वही अर्थ निकलता है। कोई अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति नहीं की गयी है। यह अन्वय व्यभिचार हुआ तथा कहीं एवकारके नहीं होनेपर भी अन्य अनिष्ट अर्थसे निवृत्ति हो जाती है। देवदत्त व्याकरणको पढता है। भेदसे अणु उत्पन्न होता है, आदि स्थलोंमें ही को न लगानेपर भी नियम करना बन जाता है। यह व्यतिरेक व्यभिचार हुआ। अतः अन्य पदार्थोंसे निवृत्ति होना अवधारणसे ही साधने योग्य कार्य नहीं है। क्योंकि अन्य निवृत्तिका उस एवके साथ अन्वय व्यतिरेक धारण करना नहीं है। देखो! एवकार भी अनिष्ट अर्थ की निवृत्तिको करता हुआ दूसरे एवकारकी तो नहीं अपेक्षा करता है। अन्यथा अनवस्थादोष होनेका प्रसंग होगा। अस्तिको ही की आवश्यकता है और हीको दूसरे हीकी तथा उसको भी तीसरे ही की इस प्रकार आकांक्षाएं बढती ही जावेंगी। हां! अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति तो प्रकरण, अवसर, आदिकोंसे हो जाती है। यदि जैन इसके लिये एवकारका प्रयोग करोगे तो प्रकरण आदिसे अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होना अयुक्त पडेगा। सभी शब्दोंके प्रयोग करनेपर उस एवकारसे ही उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिका प्रसंग होगा। लोकमें भी ऐसा ही देखा सुना जाता है। कोई भी सभी स्थल (जगह) में एवकारका पुच्छल्ला नहीं लगाता है। तिस कारण उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये

अवधारण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार कोई एक वादी कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भी अनादि कालसे चली आयी हुयी शद्वकी परिपाटीको नहीं समझते हैं। तिन शद्वोंमें जो शद्व नहीं नियमित किये गये अपने सामान्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें संकेत ग्रहण किये हुए हो चुके हैं, वे शद्व तो उस अर्थके नियम करनेकी विवक्षा होनेपर अवश्य एवकारको चाहते हैं। जल शद्वका अर्थ सामान्यरूपसे जल है। और हमें जल ही ऐसा अर्थ अभीष्ट हो रहा है, तो 'जलं एव' जल ही है, यह एवकार लगाना चाहिये। तथा जब कभी जल और अन्नके समुच्चय या समाहार अथवा अन्वाचयकी विवक्षा हो रही है। तब चकार शद्व लगाना चाहिये जलं अन्नं, च, तथा विकल्प अर्थकी विवक्षा होनेपर वा शद्व जोडना चाहिये, इत्यादि। यदि यहां कोई यों कहे कि अवधारण, समुच्चय, विकल्प आदि अर्थोंको कह रहे एवकार चकार हिकार वाकार आदिकोंको भी अन्यनिवृत्ति समुच्चय आदि करनेमें दूसरे एवकार चकार आदिकोंकी अपेक्षा होना सम्भवेगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो नहीं कहना। जिससे कि अनवस्थादोष हो जाय। वे एवकार आदिक निपात तो अन्य अर्थके द्योतक हैं और स्वयं अपने अर्थके भी द्योतक हैं। प्रदीप सूर्य, चंद्र, आदिके समान उनको दूसरे अर्थद्योतक शद्वोंकी अपेक्षा नहीं है। भावार्थ—एवकार घट आदिककी अन्यसे निवृत्ति करा देता है। और अपनी भी अन्योंसे निवृत्ति कर लेता है। इसी प्रकार च शद्व भी घट, पटको परस्परमें जोड देता है और स्वयं भी समुचित हो जाता है।

नन्वेवमेवेत्यादि शद्वप्रयोगे द्योतकस्याप्येवं शद्वस्यान्यनिवृत्तौ द्योतकान्तरस्यैवकारादेरपेक्षणीयस्य भावात्सर्वो द्योतको द्योत्येर्थे द्योतकान्तरापेक्षः स्यात् तथा चानवस्थानान्न क्वचिदवधारणाद्यर्थप्रतिपत्तिरिति चेत् न, एवशद्वादेः स्वार्थे वाचकत्वादन्यनिवृत्तौ द्योतकान्तरापेक्षोपपत्तेः। न हि द्योतका एव निपाताः क्वचिद्वाचकानामपि तेषामिष्टत्वात्। द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इत्यत्र च शद्वाद्वाचकाश्चेति व्याख्यानात्। न चैवं सर्वे शद्वाः निपातवत्स्वार्थस्य द्योतकत्वेनाम्नाता येन तन्नियमे द्योतकं नापेक्षेरन्। ततो वाचकशद्वप्रयोगे तदनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थः श्रेयानेवकारप्रयोगः।

यहां शंका है कि इस प्रकारका नियम करनेपर यानी द्योतक शद्वको दूसरे द्योतक शद्वकी अपेक्षा नहीं है। इसमें तो व्यभिचारदोष देखा जाता है। "एवमेव" इस प्रकार ही है। "एवञ्च" और ऐसा होनेपर तथा "न चैवम् एवमपि" चैव, च हि इत्यादि शद्वोंके प्रयोगमें द्योतक हो रहा एवं शद्व भी अन्य निवृत्ति करनेके लिए दूसरे द्योतक एवकार आदिककी अपेक्षा रखता हुआ विद्यमान है। अतः सभी द्योतक शद्व अपने अपने द्योतन करने अर्थमें दूसरे द्योतकोंकी अपेक्षा करनेवाले होंगे और तैसा होनेपर तो अनवस्था हो जायगी। इस कारण कहीं भी नियम करना आदि अर्थोंकी प्रतीति नहीं हो सकती है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि एव, च आदिक शद्व जब अपने अर्थमें वाचक होकर प्रवृत्त रहे हैं तो अन्य

निवृत्ति करनेके लिए उनको दूसरे एव, हि, आदि द्योतकोंकी अपेक्षा करना युक्तिसिद्ध है। निपात द्योतक ही होय, ऐसा एकान्त नहीं है। कहीं उनको वाचक भी इष्ट किया गया है, यानी नियम, समुच्चय, अथवा, आदि, अर्थोंको स्वतन्त्रतासे एव, च और वा शब्द कह रहे हैं। और निपात द्योतक होते हैं। इस प्रकार शाकटायन व्याकरणमें च शब्दसे वाचक भी होते हैं। ऐसा व्याख्यान किया गया है। प्रकृति, प्रत्यय, विकरण या निपतन आदि द्वारा स्वयं गांठके अर्थको संकेत द्वारा प्रतिपादन करनेवाले घट, पट, अस्ति आदि शब्द वाचक माने गये हैं। जाति शब्द, गुण शब्द इत्यादिक सर्व वाचक शब्द हैं। जो कि स्वातन्त्र्यतासे अपने ऊपर लदे हुए अर्थका स्पष्ट परिभाषण करते हैं तथा स्वयं गांठका कुछ अर्थ न रखते हुए भी केवल अपनी विद्यमानता होनेपर उन वाचक शब्दोंसे ही अधिक अर्थको निकालनेमें जो सहायक हो जाते हैं। वे द्योतक शब्द हैं। जैसे प्रदीपने घटका कोई शरीर नहीं बना दिया है किन्तु अन्धकारमें रखे हुए घट अर्थका वह द्योतक होजाता है। इस प्रकार सभी शब्द निपातोंके समान अपने अर्थको द्योतकरूपसे ही समझाते हुए सदातन कालसे धाराप्रवाहरूप चले आरहे हैं, यह तो नहीं समझ बैठना। जिससे कि स्वार्थके नियम करनेमें वे द्योतक होते सन्ते दूसरे द्योतक शब्दोंकी अपेक्षा न करें। अर्थात् निपात भले ही द्योतक हैं किन्तु सभी अस्तित्व, घट आदि शब्द तो स्वार्थके द्योतक नहीं हैं। वे तो वाचक हैं। तब तो अन्य व्यावृत्ति या समुच्चय आदि अर्थको निकालनेके लिये एवकार चकार आदिकी आवश्यकता पड जाती है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि वाचक अस्ति आदि शब्दोंके प्रयोग करनेपर उनसे भिन्न अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये एवकारका प्रयोग करना बहुत अच्छा ही है।

सर्वशब्दानामन्यव्यावृत्तिवाचकत्वात् तत एव तत्प्रतिपत्तेस्तदर्थमवधारणमयुक्तमित्यन्ये। तेषां विधिरूपतयार्थप्रतिपत्तिः शब्दात् प्रसिद्धा विरुध्यते, कथं चान्यव्यावृत्तिस्वरूपं विधिरूपतयान्यव्यावृत्तिशब्दः प्रतिपादयेन्न पुनः सर्वे शब्दाः स्वार्थमिति बुध्यामहे। तस्यापि तदन्यव्यावृत्तिप्रतिपादनेऽनवस्थानं स्वार्थविधिप्रतिपादितासिद्धेर्वेत्युक्तप्रायम्।

सम्पूर्ण शब्द अपनी गांठसे ही अन्य व्यावृत्तिके वाचक हैं। तिस ही कारण तो हीको लगाये विना भी चाहे जिस शब्दके द्वारा उस अन्य निषेधकी प्रतीति हो जाती है। अतः उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये एवकार लगाना युक्त नहीं हैं, इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं। उनके यहां शब्दके द्वारा भाव अर्थकी विधानरूपसे प्रतिपत्ति होना जो आबाल जन प्रसिद्ध हो रही है, वह विरुद्ध हो जायगी। अर्थात् सभी शब्दोंको सुनकर निवृत्ति तो हो जायगी, किन्तु अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी। भला यह तो विचारो कि यों अन्य व्यावृत्ति यह शब्द अपने ऊपर दूसरी न्यारी अन्य व्यावृत्तिका बोझ न बढाकर अनवस्था दोषको हटाता हुआ केवल अपने शरीरके अर्थ अन्यकी व्यावृत्तिको ही कैसे कहेगा? हां! कहनेपर तो मानना पडता है कि यही तो विधिरूपसे अर्थका प्रतिपादन है अन्य व्यावृत्ति शब्द तो अपने वाच्य भाव अर्थ अन्य व्यावृत्तिको कहे,

किन्तु फिर सम्पूर्ण शद्ब अपने अपने अर्थको भावपनेसे न कहें, ऐसे अयुक्त नियमोंके बनानेमें हम कोई सार नहीं समझते हैं। यदि उस अन्यव्यावृत्ति शद्बको भी उस अन्य व्यावृत्तिसे भिन्नकी निवृत्ति रूप अर्थका प्रतिपादक मानोगे तो अनवस्थादोष होगा। क्योंकि उस व्यावृत्ति भिन्नव्यावृत्ति शद्बसे भी चार निषेधवाली और चारसे छह आदि व्यावृत्तियां समझी जायंगी। कहीं भी समधाराका अन्त न मिलेगा। दूसरी बात यह है कि जो कुछ शद्बके द्वारा तुम समझाना चाहते हो, उस स्वार्थकी विधिका प्रतिपादन करना कैसे भी सिद्ध न होगा। इस बातको बहुलता करके हम पहिले कह चुके हैं। इस प्रकार बौद्धोंके अन्यापोहका खण्डन हो जाता है।

विधिरूप एव शद्बार्थो नान्यनिवृत्तिरूपो यतस्तत्प्रतिपत्तयेऽवधारणमित्यपरे, तेषामपि स्ववचनविरोधः। सुरा न पातव्येत्यादिनञ्सहितशद्बप्रयोगात् प्रतिषेधप्रतिपत्तेः स्वयमिष्टेः।

शद्बका अर्थ भाव पदार्थकी विधि होना ही है, अन्य निवृत्ति स्वरूप अर्थ नहीं है जिससे कि उस अन्य निवृत्तिके लिये एवकार डालना आवश्यक होय, इस प्रकार कोई तीसरे विधायक शद्ब वादी कह रहे हैं। उनके यहां भी अपने वचनोंसे ही विरोध आता है। शद्ब विधायक ही है। निषेधक नहीं है, यह कथन हो विधि और निषेध दोनोंको कह रहा है। " सुरा न पातव्या न मांसं भक्षयेत् " इत्यादिक नञ् अव्ययसे सहित शद्बोंके प्रयोगसे मद्य नहीं पीना चाहिये। मांस नहीं खाना चाहिये ऐसे प्रतिषेधका ज्ञान होना स्वयं उन्होंने इष्ट किया है। व्रतके दिन मद्य, मांसके खानेका निषेध करनेसे अन्नके खानेकी विधि तो नहीं की गयी है। अतः शद्बका विधिरूप ही अर्थ है यह एकान्त सिद्ध न हो सका।

केषाञ्चित्प्रतिषेध एव द्वैराश्येन स्थितत्वाद्बोधवत् इति तु येषां मतं तेषां घटमानयेत्यादिविधायकशद्बप्रयोगे घटमेव नाघटमानयैव मा नैषीरित्यन्यव्यावृत्तेरप्रतिपत्तेस्तद्वैयर्थ्यप्रसंगोनुक्तसमत्वात्। सुरा न पातव्येत्यादिप्रतिषेधकशद्बप्रयोगे च सुरातोन्यस्योदकादेः पानविधेरप्रतीतेः सुराशद्बप्रयोगस्यानर्थकत्वापत्तिः, सुरापानस्यैव ततः प्रतिषेधात् पयः पानादेरप्रतिषेधात् अविधानाच्च न दोष इति। किमिदानीं शद्बस्य क्वचित्प्रतिषेधनं तदन्यत्रौदासीन्यञ्च विषयः स्यात् तथा क्वचिद्विधानम्। तदन्यत्र विधानं न प्रतिषेधनं चेति नैवं व्याघातादिति चेत्, तत एवान्याप्रतिषेधे स्वार्थस्य विधानं तद्विधाने चान्यप्रतिषेधो माभूत्।

जिन वादियोंका यह मत है कि किन्हीं शद्बोंका तो अर्थ निषेध करना ही है और कितने शद्बोंका अर्थ भावोंकी विधि करना ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण शद्ब दो बडी राशियोंमें विभक्त होकर प्रतिष्ठित हैं। जैसे कि सम्पूर्ण ज्ञान विधायक और निषेधक ऐसे दो मोटे भेदोंमें विभक्त हैं, इस प्रकार जिनका यह मत है, उनके यहां तो घटको लाओ इत्यादिक विधान करनेवाले शद्बोंके प्रयोग

करनेपर घट हीको लाओ ! घट भिन्नको नहीं लाओ ! किसी भी प्रकारसे अघटको मत (नहीं) लाओ ! ऐसी अन्यव्यावृत्तिओंकी प्रतीति होगी नहीं । तब तो घटको लाओ! उस शद्वका बोलना भी व्यर्थ पडेगा। क्योंकि वह नहीं कहे हुए के सदृश है । विधायक शद्वके बोलनेपर किसी भी इच्छानुसार पदार्थको लानेवाला भृत्य कृतकृत्य हो जाना चाहिये । क्योंकि प्रभुके शद्व द्वारा अन्यका निषेध तो कहा नहीं गया है । जलके मंगानेपर वस्त्रको देनेवाला सेवक स्वामीका क्रोधपात्र न बनना चाहिये। तथा निषेध वाचक शद्वोंका अर्थ यदि सर्वथा निषेध पकडा जायगा तो मद्य नहीं पीना चाहिये इत्यादि निषेध करनेवाले शद्वोंके प्रयोग होनेपर मद्यसे भिन्न दूसरे जल, दुग्ध, आदिके पीनेका विधान तो समझा नहीं जायगा । तब तो सुरा शद्वका प्रयोग करना ही व्यर्थ पडेगा। क्योंकि दूध, जल, ठण्डाई, छाछ, सभीके पीनेका निषेध किया जा रहा है । शद्व तो सबके निषेध करनेवाले ही ठहरे । यदि तुम यों कहो कि उससे तो सुरापानका ही निषेध किया गया है । दूध, जलजीरा, आदिके पीनेका तो निषेध नहीं किया गया है और विधान भी नहीं किया गया है । अतः कोई दोष नहीं है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछे कि इस समय क्या आपने शद्वके द्वारा कहीं निषेध होना और उससे दूसरे अर्थमें उदासीन बने रहना ये शद्वके विषयभूत अर्थ माने हैं ? बताओ। तैसा होनेपर तो कहीं विधान हो गया । इस ढंगसे तो आपके निषेधकपनेका एकान्त न रहा । यदि उस वाच्यार्थसे अतिरिक्त अन्य स्थलमें विधान माना जाय और निषेध करना न माना जाय, इस प्रकार तो हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्याघात होता है। ऐसा मानोगे तो तिस ही कारण अन्यका निषेध न करनेपर स्वार्थका विधान और उस स्वार्थके विधान न होनेपर अन्यका निषेध करना भी मत हो। यहां भी तो आपको व्याघात हो जानेका भय मानना चाहिये । अच्छा उपाय तो यही है कि शद्वके गौण या प्रधानरूपसे स्वार्थकी विधि और अन्यका निषेध ये दोनों अर्थ मान लिये जांय । कचित् चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोकके समान ही अर्थके लिये एवकारको द्योतक समझा जाय ।

सर्वस्य शद्वस्य विधिप्रतिषेधद्वयं विषयोऽस्तु तथा चावधारणमनर्थकं तदभावेऽपि स्वार्थविधानेऽन्यनिवृत्तिसिद्धेरित्यपरः, तस्यापि सकृद्विधिप्रतिषेधौ स्वार्थेतरयोः शद्वः प्रतिपादयंस्तदनुभयव्यवच्छेदं यदि कुर्वीत तदा युक्तयवधारणं तदर्थत्वात्। नो चेत् अनुक्तसमः।

सम्पूर्ण शद्वोंके वाच्य विधि और निषेध दोनों ही विषय होओ ! और तिस प्रकार होनेपर एवकारसे नियम करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि उस एवकारके न होनेपर भी स्वार्थके विधान करनेपर अन्यकी निवृत्ति होना स्वभावसे सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार अन्य कोई चौथा वादी कह रहा है । उसके यहां भी एक बारमें ही स्वार्थकी विधि और इतरके निषेधको कह रहा शद्व यदि उन दोनोंसे भिन्न अनुभयके व्यवच्छेदको करेगा, तब तो नियम करना युक्त पडा। क्योंकि उसके लिये ही तो एवकार है । यानी अनुभयके निषेधको करनेपर ही उभयकी विधिको कह सकता है । यदि अनुभयकी व्यावृत्ति करना इष्ट नहीं है तो वह कहा गया कोई भी शद्व नहीं कहा गया सरीखा ही

है। उभयको कहनेवाला शद्ब यदि अनुभयको निषेध नहीं करता है तो ऐसे शद्बके कहनेसे लाभ ही क्या निकला ? उभयके समान अनुभय भी उसका अर्थ हो गया। यानी शद्ब विधि या निषेध दोनोंको नहीं कह रहा है। ऐसी दशामें बाबदूक और गूंगे (मूक) में कोई अन्तर नहीं है।

तदनुभयस्य व्याघातादेवासम्भवाद्व्यवच्छेदकरणमनर्थकमिति चेत् न, असम्भविनोऽपि केनचिदाशंकितस्य व्यवच्छेद्यतोपपत्तेः स्वयमनिष्टतत्त्ववत्। यदेव मूढमतेराशंकास्थानं तस्यैव निवर्त्यत्वात् कचित् किञ्चिदनाशंकमानस्य प्रतिपाद्यत्वासम्भवात् तं प्रयुञ्जानस्य यत् किञ्चनभाषितमुपेक्षार्हत्वात्।

उस उभयसे अतिरिक्त अनुभय अर्थका प्राप्त होना तो व्याघात हो जानेसे ही असम्भव है। अर्थात् शद्ब अनुभयको कहता होता तो उभयको नहीं कह सकता था। जब उभयको कह रहा है तो अनुभयको नहीं कह सकता है। उभयसे सर्वथा ही भिन्न अनुभय है। इस कारण अनुभयका व्यवच्छेद करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि असम्भववाला भी अर्थ यदि किसीके द्वारा आशंका प्राप्त हो जाय तो उसका व्यवच्छेद किया जानापन युक्तिसिद्ध है। जैसे कि स्वयंको अनिष्टतत्त्व व्यवच्छेद्य हो जाता है। किसी समय घरमें मनुष्यकी हड्डीका होना नहीं सम्भव है, फिर भी हड्डीभिन्नमें संशयवश हड्डीको जानकर किसी पदार्थसे स्पर्श हो जाय तो स्नानरूप प्रायश्चित्त करना ही न्यायप्राप्त है। तभी चित्तकी शुद्धि हो सकती है। बच्चेको समझानेके लिये अश्वके सींगोंका निषेध करना पडता है। प्रायः सभी दार्शनिकोंको अपने अभीष्ट तत्त्वोंसे अतिरिक्त अन्य तत्त्वोंकी सम्भावना नहीं है। फिर भी कहीं अनिष्ट तत्त्वकी आपत्ति (बला) न आ कूदे। इसलिये अनिष्टका निषेध करना ही पडता है। जो ही भोली बुद्धिवाले श्रोताकी शंका करनेका स्थान है, वही निवृत्ति करने योग्य है। कहीं भी कुछ भी शंकाको नहीं करनेवाला भोंदू प्रतिपादन करने योग्य शिष्य नहीं बन सकता है। जो ठूंठके समान बैठा हुआ शंका, चर्चा नहीं करता है, उसके प्रति प्रयोग करनेवाले वक्ताको जो कुछ भी मनमानी कहनेवाला समझना चाहिये। कारण कि ऐसे भोंदू शिष्य समझाने योग्य नहीं हैं, किन्तु उपेक्षा करने योग्य हैं। एक उपयोगी दृष्टान्त है। किसी उद्भट नैयायिक विद्वान्ने अपने प्रिय पुत्रको न्यायदीपिका पढाई। पढ चुकनेपर गुरुने शिष्यको पूंछा कि तुमको इसमें कुछ पूंछना है ? कोई शंका उत्पन्न हुयी है क्या ? इसके उत्तरमें भोला लडका कहता है कि जब आप सरीखे प्रकाण्ड विद्वान् पढावें और मैं विनयसे पढूं। भला पिता अपने पुत्रसे कोई ग्रन्थकी बातको छिपा सकता है ? तिसपर तो आपने मुझे बडे परिश्रमसे पढाया है। ऐसी दशामें भला मुझे क्या शंका हो सकती है ? तब गुरुने विचारा कि इस लडकेको कुछ भी ग्रन्थ नहीं आया। अतः पुनः दुबारा न्यायदीपिका पढाई। पूरी होनेपर गुरुजीने पुनः पूंछा कि अब तुमको कुछ शंका या चर्चा करना है ? फिर गुरुजीने तीसरी बार न्यायदीपिकाको पढाया। तब तो विद्यार्थी कहने लगा कि अब तो मुझे पचासों बातोंका निर्णय करना है।

अधिक तत्त्व निर्णयके लिये मेरे मनमें नाना ऊहापोह उत्पन्न हो रहे हैं। तब गुरुजीने जाना कि अब इसको कुछ ग्रन्थ आया है। वास्तवमें तर्क करनेवाली और नवीन नवीन उन्मेष उठानेवाली बुद्धि ही प्रशंसनीय है।

तत एव सर्वः शब्दः स्वार्थस्य विधायकः प्राधान्यात् सामर्थ्यादन्यस्य निवर्तकः सकृत्स्वार्थविधानस्यान्यनिवर्तनस्य चाऽयोगात्। न हि शब्दस्य द्वौ व्यापारौ स्वार्थप्रतिपादनमन्यनिवर्तनं चेति, तदन्यनिवृत्तेरेवासम्भवात् तस्याः स्वलक्षणादभिन्नायाः स्वसमानस्वलक्षणेष्वनुगमनायोगादेकस्वलक्षणवत्। ततो भिन्नायास्तदन्यव्यावृत्तिरूपत्वाघटनात् स्वलक्षणान्तरवत् स्वान्यव्यावृत्तेरपि च तस्या व्यावृत्तौ सजातीयेतरस्वलक्षणयोरैक्यप्रसंगादवस्तुरूपायाः स्व(तत्त्वा)त्वान्यत्वाभ्यामेवावाच्यायां (नी)निरूपत्वात् इदमस्माद्व्यावृत्तमिति प्रत्ययोपजननासमर्थत्वान्न शब्दार्थत्वं नापि तद्विशिष्टार्थस्य तस्याविशेषणत्वायोगात्तद्विशेषणत्वे वा विशेष्यस्य नीरूपत्वप्रसंगादन्यथा नीलोपहितस्योत्पलादेर्नीलत्वविरोधात् तदन्यव्यावृत्तवस्तुदर्शनभाविना तु प्रतिषेधविकल्पेन प्रदर्शितायास्तस्याः प्रतीतेर्विधिविकल्पोपदर्शितशब्दार्थविधिसामर्थ्याद्गतिरभिधीयत इति केषाञ्चिदभिनिवेशः, सोपि पापीयान्। स्वार्थविधिसामर्थ्यादन्यव्यावृत्तिगतिवत् क्वचिदन्यव्यावृत्तिसामर्थ्यादपि स्वार्थविधिगतिप्रसिद्धेः शब्दानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्व्यतिरेकगतिसामर्थ्यादन्वयगतेरभ्युपगमात् तदभिधानेऽन्यथा पुनरुक्तत्वाघटनात् शब्देन विधयिमानस्य निषिध्यमानस्य च धर्मस्य वस्तुस्वभावतया साधितत्वात्। सर्वथा धर्मनैरात्म्यस्य साधयितुमशक्तेश्च, बौद्धेऽपि शब्दस्यार्थे अवधारणस्यासिद्धेरलं विवादेन।

परवादी कह रहे हैं कि तिस ही कारण सम्पूर्ण शब्द प्रधानतासे अपने वाच्यार्थके विधायक हैं। हाँ! गौणरूपसे अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे अन्यकी निवृत्ति भी कर देते हैं। एक ही बारमें स्वार्थका विधान और अन्यकी निवृत्ति इन दो कार्योंके होनेका योग नहीं है। एक शब्दके स्वार्थ का प्रतिपादन और अन्यका निषेध करना इस प्रकार दो व्यापार तो नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो उस स्वार्थके अतिरिक्त अन्यकी निवृत्ति होना ही असम्भव है। क्योंकि वह अन्य निवृत्ति यदि स्वलक्षणसे अभिन्न मानी जायगी तब तो जैसे एक व्यक्तिरूप स्वलक्षणका अपने सदृश स्वलक्षणोंमें अनुगम नहीं होता है, तैसे ही अन्य निवृत्तिका सदृश स्वलक्षणोंमें अन्वय नहीं चल सकेगा। जाति और द्रव्य तो अन्वित होकर रह सकते हैं। किन्तु विशेष व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंमें मालाके एक दाने समान अनुगम नहीं करती है। गौ शब्दको सुनकर गौसे अन्य महिष आदिककी निवृत्ति यदि सम्पूर्ण गौओंमें गमन न करेगी तो भला वह गौ शब्दका वाच्य कैसे हो सकती है? उस स्वलक्षसे उसकी अन्यनिवृत्तिको यदि भिन्न माना जायगा तो वह अन्य व्यावृत्तिस्वरूप घटित नहीं होगी। जैसे एक गौरूप स्वलक्षणसे महिषरूपी दूसरा स्वलक्षण अन्य व्यावृत्तरूप नहीं है।

किन्तु वह तो अन्य ही है। तिसके समान भिन्न पडी हुयी अन्य व्यावृत्ति भी उससे अन्य हो जायगी। अन्यकी निवृत्तिरूप न हो सकेगी। यदि स्वलक्षणकी अन्य व्यावृत्तिको भी उस न्यारी व्यावृत्तिसे व्यावृत्त मानोगे। तब तो सजातीय और विजातीय स्वलक्षणोंको एक हो जानेका प्रसंग होगा। गौ और महिषके मध्यमें पडी हुई व्यावृत्तिको यदि पृथक् कर दिया जाय तो बैल और भैंसा दोनों एक हो जावेंगे। व्यावृत्ति ही तो दोनोंमें समवेत हो रही दोनोंको न्यारा कर रही थी। अब आपने दूधमेंसे मक्खीके समान उसको दूर फेंक दिया तो वह पृथग्भाव नहीं करा सकती है। दूसरी बात यह है कि अन्य व्यावृत्ति तुच्छ पदार्थ है। वस्तुभूत नहीं है। अतः उसका स्वलक्षणके स्वकीयपनसे या भिन्नपनसे कथन ही नहीं किया जा सकता है, ऐसी दशामें स्वभाव रहित निरुपाख्य हो जानेके कारण यह इससे व्यावृत्त है। इस प्रकारके ज्ञानको पैदा करनेमें वह समर्थ नहीं है। अतः शद्बका वाच्यार्थ अन्य व्यावृत्ति नहीं है। तथा उस तुच्छ व्यावृत्तिसे विशिष्ट (सहित) हो रहा अर्थ भी शद्बका वाच्य अर्थ नहीं है। क्योंकि वह निःस्वभाव अन्य व्यावृत्ति तो अर्थका विशेषण नहीं हो सकती है। यदि निःस्वभाव व्यावृत्तिको वस्तुभूत अर्थका विशेषण मान लिया जायगा तो उसका विशेष्य अर्थ भी निःस्वभाव हो जायगा। अपने स्वभावसे विशेष्यको जो स्वके अनुरूप रंग देता है उसको विशेषण कहते हैं। और विशेषणके अनुरूप जो रंगजाता है, वह विशेष्य है। स्वभावरहित व्यावृत्ति यदि विशेषण हो जायगी तो विशेष्यको भी स्वभावरहित अवस्तु बना देगी। अन्यथा नील विशेषणसे युक्त इन्दीवर या कम्बल आदिको नीलेपनका विरोध हो जायगा। हां! वस्तुभूत स्वलक्षण तो उससे अन्य सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे स्वयं व्यावृत्त हो रहा है। ऐसे वस्तुभूत स्वलक्षणके प्रत्यक्ष दर्शनके पीछे होनेवाले निषेधक विकल्पक ज्ञानसे दिखलायी गयी उस अन्य व्यावृत्तिकी प्रतीति हो जाती है। अतः विधि और उसके विशेष भेद प्रभेदोंके विकल्प ज्ञान द्वारा शद्बके दिखला गये वाच्यार्थकी विधि होनेकी सामर्थ्यसे वह अन्यव्यावृत्ति कह दी जाती है। कण्ठोक्त रूपसे व्यावृत्तिको कहनेवाला या समझानेवाला कोई शद्ब नहीं हैं। इस प्रकार किन्हीं बौद्धोंका मताग्रह है। वह एकान्त आग्रह भी पापोंके बाहुल्यसे भरा हुआ है। क्योंकि स्वार्थकी विधिके सामर्थ्यसे अर्थापत्ति द्वारा जैसे आप अन्यव्यावृत्तिका ज्ञान कर लेते हैं, वैसे ही कहीं अन्यव्यावृत्तिकी सामर्थ्यसे भी स्वार्थकी विधिका ज्ञान होना प्रसिद्ध हो रहा है। देखिये! स्वयं आप बौद्धोंने शद्बका अनित्यपन साधते हुए सत्त्व कृतकत्व आदि हेतुओंके व्यतिरेकका पहिले ज्ञान करके पीछे उसकी सामर्थ्यसे अन्वयका ज्ञान होना स्वीकार किया है। अर्थात् नित्य या कालान्तर स्थायी पदार्थमें सत्त्व नहीं रहता है। इस व्यतिरेकसे जहां जहां सत्त्व है, वहां वहां अनित्यत्व है। इस अन्वयको दृढ रूपसे जाना है। वैसा कथन करनेपर ही दूसरे प्रकारसे पुनरुक्तपना नहीं घटता है। अर्थात् विपक्ष व्यावृत्तिरूप व्यतिरेकसे सपक्ष-वृत्तिरूप अन्वयका ज्ञान माननेपर ही पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

अन्यथा पुनरुक्त होनेका प्रसंग है। तात्पर्य यह है कि विधान करने योग्य या निषेध करने योग्य ये सभी धर्म वस्तुके स्वभाव होकर सिद्ध किये जा चुके हैं। शद्वके द्वारा दोनों प्रकारके धर्मोका कण्ठोक्तरूपसे निरूपण होता है। सभी प्रकार धर्म या स्वभावोंसे रहित निःस्वरूप वस्तुको आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। शद्वके द्वारा बुद्धिमें जानने योग्य अर्थमें या सुगत प्रतिपादित अर्थमें भी अवधारण नहीं करना असिद्ध है। भावार्थ—शद्वके वाच्यार्थमें एवकार लगाकर अवधारण करना सिद्ध कर दिया है। निस्सार विवाद करनेसे अब पूरा पडो, कुछ प्रयोजन न निकलेगा।

केचिदाहुः—नैकं वाक्यं स्वार्थस्य विधायकं सामर्थ्यादन्यनिवृत्तिं गमयति किं तर्हि ? प्रतिषेधवाक्यं, तत्सामर्थ्यगतौ तु ततोऽन्यप्रतिषेधगतिरिति तेऽपि नावधारणं निराकर्तुमीशास्तदभावे विधायकवाक्यादन्यप्रतिषेधवाक्यगतेऽयोगात्।

कोई मीमासक वादी कहते हैं कि एक ही वाक्य अपने अर्थकी विधिको करता हुआ अर्थापत्तिरूप सामर्थ्यसे अन्यकी निवृत्तिको नहीं समझा देता है, तो क्या है ? सो सुनो ! प्रतिषेध करनेवाला दूसरा वाक्य अन्य निवृत्तिका बोधक है। उस विधायक वाक्यकी सामर्थ्यसे दूसरा प्रतिषेध वाक्य उठाकर जान लिया जाता है। और उस प्रतिषेध वाक्यसे तो उसके निषेधकी ज्ञप्ति हो जाती है। इस प्रकार जो कोई कह रहे हैं। वे भी अवधारणको निराकरण करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। क्योंकि उस अवधारणके विना विधायक वाक्यसे अन्य निषेधक वाक्यकी अर्थापत्ति होनेका अयोग है। भावार्थ—नियम करनेपर ही विधायक वाक्यसे अर्थापत्ति द्वारा प्रतिषेध वाक्यका उत्थान कर सकोगे। अन्यथा नहीं।

यदि चैकं वाक्यमेकमेवार्थं ब्रूयादनेकार्थस्य तेन वचने भिद्येत तदिति मतं तदा पदमपि नानेकार्थमाचक्षीतानेकत्वप्रसंगात्। तथा च य एव लौकिकाः शद्वास्त एव वैदिका इति व्याहन्येत। पदमेकमनेकमर्थं प्रतिपादयति न पुनस्तत्क्रमात्मकं वाक्यमिति तमोविजृम्भितमात्रं, पदेभ्यो हि यावतां पदार्थानां प्रतिपत्तिस्तावन्तस्तदवबोधास्तद्धेतुकाश्च वाक्यार्थावबोधा इति चतुःसन्धानादिवाक्यासिद्धिर्न विरुध्यते।

और यदि आपका यह मन्तव्य होवे कि एक वाक्य एक ही अर्थको कहेगा। यदि अनेक अर्थका तिस वाक्यके द्वारा कथन करना माना जायगा तो वह वाक्य उतने प्रकारका भिन्न भिन्न हो जायगा। यानी दो वाक्य विधि और निषेध दो अर्थोको कहते हैं। एक नहीं। इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो एक पद भी अनेक अर्थको न कह सकेगा। अनेक अर्थोको कहनेपर पदको अनेकपनका प्रसंग होगा और तिस प्रकार हो जानेपर जो ही लोक प्रसिद्ध शब्द है, वे ही वेदमें गाये गये हैं, उस कथनमें व्याघातदोष होगा। भावार्थ—एक स्थलपर मीमांसकोंने अर्थभेद होनेपर शब्दभेद मान लिया है।

और अन्यप्र लौकिक और वैदेक आदि आदिम शब्दोंको एक ही कह दिया है। यह व्याघात हुआ। एक पद तो अनेक अर्थोंको प्रतिपादन कर देवे और फिर उन पदोंका क्रमस्वरूप वाक्य अनेक अर्थोंको नहीं कहे ऐसा संकुचित नियम करना केवल गाढ अज्ञान अन्धकारकी चेष्टा करना है। " पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं " यह वाक्यका लक्षण है। पदोंसे जितने पदार्थोंकी नियमसे प्रतिपत्ति होगी, उतने उनके ज्ञान और उन पदज्ञानोंको हेतु मानकर उत्पन्न होनेवाले वाक्यार्थ ज्ञान उतने माने जावेंगे। इस प्रकार एक पदके या श्लोकके चार सात आदि अर्थोंको करनेवाले चतुःसन्धान सप्तसन्धान आदि वाक्योंकी भी सिद्धि होनेका कोई विरोध नहीं है। " श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमाङ्कोऽथ धर्मो, हर्य्यंकः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोनंत-वाक् श्रीसुपार्श्वः। शान्तिः पद्मप्रभोरो विमलविमुरसौ वर्द्धमानोप्यजांको, मल्लिर्नेमिर्ननमिर्मां सुमतिरवतु-सच्छ्रीजगन्नाथवीरम्॥ १ ॥ इस कविवर जगन्नाथकृत श्लोकके चौवीस अर्थ हैं। अतः एक पद या एक वाक्यके अनेक अनेक अर्थ हो सकते हैं। कोई बाधा नहीं है।

केवलं पदमनर्थकमेव ज्ञेयादिपदवद्व्यवच्छेद्याभावात् वाक्यस्थस्यैव तस्य व्यवच्छेद्य-सद्भावादिति येप्याहुस्तेऽपि शब्दन्यायबहिष्कृता एव, वाक्यस्थानामिव केवलानामपि पदा-र्थानामर्थवत्त्वप्रतीतेः। समुदायार्थेन तेषामनर्थवत्त्वे वाक्यगतानामपि तदस्तु विशेषाभावात्। पदान्तरापेक्षत्वात्तेषां विशेषस्तन्निरपेक्षेभ्यः केवलेभ्य इति चेत्, न। तस्य सतोऽपि तथा प्रवि-भागकरणासामर्थ्यात्। न हि स्वयमसमर्थनां वाक्यार्थप्रतिपादने सर्वथा पदान्तरापेक्षाया-मपि सामर्थ्यमुपपन्नमतिप्रसंगात्, तदा तत्समर्थत्वेन तेषामुत्पत्तेः। केवलावस्थातो विशेष इति चेत्तर्हि वाक्यमेव वाक्यार्थप्रकाशने समर्थं तथा परिणतानां पदानां पदव्यपदेशाभावात्।

जो कोई भी ऐसा कह रहे हैं कि अकेले पदका प्रयोग करना तो व्यर्थ ही है। ज्ञेय, प्रमेय, आदि पदोंके समान अन्य पदोंकी आकांक्षा विना बोले गये घट, पट आदि पद भी व्यर्थ ही है। भावार्थ—ज्ञेय पदका जैसे कोई व्यावर्त्य नहीं है। क्योंकि वस्तुभूत पदार्थ कोई ज्ञेयसे बाहर नहीं है। वैसे ही अकेले घट पदका कोई व्यवच्छेद करने योग्य नहीं है। हां! वाक्यमें स्थित होरहे ही उस पदका व्यवच्छेद्य विद्यमान है। तभी वह सार्थक हो सकता है। इस प्रकार कहनेवाले वे भी शब्दके नीतिमार्गसे बहिष्कारको ही प्राप्त होरहे हैं। क्योंकि वाक्यमें स्थित हो रहे पदोंके समान अकेले केवल पदोंको भी अर्थसहितपना प्रतीत हो रहा है। यदि समुदायरूप अर्थकी अपेक्षासे उन केवल पदोंको निरर्थक कहोगे तो वाक्यमें प्राप्त हुए भी पदोंको वह निरर्थकपना हो जाओ। क्योंकि अकेले पदोंसे वाक्यस्थित पदोंमें कोई अन्तर नहीं है। वहां भी वे अपना न्यारा न्यारा अर्थ कह रहे हैं। यदि आप यों कहें कि वाक्यमें पडे हुए वे पद तो अन्य पदोंकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे कि "घटमानय" यहां घट पद लाओ की अपेक्षा रखता है और लाओ पद घटकी अपेक्षा रखता है। किन्तु केवल अकेले पद तो अन्य पदोंकी अपेक्षा नहीं रखते। अतः वाक्यगत पदोंका केवल पदोंसे अन्तर है। अब आचार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि ऐसे उस विशेषके होते हुए भी तिस प्रकारसे स्पष्ट विभाग नहीं किया जा सकता है। किसको किसकी अपेक्षा है, ऐसा नियम तो आजतक कोई हुआ नहीं है। जो पद वाक्यके अर्थको निरूपण करनेमें स्वयं तो सर्वथा असमर्थ माने गये हैं, उनमें अन्य पदोंकी अपेक्षा होते हुए भी कोई नवीन सामर्थ्य नहीं बन सकती है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् केवल अग्नि या जल शब्दकी किसी भी अर्थके प्रतिपादन करनेमें यदि गांठकी शक्ति न मानी जायगी तो " अग्निना सिञ्चति, जलेन दहति " यहां सींचने पदकी अपेक्षासे अग्नि पदका अर्थ जल हो जाओ और दूसरे दाह पदकी अपेक्षासे जल शब्दका अर्थ आग हो जाओ! जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहें कि उस समय वाक्यकी अवस्थामें उस वाक्यार्थके प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य युक्तपनेसे उन पदोंकी नवीन उत्पत्ति हो जाती है। अतः केवल अवस्थाके पदसे उन मिले हुए पदोंकी विशेषता है। ऐसा कहनेपर तो वाक्य ही वाक्यके अर्थको प्रकाश करनेमें समर्थ है, यह सिद्ध हुआ। तिस प्रकार एक दूसरेकी आकांक्षा रखते हुए मिलकर परिणति करनेवाले अनेक पदोंके समुदायको वाक्यपनेका व्यवहार है। उनका पदरूपसे व्यवहार नहीं होता है। इस कारण जितना अर्थ पदका निकले, उतने अर्थसे वह पद अर्थवान् है।

यदि पुनरवयवार्थेनानर्थवत्त्वं केवलानां तदा पदार्थाभाव एव सर्वत्र स्यात्। ततोऽन्येषां पदानामभावात्। वाक्येभ्योपोद्धृत्य कल्पितानामर्थवत्त्वं न पुनरकल्पितानां केवलानामिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः?

यदि फिर तुम अवयवरूप स्वकीय अर्थसे भी केवल पदोंके अर्थवान् न मानोगे, तब तो सब स्थानोंपर पदके अर्थका अभाव ही हो जावेगा। क्योंकि खण्डरूप अवयव अर्थोंको कहनेवाले उन पदोंसे अतिरिक्त दूसरी जातिके पदोंका अभाव है। अवयवकी शक्तियोंसे ही अवयवीकी शक्ति बनती है। जलबिन्दुओंके समुदायसे समुद्र बन जाता है। वाक्योंसे हटाकर उसीमें कल्पना कर लिये गये न्यारे न्यारे पदोंको तो अर्थवान् माना जाय, किन्तु फिर नहीं कल्पना किये गये मुख्य अकेले केवल पदोंको अर्थवान् न माना जाय। इस प्रकार कहनेवाला वादी कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है? भावार्थ—केवल पदोंके सार्थक होते हुए ही वाक्यप्राप्त पदोंको सार्थकपना आसकता है। अन्यथा नहीं। यही नीरोग अवस्था (होश) की बातें हैं। मीमांसकोंको अपने वाचक पदके अनुसार यथार्थनामा होकर अधिक विचारशाली होना चाहिये।

व्यवच्छेद्याभावश्चासिद्धः केवलज्ञेयपदस्याज्ञेयव्यवच्छेदेन स्वार्थनिश्चयनहेतुत्वात्। सर्वं हि वस्तु ज्ञानं ज्ञेयं चेति द्वैराश्येन यदा व्याप्तमवतिष्ठते तदा ज्ञेयादन्यतामादधानं ज्ञानमज्ञेयं प्रसिद्धमेव ततो ज्ञेयपदस्य तद्व्यवच्छेद्यं कथं प्रतिक्षिप्यते? यदि पुनर्ज्ञानस्यापि स्वतो ज्ञायमानत्वान्नाज्ञेयत्वमिति मतं, तदा सर्वथा ज्ञानाभावात् कुतो ज्ञेयव्यवस्था? स्वतो

ज्ञेयं ज्ञानमिति चेत् न, ज्ञायकस्य रूपस्य कर्तृसाधनेन ज्ञानशब्देन वाच्यस्य करण साधनेन वा साधकतमस्य भावसाधनेन च क्रियामात्रस्य कर्मसाधनेन प्रतीयमानाद्रूपाद्भेदेन प्रसिद्धेरज्ञेयत्वोपपत्तेः ।

पहिले आपने कहा था कि ज्ञेय आदि पदके समान केवल पदका कोई व्यवच्छेद्य नहीं है। अतः केवल पद बोलना निरर्थक है, सो यह व्यवच्छेद्यका अभाव कहना असिद्ध है। क्योंकि केवल ज्ञेय पदको अज्ञेयके व्यवच्छेद करके अपने अर्थके निश्चय करनेका हेतुपना प्राप्त है। अज्ञेयसे यहां ज्ञान पकडा जाता है। ज्ञानसे भिन्न ज्ञेय होता है। जब कि सम्पूर्ण ही वस्तुएं ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकार दो महान् राशिपनेसे व्याप्त होकर जगत्में अवस्थित हो रही हैं, तब ज्ञेयके कथञ्चित् भिन्नताको धारण कर रहा ज्ञान अज्ञेयरूपसे प्रसिद्ध ही है। तिस कारण ज्ञेयपदका वह ज्ञान पदार्थ भला व्यवच्छेद्य होता हुआ कैसे निराकृत किया जा सकता है ? यदि फिर तुम्हारा यह मत हो कि ज्ञान भी तो स्वयं अपने आपसे जाना जाता है। अतः अज्ञेय नहीं है, किन्तु ज्ञेय ही है। ऐसी दशामें ज्ञेयका व्यवच्छेद्य ज्ञान नहीं हुआ, तब तो हम कहेंगे कि जब सभी पदार्थ ज्ञेय हो गये तो सभी प्रकार ज्ञान पदार्थके न होनेसे ज्ञेयकी व्यवस्था करना काहेसे कहोगे। बताओ ! यदि तुम यों कहो कि अन्य पदार्थोंकी तो दूसरे ज्ञानसे ज्ञेय व्यवस्था करली जायगी। और वह ज्ञान स्वयं अपने आपसे ज्ञेय हो जायेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि ऐसा माननेपर तो ज्ञेयसे ज्ञान भिन्न सिद्ध हो जाता है। ज्ञा धातुसे कर्त्ता, करण, भाव, और कर्ममें युट् प्रत्यय कर ज्ञान शब्द बनाया जाता है। कर्तामें साधे गये ज्ञान शब्दसे ज्ञायक आत्माका स्वरूप वाच्य होता है। जानातीति ज्ञानं और करणमें निरुक्ति कर साधे गये ज्ञान शब्द करके ज्ञप्तिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारक स्वरूप वाच्यअर्थ होता है ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। तथा भावमें साधे गये ज्ञान शब्दसे केवल ज्ञप्तिरूप क्रियावाच्य होती है ज्ञायते ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं। एवं कर्ममें प्रत्यय कर साधन किये गये ज्ञान पदसे ज्ञेयअर्थ वाच्य होता है ज्ञायते यत् तज्ज्ञानं। प्रकरणमें कर्मसे साधे गये ज्ञेयरूपसे कर्त्ता, करण और भावमें साधा गया ज्ञान भिन्न होकर प्रसिद्ध हो रहा है। अतः उस ज्ञानको अज्ञेयपना बन गया। वह ज्ञान केवल ज्ञेयपदका व्यवच्छेद्य हो जाता है। कोई क्षति नहीं है।

कथमज्ञेयस्य ज्ञायकत्वादेर्ज्ञानरूपस्य सिद्धिः ? ज्ञायमानस्य कुतः ? स्वत एवेति चेत्, परत्र समानम्। यथैव हि ज्ञानं ज्ञेयत्वेन स्वयं प्रकाशते तथा ज्ञायकत्वादिनापि विशेषाभावात्। ज्ञेयान्तराद्यनपेक्षस्य कथं ज्ञायकत्वादिरूपं तस्येति चेत् ज्ञायकाद्यनपेक्षस्य ज्ञेयत्वं कथम् ? स्वतो न ज्ञेयरूपं नापि ज्ञायकादिरूपं ज्ञानं सर्वथा व्याघातात् किन्तु ज्ञानस्वरूपमेवेति चेन्न, तदभावे तस्याप्यभावानुषंगात्। तद्भावेऽपि च सिद्धं ज्ञेयपदस्य व्यवच्छेद्यमिति सार्थकत्वमेव।

कर्ता, करण और भावसे साधे गये ज्ञायकत्व, ज्ञानत्व और ज्ञप्तिपन इन अज्ञेयोंको युट् प्रत्यय वाले ज्ञानस्वरूपकी सिद्धि भला कैसे होगी ? भावार्थ—जो अज्ञेय है, वह ज्ञानस्वरूप कैसे सिद्ध होगा ? ऐसा प्रश्न होनेपर तो हम भी पूंछेंगे कि जानने योग्य ज्ञेयको कर्ममें युट् प्रत्यय करनेपर ज्ञानपना कैसे सिद्ध होगा ? तुम्ही बताओ ! इसपर तुम यदि यों कहो कि जाने गये ज्ञानको तो स्वतः ही ज्ञानरूपता सिद्ध है। ऐसा कहनेपर तो दूसरोंमें भी यानी ज्ञायक, करणज्ञान और ज्ञप्तिमें भी समानरूपसे अपने आप ज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है। जिस ही प्रकार कि ज्ञान ज्ञेयपनेसे स्वयं निश्चयसे प्रकाश रहा है, तिस ही प्रकार वह ज्ञान ज्ञायक ज्ञप्तिजनक और ज्ञप्तिरूपसे भी स्वयं प्रकाशित हो रहा है। कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई यों कहे कि दूसरे जानने योग्य आदि अर्थोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके ज्ञायकत्व, ज्ञानत्व आदि स्वरूप भला उस ज्ञानके कैसे कहे जायेंगे ? ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम भी कहेंगे कि, ज्ञायक, ज्ञप्ति, और ज्ञानकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेके ज्ञेयपना भी कैसे माना जा सकता है ? बताओ ! यदि कोई ज्ञानाद्वैतवादी यों कहे कि ज्ञान न तो स्वयं अपने आप ज्ञेयस्वरूप है और ज्ञायक, ज्ञान, ज्ञप्तिरूप भी नहीं है। क्योंकि सभी प्रकारोंसे व्याघात है। यानी ज्ञानके शुद्ध पूर्ण शरीरमें ज्ञायकपन और ज्ञेयपन धर्मके लिए स्थान नहीं है। यदि ज्ञायकपना या ज्ञेयपना माना जायगा तो ज्ञानपना नहीं ठहर सकेगा। किन्तु वह ज्ञान सर्वोपाधिशून्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानमात्र कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन ज्ञायक आदि स्वरूपोंके न माननेपर उस ज्ञान स्वरूपके भी अभाव हो जानेका प्रसंग हो जायगा। ज्ञान स्वयं अपनेको अपनेसे जानता हुआ ही ज्ञान बना बैठा है। अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह है कि यदि ज्ञानको ज्ञानस्वरूपपनेका ही सद्भाव माना जायगा तो भी वह ज्ञान ज्ञेयपदका व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार व्यवच्छेदके सद्भाव होनेपर ज्ञेयपदको सार्थकपना ही है।

ज्ञानं हि स्याद् ज्ञेयं स्याद् ज्ञानम्। अज्ञानं तु ज्ञेयमेवेति स्याद्वादिमते प्रसिद्धं सिद्धमेव कथञ्चित्तद्व्यवच्छेद्यं। न च ज्ञानं स्वतः परतो वा, येन रूपेण ज्ञेयं तेन ज्ञेयमेव येन तु ज्ञानं तेन ज्ञानमेवेत्यवधारणे स्याद्वादिविरोधः, सम्यगेकान्तस्य तथोपगमात्। नाप्यनवस्था। परापरज्ञानज्ञेयरूपपरिकल्पनाभावात् तावदेव कस्यचिदाकांक्षानिवृत्तेः। साकांक्षस्य तु तत्र तत् रूपान्तरकल्पनायामपि दोषाभावात् सर्वार्थज्ञानोत्पत्तौ सकलापेक्षापर्यवसानात्। परार्शंकितस्य वा सर्वस्याज्ञेयस्य व्यवच्छेद्यत्ववचनान्न ज्ञेयपदस्यानर्थकत्वम्। सर्वपदं व्यादिसंख्यापदं वानेन सार्थकमुक्तमसर्वस्याद्यादेश्च व्यवच्छेद्यस्य सद्भावात्। न ह्यसर्वशब्दाभिधेयानां समुदायिनां व्यवच्छेदे तदात्मनः समुदायस्य सर्वशब्दवाच्यस्य प्रतिषेधादिष्टापवादः सम्भवति, समुदायिभ्यः कथञ्चिद्भेदात्समुदायस्य। नाप्यद्यादीनां प्रतिषेधे द्व्यादिविधानविरोधः परमसंख्यातोऽल्पसंख्यायाः कथञ्चिदन्यत्वात्। तदेवं विवादापन्नं केवलं पदं सव्यवच्छेद्यं

पदत्वाद्घटादिवत् सव्यवच्छेद्यत्वाच्च सार्थकं तद्वदिति प्रतियोगिव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादने वाक्यप्रयोगवत् पदप्रयोगेऽपि युक्तमवधारणमन्यथानुक्तसमत्वात् । तत्प्रयोगस्यानर्थक्यात् ।

ज्ञान कथञ्चित् ज्ञेय है और कथञ्चित् ज्ञान है । अर्थात् किसी अपेक्षासे ज्ञान अवश्य जानने योग्य है और ज्ञान कथंचित् जाननेवाला ज्ञान भी है। तथा घट, पट आदि अज्ञान तो ज्ञेय ही हैं। इस प्रकार स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें प्रसिद्ध हो रहा यह ज्ञान तो ज्ञेयका कथंचित् व्यवच्छेद्य सिद्ध हो ही जाता है । भावार्थ—सर्वथा अज्ञानरूप ज्ञेयका कथञ्चित् ज्ञान और ज्ञेयरूप होरहा ऐसा ज्ञान पदार्थ व्यवच्छेद्य बन गया । स्याद्वादियोंके यहां इस प्रकारके नियम करनेपर भी कोई विरोध नहीं है कि ज्ञान स्व अथवा परकी अपेक्षासे जाननेवाला होकर जिस स्वभावसे ज्ञेय है, उससे ज्ञेय ही है, और जिस स्वरूपसे ज्ञान है, उससे तो ज्ञान ही है । क्योंकि ऐसे समीचीन एकान्तको तिस प्रकार हम स्याद्वादी स्वीकार कर लेते हैं । तिस कारण अनवस्था भी नहीं होती है । यदि ज्ञानके अंशमें ही ज्ञेयपन और ज्ञानपन माना जाता और उस ज्ञानमें पुनः ज्ञेयपन, ज्ञानपन, माना जाता, ऐसा प्रवाह होनेपर तो अनवस्थादोष हो सकता था। किन्तु जब ज्ञानके ज्ञानपन और ज्ञेयपन स्वभावको सम्यग् एकान्तमुद्रासे कथञ्चित् न्यारा मान लिया है तो पीछे और उसके भी पीछे उत्तरोत्तर दूसरे दूसरे ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंकी धारावहिनी कल्पना न होनेके कारण तितनेसे ही किसी ज्ञाताकी आकांक्षा निवृत्त हो जाती है । हां ! जिसको आकांक्षा उत्पन्न हो गयी है, उस आकांक्षासहित पुरुषको तो तिस ज्ञानमें उन दूसरे ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंकी कल्पना करनेमें भी कोई दोष नहीं है । दो चार कोटि चलकर अकांक्षा स्वयं ही शान्त हो जाती है । सम्पूर्णरूपसे अर्थका ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर पुनः सम्पूर्ण अपेक्षाओंका अन्त हो जाता है अथवा केवलज्ञान हो जानेपर ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंके जाननेकी आकांक्षा ही नहीं रहती है । सम्पूर्ण ज्ञान ज्ञेयोंका युगपत् प्रत्यक्ष हो जानेसे सभी जिज्ञासाओंका वहां पूर्णरूपसे अवसान हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिस वादीके सन्मुख सब पदार्थोंको ज्ञेय साधा जा रहा है, उसको सम्पूर्ण पदार्थोंके अज्ञेयपनकी आशंका थी । अतः दूसरेसे शंका किये गये सम्पूर्ण अज्ञेयोंको व्यवच्छेद्यपनका कथन करनेसे ज्ञेयपद अनर्थक नहीं है, यानी व्यवच्छेद्य हो जानेसे सार्थक है । इसी प्रकार सर्व पद अथवा दो तीन आदि ये संख्यावाची पद भी सार्थक हैं । यह भी उक्त कथनसे निरूपण कर दिया गया है। क्योंकि सर्वपदका व्यवच्छेद्य असर्व और दो संख्याका व्यवच्छेद्य करने योग्य दो रहित आदि पदार्थ विद्यमान हैं । असर्वपद द्वारा कहे जाने योग्य न्यारे न्यारे एक एक समुदायियोंके प्रथक् कर देनेपर उन समुदायियोंसे अभिन्न तदात्मक सर्व शब्द द्वारा कहे जानेवाले समुदायका निषेध हो जानेसे इष्ट पदार्थका अपवाद नहीं सम्भव है । क्योंकि समुदायियोंसे समुदायका कोई अपेक्षा करके भेद माना गया है । भावार्थ—समुदायसे एक एक व्यक्तिको यदि पृथक् कर दिया जायगा तो समुदायका शरीर ही बिगड जायगा । यह न समझ लेना । क्योंकि समुदायसे समुदायीको कथंचित् न्यारा माना गया है । जैसे

दस रुपयेका नोट होते हुए भी एक रुपयेका निषेध कर दिया जाता है, अथवा एक रुपयेके होनेपर भी पैसा नहीं है, कह दिया जाता है। एवं एक जिनदत्तके होनेपर भी जिनदत्त और इन्द्रदत्त दोनों नहीं है, जैसे यह कह दिया जाता है, उसी प्रकार उभयके होनेपर अकेलेका भी अभाव कह देते हैं। शरीरका हाथ, आमका पत्ता, ये व्यवहार भी तभी सिद्ध होते हैं। अतः एक एक असर्वका निषेध करनेपर सर्वका विधान हो जाता है। तथा संसारके सभी पदार्थ दूसरेको मिलाकर दो बन सकते हैं तथा अन्य दोको मिलाकर सभी वस्तुएं तीन बन जाती हैं। इस प्रकारके वाच्यार्थ को कहनेवाले द्वि, त्रि, चतुः, आदि पद भी अद्वि, अत्रि आदिका निषेध करते हुए दो आदिक की विधि करते हैं। कोई विरोध नहीं है। बडी संख्यासे छोटी संख्याका कथञ्चित् भेद माना गया है। अतः केवलान्वयी पदार्थोंके भी स्याद्वाद परिपाटीके अनुसार व्यवच्छेद्य बन जाते हैं। व्यवच्छेद करनेवाला पद सार्थक हो जाता है। तिस कारण इस प्रकार सिद्धान्त पुष्ट हुआ कि विवादमें पडा हुआ अन्य पदोंसे रहित केवल पद (पक्ष) व्यवच्छेद्यसे सहित है (साध्य)। पदपना होनेसे (हेतु)। जैसे कि घट, पट आदि पद हैं (दृष्टान्त)। इस अनुमानसे व्यवच्छेद्यपना सिद्ध हो जानेपर दूसरे अनुमान द्वारा व्यवच्छेद्य सहितपन हेतुसे केवलपदको सार्थकपना भी उन पट, घट आदेकोंके समान साध लिया जाता है। इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रतियोगियोंकी व्यावृत्ति करके स्वार्थके प्रतिपादन करनेमें जैसे वाक्यका प्रयोग सार्थक है, उसीके समान पदके प्रयोगमें भी एवकार द्वारा अवधारण करना युक्त है। अन्यथा नहीं कहे हुएके समान हो जानेके कारण उस पदका प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। भावार्थ—वाक्यमें एवकार लगानेके समान पदमें भी अन्य व्यावृत्तिके लिए एवकार लगाना सार्थक है।

अन्ये त्वाहुः सर्वं वस्त्विति शब्दो द्रव्यवचनो जीव इत्यादिशब्दवत्। तदभिधेयस्य विशेष्यत्वेन द्रव्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनस्तदर्थस्य विशेषणत्वेन गुणत्वात्। तयोः सामान्यात्मनोर्विशेषाद्यवच्छेदेन विशेषणविशेष्यसम्भवत्वावद्योतनार्थ एवकारः। शुक्ल एव पटः इत्यादिवत्, स्वार्थसामान्याभिधायकत्वाद्विशेषणविशेष्यशब्दयोस्तत्सम्बन्धसामान्यद्योतकत्वोपपत्तेः एवकारस्येति। तेऽपि यदि विशिष्टपदप्रयोगेनैवकारः प्रयोक्तव्य इत्यभिमन्यन्ते स्मृते तदा न स्याद्वादिनस्तेषां नियतपदार्थावद्योतकत्वेनाप्येवकारस्येष्टत्वात्। अथास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्ये विशेष्यविशेषणसम्बन्धसामान्यावद्योतनार्थ एवकारोन्यत्र पदप्रयोगे नियतपदार्थावद्योतनार्थोऽपीति निजगुस्तदा न दोषः।

अन्यवादी तो ऐसा कहते हैं कि जीव, घट इत्यादि शब्दोंके समान सर्व, वस्तु, ये शब्द भी द्रव्यको कहनेवाले द्रव्यवाची शब्द हैं। क्योंकि इनके द्वारा कहा गया अर्थ विशेष्य होनेके कारण द्रव्य है तथा अस्ति यह शब्द गुणको कहता हुआ गुण शब्द है। वे द्रव्य और गुण दोनों ही सामान्य स्वरूप है। यानी एक द्रव्य साधारणरूपसे अनेक गुणोंका आधार बन रहा है और एक गुण भी

जातिमुद्रासे अनेक द्रव्योंमें पाया जाता है। उन सामान्य स्वरूपोंका विशेषरूपसे पृथग्भाव करके विशेषण विशेष्यभाव होरहेपनको प्रगट करनेके लिये एवकार लगाना चाहिये। जैसे कि " शुक्ल एव पटः, द्रोण एव व्रीहिः "धौला ही कपडा है, चार अढैया ही चावल है, इत्यादि स्थलोंपर विशेषण विशेष्योंका कर्मधारय करनेकी योग्यतासे व्यभिचारकी सम्भावनामें एवकार लगाया जाता है। विशेषण शब्द और विशेष्य शब्द दोनों ही तो अपने अपने अर्थको सामान्यरूपसे कह रहे हैं। उनके सामान्यरूपसे सम्बन्धको द्योतन करनेके लिये एवकारका लगाना आवश्यक है। तभी एवकारको द्योतकपना सध सकेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जिनका कहना है, वे भी यदि विशिष्ट-पदका उच्चारण करनेपर या सामान्यद्वारा विशेषका स्मरण कर लेनेपर एवकारका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अभिमानपूर्वक मान रहे हैं, यानी सामान्यरूप पदोंके साथ एव लगाना चाहिए। विशेषवाचक पदोंके साथ नहीं लगाना चाहिये। तब तो वे स्याद्वादी नहीं है, क्योंकि उन स्याद्वादियोंने नियमित विशिष्ट पदार्थके प्रगट करनेकी अपेक्षासे भी एवकारका प्रयोग करना इष्ट किया है। भावार्थ—मीमांसक सामान्यरूपसे विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध प्रगट करनेके लिये तो एवकार लगाना माने और विशेष सम्बन्धसे ग्रस्त हो रहे विशिष्ट पदके प्रयोग करनेपर एवकार लगाना न मानें, यह तो कोरा अभिमान मात्र है। जब कि सर्वत्र अन्य व्यावृत्तियां की जा सकती हैं तो सभी वाक्योंमें एवकार लगाना चाहिये और वे यदि " अस्त्येव सर्वं, नीलघटमेवानय " सभी पदार्थ कथञ्चित् हैं ही, नीले घडेको ही लाओ इत्यादि वाक्योंमें तो सामान्यरूपसे विशेषण विशेष्यके सम्बन्धको प्रगट करनेके लिये एवकार लगाना चाहिये। तथा दूसरे स्थलोंपर पदके प्रयोग करनेपर नियमित पदार्थोंके प्रगट करनेके लिये भी एवकार लगाना चाहिये। इस प्रकार कहेंगे तो कोई दोष नहीं है। यह स्याद्वादसिद्धान्तके अनुकूल पडता है।

केन पुनः शब्देनोपात्तोर्थ एवकारेण द्योत्यत इति चेत्, येन सह प्रयुज्यते असाविति प्रत्येयम्। पदेन हि सह प्रयुक्तोऽसौ नियतं तदर्थमवद्योतयति वाक्येन वाक्यार्थमिति सिद्धम्।

फिर किस शब्दके द्वारा कहा जाकर ग्रहण किया गया अवधारणस्वरूप अर्थ एवकारसे द्योतित किया जाता है ? भावार्थ—मृत्तिका आदिकसे निष्पन्न हुआ घट जैसे प्रदीपसे द्योतित हो जाता है। ऐसे ही किस वाचक शब्दसे कथन किया गया नियम करना रूप अर्थ एवकारसे व्यक्त कर दिया जाता है ? बताओ ! ऐसा पूंछनेपर तो हमारी ओरसे यह उत्तर समझ लेना चाहिये कि जिस पद या वाक्यके साथ वह एवकार प्रयुक्त किया जाता है, उसी पद या वाक्यसे कहा जा चुका अर्थ एव निपातसे अभिव्यक्त कर दिया जाता है। जब पदके साथ निश्चयसे वह एव प्रयुक्त किया जायगा तो नियत किये गये उस पदके अर्थको प्रगटित कर देगा। और जब वाक्यके साथ एवकार लगा दिया जायगा तो वाक्यके नियमित अर्थको प्रकाशित कर देवेगा। इस प्रकार अनिष्ट

अर्थकी निवृत्तिके लिये पद और वाक्यमें अवधारण करना चाहिये। यह सिद्धान्त युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया गया है।

ननु च सदेव सर्वमित्युक्ते सर्वस्य सर्वथा सत्त्वप्रसक्तिः सत्त्वसामान्यस्य विशेषणत्वाद्वस्तुसामान्यस्य च विशेष्यत्वात् तत्सम्बन्धस्य च सामान्यादेवकारेण द्योतनात्। तथा च जीवोऽप्यजीवसत्त्वेनास्तीति व्याप्तं स्वप्रतियोगिनो नास्तित्वस्यैवास्तीति पदेन व्यवच्छेदात् जीव एवास्तीत्यवधारणे तु भवेदजीवनास्तिता। नैव सेष्टा प्रतीतिविरोधात्। ततः कथमस्त्येव जीव इत्यादिवत्सदेव सर्वमिति वचनं घटत इत्यारेकायामाहः—

यहां और एक अच्छी शंका है कि "सदेव सर्वं" सम्पूर्ण वस्तु सत् ही है, इस प्रकार एव लगाकर कह चुकनेपर तो सभी प्रकारोंसे सबको सत्पनेका प्रसंग होता है। क्योंकि सामान्यरूपसे सत्पना विशेषण है और सामान्यरूपसे सम्पूर्ण वस्तुएं विशेष्य हैं तथा उन विशेषण और विशेष्योंके सम्बन्धका सामान्यरूपसे एवकार करके द्योतन हो गया है। अतः सबको सर्वथा सत्त्व प्राप्त हुआ और तैसा होनेपर जीव भी अजीवकी सत्तासे सत् (विद्यमान) है, ऐसा प्राप्त हुआ अथवा जीव भी अजीवकी सत्तासे व्याप्त (घिर गया) हो गया। "एव अस्ति" इस प्रकार एव पद करके तो अपने अस्तित्वके प्रतियोगी होरहे नास्तिपनकी ही व्यावृत्ति होगी। जीवमें अजीवके सत्त्वकी व्यावृत्ति तो नहीं हो सकती है और आप जैन यदि जीव ही है, इस प्रकार मध्यमें अवधारण लगाओगे, तब तो अजीव पदार्थकी नास्ति हो जायगी और वह तो इष्ट नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध पडेगा। जीवसे भिन्न घट, पट, आदि अजीवोंकी पशुओंतक को प्रतीति हो रही है। तिस कारण जीव है ही, घट ही है, इत्यादि वचनोंके समान सत् ही सम्पूर्ण हैं, ऐसा जैनोंका प्रयोग करना कैसे युक्तिसिद्ध घटित होगा ? अर्थात् एवकार लगाकर वचनप्रयोग करना नहीं घटता है। इस प्रकार आशंका होनेपर आचार्य महाराज स्पष्टरूपसे उत्तर कहते हैं;—उसको एकाग्रचित्त लगाकर सुनिये समझियेगा।

सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे।
स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः॥ ५४॥

उस एवकारके प्रयोग करनेपर भी सभी प्रकारोंसे सत्त्व आदिकी प्राप्तिका विच्छेद करनेके लिये वाक्यमें स्यात्कार शब्दका प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि वह स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतक है।

स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र स्यात्कारः संप्रयोगमर्हति तदप्रयोगे जीवस्य पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेर्विच्छेदाघटनात् तत्र तथाशब्देनाप्राप्तित्वात्। प्रकरणादेर्जीवे पुद्गलास्तित्वव्यवच्छेदे तु तस्याशब्दार्थत्वं तत्प्रकरणादेरशब्दत्वात्। न चाशब्दादर्थप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाब्दी युक्तातिप्रसंगात्।

" स्यादस्ति एव जीवः " कथञ्चित् जीव पदार्थ है ही। इस प्रकारके यहां वाक्यमें स्यात् शद्वका भले प्रकार प्रयोग करना योग्य है। यदि " किसी अपेक्षा " इस अर्थको कहने वाले उस स्यात् शद्वका प्रयोग नहीं किया जायगा तो जीवको पुद्गल, आकाश, आदिके अस्तित्वपने करके भी सभी प्रकारोंसे अस्तिपना प्राप्त होगा। तब तो जीवकी पुद्गल आदिसे व्यावृत्ति करना नहीं घटित होगा, किन्तु वहां तिस प्रकार शद्व करके सत्त्वादिककी प्राप्ति नहीं है। यानी पुद्गल आदिके अस्तित्व करके जीवको अस्तित्व प्राप्त नहीं है। यदि तुम प्रकरण, अवसर, योग्यता आदिसे जीवमें पुद्गल आदिके अस्तित्व आदिकी व्यावृत्ति करोगे, तब तो वह शद्वका वाच्यार्थ नहीं हो सकेगा। क्योंकि उन प्रकरण आदिके द्वारा ऊपर ऊपरसे निकाले गये अर्थ तो शद्वके वाच्य नहीं समझे जाते हैं और वाचक शद्वोंके विना ही हो रही अर्थकी प्रत्तिपत्ति भला शद्वसे हुयी, यह युक्त नहीं कही जा सकती है। क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् " गंगायां घोषः " गंगाका वाच्य अर्थ गंगा तीर भी हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तो वाच्यार्थ नहीं होते हैं। इस प्रकार " राजेन्द्र भवतः कीर्त्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् " यहां प्रकरणसे हन्तिका वाच्यार्थ गच्छति भी निर्दोष हो जाओ। किन्तु ऐसा है नहीं। उक्त वाक्यको तो दोषोंमें परिगणित किया है इस कारण अनेकान्तका द्योतक स्यात् शद्व लगाना चाहिये।

नन्वस्तित्वसामान्येन जीवस्य व्याप्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वविशेषैरव्याप्तेर्न तत्प्रसक्तिः। कृतकस्यानित्यत्वसामान्येन व्याप्तस्यानित्यत्वविशेषाप्रसक्तिवत्। ततोऽनर्थकस्तन्निवृत्तये स्यात्प्रयोग इति चेन्न, अवधारणवैयर्थ्यप्रसंगात्। स्वगतेनास्तित्वविशेषेण जीवस्यास्तित्वावधारणात् प्रतीयते कृतकस्य स्वगतानित्यत्वविशेषेणानित्यत्ववदिति चेन्न, स्वगतेनेति विशेषणात् परगतेन नैवेति संप्रत्ययादवधारणानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात्। न चानवधारणकं वाक्यं युक्तं, जीवस्यास्तित्ववन्नास्तित्वस्याप्यनुषंगात् कृतकस्य नित्यत्वानुषंगवत्।

किसीकी शंका है कि जब सामान्य अस्तिपने करके जीव व्याप्त हो रहा है और पुद्गल आदिके विशेष अस्तित्वों करके जीव व्याप्त नहीं है तो पुद्गल आदिके अस्तित्वसे जीवके अस्तित्वका वह प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता है। जैसे सामान्य अनित्यपने करके कृतक व्याप्त हो रहा है। उसको विशेषरूपसे अनित्यपनका प्रसंग नहीं है। तिस कारण उस अनिष्ट पदार्थोंकी ओरसे आये हुए सत्त्व आदिकी निवृत्तिके लिये तो स्यात् शद्वका प्रयोग करना व्यर्थ ही है। जिसके आम नहीं खाने हैं उसके पेड गिननेमें क्या लाभ है ? अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तब तो अवधारण करनेको व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। अर्थात् अन्यकी ओरसे जब अस्तित्वके प्राप्त होनेकी सम्भावना ही नहीं है तो नियम करनेवाला एवकार व्यर्थ ही पडता है। यदि कोई यों कहे कि अपने अपनेमें प्राप्त हुए अस्तित्व विशेषण करके जीवके अस्तित्वका एव पदसे अवधारण किया गया है। लोकमें भी ऐसा प्रतीत हो रहा है। जैसे कि किये गये घट, पट, आदि कृतक

पदार्थोंका अपनेमें प्राप्त हो रहे अनित्यपनरूप विशेषण करके नियमसे अनित्यपना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो भी न कहना। क्योंकि जब अपनेमें प्राप्त हुए अस्तित्व इस प्रकारके विशेषणसे परमें प्राप्त हुए अस्तित्वसे नहीं ही है, ऐसा भले प्रकार ज्ञान हो ही जायगा, तो फिर अवधारणका व्यर्थपना वैसाका वैसा ही तदवस्थ रहा। किंतु जिसमें अवधारण नहीं है ऐसे वाक्यका बोलना युक्त नहीं है। अन्यथा जीवके अस्तिपनका जैसे विधान होगा, वैसे ही उसी समय जीवके नास्तिपनकी भी सिद्धिका प्रसंग होगा। जैसे कि घट, पट, आदिको कृतकपनेका नियम न करनेपर नित्यपनका प्रसंग हो जाता है।

तत्रास्तित्वस्यानवधृतत्वात्। कृतकेनानित्यत्वानवधारणे नित्यत्ववत्, सर्वेण हि प्रकारेण जीवादेरस्तित्वाभ्युपगमे तन्नास्तित्वनिरासे वावधारणं फलवत्स्यात्। यथा कृतकस्य सर्वेणानित्यत्वेन शब्दघटादिगतेनानित्यत्वाभ्युपगमे तन्नित्यत्वनिरासे च नान्यथा, तथावधारणसाफल्योपगमे च जीवादिरस्तित्वसामान्येनास्ति, न पुनरस्तित्वविशेषेण पुद्गलादिगतेनेति प्रतिपत्तये युक्तः स्यात्कारप्रयोगस्तस्य तादृगर्थद्योतकत्वात्।

तहां कृतकके साथ अनित्यपनका अवधारण नहीं करनेपर नित्यपनेके प्रसंग समान अवधारण नहीं किये गये अस्तित्व होनेके कारण जीवका अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे भी अस्तित्व प्राप्त होगा। यदि सभी प्रकारोंसे जीव आदिकोंका अस्तित्व स्वीकार करोगे और अजीवकी अपेक्षासे उसके नास्तिपनका निराकरण करोगे, तब तो नियम करना सफल हो सकेगा। जिस प्रकार कि कृतकका शब्द, घट, पट आदिमें प्राप्त हुए सम्पूर्ण अनित्यपने करके अनित्यपन माननेपर और उस नित्यत्वके निवारण करनेपर एव लगाना सार्थक होता है। अन्यथा नहीं। तिस प्रकार अवधारणकी सफलताको स्वीकार करनेपर जीव आदिक अस्तित्व सामान्य करके हैं, किन्तु फिर पुद्गल आदिकमें रहनेवाले विशेष अस्तित्व करके तो नहीं हैं। इसकी प्रतीतिके लिये केवल स्यात् इस शब्दका प्रयोग करना युक्त है। क्योंकि उस स्यात्को तिस प्रकार ऊपर कहे गये अर्थका द्योतकपना है। भावार्थ—अवधारणके विना वाक्य कहना नहीं कहा गया सीखा है। और अवधारणकी सफलता स्यात् इस निपातके लगानेपर ही हो सकती है।

ननु च योऽस्ति स स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभावैरेव नेतरैस्तेषामप्रस्तुतत्वादिति केचित्, सत्यम्। स तु तादृशोऽर्थः शब्दात्प्रतीयमानः कीदृशात्प्रतीयते इति शाब्दव्यवहारचिन्तायां स्यात्कारो द्योतको निपातः प्रयुज्यते लिङन्तप्रतिरूपकः।

पुनः शंका है कि जो भी कोई पदार्थ है, वह अपने आधीन रहनेवाले अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके ही है। दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकरके वह नहीं है। क्योंकि उन दूसरे द्रव्य आदिका प्रकरणमें कोई प्रस्ताव ही प्राप्त नहीं है। फिर तिस अर्थके द्योतन करनेके लिये वाक्यमें स्यात् पदका बोझ क्यों बढाया जाता है? ऐसा कोई कह रहे हैं, सो ठीक नहीं है।

किन्तु तैसा अर्थ जो शद्बसे प्रतीत हो रहा है। वह किस प्रकारके शद्बसे प्रतीत होगा ? इस प्रकार शद्बजन्य व्यवहारका विचार करनेपर तो स्यात् ऐसे अर्थद्योतक निपातका प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् स्यात् शद्बके होनेपर ही परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके अस्तित्व प्राप्त होनेका प्रस्ताव नहीं आपाता है। यदि स्यात् न होता तो सभी प्रकारोंसे परकीय अस्तित्वके आपादनको कौन बचा सकता था ? पदार्थोंके पेटमें अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव तदात्मक हो रहे हैं। तभी तो सर्वात्मकता सर्वाधारतारूप साङ्कर्य नहीं हो पाता है। अन्यथा अपना अपना पता पाना ही असम्भव हो जाता। देवदत्तका शरीर अपने अंग उपांगोंमें तभी स्थिर रह सकता है, जब कि परकीय अंग उपांगोंके सम्मिश्रण करनेका उसमें विधान नहीं होता है। अदादि गणकी " अस् भुवि " धातुसे लिङ् लकारमें प्रथम पुरुषका एक वचन स्यात् बनता है। यह स्यात् निपात उसके सादृश्यको रखनेवाला लिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। जैसे कि रात्रौ, हेतौ ये सप्तमी विभक्तिके पदको अनुकरण वाले सुबन्त प्रतिरूपक अव्यय हैं। विहायसा, अन्तरेण, उच्चैः, नीचैः ये तृतीयान्त प्रतिरूपक अव्यय हैं। प्रकृति और प्रत्ययके योगकर साधे गये तिङन्त, सुबन्त पदोंसे अनादिसिद्ध अव्युत्पन्न अव्यय-पद न्यारे हैं।

केन पुनः शद्बेनोक्तोनेकान्तः ? स्यात्कारेण द्योत्यत इति चेत्, सदेव सर्वमित्यादि-वाक्येनाभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वेति ब्रूमः। सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु-, कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयत्यभेदोपचारेण वा तस्य प्रमाणाधीनत्वात्। विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा तस्य नयायत्तत्वात्।

आप जैन फिर यह बतलाओ कि किस शद्ब करके कहा गया अनेकान्त स्यात् इतने शद्बसे द्योतित कर दिया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर तो हम स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ सत् ही हैं इत्यादि वाक्यों करके अभेद सम्बन्धसे अथवा अभेदके व्यवहारसे अनेकान्त कहा जाता है। यानी अभेदवृत्ति होनेके कारण एक धर्मके प्रतिपादक शद्बसे अनेक धर्म कह दिये जाते हैं। सम्पूर्ण वस्तुको कथन करनेवाला सकलादेश वाक्य तो काल, आत्मरूप, आदि करके अभेदवृत्ति या अभेदके उपचारसे स्वकीय सम्पूर्ण धर्मोंके साथ तादात्म्यको रखनेवाली वस्तुका युगपत् (एकदमसे) प्रतिपादन कर देता है। क्योंकि वह सकलादेश वाक्य प्रमाणके अधीन होरहा बोला जाता है। भावार्थ—प्रमाण वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको जानता है। उन अंशोंका वस्तुके साथ काल आदिकी अपेक्षासे तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है। सम्पूर्ण अंशोंका परस्परमें निश्चय और व्यवहारसे द्रव्यरूप करके अभेद वर्त रहा है। और वस्तुके एक अंशको कहनेवाला विकलादेश तो भेदके उपचारसे या भेदकी प्रधानतासे क्रमक्रम करके अशेष धर्मस्वरूपवस्तुको कहता है। क्योंकि उस विकलादेश वाक्यकी प्रवृत्ति नयोंके अधीन है। नयज्ञान क्रमसे एक एक अंशको कहता हुआ ही भिन्नभिन्न वस्तुके अंशोंको दीर्घकालमें कह सकता है। युगपत् नहीं।

कः पुनः क्रमः किं वा यौगपद्यम् ? यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् ।

फिर प्रश्न है कि वैसोंका माना हुआ क्रम क्या है ? और युगपत्पना क्या पदार्थ है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जिस समय अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंकी काल, आत्मरूप, आदि करके भेदकी विवक्षा हो रही है, तब एक शब्दकी भिन्न भिन्न अनेक अर्थोंके समझानेमें शक्ति नहीं है । अतः क्रम माना जाता है । किन्तु जब उन्हीं धर्मोंका काल आदि करके अभेद होनेसे आत्मस्वरूप दृढ कर लिया गया कहा जाता है । तब तो एक शब्द करके भी एक धर्मका समझाना मुख्य कर उस एक धर्मके साथ तादात्म्यको प्राप्त हो रहे शेषरहित सम्पूर्ण धर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण करना सम्भव है । अतः युगपत्पना कहा जाता है । अर्थात् भेदविवक्षा करनेपर वस्तुमें एक एक धर्मका एक एक शब्द द्वारा क्रमसे कथन होता है और अभेद विवक्षा करनेपर एक शब्द द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तुका एक ही समयमें युगपत् निरूपण हो जाता है ।

के पुनः कालादयः ? कालः, आत्मरूपं, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारो, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्द, इति । तत्र स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति, तेषां कालेनाभेदवृत्तिः । यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एवाविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवाशेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव च गुणिदेशोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । य एव वास्तीतिशब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः । पर्यायार्थे गुणभावे द्रव्यार्थिकत्वप्राधान्यादुपपद्यते ।

भेद या अभेदके अवच्छेदक वे काल आदिक फिर कौन हैं ? इसका उत्तर यों है कि काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग, और शब्द इस प्रकार आठ हैं । तिन आठोंमें जीव आदिक वस्तु कथंचित् है ही। इस प्रकार इस पहिले भंगमें जो ही अस्तित्वका काल है, वस्तुमें शेष बचे हुए अनन्तधर्मोंका भी वही काल है । इस प्रकार उन अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंकी कालकी अपेक्षासे अभेदवृत्ति हो रही है, तथा सम्पूर्ण अस्तित्व आदि गुण उस एक ही वस्तुके हैं । जैसे एक माताके चार पुत्रोंमें सहोदरपना सम्बन्ध है । जो ही उस वस्तुके गुण होजाना (धर्मपना)

अस्तित्वका अपना स्वरूप है, वही उस वस्तुके गुण होजानापना अन्य अनन्तगुणोंका भी आत्मीय-रूप है। वस्तुनिष्ठधर्मितानिरूपितधर्मतावत्त्वं। गुणीवस्तुके आत्मीयरूप अस्तित्व आदि सभी गुण एकसे हैं। इस प्रकार आत्मीय स्वरूपकरके अनन्तधर्मोकी परस्परमें अभेदवृत्ति है २। तथा जो ही आधार होरहा द्रव्य नामक अर्थ अस्तित्व धर्मका है, वही द्रव्य अन्य पर्यायोंका भी आश्रय है। इस प्रकार एक आधाररूप अर्थपनेसे सम्पूर्ण धर्मोके आधेयपनेकी वृत्ति हो रही है ३। एवं जो ही पृथक् पृथक् नहीं किया जासकनारूप कथंचित् तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध अस्तित्वका है। वही अविष्वग्भाव सम्बन्ध बचे हुए सम्पूर्ण विशेष अंशोंका भी है। इस ढंगसे सम्बन्ध द्वारा सम्पूर्ण धर्मोका वस्तुके साथ अभेद वर्त्त रहा है ४। और जो ही अपने अस्तित्वसे वस्तुको अपने अनुरूप रंग-युक्तकर देनारूप उपकार अस्तित्व धर्मकरके होता है, वे ही अपने अपने अनुरूप वस्तुको रंग देना स्वरूप उपकार बचे हुए अन्य गुणों करके भी किया जाता है। इस प्रकार उपकार करके सम्पूर्ण धर्मोका परस्परमें अभेद वर्त्तरहा है ५। तथा जो ही गुणी द्रव्यका देश अस्तित्व गुणने घेर लिया है, वही गुणीका देश अन्य गुणोंका भी निवास स्थान है। इस प्रकार गुणिदेशकरके एक वस्तुके अनेक धर्मोकी अभेदवृत्ति है। जैसे कि दश औषधियोंको घोटकर बनायी गयी गोलीके छोटेसे खण्डमें भी दशों औषधियां हैं ६। और जो ही एक वस्तु स्वरूप करके अस्तित्व धर्मका संसर्ग है, वही शेष धर्मोका भी संसर्ग है। इस रीतिसे संसर्ग करके अभेदवृत्ति हो रही है। पहिला तादात्म्य सम्बन्ध धर्मोकी परस्परमें योजना करने वाला था और यह संसर्ग एक वस्तुमें अशेषधर्मोको ठहरानेवाला है। इसी प्रकार अर्थ पदसे लम्बा चौडा अखण्डवस्तु पूरा लिया गया है और गुणिदेशसे अखण्ड वस्तुके कल्पित देशांश ग्रहण किये गये हैं ७। तथा जो ही अस्ति यह शब्द अस्तित्व धर्मस्वरूप वस्तुका वाचक है वही शब्द बचे हुये अनन्त धर्मोके साथ तादात्म्य रखनेवाली वस्तुका भी वाचक है। इस प्रकार शब्दके द्वारा सम्पूर्ण धर्मोकी एक वस्तुमें अभेदरूप प्रवृत्ति हो रही है ८। यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थको गौण करनेपर और गुणोंके पिण्डरूप द्रव्य पदार्थको प्रधान करनेपर प्रमाण द्वारा बन जाती है। द्रव्यदृष्टिसे सभी गुण, स्वभाव, अंश, पर्यायों और कल्पित धर्मोमें अभेद फैला हुआ दीखता है। कोई पर्यायार्थिक नयको गौणकर और द्रव्यार्थिक नयको प्रधान करते हुये अभेद साध लेते हैं।

द्रव्यार्थिक गुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानां कालादिभिरभेदवृत्तिः अष्टधा सम्भवति। प्रतिक्षणमन्यतोपपत्तेर्भिन्नकालत्वात्। सकृदेकत्र नानागुणानामसम्भवात्। सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसंगात्। तेषामात्मरूपस्य च भिन्नत्वात् तदभेदे तद्भेदविरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात्। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात् नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात्-

तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसंगात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेक शब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यात्। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसम्भवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः। क्रियते तदेवाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यामेकेन शब्देनैकस्य जीवादिवस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्योपात्तस्य स्यात्कारो द्योतकः समवतिष्ठते।

किन्तु द्रव्यार्थिकके गौण करनेपर और पर्यायार्थिककी प्रधानता हो जानेपर तो गुणोंकी काल आदि करके आठ प्रकारकी अभेदवृत्ति नहीं सम्भवती है। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें गुण भिन्न भिन्न रूपसे परिणत हो जाते हैं। अतः जो अस्तित्वका काल है, वह नास्तित्वका काल नहीं है। भिन्न भिन्न धर्मोंका काल भिन्न भिन्न है। एक समय एक वस्तुमें अनेक गुण (स्वभाव) नहीं पाये जा सकते हैं। यदि बलात्कारसे अनेक गुणोंका सम्भव मानोगे तो उन गुणोंके आश्रय वस्तुका उतने प्रकारसे भेद हो जानेका प्रसंग होगा, यानी जितने गुण हैं, प्रत्येक गुणका एक एक वस्तु आश्रय होकर उतनी संख्यावाली वस्तुएं हो जावेंगी। अतः कालकी अपेक्षा अभेदवृत्ति न हुयी १। तथा पर्यायदृष्टिसे उन गुणोंका आत्मरूप भी भिन्न भिन्न है। यदि अनेक गुणोंका आत्मस्वरूप अभिन्न होता तो उन गुणोंके भेद होनेका विरोध है। एक आत्मस्वरूपवाले तो एक ही होंगे। एक वस्तुमें एक गुण ही उसका तदात्मकरूप हो सकता है, एकके आत्मरूप अनेक नहीं होते हैं। अतः आत्मस्वरूपसे भी अभेदवृत्ति सिद्ध नहीं हुयी २। तथा नाना धर्मोंका अपना अपना आश्रय अर्थ भी नाना है, अन्यथा यानी आधारभूत अर्थ अनेक न होते तो उस विचारे एकको नाना गुणोंके आश्रयपनका विरोध हो जाता। एकका आधार एक ही होता है। अतः अर्थके भिन्न भिन्न हो जानेके कारण उन धर्मोंमें अर्थसे अभेदवृत्ति नहीं है ३। एवं सम्बन्धियोंके भेदसे सम्बन्धका भी भेद देखा जाता है। अनेक सम्बन्धियों करके एक वस्तुमें एक सम्बन्ध होना नहीं घटता है। देवदत्तका अपने पुत्रसे जो सम्बन्ध है, वही पिता, भाई, पितृव्य, आदिके साथ नहीं है। अतः भिन्न पर्यायोंमें सम्बन्धसे अभेदवृत्ति होना नहीं बनता है ४। उन धर्मों करके किया गया उपकार भी वस्तुमें न्यारा न्यारा नियत होकर अनेक स्वरूप है। अतः एक उपकारकी अपेक्षासे होनेवाली अभेदवृत्ति अनेक गुणोंमें नहीं घटित होपाती है ५। प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे गुणीका देश भी भिन्न भिन्न है। यदि गुणके भेदसे गुणवाले देशका भेद न माना जायगा तो सर्वथा भिन्न दूसरे अर्थके गुणोंका भी गुणीदेश अभिन्न हो जायगा। अर्थात् देवदत्तके न्यारे न्यारे गुणोंका यदि गुणीदेश न्यारा न्यारा नहीं माना जायगा तो देवदत्त, जिनदत्त, इन्द्रदत्तके न्यारे न्यारे गुणोंका भी गुणीदेश भिन्न मत मानो। जिनदत्तका ज्ञान, सुख आदि इन्द्रदत्तमें प्रविष्ट हो जायगा, किन्तु यह इष्ट नहीं। अतः गुणीदेशसे भी

धर्मोंकी अभेदवृत्ति न हो सकी ६। संसर्ग तो प्रत्येक संसर्गवालेके भेदसे भिन्न ही माना जाता है। यदि सम्बन्धीके भेद होते हुए उस संसर्गका अभेद माना जायगा तो संसर्गियोंके भेद होनेका विरोध है। भावार्थ—सम्बन्धी धर्म यदि न्यारे न्यारे हैं तो उनका संसर्ग एक कैसे भी नहीं हो सकता है। एक गाडीमें दो बैल एक ही स्थानपर एक ही जोडसे नहीं लग सकते। पगडी, कुर्त्ता, धोती आदिसे स्पृष्ट हो रहे देवदत्तके अवयव न्यारे न्यारे संसर्गवाले हैं। अतः संसर्गसे भी अभेदवृत्ति न हो सकी। दान्तोंका मिश्री, सुपारी, पान, हलुआ, जीभके साथ भिन्न भिन्न प्रकारका संसर्ग है ७। प्रत्येक विषयकी अपेक्षासे वाचक शब्द नाना होते हैं। यदि सम्पूर्ण गुणोंको एक शब्द द्वारा ही वाच्य माना जायगा, तब तो सम्पूर्ण अर्थोंको भी एक शब्द द्वारा निरूपण किये जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें भिन्न भिन्न पदार्थोंके लिये न्यारे न्यारे शब्दोंका बोलना व्यर्थ पडेगा। अतः शब्दके द्वारा अभेदवृत्ति नहीं मानी जा सकती है। जब कि वास्तविकरूपसे अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोंकी एक वस्तुमें इस प्रकार अभेदवृत्तिका होना असम्भव है तो अब काल, आत्मरूप, आदि करके भिन्न भिन्न स्वरूप हो रहे धर्मोंका अभेद रूपसे उपचार किया जाता है। अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे नाना पर्यायोंमें भेद है। क्योंकि एक पर्याय दूसरे पर्यायस्वरूप नहीं है। फिर भी एक वस्तु या द्रव्यकी अनन्तपर्यायोंमें अभेदका व्यवहार कर लिया जाता है। देवदत्तकी पर्यायोंका जिनदत्तकी पर्यायोंके साथ तो उपचारसे भी अभेद नहीं है, क्योंकि वे सर्वथा भिन्न हैं। सत्त्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व आदिकी अपेक्षासे देवदत्त जिनदत्तोंमें हो रहा अभेद भी सादृश्यकी भित्तिपर पोच लटक रहा है। एकत्वकी सांकलसे पुष्ट बंधा हुआ नहीं है विचारनेपर देवदत्त और जिनदत्तके द्रव्यत्व, जीवत्व, आदि सदृश परिणाम भी न्यारे न्यारे जचेंगे। तिस कारण इन अभेदवृत्ति और अभेद उपचारसे एक शब्द करके ग्रहण किये गये अनन्तधर्मात्मक एक जीव आदि वस्तुका कथन किया गया है। उन अनेक धर्मोंका द्योतक स्यात्कार निपात भले प्रकार व्यवस्थित हो रहा है। भावार्थ—विकलादेश द्वारा क्रमसे अनेक धर्मोंका निरूपण किया जाय अथवा सकलादेश द्वारा युगपत् सम्पूर्ण धर्मोंका निरूपण किया जाय। किन्तु अनेकान्तका द्योतक होनेसे स्यात् निपातका प्रयोग करना आवश्यक है। तभी सर्व प्रकारसे सत्त्व आदिकी प्राप्तिका विच्छेद हो सकेगा। अन्य कोई उपाय नहीं है।

स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्यावबोधने।
शब्दांतरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥

यद्यपि अकेले स्यात् शब्दसे भी सामान्यरूपसे अनेक धर्मोंका द्योतन होकर ज्ञान हो जाता है, फिर भी यहां विशेषरूपसे धर्मोंकी प्रतीति होनेके लिये दूसरे अस्ति, नास्ति, आदि शब्दोंका प्रयोग करना आवश्यक है। भावार्थ—ब्राह्मणकौडिन्यन्यायसे विशेष धर्मके वाचक शब्दका प्रयोग करना अनिवार्य है। किसी शब्दसे अनेकान्त कहा जाय, तभी तो स्यात् निपात उसका द्योतन कर सकेगा।

स्यादिति निपातोऽयमनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु वर्तते, तत्रैकार्थविवक्षा च स्यादनेकान्तार्थस्य वाचको गृह्यते इत्येके। तेषां शब्दान्तरप्रयोगोऽनर्थकः स्याच्छब्देनैवानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रतिपादितत्वादित्यपरे, तेऽपि यद्यनेकान्तविशेषस्य वाचके स्याच्छब्दे प्रयुक्ते शब्दान्तरप्रयोगमनर्थकमाचक्षते तदा न निवार्यन्ते, शब्दान्तरत्वस्य स्याच्छब्देन कृतत्वात्। अनेकान्तसामान्यस्य तु वाचके तस्मिन् प्रयुक्ते जीवादिशब्दान्तरप्रयोगो नानर्थकस्तस्य तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात् कस्यचित्सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यो वृक्षशब्दाद्वृक्षत्वसामान्योपादानेऽपि धवादितद्विशेषार्थितया धवादिशब्दविशेषवदिति वचनात्।

स्यात् यह तिङंत प्रतिरूपक निपात अनेकान्त यानी अनेक धर्म और विधि अर्थात् प्रेरणा करना या कार्योंमें प्रवृत्ति कराना तथा विचार करना और विधा आदि बहुतसे अर्थोंमें वर्त रहा है। तिन अनेक अर्थोंमें एक अर्थकी विवक्षा होगी। अतः स्यात् शब्द अनेक अर्थका वाचक ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कोई एक वादी कह रहे हैं। उनके यहां अन्य शब्दोंका प्रयोग करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि अकेले स्यात् शब्द करके ही अनेक धर्मस्वरूप पूर्ण वस्तुका प्रतिपादन हो चुका है। इस प्रकार कोई दूसरे वादी एकेके आक्षेपका समाधान कर रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वे दूसरे भी विशेषरूपसे अनेकान्तको कहनेवाले स्यात् शब्दके प्रयोग करनेपर यदि दूसरे शब्दके बोलनेको व्यर्थ कह रहे हैं, तब तो हम उनको नहीं रोकते हैं। क्योंकि दूसरे शब्दके द्वारा होने योग्य प्रयोजनको स्यात् शब्दने ही साध दिया है। ऐसी दशामें दूसरे शब्दका प्रयोग करना अवश्य ही व्यर्थ है। किन्तु सामान्यरूपसे अनेकान्तके वाचक उस स्यात् शब्दके प्रयोग करनेपर तो दूसरे जीव, अस्ति, आदि शब्दोंका प्रयोग करना व्यर्थ नहीं है। क्योंकि वह विशेषरूपसे प्रतिपत्ति करनेके लिये है। किसी भी पदार्थका सामान्यरूपसे कथन किये जानेपर भी विशेष अर्थकी प्राप्तिको चाहनेवाले पुरुष करके विशेषका पीछे अवश्य प्रयोग करना चाहिये। देखो! सामान्यवाची वृक्ष शब्दसे वृक्षपन सामान्यका ग्रहण होनेपर भी उस वृक्षके विशेष धव, खैर, पपिल आदिकी अभिलाषुकतासे जैसे धव आदि विशेष शब्दोंका प्रयोग करना आवश्यक कहा गया है, इसी प्रकार प्रकरणमें स्यात्के साथ उद्योतक विशेष पदोंका उच्चारण करना अवश्यंभावी है।

भवतु नाम द्योतको वाचकश्च स्याच्छब्दोऽनेकान्तस्य तु प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चाऽश्रूयमाणः समये लोके च कुतस्तथा प्रतीयत इत्याहः—

स्यात् यह शब्द अनेकान्तका द्योतक हो जाओ! अथवा भले ही वाचक हो जाओ! हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु शास्त्रमें और लोकमें प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्यके साथ जुडा हुआ तो नहीं सुना जा रहा है। हजारों पद या वाक्य तो एव या स्यात् शब्द लगाये विना बोले, सुने, जा रहे हैं। फिर तैसा होनेपर वह स्यात् शब्द कैसे तिस प्रकारका प्रतीत होगा? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
तथैवकारो योगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ ५६ ॥

वह स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्य या पदमें नहीं बोला गया भी होता हुआ सभी स्थलोंपर स्याद्वादको जाननेवाले पुरुषों करके प्रकरण आदिकी सामर्थ्यसे प्रतीत कर लिया जाता है । जैसे कि अयोग अन्ययोग और अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करना है प्रयोजन जिसका, ऐसा एवकार विना कहे हुए भी प्रकरणवश समझ लिया जाता है ।

यथा चैत्रो धनुर्धरः पार्थो धनुर्धरः नीलं सरोजं भवतीत्यत्रायोगस्यान्ययोगस्यात्यन्तायोगस्य च व्यवच्छेदायाप्रयुक्तोप्येवकारः प्रकरणविशेषसामर्थ्यात् तद्विद्भिरवगम्यते, तस्यान्यत्र विशेषणेन, विशेष्येण, क्रियया, च सह प्रयुक्तस्य तत्फलत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । तथा सर्वत्र स्यात्कारोऽपि सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वव्यवस्थापनसामर्थ्यादेकान्तव्यवच्छेदाय किं न प्रतीयते। न हि कश्चित्पदार्थो वाक्यार्थो वा सर्वथैकान्तात्मकोऽस्ति । प्रतीतिविरोधात्। कथञ्चिदेकान्तात्मकस्तु सुनयापेक्षोऽनेकान्तात्मक एव ततो युक्तः प्रमाणवाक्ये नयवाक्ये च सप्तविकल्पे स्यात्कारस्तदर्थं शब्दान्तरं वा श्रूयमाणं गम्यमानं वावधारणवत् ।

जैसे " चैत्रो धनुर्धरः " विद्यार्थी चैत्र धनुषको धारण कर रहा है । इस वाक्यमें चैत्र धनुषको ही धारण करता है, या धनुषधारी ही है । इस प्रकार धनुषके अयोगका व्यवच्छेद करनेवाला एवकार विशेष प्रकरणकी सामर्थ्यसे जान लिया जाता है । अर्थात् चैत्रो धनुर्धर एव, चित्राका पुत्र चैत्र धनुषको ही धारण कर रहा है । खड्ग बन्दूक आदिको नहीं। यह अयोग व्यवच्छेद तो विधेय या विशेषणके साथ लगे हुए एवकारसे हुआ। तथा " पार्थो धनुर्धरः " अर्जुन धनुषका धारी है । इस वाक्यमें एव नहीं लगाया गया है । फिर भी अर्जुन ही धनुषका धारी है । इस प्रकार अन्य व्यक्तियोंमें धनुषधारीपनके योगका व्यवच्छेद करनेवाला एवकार प्रकरणके अनुसार लग जाता है । अर्थात् पार्थ एव धनुर्धरः, अनेक योद्धाओंके मध्यमें अर्जुन वीर ही धनुषको धारण किये हुए है, अन्य भट नहीं । इस प्रकार विशेष्य या उद्देश्यके साथ लगे हुए एवकारसे अन्ययोगकी व्यावृत्ति हुयी । और तीसरा " नीलं सरोजं भवति " नीला कमल होता है । इस वाक्यमें नील कमल होता ही है । इस प्रकार कमलमें नीलेपनेके अत्यन्त अयोगको व्यवच्छेद करनेवाला एवकार प्रकरणसे जान लिया जाता है । भावार्थ—नीलं सरोजं भवत्येव इस वाक्यमें क्रियाके साथ एव लगाकर नील कमलके सर्वथा न होनेकी व्यावृत्ति की गयी है । अतः नहीं बोले गये भी तीनों एवकार प्रकरणके अनुसार जैसे विद्वान् पुरुषों करके उन तीनोंके व्यवच्छेदके लिये अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे जान लिये जाते हैं। क्योंकि अन्यस्थलोंपर विशेषण और विशेष्य तथा क्रियाके साथ प्रयुक्त किये गये उस एवकारका उन अयोग व्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद, और अत्यन्तायोगव्यवच्छेदरूप फलपने करके सम्बन्ध

(व्याप्ति) जाना जा चुका है। तिसी प्रकार सभी स्थलोंपर नहीं बोला गया भी स्यात्कार सभी पदार्थोंके अनेकान्तात्मकपनेकी व्यवस्था करा चुकनेकी सामर्थ्यसे एकान्तके व्यवच्छेद करनेके लिये क्यों नहीं प्रतीत हो जायगा ? अर्थात् एवके समान स्यात्कार भी बोलो चाहे न बोलो ! प्रतीत हो ही जाता है। संसारमें कोई भी पदका अर्थ अथवा वाक्यका अर्थ ऐसा नहीं है, जो सभी प्रकारोंसे एकान्तस्वरूप ही होवे। क्योंकि सर्वथा एकान्त माननेपर लोकमें आबाल वृद्ध प्रसिद्ध हो रही प्रमाण-सिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध आवेगा। हां ! सुनयोंकी अपेक्षासे अर्पित किया हुआ [illegible] स्वरूप पदार्थ या वाक्यार्थ तो अनेकान्तस्वरूप ही है। क्योंकि सुनय अन्य धर्मोकी अपेक्षा रखती हैं, तिस कारण अस्ति, नास्ति आदि सात भेदवाले प्रमाणबोधक वाक्य और नयवाक्यमें स्यात् यह शब्द लगाना युक्त है। अथवा उस स्यात् शब्दके लिये दूसरा कोई कथञ्चित् आदि शब्द चाहे वह कण्ठोक्त कहा गया या सुना जा चुका हो अथवा अर्थापत्तिसे अनुमान द्वारा समझ लिया गया हो। अवधारण करनेवाले एवकारके समान वह प्रत्येक पद और वाक्यमें जोड देना चाहिये।

किं पुनः प्रमाणवाक्यं किं वा नयवाक्यम् ? सकलादेशः प्रमाणवाक्यं विकलादेशो नयवाक्यमित्युक्तम्। कः पुनः सकलादेशः को वा विकलादेशः ? अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनं सकलादेशः, एकधर्मात्मकवस्तुकथनं विकलादेश इत्येके, तेषां सप्तविध-प्रश्नवशात्सप्तविधवाक्यविरोधः। सत्त्वासत्त्वावक्तव्यवचनानामेकैक धर्मात्मजीवादिवस्तुप्रतिपादनप-रायणानां सर्वदा विकलादेशत्वेन नयवाक्यतानुषंगात् क्रमार्पितोभयसदवक्तव्यासदवक्तव्यो-भयावक्तव्यवचनानां वानेकधर्मात्मकवस्तुप्रकाशिनां सदा सकलादेशत्वेन प्रमाणवाक्यता-पत्तेः। न च त्रीण्येव नयवाक्यानि चत्वार्येव प्रमाणवाक्यानीति युक्तं सिद्धान्तविरोधात्।

फिर आप स्याद्वादी यह बतलाओ ! कि प्रमाणवाक्य क्या है ? और आपके यहां नयवाक्य क्या है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कथन करनेवाला सकलादेश तो प्रमाणवाक्य है और वस्तुके विकल होरहे थोडे अंशको कहनेवाला विकलादेश नयवाक्य है। इस बातको पहिले भी हम कह चुके हैं। अब फिर प्रश्न है कि वह सकलादेश क्या है ? और विकलादेश क्या है ? बताओ ! इसके उत्तरमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तुका निरूपण करना सकलादेश है और एक धर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण करना विकलादेश है। इस पर आचार्य कहते हैं कि उनके यहां सात प्रकारके प्रमाणवाक्य और सात प्रकारके नयवाक्य बोलनेका विरोध हो जायगा। सात भंगोंमेंसे सत्त्व, असत्त्व, और अवक्तव्य इन अकेले अकेले तीन वचनोंको विकलादेशी हो जानेके कारण नयवाक्यपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि ये तीन वचन एक एक धर्मस्वरूप जीव आदि वस्तुके प्रतिपादन करनेमें सदा तत्पर हो रहे हैं। स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार प्रमाण सप्तभंगीमें इन तीनको भी प्रमाणवाक्यपना सिद्ध है। अतः

सकलादेशके लक्षणमें अव्याप्तिदोष हुआ। तथा सात भंगोंमेंसे क्रमसे विवक्षित किया गया उभय, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्त्यनास्त्यवक्तव्य ये चार वाक्य सदा ही अनेक धर्मस्वरूप वस्तुके प्रकाशक हैं। अतः सकलका आदेश करनेवाले होनेके कारण प्रमाणवाक्य बन बैठेंगे। नयवाक्य नहीं हो सकेंगे। जैनसिद्धान्तके अनुसार उक्त पिछले चार वाक्योंको भी नयवाक्य माना गया है। अतः विकलादेशके लक्षणकी अव्याप्ति हुयी। लक्षणकी सम्पूर्ण लक्ष्यमें गति न हुयी और अलक्ष्यमें चले जानेसे अतिव्याप्ति होना भी सम्भव है। अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन ही नयवाक्य हैं तथा उभय, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्त्यनास्त्यवक्तव्य ये चार ही प्रमाणवाक्य हैं। यह नियम करना तो युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि ऐसा नियम करनेपर सिद्धान्तसे विरोध होता है। सिद्धान्तमें सातोंको नयवाक्य और सातोंको प्रमाणवाक्य भी सिद्ध किया है। अतः सकलादेश विकलादेशका पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है।

धर्मिमात्रवचनं सकलादेशः धर्ममात्रकथनं तु विकलादेश इत्यप्यसारं, सत्त्वाद्यन्यतमेनापि धर्मेणाविशेषितस्य धर्मिणो वचनासम्भवात्। धर्ममात्रस्य कचिद्धर्मिण्यवर्तमानस्य वक्तुमशक्तेः। स्याज्जीव एव स्यादस्त्येवेति धर्मिमात्रस्य च धर्ममात्रस्य वचनं संभवत्येवेति चेत् न, जीवशब्देन जीवत्वधर्मात्मकस्य जीववस्तुनः कथनादस्ति शब्देन चास्तित्वस्य कचिद्विशेष्ये विशेषणतया प्रतीयमानस्याभिधानात्। द्रव्यशब्दस्य भावशब्दस्य चैवं विभागाभाव इति चेन्न, तद्विभागस्य नामादिसूत्रे प्ररूपित्वात्। येऽपि पाचकोऽयं पाचकत्वमस्येति द्रव्यभावभिधायिनोः शब्दयोर्विभागमाहुस्तेषामपि न पाचकत्वधर्मादविशेष्यः पाचकशब्दाभिधेयोऽर्थः सम्भवति, नापि पाचकानाश्रितः पाचकत्वधर्म इत्यलं विवादेन।

केवल धर्मीको कथन करनेवाला वाक्य सकलादेश है और केवल धर्मको कथन करना तो विकलादेश है, इस प्रकार लक्षण करना भी साररहित है। क्योंकि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि अनेक धर्मोंमेंसे एक भी किसी धर्मसे नहीं विशिष्ट किये गये कोरे धर्मीका कथन करना असम्भव है अर्थात् सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध धर्मीका निरूपण हो नहीं सकता है। किसी न किसी धर्मसे युक्त ही धर्मीका कथन किया जा सकता है। धर्मवालेको ही धर्मी कहते हैं। अतः सकलादेशके इस लक्षणमें असम्भव दोष आया। इसी प्रकार किसी भी धर्मीमें नहीं वर्तते हुए केवल शुद्ध धर्मका भी निरूपण नहीं किया जा सकता है। धर्मीमें रहनेवाला ही धर्म कहा जा सकता है। अतः विकलादेशका लक्षण भी असंभवदोषसे ग्रस्त है। यहां कोई कटाक्ष करते हैं कि कथञ्चित् जीव ही है। इस प्रकार केवल जीवद्रव्यरूप धर्मीको कहनेवाला वचन विद्यमान है और कथञ्चित् है ही, ऐसे केवल अस्तित्व धर्मको कहनेवाला वाक्य भी सम्भवता है। फिर आप जैन केवल धर्मीके प्रतिपादक वाक्य और केवल धर्मप्रतिपादक वाक्यका निषेध कैसे करते हो? आचार्य कहते हैं कि यह तो

नहीं कहना। क्योंकि धर्मी वाचक जीव शद्ब करके प्राणधारणरूप जीवत्व धर्मसे तदात्मक होरही जीव वस्तु कथन की गयी है। केवल धर्मीका ही कथन नहीं। और धर्मवाचक अस्ति शद्ब करके किसी विशेष्यमें विशेषण होकर प्रतीत किये जारहे ही अस्तित्वका निरूपण किया गया है। कोरे अस्तित्वधर्मका नहीं। पुनः यदि कोई यों कहे कि इस ढंगसे तो द्रव्यवाचक शद्ब और भाववाचक शद्बोंका विभाग न हो सकेगा। क्योंकि आप जैनोंके वर्तमान कथनके अनुसार सभी द्रव्योंके साथ साथ भाव भी कहे जाते हैं और भाव भी द्रव्यमें तदात्मक होते हुए ही बोले जाते हैं। आचार्य कहते हैं सो यह तो न कहना। क्योंकि द्रव्यशद्ब और भावशद्बके विभागको " नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः " इस सूत्रके भाष्यमें निरूपण कर चुके हैं। भावकी उपाधिसे युक्त द्रव्यकी प्रधानतासे बोले गये शद्ब द्रव्यशद्ब हैं और द्रव्यमें विशेषण हो रहे भावकी प्रधानतासे कहे गये भावशद्ब हैं। इसका विशेष ऊहापोह नाम आदि सूत्रमें देख लेना। जो भी कोई विद्वान् द्रव्यवाचक शद्ब और भाववाचक शद्बोंके विभागको इस प्रकार कहते हैं कि यह पाचक है। यहां पाचक (रसोइया) शद्ब विशेष जीव द्रव्यका वाचक है। क्योंकि नैयायिकोंके यहां प्रथमान्त शद्बको मुख्य रूपसे विशेष्य बनाकर शाद्बबोध होता है। पाचक द्रव्य प्रथमान्त होकर मुख्य विशेष्य है तथा इस मनुष्यको (का) पाचकपना है। यहां मनुष्य तो गौण हो जाता है और प्रथमान्त होनेके कारण पाचकपना धर्म प्रधान हो जाता है। अतः पाचक शद्ब द्रव्यवाचक है और पाचकत्व शद्ब भाववाचक है, इस प्रकार जो नैयायिक कह रहे हैं, उनके यहां भी पाचकत्व धर्मसे नहीं विशिष्ट होता हुआ केवल पाचक अर्थ तो पाचकशद्बका वाच्य हो ही नहीं सकता है और पाचकरूप आधारमें नहीं आश्रित होता हुआ कोरा पाचकत्व धर्म भी कोई पदार्थ नहीं है। अलीक है। अर्थात् पाचक द्रव्यमें पाचकत्वभाव घुसा हुआ कहा जा रहा है। और पाचकद्रव्य तो पाचकत्वके साथ तदात्मक होरहा बोला जा रहा है। द्रव्य और भावके सर्वथा भेदका खण्डन किया जा चुका है। इस प्रकरणमें विवाद करनेसे अब कुछ साध्य नहीं है। न्याययुक्त बातको स्वीकार कर लेना चाहिये।

सदादिवाक्यं सप्तविधमपि प्रत्येकं विकलादेशः समुदितं सकलादेश इत्यन्ये, तेऽपि न युक्त्यागमकुशलास्तथा युक्त्यागमयोरभावात्। सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसंगात्। न हि सदादिवाक्यसप्तकं समुदितं सकलार्थप्रतिपादकं सकलश्रुतस्यैव तथाभावप्रसिद्धेः। एतेन सकलार्थप्रतिपादकत्वात् सप्तभंगीवाक्यं सकलादेश इति युक्तिरसमीचीनोक्ता, हेतोरसिद्धत्वात्। सदादिवाक्यसप्तकमेव सकलश्रुतं नान्यत्तद्व्यतिरिक्तस्याभावात्। अतो न हेतोरसिद्धिरिति चेन्न, एकानेकादिसप्तभंगात्मनो वाक्यस्याश्रुतत्वप्रसंगात्, सकलश्रुतार्थस्य सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्येनैव प्रकाशनात् तस्य प्रकाशितप्रकाशनतयानर्थकत्वात्। तेन सत्त्वादिधर्मसप्तकस्यैव प्रतिपादनादेकत्वादिधर्मसप्तकस्य चैकानेकादिसप्तविशेषात्मकवाक्येन

कथनात् न तस्यानर्थक्यादश्रुतत्वप्रसंग इति चेन्न, तस्य सकलादेशत्वाभावापत्तेरनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽप्रतिपादनात् ।

अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोको कहनेवाले सातों भी वाक्य यदि प्रत्येक अकेले बोले जांय, तब तो विकलादेश है। और सातों भी इकट्ठे समुदित कहे जांय तो सकलादेश है। इस प्रकार दूसरे अन्य वादी कह रहे हैं। वे वादी भी युक्ति और शास्त्रमार्गमें प्रवीण नहीं हैं। क्योंकि तिस प्रकार करके आपके कहे गये अनुसार युक्ति और आगम दोनोंका अभाव है। देखिये ! सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक न होनेके कारण प्रत्येक बोला गया अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मको कहनेवाला वाक्य विकलादेश है। इस प्रकारकी युक्ति अच्छी नहीं है। क्योंकि यों तो उन सातों वाक्योंके समुदायको भी विकलादेशपनका प्रसंग होगा। अस्तित्व आदि सातों वाक्य भी समुदित होकर सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक नहीं हैं। सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र ही वस्तुके सम्पूर्ण अंशोको तिस प्रकार प्रतिपादन करनेवाला प्रसिद्ध हो रहा है। अतः विकलादेशके लक्षणकी अतिव्याप्ति हुई। इस कथनसे सातों भंगोंका समुदायरूप वाक्य (पक्ष) सकलादेश है (साध्य)। संपूर्ण अर्थका प्रतिपादक करानेवाला होनेसे (हेतु) यह युक्ति भी अच्छी नहीं है, ऐसा कह दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि हेतुको असिद्धपना है। अर्थात् केवल सप्तभंगी वाक्यमें ही संपूर्ण अर्थका प्रतिपादकपना नहीं है, यदि यहां कोई यों कहे कि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि सात वाक्योंका समुदाय ही तो संपूर्ण श्रुतज्ञान है। उससे अन्य कोई न्यारा शास्त्र नहीं है। क्योंकि अस्तित्व, आदि सातसे भिन्न कोई वस्त्वंश शेष नहीं बचता है। इस कारण हेतु असिद्ध नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब तो एक अनेक, नित्य अनित्य, वक्तव्य अवक्तव्य, आदि धर्मोके सप्तभंगस्वरूप वाक्योंको अश्रुतपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रके अर्थका अस्तित्व, आदि सात प्रकार स्वरूप वाक्य करके ही प्रकाशन कर दिया जा चुका है। तब उस एक अनेक, आदि सप्तभंग स्वरूप वाक्यको प्रकाशित किये जा चुके पदार्थका प्रकाशक होनेके कारण व्यर्थपना प्राप्त होता है। यानी अस्तित्व आदि सात वाक्योंने जिस अर्थको पहिले प्रकाशित कर दिया है, उसीका दुबारा प्रकाश एक अनेक आदि सप्तभंगी वाक्यने किया है। यदि कोई यों कहे कि तिस अस्तित्व आदि सप्तभंगीके प्रतिपादक वाक्यने तो अस्तित्व आदि सात धर्मोका ही निरूपण किया है और एकत्व अनेकत्व, आदि सात धर्मोका तो एक, अनेक, उभय, आदि विशेषरूप सात वाक्यों करके निरूपण किया गया है। अतः व्यर्थ होनेके कारण उस एकत्व आदि सात भंगी वाक्यको श्रुत रहितपनेका प्रसंग नहीं है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तब तो उस सत् आदि सप्तभंग वाक्यको सकलादेशपनके अभावकी आपत्ति हो जायगी। कारण कि अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण उससे नहीं हो पाया। केवल अस्तित्व नास्तित्वका ही कथन किया गया। शेष अनन्त धर्मोका कथन तो एक, नित्य, तत्, आदिकी सप्तभंगीसे हो सकेगा।

यदि पुनरस्तित्वादिधर्मसप्तकमुखेनाशेषानन्तसप्तभंगीविषयानन्तधर्मसप्तकस्वभावस्य वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्त्याभेदोपचारेण प्रकाशनात्सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्यस्य सकलादेशत्वसिद्धिस्तदा स्यादस्त्येव जीवादिवस्त्वित्यस्य सकलादेशत्वमस्तु । विवक्षितास्तित्वमुखेन शेषानन्तधर्मात्मनो वस्तुनस्तथावृत्त्या कथनात् । स्यान्नास्त्येवेत्यस्य च नास्तित्वमुखेन, स्यादवक्तव्यमेवेत्यस्यावक्तव्यत्वमुखेन, स्यादुभयमेवेत्यस्य च क्रमार्पितोभयात्मकत्वमुखेन, स्यादस्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य चास्त्यवक्तव्यमुखेन, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य च नास्त्यवक्तव्यत्वमुखेन स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यस्य चोभयावक्तव्यत्वमुखेनेति प्रत्येकं सप्तानामपि वाक्यानां कुतो विकलादेशत्वम् ?

यदि फिर किसीका यह विचार हो कि अस्तित्व आदि सातों धर्मकी प्रमुखतासे शेष बचे हुए अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त संख्यावाले सातों धर्मस्वरूप वस्तुका काल, आत्मरूप, आदि द्वारा अभेदवृत्ति या भेदउपचार करके प्ररूपण होता है । इस कारण अस्तित्व, नास्तित्व, आदि सप्तभेद स्वरूप वाक्यको सकलादेशपना सिद्ध हो जाता है । ऐसा विचार होनेपर हम कहेंगे कि तब तो " स्यात् अस्ति एव जीवादि वस्तु " किसी अपेक्षासे जीवादि वस्तु है ही । इस प्रकार इस एक भंगको सकलादेशपन हो जाओ ! क्योंकि विवक्षा किये गये एक अस्तित्व धर्मकी प्रधानता करके शेष बचे हुए अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका तिस प्रकार अभेदवृत्ति या अभेद उपचारसे कथन कर ही दिया गया है और " स्यातन्नास्ति एव " इस अकेले वाक्यको भी सकलादेशपन हो जाओ । यहां नास्तित्वके मुखकर पूर्णांग वस्तुका कथन कर दिया है । तीसरा भंग कथञ्चित् अवक्तव्य ही है । यहां अवक्तव्यको मुख्यकर सर्वांग वस्तुका प्ररूपण किया है । चौथे " स्यात् उभय " ही है । इस वाक्यको क्रमसे विवक्षित किये गये उभयस्वरूपपन धर्मकी मुख्यतासे सकलादेशपन हो जाओ । एवं स्यात् (कथंचित्) अस्ति होकर अवक्तव्य ही है । इस पांचवें अकेले भंगको ही अस्ति अवक्तव्यपन मुख करके सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादकपन होनेका कारण सकलादेशत्व हो जाओ । और छठे " कथञ्चित् नास्ति होकर अवक्तव्य ही है । " ऐसे इस वाक्यको नास्त्यवक्तव्यपन धर्मकी प्रमुखतासे पूरे वस्तुका निरूपकपना है । अतः यह अकेला छठा वाक्य सकलादेश बन बैठो । तथा कथञ्चित् अस्ति नास्तिका उभय होकर अवक्तव्य ही है । इस सातवें भंगको उभयावक्तव्यपन धर्मकी प्रमुखतासे सर्वांग वस्तुका कथकड होनेके कारण सकलादेश वाक्यपन प्राप्त हो जायगा । इस प्रकार प्रत्येक प्रत्येक सातों भी वाक्योंको क्यों विकलादेशपन है ? अकेले अकेले भी ये वाक्य अभेदरूपसे जब पूर्ण वस्तुको प्रतिपादन कर रहे हैं, तब तो आपके विचारानुसार सकलादेश कहे जाने चाहिये ।

प्रथमेनैव वाक्येन सकलस्य वस्तुनः कथनात् द्वितीयादीनामफलत्वमिति चेत्, तदाप्येकसप्तभंग्या सकलस्य वस्तुनः प्रतिपादनात् परासां सप्तभंगीनामफलत्वं किं न भवेत् ?

प्रधानभावेन स्वविषयधर्मसप्तकस्वभावस्यैवार्थस्यैकया सप्तभंग्या प्रकथनात्, स्वगोचरधर्मसप्तकान्तराणामपराभिः सप्तभंगीभिः कथनान्न तासामफलत्वमिति चेत्, तर्हि प्रथमेन वाक्येन स्वविषयैकधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रधानभावेन कथनात् द्वितीयादिभिः स्वगोचरैकधर्मात्मकस्य प्रकाशनात् कुतस्तेषामफलता ?

पहिले ही " स्यात् अस्ति एव " इस वाक्य करके जब सम्पूर्ण वस्तुका कथन किया जा चुका है तो दूसरे आदि छह वाक्य निष्फल हैं। इस प्रकार यदि कहोगे तो भी एक सप्तभंगी करके ही सम्पूर्ण वस्तुका निरूपण हो जाता है। ऐसी दशामें अन्य सप्तभंगियोंका कथन करना निष्फल क्यों न होगा ? इसपर कोई यदि यों कहे कि अपने अपने विषयभूत सातों धर्मस्वरूप अर्थका प्रधानरूपसे एक सप्तभंगी करके मुख्य कथन किया जाता है और अपने विषय दूसरे दूसरे सात धर्मोंका न्यारी न्यारी अन्य सप्तभंगियों करके कथन किया जाता है। अतः उन अनेक सप्तभंगियोंका व्यर्थपन नहीं है। वे अपने अपने नियत धर्मोंको मुख्यरूपसे कथन करनेकी अपेक्षासे सफल हैं। ऐसा कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि ठीक है, पहिले वाक्य करके अपने विषय एक धर्मस्वरूप वस्तुका प्रधानरूपसे निरूपण किया गया है और दूसरे तीसरे आदि वाक्योंने मुख्यतासे अपने अपने विषय एक एक धर्मस्वरूप वस्तुका कथन किया है। अतः तिन छह वाक्योंको भी निष्फलता कैसे हुयी ? वे भी तो अपने एक एक विषयको प्रधानरूपसे कह रहे हैं। न्याय एकसा होना चाहिये।

कथं पुनरर्थस्यैकधर्मात्मकत्वं प्रधानं तथा शब्देनोपात्तत्वात् शेषानन्तधर्मात्मकत्वमप्येवं प्रधानमस्त्विति चेन्न, तस्यैकतो वाक्यादश्रूयमाणत्वात्। कथं ततस्तस्य प्रतिपत्तिः अभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वा गम्यमानत्वात्।

आचार्य महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि फिर यह तो बताओ कि अनन्तधर्मस्वरूप अर्थका एक धर्मात्मकपना ही प्रधानस्वरूप कैसे है ? उस धर्मके सहोदरपन सम्बन्धसे अन्य अनेक धर्म भी तो प्रधान हो सकते हैं। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि हम क्या करें ? तिस प्रकार एक शब्द करके एकधर्मस्वरूप वस्तुका ही प्रधानरूपसे ग्रहण होता है। इसपर प्रश्नकर्त्ता यदि यों कहे कि इस प्रकार तो बचे हुए अनन्त धर्मोंसे तदात्मकपना भी वस्तुका प्रधानरूपसे कहा जाओ। आचार्य कहते हैं कि सो कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका पूर्णअंगरूपसे एक वाक्यके द्वारा कहकर सुनाया जाना नहीं हो सकता है। भावार्थ—द्रव्य कहनेपर केवल द्रव्यत्व गुणका निरूपण होता है। वस्तु कहनेसे वस्तुत्वका, सत् कहनेसे अकेले अस्तित्व गुणका और प्रमेय कहनेसे केवल प्रमेयत्व गुणका ही श्रोता द्वारा ज्ञान किया जाता है। फिर प्रश्नकर्त्ता पूंछता है कि तिस एक ही धर्मके प्रतिपादक शब्दसे भला उस सर्वांग वस्तुकी प्रतीति कैसे होगी ? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि अभेदवृत्ति या अभेद उपचार करके पूर्ण वस्तु जान

ली जाती है। भावार्थ—शद्वके द्वारा तो वस्तुका एक अंग ही सुना जायगा, किन्तु अनुक्त मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा पूर्ण वस्तु समझ ली जाती है। वस्तुको पूर्णरूपसे कहनेकी शद्वमें सामर्थ्य नहीं है। किन्तु एक शद्वसे अपने क्षयोपशमके अनुसार अनेक धर्मोंको श्रोता समझ लेता है। तभी तो एक वक्ताके उपदेशको सुनकर श्रोताओंके ज्ञानमें तारतम्य देखा गया है। एक गुरुके पढाये हुए अनेक छात्रोंकी व्युत्पत्तिमें न्यूनता अधिकता देखी जाती है। एक छोटासा बालक या बधिरमनुष्य भी अपरिमित अर्थको जान रहा है। विचारा शद्व इतने अर्थको कहांसे कह सकता है। किन्तु अभेदवृत्तिके अनुसार हुए मतिज्ञान और अभेद उपचार कर हुये श्रुतज्ञान तो आश्चर्यजनक व्युत्पत्तिको बढा देते हैं। वाच्य वाचकोंके इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे हम अपनेको बडा भाग्यशाली समझते हैं।

तर्हि श्रूयमाणस्येव गम्यमानस्यापि वाक्यार्थत्वात् प्रधानत्वमन्यथा श्रूयमाणस्याप्यप्रधानत्वमिति चेन्न, अग्निर्माणवक इत्यादिवाक्यैक्यार्थेनानैकान्तात्। माणवकेऽग्नित्वाध्यारोपो हि तद्वाक्यार्थो भवति न च प्रधानमारोपितस्याग्नेरप्रधानत्वात्।

तब तो शद्व द्वारा सुने गये अर्थके समान व्युत्पत्तिके द्वारा जान लिये गये अनुक्त अर्थको भी वाक्यार्थपना प्राप्त है। अतः वह गम्यमान भी प्रधानरूपसे वाक्यका अर्थ हो जाओ। अन्यथा सुने गये अर्थको भी प्रधानपना न होय। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि "अग्निर्माणवकः" छोटा बालक अग्नि है। "गौर्वाहीकः" बोझा ढोनेवाला मनुष्य बैल है, इत्यादि वाक्योंके एक एक अर्थ करके व्यभिचार हो जायगा। चंचल बालकमें तेजस्विता होनेके कारण अग्निपनका अध्यारोप करना ही उस वाक्यका अर्थ होता है, किन्तु वह प्रधान अर्थ तो नहीं है। क्योंकि आरोपित अग्निको प्रधानपन प्राप्त नहीं है। अतः शद्वके द्वारा सुना गया अर्थ प्रधान होता है और शेष जान लिया गया अर्थ गौण होता है। बालक अग्नि है। यहां अग्नि शद्वका मुख्य अर्थ न लेकर चंचलता तेजस्विपन, उष्ण प्रकृति, आदि आरोपित अर्थ पकडे गये हैं।

तत्र तदारोपोऽपि प्रधानभूत एव तथा शद्वेन विवक्षितत्वादिति चेत्, कस्तर्हि गौणः शद्वार्थोऽस्तु न कश्चिदिति चेन्न, गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययवचनात्। घृतमायुरन्नं वै प्राणाः इति कारणे कार्योपचारं, मञ्चाः क्रोशन्ति इति तात्स्थात्तच्छद्वोपचारः साहचर्यात्यष्टिः पुरुष इति, सामीप्याद्वृक्षा ग्राम इति च गौणं शद्वार्थं व्यवहरन् स्वयमगौणः शद्वार्थः सर्वोऽपीति कथमातिष्ठेत ? न चेदुन्मत्तः।

तिस प्रकार शद्वके द्वारा विवक्षाको प्राप्त हो जानेके कारण उस बालकमें उस अग्निपनेका आरोप करना भी प्रधानभूत अर्थ है। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछेंगे कि शद्वका गौण अर्थ भला क्या होगा ? बताओ ! यदि तुम यों कहो कि शद्वका गौण अर्थ कुछ भी नहीं है। जो कुछ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शद्वसे अर्थ निकलता है वह प्रधान अर्थ ही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि शद्वशास्त्रियोंने गौण और मुख्य अर्थके विषयमें विवाद होनेपर मुख्य अर्थमें भले प्रकार ज्ञान होना परिभाषा द्वारा कहा है। इससे सिद्ध है कि गौण और मुख्य दोनों ही अर्थ शद्वके द्वारा कहे जाते हैं। निश्चय कर घृत ही आयु है। अन्न ही प्राण हैं। इन वाक्योंमें कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। अर्थात् घृतका सेवन करना आयुष्यका कारण है। जो मनुष्य घृतको खाते हैं वे अधिक वर्षोंतक जीवित रहते हैं। आयुका कारण घृत है। आयु उसका कार्य है। यह आयुके कारण घृतमें आयुष्ट्वरूप कार्यका आरोप है तथा प्राणोंके कारण अन्नमें प्राणपनेका आरोप है। अन्न खानेपर ही मनुष्यके प्राण स्थिर रहते हैं। एवं मचान (मैहरा) चिल्लाते हैं। खेतको रखानेवाले मैहरोंपर बैठकर पुकार रहे हैं, गारहे हैं, यहां तत्में रहनेवाले पुरुषोंकी तत्में कल्पना की गयी है। तत्रस्थ होनेके कारण तत्पना यह आधारका आधेयमें आरोप है। लठियावाले पुरुषको लाठिया कहना या गाडीवाले पुरुषको गाडी कहना यह सहचरपना होनेके कारण साथ रहनेवाली एक वस्तुका दूसरी साथ रहनेवाली वस्तुमें या तद्वान्में तत्का उपचार किया गया है। किसी पथिकने एक परिचित मनुष्यको पूंछा कि अमुक ग्राम कितनी दूर है। वह परिचित हाथका संकेत कर कहता है कि ये दीखते हुए वृक्ष ही ग्राम है। यहां ग्रामके अतिसमीप होनेके कारण वृक्षोंमें ग्रामपनेका उपचार है। इसी प्रकार बम्बईकी रेलगाडी आनेपर बम्बई आगयी और कलकत्तेकी ओर गाडी जानेपर कलकत्ता जा रहा है। यहां प्रतिमुख अभिमुखपनेसे तैसा शद्वव्यवहार कर लिया जाता है। बम्बईमें सिकरनेवाली हुण्डी बम्बई बेचोगे आदि कहना भी कारणवश उपचरितोपचार है। इस प्रकार शद्वके गौण अर्थका स्वयं व्यवहार करनेवाला वादीशद्वका अर्थ सभी प्रधान होता है। इस प्रकारकी कैसे व्यवस्था कर सकता है ? अर्थात् नहीं। और फिर भी बलात्कारसे शद्वका मुख्य ही अर्थ माने, गौण अर्थ न मानें, ऐसा वादी पागल क्यों न होगा। भावार्थ—व्याक्षिप्तजन ही ऐसे कुत्सित आग्रहोंको करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शद्वका प्रधान भी अर्थ होता है और गौण भी अर्थ अभीष्ट किया गया है। प्रत्युत उपचार किये गये या गौण किये गये स्थानपर जो मुख्य अर्थका प्रयोग करेगा तो वक्ताकी त्रुटि समझी जायगी। घृतसे आयुष्य बढती है। इसकी अपेक्षा घृत ही आयु है। यह वाक्य महत्त्वका है। ग्रामके अति निकट वृक्ष हैं, इस वाक्यसे ये वृक्ष ही तो ग्राम है, यह वाक्य प्रशस्त है।

गौण एव च शद्वार्थ इत्यप्ययुक्तं, मुख्याभावे तदनुपपत्तेः, कल्पनारोपितमपि हि सकलं शद्वार्थमाचक्षाणैरगोव्यावृत्तोऽर्थादर्थो बुद्धिनिर्भासी गोशद्वस्य मुख्योऽर्थस्ततोऽन्यो वाहीकादिर्गौण इत्यप्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा च गौणमुख्ययोर्वाक्यार्थयोः सर्वैः शद्वव्यवहारवादिभिरिष्टत्वान्न कस्यचित्तदपह्नवो युक्तोऽन्यत्र वचनानधिकृतेभ्यः।

दूसरे वादियोंका यह एकान्त है कि शद्वका अर्थ गौण ही है। मुख्य अर्थ कुछ भी नहीं है। शद्व वस्तुभूत अर्थको नहीं छूता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अयुक्त है। क्योंकि मुख्य न होनेपर वह गौणपना बन नहीं सकता है। मुख्य सिंहके होनेपर तो वीर पुरुषमें सिंहपना गौणरूपसे कल्पित कर लिया जाता है। संपूर्ण शद्वोंके कल्पनासे आरोपित किये गये भी अर्थको वाच्यार्थ कथन कर रहे बौद्धों करके यह तो अवश्य मान लेना चाहिये कि गौसे भिन्न महिष आदि अगौ करके पृथग्भूत हो रहा गो स्वलक्षणरूपी अर्थ जो कि परमार्थ रूपसे बुद्धिमें प्रतिभासित हो रहा है। वह तो गोशद्वका मुख्य अर्थ है और उससे भिन्न बोझा ढोनेवाला मनुष्य या मूर्ख छात्र आदिक गौण अर्थ हैं। और तिस प्रकार मानलेनेपर शद्वके द्वारा लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहार होनेको कहनेवाले सभी वादियों करके वाक्यके गौण तथा मुख्य दोनों अर्थ इष्ट हो जाते हैं। इस कारण किसीको भी गौण या मुख्य अर्थोंका अपह्नव करना समुचित नहीं है। हां! गूंगे, बहिरे, या छोटा बालक, उन्मत्त, आदि जो वचनको कहने सुननेके अधिकारी नहीं हैं, उनकी बात निराली है। शद्वके द्वारा व्यवहार करनेमें जो अधिकार प्राप्त नहीं हैं, ऐसे तुच्छ जीवोंके अतिरिक्त सभी प्रामाणिक वादियोंको शद्वके मुख्य गौण दोनों अर्थ अभीष्ट करने पडते हैं।

ननु यत्र शद्वादस्खलत्प्रत्ययः स मुख्यः शद्वार्थः श्रूयमाण इव गम्यमानेऽपि। यत्र तु स्खलत्प्रत्ययः स गौणोऽस्तु, ततो न श्रूयमाणत्वं मुख्यत्वेन व्याप्तं गौणत्वेन वा गम्यमानत्वं येन शद्वोपात्त एव धर्मो मुख्यः स्यादपरस्तु गौण इति चेन्न, अस्खलत्प्रत्ययस्यापि मुख्यत्वेन व्याप्त्यभावात् प्रकरणादिसिद्धस्यास्खलत्प्रत्ययस्यापि गौणत्वसिद्धेः प्रतिपत्रा बुभुत्सितं वस्तु यदा मुख्योर्थस्तदा तं प्रति प्रयुज्यमानेन शद्वेनोपात्तौ धर्मः प्रधानभावमनुभवतीति शेषानन्तधर्मेषु गुणभावसिद्धेः।

यहां शंका है कि पूर्वमें आप जैनोंने कहा था कि जो धर्म शद्वके द्वारा कहा जाकर सुना जाय, वह मुख्य है और अभेद रूपसे जान लिये गये शेषधर्म गौण अर्थ हैं। इसपर हमको यह कहना है कि जिस अर्थमें शद्वसे चलायमान रहित ज्ञान होय यानी शद्वको सुनकर जिस अर्थका संशय आदि रहित प्रामाणिक ज्ञान होय वह अर्थ शद्वका मुख्य वाच्यार्थ है। शद्वके द्वारा सुने गये अर्थके समान शद्वके द्वारा अभेदवृत्तिसे जान लिये गये अनुक्त गम्यमान अर्थमें भी यदि समीचीन ज्ञान हो रहा है तो वह भी मुख्य अर्थ ही माना जाय। हां! शद्वको सुनकर जिस अर्थमें चलायमान ज्ञान हो। अर्थात् कभी किसी अर्थका कभी किसी अन्य अर्थका ज्ञान होय तो वह अर्थ शद्वका गौण अर्थ मान लिया जाओ। तिस कारण आप जैनोंके कथनानुसार शद्वसे सुना गयापन मुख्यपनेके साथ व्याप्ति नहीं रखता है। और तैसे ही अभेद सम्बन्धसे जान लियापन या प्रकरण आदि द्वारा अर्थापत्तिसे आक्षिप्यमाणपन भी गौण अर्थपनेके साथ अविनाभाव नहीं रखता है, जिससे

कि शब्दके द्वारा साक्षात् वाच्य होकर ग्रहण किया गया ही धर्म मुख्य अर्थ कहा जाय और शेष दूसरे अर्थ गौण हो जावें। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि अविचलित ज्ञानपनेकी भी आपके कथनानुसार मुख्यअर्थपनेके साथ व्याप्ति नहीं बनती है। देखिये! प्रकरण, योग्यता, अवसर, आदिसे प्रसिद्ध कर लिये गये अविचलित ज्ञानके विषयको भी गौणपना सिद्ध हो रहा है। " गंगायां घोषः " यहां गौण अर्थ गंगातीरमें समीचीन प्रतिपत्ति होना सिद्ध है। समझनेवाले शिष्य करके जिज्ञासाको प्राप्त हो रही वस्तु जिस समय मुख्य अर्थ मानी गयी है, उस समय वक्ताके द्वारा उस शिष्यके प्रति बोले गये शब्द करके कहा गया धर्म ही प्रधानपनका अनुभव करता है। इस कारण उस धर्मसे शेष बचे हुए, अनन्तधर्मोंमें गौणअर्थपना सिद्ध है। यही हमने पूर्वमें कहा था। शाब्दबोधकी प्रक्रियामें लक्षणा, उपचार, तात्पर्य, संकेतग्रहण, आदिका लक्ष्य रखना आवश्यक है।

नन्वस्तु प्रथमद्वितीयवाक्याभ्यामेकैकधर्ममुख्येन शेषानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः कथञ्चिदभिहितप्रकाराश्रयणात्तृतीयादिवाक्यैस्तु कथं सत्त्वस्यैव वानंशशब्दस्य तेभ्योऽप्रतिपत्तेरिति चेन्न, तृतीयाद्वाक्याद् द्वाभ्यामात्मकाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां सहार्पिताभ्यां निष्पन्नैकस्यावक्तव्यत्वस्यानंशशब्दस्य प्रतीतेः। चतुर्थात्ताभ्यामेव क्रमार्पिताभ्यामुभयात्मकत्वस्य सांशस्य प्रत्ययात्। पञ्चमात्त्रिभिरात्मभिर्सांशस्यास्त्यवक्तव्यत्वस्य निर्ज्ञानात्, षष्ठाच्च त्रिभिरात्मभिर्सांशस्य नास्त्यवक्तव्यत्वस्यावगमात्। सप्तमाच्चतुर्भिरात्मभिस्सांशस्यास्तिनास्त्यवक्तव्यत्वस्याववोधात्।

यहां कोई शंका करते हैं कि हम आप जैनियोंके कहे गये प्रकारका कथञ्चित् आश्रय कर लेते हैं, यानी शब्दसे सुनागया अर्थ शब्दका प्रधान वाक्यार्थ है और जानलिये गये अनन्त धर्म गौण अर्थ हैं। ऐसा होनेपर भी पहिले अस्तित्व और दूसरे नास्तित्व इन दो वाक्योंसे तो एक एक धर्मकी मुख्यता करके बचे हुए अनन्त धर्मस्वरूप वस्तुकी प्रतीति किसी ढंगसे भले ही हो जाओ! किन्तु तीसरे चौथे आदि वाक्यों करके कैसे वस्तुकी प्रतिपत्ति हो सकेगी? क्योंकि निरंश शब्दके वाच्य केवल सत्त्वका ही अथवा अकेले असत्त्वका ही तिन वाक्यों करके ज्ञान नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तीसरे अवक्तव्य वाक्य करके साथ विवक्षित किये गये दो सत्त्व, असत्त्व, स्वरूप धर्मोंसे बनाये गये एक अवक्तव्यपनकी अंशरहित शब्दके द्वारा प्रतीति होती है। भावार्थ—पहिले और दूसरे भंगके समान तीसरा अवक्तव्य धर्म भी अकेला होकर निरंश है। अतः तीसरे अंशरहित अवक्तव्य शब्दका वाच्य हो जाता है। चौथे वाक्यसे क्रमसे विवक्षित किये गये उन सत्त्व, असत्त्व ही दो धर्मों करके उभयात्मक हो रही अस्ति नास्ति रूप दो अंशवाली वस्तुका ज्ञान होता है। तथा पांचमें सप्तभंगी वाक्यसे तीन धर्मस्वरूपों करके दो अंशवाले एक अस्ति अवक्तव्यपनका निर्णीत ज्ञान हो रहा है। तथा छठे वाक्यसे तीन स्वरूपों

करके दो अंशवाले नास्ति अवक्तव्यपनका भान हो रहा है। एवं सातवें वाक्यसे चार स्वरूपों करके तीन अंशवाले अस्तिनास्ति अवक्तव्यपनका समीचीन बोध हो रहा है। अतः सांश शब्दों करके सांश धर्मोंका निरूपण हो जाना शब्दकी सामर्थ्यसे बाहिर नहीं है। अर्थात् निरंश शब्दसे निरंश धर्मका और सांश शब्दसे सांश धर्मका ज्ञान हो जाता है। तिन सात धर्मोंमें तीन धर्म तो निरंश हैं शेष पिछले चार भंग अंश सहित हैं।

न च धर्मस्य सांशत्वेऽनेकस्वभावत्वे वा धर्मित्वप्रसंगः द्वित्वादिसंख्यायास्तथाभावेऽपि धर्मत्वदर्शनात्। निरंशैकस्वभावा द्वित्वादिसंख्येति चेन्न, द्वे द्रव्ये इति सांशानेकस्वभावता प्रतीतिविरोधात्। संख्येययोर्द्रव्ययोरनेकत्वात्तत्र तथा प्रतीतिरिति चेत्, कथमन्यत्रानेकत्वे तत्र तथाभावप्रत्ययोऽतिप्रसंगात्। समवायादिति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यादिति। संख्येयवत्कथञ्चित्तदभिन्नायाः संख्यायाः सांशत्वादनेकस्वभावत्वसिद्धेः। एवं स्वभावस्यानेकत्वे तद्वतो द्रव्यस्य कथञ्चित्तदभिन्नस्यैकत्वादेकांशत्वमवक्तव्यत्वस्य सिद्धमंशस्य चानेकत्वेप्येकधर्मत्वमस्त्यवक्तव्यत्वादेरविरुद्धं, तथा श्रुतज्ञानेऽवभासमानत्वात् तद्बाधकाभावाच्च।

यदि कोई यह प्रसंग देवे कि चौथे आदि धर्मोंको यदि अंशसहित अथवा अनेकात्मक माना जायगा तो वे धर्मी हो जायंगे। धर्म न बने रह सकेंगे धर्म या अंशोंसे सहित तो धर्मी होता है। आचार्य कहते हैं कि सो यह प्रसंग स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आता है। देखो! द्वित्व, त्रित्व, यानी दो, तीन आदि संख्याको तिस प्रकार अंशसहित और अनेक स्वभाववाली होते हुए भी धर्मपन देखा जाता है। द्वित्व संख्यामें दो अंश और त्रित्व संख्यामें तीन अंश अवश्य माने जायंगे। अन्यथा वह एक एक होकर दो तीनमें कैसे रह सकेगी? यहांपर कोई वैशेषिक यों कहे कि द्वित्व, त्रित्व, आदिक संख्या तो अंशोंसे रहित होती हुयी एक ही स्वभाववाली है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दो द्रव्य हैं। इस प्रकार द्वित्व संख्यामें अंश सहितपने और अनेक स्वभावसहितपनेकी प्रतीति हो रही है। तुम्हारे मन्तव्यका इस प्रतीतिसे विरोध हो जायगा। इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि संख्या करने योग्य दो द्रव्योंको अनेकपना होनेके कारण उस संख्यामें भी तिस प्रकार अनेकपनेकी उपचारसे प्रतीति हो जाती है। आधारके धर्म आधेयमें आ जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम कहेंगे कि दूसरे द्रव्योंमें अनेकपन होनेपर भी वैशेषिक मत अनुसार उससे सर्वथा भिन्न उस संख्यामें भला इस प्रकार अनेकपनका ज्ञान कैसे हो जायगा? यदि बलात्कारसे यह नियम माना जायगा तो अतिप्रसंग होगा। अर्थात् घट, पट, आदिकोंके अनेकपनेसे आकाशमें या सुदर्शनमेरुमें भी अनेकपन आजाना चाहिये। यदि समवाय सम्बन्धसे तैसी प्रतीति होनेका नियम माना जायगा तो बताओ! वह समवाय कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्धके अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? जब संख्या

और संख्यावाले संख्येयका तादात्म्य सम्बन्ध बन गया तो संख्येयके समान कथंचित् उससे अभिन्न संख्याको अंश सहितपना होनेके कारण अनेक स्वभावसहितपना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार स्वभावको अनेकपना होते हुए भी उस स्वभाववाले और कथंचित् उस स्वभावसे अभिन्न द्रव्यको एकपना होनेके कारण अवक्तव्यत्व धर्मको एक अंशपना सिद्ध हो जाता है और अंशके अनेकपना होते हुए भी अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्यपन, आदि धर्मोंको एक धर्मपना सिद्ध हो जाता है। कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—द्रव्य और अंश या स्वभावोंका अभेद होनेके कारण एक द्रव्यका एकपना अंशोंमें चला जाता है और अंशोंका अनेकपना एक द्रव्यमें आ जाता है। अतः यदि द्रव्य सांश अनेक स्वभाववान् है तो उसके अंश भी सांश और अनेक स्वभाववाले हो जाते हैं। वस्तु स्वभावमें हम क्या हस्तक्षेप कर सकते हैं ? तिस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानमें प्रतिभास रहा है और उसका कोई बाधक भी नहीं है।

त एतेऽस्तित्वादयो धर्मा जीवादिवस्तुनि १ सर्वसामान्येन २ तदभावेन च, ३ विशिष्टसामान्येन ४ तदभावेन, ५ विशिष्टसामान्येन ६ तदभावसामान्येन च, ७ विशिष्टसामान्येन ८ तद्विशेषणेन च, ९ सामान्यसामान्येन १० विशिष्टसामान्येन च ११ द्रव्यसामान्येन १२ गुणसामान्येन च १३ धर्मसमुदायेन १४ तद्व्यतिरेकेण च १५ धर्मसामान्यसम्बन्धेन १६ तदभावेन च १७ धर्मविशेषसम्बन्धेन १८ तदभावेन च निरूप्यन्ते।

ये प्रसिद्ध हो रहे अस्तित्व आदिक सातों धर्म तो जीव आदि वस्तुमें सबके सामान्यरूपसे और उस सर्व सामान्यके अभाव करके कहे जाते हैं (१) तथा विशिष्ट पदार्थके सामान्य करके और उसके अभाव करके कथन किये जाते हैं (२) एवं विशिष्टके सामान्य और उसके अभावके सामान्य करके कहे जाते हैं (३) तथा विशिष्टके सामान्य और उसके विशेषण करके दो भंग बनाये जाते हैं (४) एवं सामान्यके सामान्य और विशिष्टके सामान्य करके भंग गढे जाते हैं (५) इसी प्रकार द्रव्यके सामान्य और गुणके सामान्य करके (६) धर्मके समुदाय और उससे भिन्नपने करके (७) तथा धर्म सामान्यके सम्बन्ध करके और उसके अभाव करके ८ एवं धर्मको विशेषसम्बन्ध और उसके अभाव करके ९ दो दो भंगोंको बनाकर अनेक प्रकारसे सात भंग कहे जा रहे हैं।

तत्रार्थप्रकरणसंभवलिंगौचित्यदेशकालाभिप्रायगम्यः शब्दस्यार्थः इत्यर्थाद्यनाश्रयणेऽभिप्रायमात्रवशवर्तिना १ सर्वसामान्येन च वस्तुत्वेन जीवादिरस्त्येव २ तदभावेन चावस्तुत्वेन नास्त्येवेति निरूप्यते। तथा श्रुत्युपात्तेन ३ विशिष्टसामान्येन जीवादित्वेनास्ति तत्प्रतियोगिना ४ तदभावेनाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयम्। तेनैव ५ विशिष्टसामान्येनास्ति ६ तदभावसामान्येन वस्त्वन्तरात्मना सर्वेण सामान्येन नास्तीति च भंगद्वयं, तेनैव ७ विशिष्टसामान्येनास्ति ८ तद्विशेषणमुख्यत्वेन नास्तीति भंगद्वयं, ९ सामान्याविशेषितेन द्रव्यत्वेनास्ति १० विशिष्टसामान्येन प्रतियोगिनैवाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयं,

११ द्रव्यसामान्येनाविशेषितेनैवास्ति १२ गुणसामान्येन गुणत्वेन स एव नास्तीति च भंगद्वयं, धर्मसमुदायेन त्रिकालगोचरानन्तशक्तिज्ञानादिसमितिरूपेणास्ति १४ तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानेन रूपेण नास्तीति च भंगद्वयं, १५ धर्मसामान्यसम्बन्धेन यस्य कस्यचिद्धर्मस्याश्रयत्वेनास्ति १६ तदभावेन कस्यचिदपि धर्मस्यानाश्रयत्वेन नास्तीति च भंगद्वयं, १७ धर्मविशेषसम्बन्धेन नित्यत्वचेतनत्वाद्यन्यतमधर्मसम्बन्धित्वेनास्ति १८ तदभावेन तदसम्बन्धित्वेन नास्तीति च भंगद्वयमित्यनेकधा विधिप्रतिषेधकल्पनया सर्वत्र मूलभंगद्वयं निरूपणीयम् ।

उन ऊपरके नौ युगलोंमें प्रत्येकका स्पष्ट (खुलासा) इस प्रकार है कि प्रयोजन, प्रकरण, सम्भवपना, हेतु, उचितपना, देश, काल, और अभिप्रायोंसे जान लिया गया शब्दका वाच्यार्थ होता है । इस प्रकार अर्थ, प्रकरण, आदिका नहीं आश्रय करनेपर केवल अभिप्रायके अधीन वर्त्तने वाले और सबमें साधारणरूपसे पाया जाय ऐसे वस्तुमें शब्दके जीव आदिक पदार्थ हैं ही । तथा उस सर्व साधारणपनके अभावरूप तुच्छ अवस्तुपने करके जीव आदिक नहीं ही हैं । इस प्रकार पहिले दो भंग कहे जाते हैं (१) तथा तिस प्रकार शब्दके द्वारा कथन कर कानसे ग्रहण किये गये विशिष्ट सामान्य जीव आदिपने करके जीव आदिक हैं और उसके प्रतियोगी विशिष्ट सामान्यके अभाव अजीव आदिपने करके नहीं हैं । भावार्थ—वस्तुत्व, सत्ता, आदि व्यापक सामान्य हैं और उनके विशेष होकर व्याप्य सामान्य जीवत्व, पुद्गलत्व, आदि हैं । अनेक मनुष्य, तिर्यञ्च, आदि जीवोंमें साधारणरूपसे जीवत्व रहता है । अतः जीवत्व विशेषस्वरूप होता हुआ भी सामान्य है । उस जीवत्वरूप विशिष्ट सामान्यसे जीव है और मल्लप्रतिमल्ल न्यायसे उसके प्रतियोगी यानी प्रतिकूल अजीवत्व करके जीव नहीं है । इस प्रकार दो मूलभंग दूसरे कहे गये (२) तथा तिसही विशिष्ट सामान्य करके जीव है और उसके अभाव सामान्य करके जो कि दूसरी वस्तुओंसे तदात्मक हो रहा है, ऐसे अन्य सबमें रहने वाले सामान्य करके जीव नहीं हैं । भावार्थ—सत्ताके व्याप्य और ब्राह्मण, मनुष्य, आदि विशेषोंके व्यापक ऐसे जीवत्व सामान्यसे जीव है, किन्तु जीवको छोडकर अन्य सब वस्तुओंमें रहनेवाले सामान्य धर्मकी अपेक्षासे जीव नहीं है । विशेष प्रतिष्ठित विद्वान् राजा या तपस्वी मनुष्यके होते हुए भी सामान्य (साधारण) जीव या पदार्थका निषेध कर दिया जाता है । इस प्रकार भी तीसरे दो भंग बन गये (३) तिस ही ढंगसे उस विशिष्ट सामान्य करके जीव है और उसके विशेषणोंमें मुख्यरूपसे रहनेवाले सामान्य करके नहीं हैं । अर्थात् जीवत्वपनेसे जीव है किन्तु वह सामान्य जीव अकेले मनुष्य या अकेले ब्राह्मणकी ही मुख्यताको लेकर नास्ति (नहीं) है । इस रीतिसे चौथे दो भंग बन गये (४) तथा विशेषोंसे रहित द्रव्यत्व सामान्य करके जीव है और विशेषोंसे सहित प्रतियोगीस्वरूप अजीव आदिपन करके नहीं है । भावार्थ—जिस समय व्यापक द्रव्यत्व करके जीव अस्ति विवक्षित हो रहा है, उस समय व्याप्य सामान्य अजीवत्व या

आस्रवत्व आदि करके नहीं है। ऐसा विवक्षित है। सामान्यकी विवक्षा होनेपर विशेष प्रतिकूल भासते हैं इस प्रकार पांचमे भी दो भंग बन गये (५)। तथा अपने व्याप्य विशेष अंशोंसे रहित द्रव्यसामान्य करके जीव है और वही जीव गुणके सामान्य गुणत्व करके नहीं है। भावार्थ—जीव वस्तुमें भेदविवक्षा करनेपर, द्रव्य, गुण, और पर्यायें, न्यारी न्यारी हैं। जिस समय केवल द्रव्य सामान्यसे ही जीव विवक्षित होकर विद्यमान है। उस समय गुणसामान्यसे नहीं है। इस प्रकार छठे दो भंग बन गये (६)। तीनों कालमें रहनेवाले अनन्तज्ञान, आदि शक्तियोंके समूह स्वरूप धर्मसमुदाय करके जीव है और उन अनन्त गुणोंसे कथंचित् भिन्न होकर देखे जा रहे एक दो धर्मस्वरूप करके या उनकी वर्तमानकालमें दृश्यमान थोडीसी पर्यायों करके ही जीव नहीं है। भावार्थ—जीवमें चौदह गुणोंको वैशेषिक मानते हैं। कोई जीवमें एक ज्ञानगुणको ही मानते हैं। उनके सन्मुख यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षित, अनुमानित और आगमगम्य अनन्त गुणोंके समुदाय करके जीवका सत्त्व है। केवल कुछ प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे थोडेसे गुणोंसे ही जीवका अस्तित्व नहीं है। यानी उस रूपसे जीव नास्ति है। इस प्रकार भी दो भंगों (सातवें) की कल्पना हुयी (७)। धर्मोंके सामान्य संबंध द्वारा जिस किसी भी धर्मके आश्रयपने करके जीव है। और धर्म सामान्यके अभाव करके यानी किसी भी अन्य धर्मके आश्रय रहितपने करके जीव नहीं है। अर्थात् विशेषताओंसे रहित सामान्यरूपसे संपूर्ण धर्मोंकी जीवमें योजना करनेवाला कथंचित् तादात्म्य संबंध है। अनन्त धर्मोंमेंसे चाहे किसी भी धर्मका तादात्म्य संबंधसे जीव आश्रय हो रहा है, किन्तु उस सामान्य तादात्म्य सम्बन्धको विना चाहे किसी भी धर्मका आश्रय जीव नहीं है। इस कारणसे भी आठवे दो भंगोंकी उत्पत्ति हुयी (८)। किसी धर्मविशेषके सम्बन्ध द्वारा नित्यत्व, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व, कर्तृत्व, आदि धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके सम्बन्धीपने करके जीव है और विशेष धर्मके सम्बन्धके अभावसे नित्यत्व आदिकका संबंधी न होनेके कारण जीव नहीं है। अर्थात् नित्यत्वके नियोजक विशेष तादात्म्य-सम्बन्ध करके नित्यत्व धर्मका ही संबंधी जीव है। उस विशेष तादात्म्य सम्बन्धके न होनेपर चेतनत्वका संबंधी जीव नहीं है। ये भी दो भंगों (नवमें) की प्रक्रिया है (९)। इस ढंगके अनुसार अनेक प्रकारोंसे विधियां और निषेधोंकी कल्पना करके संपूर्ण पदार्थोंमें सात भंगोंके मूलभूत दो भंगोंका कथन कर लेना चाहिये। अपने वाचक जीव शब्द करके जीव है। अन्यके वाचक शब्दों करके जीव नहीं है। जीवको विषय करनेवाले ज्ञानसे जीव है। अन्यको विषय करनेवाले ज्ञानसे नहीं। ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा वर्तमान पर्यायसे जीव है। भूत भविष्यत् पर्यायोंसे नहीं। प्राणधारणरूप क्रियापरिणतिसे जीव है। अन्य परिणतियोंसे नहीं है। काल, आत्मरूप, आदिके द्वारा अभेद सम्बन्धवाले धर्मोंकी अपेक्षासे जीव है। सर्वथा भिन्न धर्मोंकी अपेक्षासे जीव नहीं है। इस प्रकार दो मूल भंगोंकी पद्धति नाना प्रकारकी है।

अथास्ति जीव इत्यस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नस्वभावो जीवशब्दवाच्योऽर्थः स्यादभिन्नस्वभावो वा ? यद्यभिन्नस्वभावस्तदा तयोः समानाधिकरण्यविशेषत्वाभावो घटकुटशब्दवत् तदन्यतरप्रयोगश्च, तद्वदेव विपर्ययप्रसंगो वा। सर्वद्रव्यपर्यायविषयास्ति शब्दवाच्यादभिन्नस्य च जीवस्य सर्वद्रव्यपर्यायात्मकत्वप्रसंगः सर्वद्रव्यपर्यायाणां वा जीवत्वमिति संकरव्यतिकरौ स्याताम्। यदि पुनरस्तिवाच्यादर्थाद्भिन्न एव जीवशब्दवाच्योऽर्थः कल्प्यते तदा जीवस्यासद्रूपत्वप्रसंगोऽस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नत्वात् खरशृंगवत् विपर्ययप्रसंगात्। जीववत्सकलार्थेभ्योऽभिन्नस्यास्तित्वस्याभावप्रसक्तिरनाश्रयत्वात्। तस्य जीवादिषु समवायाददोषोऽयमिति चेन्न, समवायस्य सत्त्वाद्भिन्नस्यासद्रूपत्वात् स तद्वतोः संबंधत्वविरोधात्। न च समवाये सत्त्वस्य समवायान्तरमुपपन्नं अनवस्थानुषंगात् स्वयं तथानिष्टेश्च। तत्र तस्य विशेषणीभावाददोषो इति, सोपि विशेषणीभावः संबंधो यदि सत्त्वाद्भिन्नस्तदा न सद्रूप इति खरविषाणवत्कथं संबंधः? परस्माद्विशेषणीभावात्सत्वस्य प्रमाविशेषणीभावे यद्यसद्रूपत्वाभावस्तदा सैवानवस्था तत्रापि सत्त्वस्य भिन्नस्यान्यविशेषणीभावकल्पनादिति न किंचित्सन्नाप। सत्त्वाद्भिन्नस्य सर्वस्य स्वभावस्यासद्रूपत्वप्रसिद्धेरिति, सर्वथैकांतवादिनामुपालंभो न स्याद्वादिनामस्तिशब्दवाच्यादर्थाज्जीवशब्दवाच्यस्यार्थस्य कथंचिद्भिन्नत्वोपगमात्। तथैव वाचित्यप्रतीतिसद्भावाच्च।

अब स्याद्वादियोंके ऊपर एकान्तवादियोंका यह उलाहना है कि " अस्ति जीवः " इस प्रकार प्रहिले वाक्यमें अस्तिका अर्थ सत्तावाला है, इस अर्थसे जीव शद्व द्वारा कहा गया अर्थ क्या भिन्न स्वरूप है? या अभिन्न स्वरूप है। बताओ! यदि द्वितीय पक्षके अनुसार अभिन्न स्वरूप माना जायगा तब तो उन जीव और अस्तिमें विशेषताके साथ होनेवाले समान अधिकरणपनेका अभाव हो जायगा। जैसे कि घट और कलश शद्वमें सर्वथा अभेद होनेके कारण समानाधिकरणता नहीं है। भावार्थ—कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें समानाधिकरणता होती है। जैसे कि नील और उत्पलमें है। कम्बल, जामुन, मेघ, भी नील होते हैं तथा लाल, पीले, शुक्ल, भी कमल होते हैं। अतः नील और उत्पल का सर्वथा अभेद नहीं है। व्यभिचार संभवनेपर दो आदि पदार्थोंमें सामानाधिकरण्य होता है। जीव जीव या अस्ति अस्तिमें भी सर्वथा अभेद होनेके कारण समानाधिकरणपन नहीं बनता है। जिन दो तीन आदि पदार्थोंका अधिकरण समान है, उनको समानाधिकरण कहते हैं और उन समानाधिकरणोंके भावको समानाधिकरण्य कहते हैं। दूसरी बात यह है कि जीव और अस्ति दोनों आदि अभिन्न हैं तो दो पदोंमेंसे एक हीका प्रयोग न करना चाहिये। जैसे पर्यायवाची घट या कलश शद्वोंमेंसे एकका प्रयोग नहीं किया जाता है। तीसरी बात यह है कि उस हीके समान विपर्यय हो जानेका प्रसंग होगा अर्थात् जीव और अस्तिके अभेद हो जानेपर " अस्ति जीवः " ऐसा कहनेपर " जीवः अस्ति " यह भी उद्देश्य और विधेयका परावर्त्तन हो जाय

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाय अथवा जीव कहनेके लिये सामान्य सत्तावाचक अस्ति शद्व कह दिया जाय और सत्ताको कहनेके लिये जीव शद्व बोल दिया जाय, तथा सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाले अस्ति शद्वके वाच्य सत्तासे जीवको यदि अभिन्न स्वीकार किया जायगा तो जीवको संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो जानेपनेका प्रसंग होगा। यह संकर दोष है। एवं संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जीवपना हो जायगा। यह व्यतिकर है। इस प्रकार संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंके युगपत् तदात्मक प्राप्ति और परस्परमें विषयका परिवर्तनरूप संकर व्यतिकर दोनों दोष हो जावेंगे। तथा यदि फिर जैनोंके द्वारा प्रथम पक्षके अनुसार अस्तिके वाच्य अर्थसे जीवशद्वका वाच्य अर्थ भिन्न ही कल्पित किया जायगा तो अस्ति शद्वके वाच्य अर्थ सद्रूपसे भिन्न होनेके कारण जीवको गर्दभ-श्रृंगके समान असत्स्वरूप हो जानेका प्रसंग होगा। जो अस्तिसे भिन्न है, वह असत् है। तथा विपर्यय हो जानेका प्रसंग होगा। यानी सत्तावाले कितने ही चेतनपदार्थ जीवरूप न हो सकेंगे। सत् असत् हो जायेंगे और असत् सत् बन बैठेंगे। तीसरी बात यह है कि जीवके समान संपूर्ण पदार्थोंसे अस्तित्वको यदि भिन्न मान लिया जायगा तो अस्तित्वके भी अभाव हो जानेका प्रसंग है। क्योंकि अस्तित्वगुण आश्रयके विना ठहर नहीं सकता है और सर्वथा भिन्न पडे हुएका कोई आश्रय बनना नहीं चाहता है। यदि कोई वैशेषिक यों कहे कि उस भिन्न पडे हुए भी अस्तित्वका जीव आदिकोंमें समवाय सम्बन्ध हो जानेसे यह कोई दोष नहीं होता है। अर्थात् जीव सत्तावान् हो जायगा और भिन्न भी अस्तित्व अपने आधारोंमें ठहर जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम वैशेषिकोंके यहां सत्ता जातिसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण समवाय सम्बन्ध भी तो असत्स्वरूप है। सत और असत्का सम्बन्ध नहीं होता है, तथा सत् और असत्के बीचमें रहनेवालेको समवाय सम्बन्धपनेका विरोध है। अस्ति और उससे सहित जीव इन दोनोंके मध्यमें रहनेवाले असत् समवायको सम्बन्धपनेका भी विरोध है। समवायमें सत्ताको रखनेके लिये दूसरा समवाय मानना तो युक्त नहीं है। क्योंकि अनवस्थादोषका प्रसंग होगा। अर्थात् सत्ता जाति तो समवाय सम्बन्धसे ही रहेगी और समवायको सद्रूप बनानेके लिये पुनः सत्ताका सम्बन्ध मानना पडेगा और सत्ता भी पुनः समवाय सम्बन्धसे रहेगी। समवायमें सत्ता रही और सत्तामें प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवाय रहा। तथा वैशेषिकोंने समवायमें दूसरे समवाय सम्बन्ध करके सत्ता रहनेको इष्ट भी नहीं किया है। " सत्तावन्तश्चयस्त्वाधाः, द्रव्यादयः पञ्च समवायिनः "। यदि कोई वैशेषिक यों कहे कि उस समवायमें उस सत्ताका विशेषणता सम्बन्ध है। अतः कोई अनवस्थादोष नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम पूछेंगे कि वह विशेषणता सम्बन्ध भी यदि सत्तासे भिन्न है, तब तो सत्स्वरूप नहीं है। इस कारण रासभ-श्रृंगके समान वह कैसे सम्बन्ध हो सकेगा? सम्बन्ध दोमें रहनेवाला भाव पदार्थ हो सकता है। यदि दूसरे विशेषणीभाव सम्बन्धसे पहिले विशेषणीभाव सम्बन्धमें सत्ताका रहना मानकर असद्रूपताका अभाव कहोगे, तब तो फिर

वही अनवस्था होगी। क्योंकि दूसरे विशेषणीभावको सत् बनानेके लिये तीसरे विशेषणीभावसे सत्ता रखनी पडेगी और उसमें भी चौथे विशेषणीभावसे, इस प्रकार सर्वथा भिन्न पडे हुए सत्ताके न्यारे न्यारे विशेषणीभावोंकी कल्पना करते करते कभी आकांक्षा शान्त न होगी। इस प्रकार कोई भी पदार्थ सत् नहीं बन सकता है। सत्तासे भिन्न सभी स्वभावोंको असद्रूपपना प्रसिद्ध है। इस प्रकार लम्बा चौडा सर्वथा एकान्तवादियोंका उलाहना उन्हींके ऊपर गिरता है। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई दोष नहीं है। हम स्याद्वादी तो अस्तिशब्दके वाच्य सत्तारूप अर्थसे जीव शब्दके वाच्य प्राणी अर्थका कथञ्चित् भेद स्वीकार करते हैं। और तिस ही प्रकार नहीं तर्क करनेमें आवे, ऐसी भेदाभेदात्मक प्रतीति विद्यमान है। भावार्थ—सर्वथा भेद या अभेद मानेवालोंके यहां अवश्य ही उक्त दोष आते हैं। किन्तु स्याद्वादी अतर्क्य वस्तुव्यवस्थाके अनसार अस्ति और जीवका कथञ्चित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "

पर्यायार्थादेशाद्धि भवनजीवनयोः पर्याययोरस्तिजीवशब्दाभ्यां वाच्ययोः प्रतीतिविशिष्टतया प्रतीतेर्भेदः द्रव्यार्थादेशात्तु तयोरव्यतिरेकादेकतरस्य ग्रहणेनान्यतरस्य ग्रहणाद्भेदः प्रतिभासत इति न विरोधो संशयो वा तथा निश्चयात्। तत एव न संकरो व्यतिकरो वा, येन रूपेण जीवस्यास्तित्वं तेनैव नास्तित्वानिष्टेः येन च नास्तित्वं तेनैवास्तित्वानुपगमात् तदुभयस्याप्युभयात्मकत्वानास्थानाच्च।

कारण कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तो अस्ति शब्दके वाच्य भवन (सत्ता) और जीव शब्द कर कहा जाय जीवनरूप पर्यायोंका विलक्षण प्रतीति होनेके कारण दोनों पर्यायोंकी प्रतीतिका भेद है। किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उन दोनों पर्यायोंका अभेद होनेके कारण दोनोंमेंसे किसी एकका ग्रहण करनेसे बचे हुए दूसरे एकका ग्रहण हो जाता है। अतः अभेद दीख रहा है। इस प्रकार कोई विरोध नहीं है। विरोध तो अनुपलम्भ होनेसे साध लिया जाता है यहां तो दोनोंका एक साथ उपलम्भ हो रहा है अथवा संशय भी नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार भेद अभेदका निश्चय हो रहा है। तिस ही कारण अनेकान्तमें संकर अथवा व्यतिकर दोष भी नहीं हैं, क्योंकि जिस स्वरूपसे जीवको अस्तिपन सिद्ध है, उस ही स्वभावसे नास्तिपन इष्ट नहीं है और जिस स्वभावसे नास्तिपन है, उस ही स्वभावसे अस्तिपन नहीं स्वीकार किया गया है। अतः संकर न हो सका, तथा उन भेद, अभेद, दोनोंको पुनः उभयात्मकपना व्यवस्थित नहीं है। अतः परस्परमें विषय बदलना न होनेके कारण व्यतिकर नहीं हुआ। अनवस्था भी नहीं होती है। वैय्यधिकरण्य (भिन्न भिन्न अधिकरणपना) अप्रतिपत्ति (ज्ञान न होना) और अभाव हो जाना ये दोष तो अनेकान्तमें कैसे भी नहीं आते हैं।

न चैवमेकान्तोपगमे कश्चिद्दोषः सुनयार्पितस्यैकान्तस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणार्पितस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धेः। येनात्मनानेकान्तस्तेनात्मनानेकान्त एवेत्ये-

कान्तानुषंगोऽपि नानिष्टः प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धेः नयसाधनस्यैकान्तव्यवस्थितेरनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात्। तदुक्तं–" अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात् " इति। न चैवमनवस्थानेकान्तस्यैकान्तापेक्षित्वे नैवानेकान्तत्वव्यवस्थितेः एकान्तस्याप्यनेकान्तापेक्षितयैवैकान्तव्यवस्थानात्। न चेत्थमन्योन्याश्रयणं, स्वरूपेणानेकान्तस्य वस्तुनः प्रसिद्धत्वेनैकान्तानपेक्षत्वादेकान्तस्याप्यनेकान्तानपेक्षत्वात्। तत एव तयोरविनाभावस्यान्योन्यापेक्षया प्रसिद्धेः कारकज्ञापकादिविशेषवत्। तदुक्तं–धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकांगवत् " इति।

तथा जिस रूपसे अस्तित्व है, उस स्वरूपसे अस्तित्व ही है। और जिस स्वभावसे नास्तित्व है, उससे नास्तित्व ही है। इस प्रकार एकान्तको स्वीकार करनेपर भी हमारे यहां कोई दोष नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठ नयसे विवक्षित किये गये एकान्तकी समीचीनरूपसे सिद्धि हो चुकी है और प्रमाणसे विवक्षित किये गये अस्तित्वके अनेकान्तकी प्रसिद्धि हो रही है। जिस विवक्षित प्रमाण स्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है। ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है। क्योंकि प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है। और नयके द्वारा साधन किये गये विषयको एकान्तपना विवक्षित या व्यवस्थित हो रहा है। हम तो सबको अनेकान्त होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। इस कारण अनेकान्त भी अनेकधर्मवाला होकर अनेकान्त है। यही भगवान् श्री १०८ समन्तभद्र आचार्यने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रमें अठारहवें श्री १००८ अरनाथ जिनेन्द्रकी स्तुतिमें ऐसा कहा है कि अनेकान्त भी प्रमाण और नयोंसे साधन किया गया होकर अनेक धर्मस्वरूप है। हे जिनेन्द्र! तुम्हारे मतमें प्रमाणसे अनेकान्त व्यवस्थित है और विवक्षित किये गये नयसे वह एकान्त निर्णीत हो रहा है। इस प्रकार कहनेमें अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि अनेकधर्मोंका समुदाय बनना एकान्तोंकी अपेक्षा रखता है। इसी कारण अनेकान्तपना व्यवस्थित है और एकान्तकी भी अनेकान्तकी अपेक्षा रखनेवाला होनेके कारण ही एकान्तपनकी व्यवस्था हो रही है। यदि आकांक्षा बढती जाती तो अनवस्था होती, किन्तु यहां तो दोमें ही कार्य चल जाता है। अनेकान्त अनेक एकान्तोंसे बन जाता है और अनेकान्तमें न्यारे न्यारे एकान्त विद्यमान हैं तथा इस प्रकार माननेपर अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं है। क्योंकि वस्तुमें नयदृष्टिसे एकान्त और प्रमाणदृष्टिसे अनेकान्त स्वभावसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। वस्तुके स्वात्मभूत बनकर प्रसिद्ध हो जानेके कारण अनेकान्तको स्वरूपलाभमें एकान्तकी अपेक्षा नहीं है और एकान्तको भी वस्तुरूपसे अनेकान्तकी अपेक्षा नहीं है। हां! व्यवहारमें तिस ही कारण परस्परकी अपेक्षासे उन एकान्त और अनेकान्तोंमें अविनाभावकी प्रसिद्धि हो रही है। जैसे कि कारक हेतु या ज्ञापक हेतु अथवा व्यञ्जक हेतु आदि विशेष पदार्थ हैं। यही आप्तमीमांसामें स्वामीजीने कहा है कि धर्म और

धर्मीका अविनाभाव तो परस्परकी अपेक्षासे सिद्ध हो जाता है, किन्तु उसका स्वरूपलाभ परस्परकी अपेक्षासे नहीं सिद्ध होता है। यह तो स्वयं अपने अपने कारणोंसे बन जाता है। जैसे कि कारक हेतुओंके कर्त्ता, कर्मरूप अंग या ज्ञापक हेतुओंके बोध्य, बोधक अंग परस्परकी अपेक्षा रखनेवाले नहीं हैं। भावार्थ—एकान्त और अनेकान्तका अविनाभावरूप करके रहना तो एक दूसरेकी अपेक्षा करता है किन्तु उनकी [illegible] स्वभावोंसे होती है। परस्परापेक्ष नहीं होती है, जैसे कर्तापन कर्मपनकी अपेक्षासे है और कर्मपन कर्त्ताकी अपेक्षा रखता है। अतः कर्त्तापन और कर्मपन व्यवहार ही परस्परापेक्ष है किन्तु कर्त्ता या कर्मका शरीर तो परस्परापेक्ष नहीं है। वह तो अपने अपने कारणोंसे स्वतः उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ही प्रमाण और प्रमेयका स्वरूप तो अपने अपने कारणोंसे स्वतः सिद्ध है। किन्तु उनका ज्ञाप्य ज्ञापक व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे है। इस ही प्रकार अस्ति और जीवके धर्म धर्मीपनेका अविनाभाव एक दूसरेकी अपेक्षासे है, किन्तु अस्ति और जीवका स्वरूप अपने अपने कारणोंसे स्वतः सिद्ध है। यही पद्धति एकान्त और अनेकान्तमें लगा लेना।

किं चार्थाभिधानप्रत्ययानां तुल्यनामत्वात्तदन्यतमस्यापह्नवे सकलव्यवहारविलोपात्तेषां भ्रांतत्वैकांते कस्यचिदभ्रांतस्य तत्त्वस्याप्रतिष्ठितेरवश्यं परमार्थसत्त्वमुररीकर्त्तव्यम्। तथा चाभिधानप्रत्ययात्मना स्यादस्त्येव जीवादिस्तद्विपरीतात्मना तु स एव नास्तीति भंगद्वयं सर्वप्रवादिनां सिद्धमन्यथा स्वेष्टतत्त्वाव्यवस्थितेः। तथा चोक्तम्—'सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते' इति।

और भी यह बात है कि अर्थ, शब्द, और ज्ञान ये तीन समान नामवाले हैं। उन तीनोंमें से यदि एकको भी छिपाया जावेगा तो सम्पूर्ण लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारोंका लोप हो जायगा। यदि कोई अद्वैतवादी उन तीनोंके भ्रान्तपनका एकान्त स्वीकार करेगा तो ऐसी दशामें किसी भी अभ्रान्त वस्तुभूत तत्त्वकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। इस कारण उन तीनोंका वास्तविकरूपसे सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये। भावार्थ—घट कहनेसे घट अर्थ, घट शब्द और घटज्ञान, ये तीन ही लिये जासकते हैं। अन्य नहीं। तिसी प्रकार अर्थ, शब्द और ज्ञानस्वरूपसे जीव आदिक कथंचित् हैं ही, किन्तु उनसे विपरीतस्वरूप करके वह जीव आदिक नहीं हैं, यानी जीव ऐसे पदार्थ जीव ऐसे ज्ञान, तथा जीव ऐसे शब्दसे जीव है। घट अर्थ, घट शब्द और घटज्ञानसे जीव नहीं है। इस प्रकार संपूर्ण प्रवादियोंके यहां अस्ति, नास्ति, नामके दो भंग सिद्ध हो ही जाते हैं। अन्यथा उन वादियोंके यहां अपने इष्टतत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। स्वके ग्रहण और परपदार्थके त्यागसे ही वस्तुकी व्यवस्था बन रही है और तिसी प्रकार स्वामीजीने कहा भी है कि ऐसा कौन लौकिक या परीक्षक वादी है, जो कि सभी चेतन या अचेतन पदार्थोंको स्वरूप आदि चतुष्टयसे सत्स्वरूप ही मानना नहीं चाहे और उसके विपरीत पररूप आदि चतुष्टयसे सबको असत्स्वरूप ही न चाहे। अर्थात् चाहे एकान्ती हो या स्याद्वादी हो उक्त प्रकारके अस्ति और

नास्तिको अवश्य चाहेगा। यदि न चाहेगा तो वह कहीं भी व्यवस्थित नहीं रह सकता है। जिससे कि वह अपने इष्ट, अनिष्ट, तत्त्वकी व्यवस्था कर सके। जिसके यहां इष्ट, अनिष्ट, तत्त्वकी व्यवस्था है, वह तो अस्ति नास्तिको अवश्य मानेगा। इस प्रकार दो भंग भले प्रकार सिद्ध हुए। स्वरूप और पररूप। यहां रूपका अर्थ भाव है। आदि पद करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, इन तीनका ग्रहण है।

कथमवक्तव्यो जीवादिः ? द्वाभ्यां यथोदितप्रकाराभ्यां प्रतियोगिभ्यां धर्माभ्यामवधारणात्मकाभ्यां युगपत्प्रधाननयार्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनो बुभुत्सायां तादृशस्य शब्दस्य प्रकरणादेश्चासम्भवादिति चेत्। तत्र कोऽयं गुणानां युगपद्भावो नामेति चिन्त्यम्। कालाद्यभेदवृत्तिरिति चेत् न, परस्परविरुद्धानां गुणानामेकत्र वस्तुन्येकस्मिन् काले वृत्तेरदर्शनात् सुखदुःखादिवत्। नाप्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिस्तेषां युगपद्भावस्तदात्मरूपस्य परस्परविभक्तत्वात्तद्वत्। न चैकद्रव्याधारतया वृत्तिर्युगपद्भावस्तेषां भिन्नाधारतया प्रतीतेः शीतोष्णस्पर्शवत्। संबंधाभेदो युगपद्भाव इत्यप्ययुक्तं, तेषां संबन्धस्य भिन्नत्वाद्देवदत्तस्य छत्रदण्डादिसम्बन्धवत् समवायस्याप्येकत्वाघटनाद्भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत्। न चोपकाराभेदस्तेषां युगपद्भावः प्रतिगुणमुपकारस्य भिन्नत्वान्नीलपीताद्यनुरञ्जनवत् पटादौ। न चैकदेशो गुणिनः सम्भवति निरंशत्वोपगमात्। यतो गुणदेशाभेदो युगपद्भावो गुणानामुपपद्येत। न तेषामन्योन्यं संसर्गो युगपद्भावस्तस्यासम्भवादसंसृष्टरूपत्वाद्गुणानां शुक्लकृष्णादिवत् तत्संसर्गे गुणभेदविरोधात्। न च शब्दाभेदो युगपद्भावो गुणानां भिन्नशब्दाभिधेयत्वान्नीलादिवत्। ततो युगपद्भावात् सदसत्त्वादिगुणानां न तद्विवक्षा युक्ता यस्यामवक्तव्यं वस्तु स्यात् इत्येकान्तवादिनामुपद्रवः, स्याद्वादिनां कालादिभिरभेदवृत्तेः परस्परविरुद्धेष्वपि गुणेषु सत्त्वादिष्वेकत्र वस्तुनि प्रसिद्धेः प्रमाणे तथैव प्रतिभासनात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया विरोधाभावात्। केवलं युगपद्वाचकाभावात्सदसत्त्वयोरेकत्रावाच्यता सत्तामात्रनिबन्धनत्वाभावाद्वाच्यतायाः। विद्यमानमपि हि सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यं तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्, तथैवासदित्यभिधानेन तद्वक्तुमशक्यं तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात्।

अब तीसरे भंगके लिये लम्बा चौडा प्रश्न है कि जीव आदिक पदार्थ अवक्तव्य अर्थात् शब्दसे नहीं कहने योग्य कैसे हैं ? बताओ ! इसपर यदि स्याद्वादी यों कहें कि यथायोग्य प्रकारसे पहिले कहे गये और अवधारणस्वरूप तथा परस्परमें एक दूसरेके प्रतियोगी एवं एक ही समयमें प्रधान नयकी विवक्षासे कहनेके लिये अर्पित किये गये ऐसे अस्ति, नास्ति, दोनों धर्मों करके एक वस्तुके समझनेकी इच्छा होनेपर तैसे वाचक शब्दका और प्रकरण, संकेत, आदिका असंभव होनेसे जीव आदिक अवक्तव्य हैं। ऐसा कहनेपर तो हम एकान्तवादी पूंछते हैं कि गुणोंका यह एक

समयमें कहनेकी विवक्षा प्राप्त होकर रहना भला क्या पदार्थ है ? इसपर जैनोंको विचार चलाना चाहिये। यदि काल, आत्मरूप आदिकसे अभेदवृत्ति हो जाना गुणोंका युगपत्भाव है सो तो ठीक नहीं, क्योंकि परस्परमें विरुद्ध हो रहे अस्ति, नास्ति, नित्यपन, अनित्यपन, आदि गुणोंका एक वस्तुमें एक समय वर्तना नहीं देखा जाता है। जैसे कि सुख दुःख, हास्य शोक, मान विनय, आदि धर्म एक समयमें नहीं पाये जाते हैं। इन गुणोंके वर्तनेका काल भिन्न है। दूसरे आत्मस्वरूप करके अभेदवृत्ति होना भी उन गुणोंका युगपत्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि उन विरुद्ध गुणोंका आत्मस्वरूप ही परस्परमें एक दूसरेसे पृथक् हैं। जैसे कि सुखका आत्मस्वरूप निराकुलता है। और दुःखका आत्मस्वरूप व्याकुलता है। उसीके समान उन हास्य, शोक, आदिके भी आत्मरूप न्यारे न्यारे हैं। वे एकम एक होकर विद्यमान नहीं रह सकते हैं। तीसरे एक द्रव्यरूप आधारके आधेय होकरके वर्त्तना भी उन गुणोंका युगपत् भाव नहीं है। क्योंकि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शके समान भिन्न भिन्न आधारवालेपने करके उन धर्मोंकी प्रतीति हो रही है। चौथे सम्बन्धका अभेद होना गुणोंका युगपत्भाव है। यह कहना भी युक्तिरहित है। क्योंकि उन गुणोंका अपना अपना सम्बन्ध भिन्न है। जैसे देवदत्तका छतरी, दण्ड, अंगूठी, कलम, पगडी, मोदक आदिके साथ संबन्ध न्यारा न्यारा है। समवायसम्बन्ध भी एक होकर घटित नहीं हो सका है। जैसे कि भिन्न शद्ध, भिन्न ज्ञान, और भिन्न भिन्न कार्योंके हेतु होनेके कारण संयोग सम्बन्ध अनेक हैं। वैसे ही समवाय भी अनेक हैं। अर्थात् जिनदत्तका पुस्तकके साथ संयोग सम्बन्ध न्यारा है और चौकीके साथ पुस्तकका संयोग न्यारा है। तैसे ही आत्माका ज्ञान और राग, द्वेषसे तथा पुद्गलका रूप गुण और उसकी अशुद्ध पर्यायसे समवाय सम्बन्ध भी न्यारा न्यारा है, तथा पांचमें उपकार द्वारा अभेद होना भी उन गुणोंका युगपत् भाव है। यानी सब गुणोंका उपकार एक ही है। सो भी ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे वस्तुमें किये गये उपकार न्यारे न्यारे हैं। जैसे कि कपडे आदिमें नीले रंगद्वारा रंग जाना या पीलेरंगसे रंग जाना अथवा विद्यार्थीमें विनय, सदाचार, व्युत्पत्ति, बलाढ्यता आदि गुणों करके न्यारे उपकार विद्यमान हैं। जब कि गुणीको हम लोग अंशोंसे रहित निरंश स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें गुणीका एकदेश होना तो नहीं सम्भवता है। जिससे कि छठा गुणी देशका अभेद होना गुणोंका युगपत् भाव बन सके। तथा उनका सांतवा परस्परमें संसर्ग होना भी युगपत्भाव नहीं है। गुणोंमें उस संसर्गका असम्भव है। क्योंकि शुक्ल, कृष्ण, खट्टा, मीठा, इत्यादिके समान गुण परस्परमें एक दूसरेसे मिले हुए स्वरूप नहीं है। एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते हुए मणियोंके समान न्यारे न्यारे होकर वस्तुमें जड रहे हैं। यदि उनका परस्परमें सम्बन्ध होता तो गुणोंके भेद होनेका विरोध हो जाता। सब खिचडीके समान एकमएक होकर मिल जाते जो कि इष्ट नहीं है। और आठवां शब्दका अभेद होना भी गुणोंका युगपत् भाव नहीं है। क्योंकि नील, पीत, आदिक अर्थ

जैसे न्यारे न्यारे नील, पीत, आदि शब्दों करके कहे जाते हैं, वैसे ही अस्ति, नास्ति, आदि गुण भी न्यारे न्यारे शब्दोंके द्वारा कहे जाते हैं। तिस कारण आप जैन लोगोंको सत्त्व, असत्त्व, आदि गुणोंके युगपत् भावसे उनकी विवक्षा करना युक्त नहीं है। जिस विवक्षाके होनेपर कि वस्तु अवक्तव्य सिद्ध हो जाता। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य नहीं सिद्ध हो पाती है। क्योंकि सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, आदि गुणोंकी युगपत् कहनेकी विवक्षा होना विरोध होनेके कारण नहीं सिद्ध हो सका है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किया गया एकान्तवादियोंका उपद्रव (ऊधम) प्रत्युत उन्हींको लागू होगा, हमको नहीं। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां एक वस्तुमें ठहरे रहे परस्पर विरुद्ध (विरुद्धसदृश) भी सत्त्व, असत्त्व, आदि अनेक गुणोंमें काल, आदिके द्वारा अभेदवृत्ति होना प्रसिद्ध हो रहा है। प्रमाणज्ञानमें तिस प्रकार ही प्रतिभास रहा है। स्वरूप, पररूप, आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे रहते हुए अस्ति, नास्ति, आदिमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो अनुपलंभ होनेसे साध लिया जाता है, जब कि वे एक वस्तुमें (जगह) ठहरे हुए प्रसिद्ध प्रमाणोंसे जाने जा रहे हैं तो विरोध कैसा ? हां ! केवल इतना अभिप्रेत है कि एक ही समयमें सत्त्व, असत्त्व, दोनों गुणोंके कथन करनेवाले शब्दका अभाव है। अतः एक वस्तुमें अवाच्यपना एक धर्म माना जाता है। वाच्यपना केवल धर्मीकी सत्ताके ही आधीन नहीं है। अर्थात् जगत्में जो पदार्थ है वह शब्द द्वारा कह दिया जायगा यह नियम नहीं। अनेक पदार्थ होते हुए भी वचनों द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों गुण निश्चय कर विद्यमान हैं तो भी एकमें एक समय सत् इस शब्द करके दोनों नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि वह सत् शब्द असत्त्व धर्मके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है। तिस ही प्रकार असत् इस शब्द करके भी वे सत्त्व, असत्त्व, दोनों धर्म एकदम नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि वह असत् शब्द सत्त्वधर्मके समझानेमें सामर्थ्य नहीं रखता है।

सांकेतिकमेकपदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यं, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः। तौ सदिति शतृशानयोः संकेतितसच्छब्दवत् द्वन्द्ववृत्तिपदं तयोः सकृदभिधायकमित्यनेनापास्तं, सदसच्चे इत्यादिपदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायनसमर्थत्वात्। कर्मधारयादिवृत्तिपदमपि न तयोरभिधायकं, तत एव प्रधानभावेन धर्मद्वयप्रत्यायने तस्यासामर्थ्याच्च। वाक्यं तयोरभिधायकमनेनैवापास्तमिति।

अपनी परिभाषासे संकेत कर बना लिया गया कोई एक नवीन पद उन दोनों सत् और असत् धर्मोंको एक समयमें कहनेके लिये समर्थ हो जायगा, इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस सांकेतिकपदकी भी क्रम करके ही दो अर्थोंके समझानेमें सामर्थ्य होना बन सकती है। जो व्यक्त अव्यक्त या बहिर्जल्प अन्तर्जल्परूप शब्द करके प्रतिपाद्य होगा, उसका ज्ञान शब्दप्रवृत्तिके क्रमाधीन होगा। जैसे कि आकाश और पृथ्वी इन दो अर्थोंका वाचक रोदसी शब्द है। सूर्य और चन्द्रमाका वाचक एक पुष्पवन्त शब्द है, किन्तु यहां भी एक सांकेतिक पदकरके दो पदोंका

स्मरण होकर दो अर्थोंका ज्ञान होता है। दही और गुडके मिल जानेपर स्वादकी खट्टे और मीठेसे अतिरिक्त तीसरी अवस्था हो जाती है। वैसी दो पदोंको मिलकर बने हुए सांकेतिक पदकी खिचडी अवस्था नहीं होती है। प्रत्युत रोदस् शब्दसे आकाश और पृथ्वी पदोंका स्मरणकर आकाश और पृथ्वीरूप अर्थ जाननेमें परम्परा हो जाती है। इस कथन करके "तौ सत्" इस व्याकरण सूत्रके अनुसार शतृ और शान इन दो प्रत्ययोंमें संकेत किये गये सत् शब्दके समान या क्त, क्तवतु दो प्रत्ययोंके लिये इंगित कर लिये निष्ठा शब्दके सदृश कोई द्वन्द्व समासवृत्तिसे बनाया गया पद उन अस्तित्व, नास्तित्वका एक शब्द द्वारा कथन कर देवेगा, यह खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात् अपने घरके संकेतसे गढ लिया गया सत् शब्द भी क्रमसे ही शतृ और शानको कह रहा है। द्वन्द्व समास कर बनाये गये सदसत्त्वे या अस्ति नास्तित्व इत्यादि पदोंकी भी क्रमसे ही दो धर्मोंको समझानेमें सामर्थ्य है। युगपत् नहीं। तथा तिस ही कारण कर्मधारय, बहुव्रीहि, आदि समासवृत्तिको प्राप्त हुए पद भी उन दोनों धर्मोंका एक साथ कथन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि प्रधानरूप करके दो धर्मोंके समझानेमें उस पदका सामर्थ्य नहीं है। अतः कोई भी एक पद युगपत् दोनों अर्थोंका वाचक नहीं है। उन दोनों धर्मोंका वाचक कोई वाक्य सम्भव होवे, यह भी इस कथनसे खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि एक पदके समान अनेक पदोंका समुदाय वाक्य भी क्रमसे ही दो अर्थोंका निरूपण कर सकेगा। कितनी भी जल्दी दौडनेवाली गाडी या विमान हो, क्रमसे ही अनेक ग्राम और देशोंका उल्लंघन कर सकेगा। एक समयमें चौदह राजूतक जानेवाला परमाणु भी माघवी, रत्नप्रभा, ब्रह्मस्वर्ग, सर्वार्थसिद्धि आदिका क्रमसे ही प्रतिक्रमण करेगा। तभी तो एक समयमें असंख्याते अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। कण्ठ, तालु आदि स्थान तथा बहिरंग अंतरंग प्रयत्नोंकर बनाये गये वर्ण या पदके उच्चारणमें तो वैसे ही अनेक समय लग जाते हैं।

सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेवावक्तव्यशब्देनास्य वक्तव्यत्वादित्येके। ते च पृष्टव्याः, किमभिधेयमवक्तव्यशब्दस्येति? युगपत्प्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्मद्वयाक्रान्तं वास्त्विति चेत्, कथं तस्य सकलवाचकरहितत्वम्? अवक्तव्यपदस्यैव तद्वाचकस्य सद्भावात्। यथाऽवक्तव्यमिति पदं सांकेतिकं तस्य वाचकं तथान्यदपि किं न भवेत्? तस्य क्रमेणैव तत्प्रत्यायकत्वादिति चेत्, तत एवावक्तव्यमितिपदस्य तद्वाचकत्वं माभूत्। ततोऽपि हि सकृत्प्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्माक्रान्तं वस्तु क्रमेणैव प्रतीयते सांकेतिकपदान्तरादिव विशेषाभावात् वक्तव्यत्वाभावस्यैवैकस्य धर्मस्यावक्तव्यपदेन प्रत्यायनाच्च न तथाविधवस्तुप्रत्यायनं सुघटं येनावक्तव्यपदेन तद्व्यक्तमिति युज्यते।

एक ही समयमें प्रधानपनसे विवक्षित किये गये सत्त्व और असत्त्व धर्मों करके चारों ओरसे घिरी हुयी वस्तु व्यवस्थित हो रही है। वह सम्पूर्ण वाचक शब्दोंसे रहित है। अतः अवक्तव्य है और वह सभी प्रकारोंसे अवक्तव्य ही हो, यह नहीं समझना। क्योंकि अवक्तव्य शब्द करके ही इसका वाचन हो रहा है। इस प्रकार कोई एक विद्वान् कह रहे हैं। उनको यह पूंछना चाहिये कि अवक्तव्यशब्दका वाच्यअर्थ आपने क्या माना है? बताओ! एक समानमें प्रधान हो रहे सत्त्व, असत्त्व, या नित्यत्व अनित्यत्व आदि दोनों धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तु यदि अवक्तव्य शब्दका वाच्य है, यदि ऐसा कहोगे तो उस वस्तुको सम्पूर्ण वाचकशब्दोंसे रहितपना कैसे हुआ? जो कि आपने पूर्वमें कहा था। अब तो अवक्तव्यपद ही उसका वाचकशब्द भले प्रकार विद्यमान है। जैसे एक ही समय दो धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तुके कहनेमें संकेत किया गया अवक्तव्य यह पद उसका वाचक है, तिस प्रकार अन्य भी शब्द उसके वाचक क्यों न होंगे? इसपर तुम यदि यह कहो कि वे अन्य पद तो युगपत् धर्मद्वयसे घिरी हुयी उस वस्तुका क्रम करके ही ज्ञान करा सकेंगे। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण यानी क्रमसे ही ज्ञान करानेवाला होनेसे अवक्तव्य इस पदको भी उस वस्तुका वाचकपना मत (नहीं) होओ! क्योंकि उस अवक्तव्यशब्दसे भी एक ही समय प्रधान हो रहे सत्त्व असत्त्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मोंसे घिरी हुयी वस्तुकी क्रम करके ही प्रतीति हो सकेगी। जैसे कि इनमें धर्मोंके कहनेके लिये संकेत कर लिये गये दूसरे पदोंसे क्रम करके ही वस्तुकी प्रतीति होती है। युगपत् दोनों धर्मोंके वाचक नहीं हो सकनेकी अपेक्षा सांकेतिक पद और अवक्तव्यपद इनमें कोई अन्तर नहीं है। दूसरी बात यह है कि अस्तित्व, वस्तुत्व, आदि धर्मोंके समान कहने योग्यपनका अभाव भी वस्तुका एक निराला धर्म है। बस अवक्तव्यपद करके उस वक्तव्यत्वाभावरूप ही एक धर्मका ज्ञापन होता है। इस कारण तिस प्रकार युगपत् अनेक धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तुका ज्ञापन करना किसी भी एक शब्दसे अच्छा नहीं घटित होता है। जिससे कि अवक्तव्यपद करके वह वस्तु प्रकटरूपसे वक्तव्य है। ऐसा एक विद्वान्का कहना युक्तिसंगत हो जाय। अर्थात् उन एक विद्वानके मतानुसार तो अवक्तव्य भंग सिद्ध नहीं हो सकता है। युगपत् धर्मद्वयोंसे आक्रान्त वस्तुका न किसी अन्यशब्दसे निरूपण होता है और न अवक्तव्यशब्दसे ही प्रतिपादन होता है। अवक्तव्य कहनेसे तो केवल वस्तुका एक वक्तव्यत्वाभाव धर्म कहा गया। पूर्ण वस्तु या धर्मद्वयसे आक्रन्त हो रही वस्तु तो अवक्तव्य कैसे भी नहीं हुयी।

कथमिदानीं " अवाच्यैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते " इत्युक्तं घटते ? सकृद्धर्मद्वयाक्रान्तत्वेनेव सत्त्वाद्येकैकधर्मसमाक्रान्तत्वेनाप्यवाच्यत्वे वस्तुनो वाच्यत्वाभावधर्मेणाक्रान्तस्यावाच्यपदेनाभिधानं न युज्यते इति व्याख्यानात्।

जब कि आप जैन धर्मद्वयाक्रान्त वस्तुका अवक्तव्यशब्द द्वारा प्रतिपादन होना नहीं मानते हैं तो श्रीसमन्तभद्र स्वामीका यह कहना कैसे घटित होगा कि अवाच्यताका ही यदि एकान्त माना

जायगा तो अवाच्य (अवक्तव्य) इस प्रकारका कथन करना भी युक्त नहीं होता है। । अर्थात् स्वामीजीके कथनसे प्रतीत होता है कि एक ही समय धर्मद्वयसे घिरी हुयी वस्तु एक अवक्तव्य शब्दसे कही जा सकती है। आचार्य कहते हैं कि ऐसे आक्षेप होनेपर हमारा यह कहना है कि देवागमकी उक्त कारिकाका व्याख्यान तुम कहते हो वैसा नहीं है, किन्तु इस प्रकार है कि एक समय दो से अधिक धर्मोंसे आक्रान्तपने करके जैसे वस्तु अवाच्य है, उसी प्रकार सत्त्व, असत्त्व, आदिमेंसे एक एक धर्मसे आरूढपने करके भी वस्तुको यदि अवाच्य माना जायगा तो वाच्यत्वाभाव नामके एक धर्म करके घिरी हुयी वस्तुका अवाच्यपद करके कथन करना नहीं युक्त हो सकता है। भावार्थ—पूर्ण वस्तुको अवक्तव्यशब्दसे वाच्य नहीं माना जाता है, किन्तु वस्तुके वाच्यत्वाभाव नामक धर्मको कहनेके लिये अवक्तव्यशब्द है। यदि सर्वथा ही वस्तुके अवाच्यपनका एकान्त माना जायगा तो उस एक वाच्यत्वाभाव धर्मका भी अवाच्यशब्दसे कथन करना नहीं युक्त हो सकेगा।

येन रूपेणावाच्यं तेनैव वाच्यमवाच्यशब्देन वस्त्विति व्याचक्षाणो वस्तु येनात्मना सत् तेनैवासदिति विरोधान्नोभयैकात्म्यं वस्तुन इति कथं व्यवस्थापयेत् ? सर्वत्र स्याद्वाद-न्यायविद्वेषितापत्तेः। ततो वस्तुनि मुख्यवृत्त्या समानबलयोः सदसत्त्वयोः परस्पराभिधान-व्याघातेन व्याघाते सतीष्टविपरीतनिर्गुणत्वापत्तेः।

स्वामीजीकी कारिकाके उत्तरार्धका यदि कोई इस प्रकार व्याख्यान कर रहा होय कि जिस स्वरूपसे वस्तु अवाच्य है, उस ही स्वरूप करके अवाच्यशब्दके द्वारा वाच्य है, ऐसा व्याख्यान करनेपर तो जिस स्वरूपसे वस्तु सत् है, उसी स्वरूपसे असत् है, यह भी कहा जा सकता है, तो फिर विरोध होनेके कारण वस्तुके दोनों धर्मोंका एकात्मपना नहीं होता है। यह कारिकाका प्रथम पाद कैसे व्यवस्थित हो सकेगा ? कारिकाके ऐसे अंट संट व्याख्यान करनेसे तो सभी स्थलोंपर स्याद्वादसिद्धान्तसे विशेष द्वेष रखनेवालेपनका प्रसंग होता है, जो कि कारिकाके द्वितीय पादमें कहा है। तिस कारण वस्तुमें मुख्य प्रवृत्तिसे आरोपे गये समानबलवाले सत्त्व और असत्त्व धर्मोंका परस्परमें कथन करनेका व्याघात हो जानेके कारण जब दोनोंका विनाश हो जायगा, ऐसा होने पर तो इष्टसिद्धान्तसे विपरीत हो चुकी वस्तुको गुण रहित हो जानेकी आपत्ति हो जायगी। अर्थात् सुन्द, उपसुन्द, न्यायसे तुल्यबलवाले दोनों गुणोंका नाश हो जायगा तो वस्तु निर्गुण हो जायगी। जो कि सबको अपने अपने इष्ट सिद्धान्तसे विपरीत पडती है।

विवक्षितोभयगुणेनाभिधानात् अवक्तव्योऽर्थ इत्ययमपि सकलादेशः परस्परावधा-रितविविक्तरूपैकात्मकाभ्यां गुणाभ्यां गुणिविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्यामविवक्षितां-शभेदस्य वस्तुनः समस्तैकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वाभिधातुं प्रक्रान्तत्वात्। स चावक्तव्यशब्देनान्यैश्च षड्भिर्वचनैः पर्यायान्तरविवक्षया च वक्तव्यत्वात् स्यादवक्तव्य इति निर्णीतमेतत्।

विवक्षाको प्राप्त हुए अस्तित्व और नास्तित्व दोनों गुणोंको मिलाकर कथन करनेसे वस्तुभूत अर्थ अवक्तव्य है। इस प्रकार यह भी वस्तुके सकल अंशोंको कहनेवाला सकलादेश वाक्य है क्योंकि परस्परमें अवधारण किये गये अपने पृथक् पृथक् अकेले अकेले स्वरूपवाले और गुणवाली वस्तुके विशेषण होकर एक समयमें आरोपे गये दो अस्ति नास्ति गुणों करके ही उस पूर्ण वस्तुका कथन करनेके लिये प्रकरण प्राप्त हो रहा है, जिस वस्तुके कि अंशोंके विकल्प विवक्षाको प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु अभेदवृत्ति या अभेदके उपचार करके गुण स्वरूपकी अपेक्षा समस्त वस्तुको एक मान लिया गया है। भावार्थ—विवक्षाको प्राप्त हुए दो अंश और नहीं विवक्षाको प्राप्त हुए अनेक अंश इन सबका पिण्डभूत वस्तु एक है। अतः अवक्तव्य शद्वकरके पूर्ण वस्तु कही गयी। यह जैन सिद्धान्तके अनुसार अभेद माननेपर ही सकलादेश द्वारा कहा जा सकता है। तथा वह वस्तु या अर्थ तीसरे भंगको कहनेवाले अवक्तव्य शद्व करके और अन्य छह भंगोंके वाचक छह वचनों करके दूसरे दूसरे पर्यायोंकी विवक्षासे कथन करने योग्य है। अतः पदार्थ कथञ्चित् अवक्तव्य है। इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्णीत हो चुका। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य होती हुयी भी सात भंगोंके वाचक शद्वों करके वक्तव्य है। हां! भेददृष्टिसे विकालादेशकी अपेक्षा वक्तव्यत्वाभाव नामका धर्म ही अवक्तव्य है।

एतेन सर्वथा वस्तुसत् स्वलक्षणमवक्तव्यमेवेतिमतमपास्तं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवचनव्यवहारस्य तत्राभावप्रसंगात्। यदि पुनरस्वलक्षणं शद्वेनोच्यते निर्देश्यव्यावृत्त्या चानिर्देश्यशद्वेन विकल्पप्रतिभासिन एवाभिधानात् न तु वस्तुरूपं परामृश्यत इति मतं, तदा कथं वस्तु तथा प्रतिपन्नं स्यात्? तथा व्यवसायादिति चेत् सोऽपि व्यवसायो यदि वस्तुसंस्पर्शी शद्वस्तं स्पृशतु करणवत्। न हि करणजनितं ज्ञानं वस्तु संस्पृशति न पुनः करणमिति युक्तम्। करणमुपचारात्तत्स्पृशतीति चेत् तथा शद्वोऽपीति समानम्।

इस उक्त कथन करके बौद्धोंके इस मतका भी खण्डन कर दिया जा चुका है कि परमार्थ रूपसे वस्तुभूत हो रहा स्वलक्षण पदार्थ तो सभी प्रकारोंसे अवक्तव्य है। वास्तविक सत् पदार्थको तो शद्व छूता ही नहीं है। हम (आचार्य) कहते हैं कि यदि स्वलक्षणको सभी प्रकारसे अवक्तव्य माना जायगा तो " स्वलक्षण कथन करने योग्य नहीं है, स्वलक्षण क्षणिक है, विशेषरूप है, " इत्यादि वचनोंके द्वारा व्यवहार होनेका अभाव उस स्वलक्षणमें प्राप्त हो जायगा। गुरु शिष्य उपदेष्टा आदि सब जने चुप होकर बैठ जायंगे। फिर यदि तुम बौद्धोंका यह मन्तव्य हो कि स्वलक्षण शद्वसे वस्तुभूत स्वलक्षण नहीं कहा जाता है। शद्वसे तो अन्यापोह कहा जाता है, जो कि अवस्तुभूत होकर विकल्पज्ञानमें प्रतिभास रहा है। स्वलक्षण शद्वसे अस्वलक्षण व्यावृत्ति कही जाती है जो कि स्वलक्षणसे भिन्न है। और अनिर्देश्य शद्वसे निर्देश करने योग्यपनकी व्यावृत्ति कही

जाती है। वास्तविकस्वरूपका तो शद्वसे विशिष्टज्ञान नहीं हो पाता है। ऐसा मन्तव्य होनेपर तो हम बौद्धोंसे पूंछते हैं कि तब आप वस्तुको तिस प्रकार अनिर्देश्य, क्षणिक, स्वलक्षण, आदि स्वरूपों करके कैसे समझ सकोगे ? बताओ ! यदि तिस प्रकार क्षणिकपन, अवक्तव्यपन, आदि करके वस्तुका निर्णय हो जानेसे उसकी प्रतिपत्ति होना मानोगे तो वह आपका माना हुआ निर्णय करना भी यदि वास्तविक अर्थका भले प्रकार स्पर्श कररहा है, तब तो शद्व भी इन्द्रियोंके समान उस वस्तुभूत अर्थको छूलेवे (विषय करलेवे)। भावार्थ—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष जैसे यथार्थ वस्तुको जान लेता है। वैसे ही शद्वजन्य आगमज्ञान भी वस्तुको जान लेवे। इसपर कोई बौद्ध यदि यों कहे कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो वस्तुको विषय करता है। इन्द्रियां तो वस्तुको विषय नहीं करती हैं। तैसे ही जडशद्व भी वस्तुको नहीं स्पर्शता है, इसपर हमारा यह कहना है कि इन्द्रियोंसे जन्मा हुआ ज्ञान तो वस्तुको भले प्रकार स्पर्श करे, किन्तु फिर इन्द्रियां वस्तुका स्पर्श नहीं करें, यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है। इन्द्रियोंके विषय करनेपर ही इन्द्रियजन्य ज्ञान वस्तुको छू सकेगा। अन्यथा नाकसे रूप क्यों न देखलिया जाय ? इसपर बौद्ध कहते हैं कि कार्यका कारणमें उपचार करनेसे इन्द्रिय भी उस वस्तुको स्पर्शती है। ऐसा कहनेपर तो हम आक्षेप करेंगे कि तिस प्रकार शद्व भी वस्तुको विषय कर लेवे। इन्द्रिय और शद्व दोनोंमें आक्षेप और समाधान तुल्य हैं।

शद्वजनितो व्यवसायोऽपि न वस्तु संस्पृशति इति चेत् कथं ततो वस्तुस्वरूपं प्रत्येयम् ? भ्रान्तिमात्रादिति चेत् न हि परमार्थतदनिर्देश्यमसाधारणं वा सिद्धचेत्। दर्शनात्तथा सिद्धिरिति चेत् न, तस्यापि तत्रासामर्थ्यात्। न हि प्रत्यक्षं भावस्यानिर्देश्यतां प्रत्येति निर्देशयोग्यस्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात्।

बौद्ध कहते हैं कि शद्वसे उत्पन्न हुआ निश्चयात्मक ज्ञान भी वस्तुको भले प्रकार नहीं छूता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो हम वही प्रश्न उठायेंगे कि तिन बौद्ध शास्त्रों या बुद्ध वक्ताके शद्वोंसे वस्तुस्वरूपको तुम भला कैसे समझ सकोगे ? बतलाओ ! यदि केवल भ्रान्तिसे ही वस्तुका समझना मानोगे, तब तो परमार्थरूप स्वलक्षण अनिर्देश्य (अवक्तव्य) है। अथवा असाधारण (विशेष) है, यह नहीं सिद्ध हो पायेगा। यदि निर्विकल्पक दर्शन (प्रत्यक्ष) से तिस प्रकार अनिर्देश्य और असाधारण उस स्वलक्षणकी सिद्धि करोगे, यह तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि उस आपके माने हुए प्रत्यक्षकी भी उन अनिर्देश्य आदिको जाननेमें सामर्थ्य नहीं है। प्रत्यक्षज्ञान इन बातोंका विचार नहीं कर पाता है कि यह वस्तु अवाच्य है, विशेषरूप है, सामान्य नहीं है, एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाली है, इत्यादि। किन्तु विचार करना तो श्रुतज्ञानका कार्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो पदार्थोंके अनिर्देश्यपनको नहीं जानता है, यह सभी मानते हैं। हां ! कथन करने योग्य और सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका उस प्रत्यक्षसे साक्षात्कार हो जाता है।

स्वलक्षणव्यतिरिक्ता केयं निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभातीति चेत् तस्यासाधारणताऽनिर्देश्यता वा केति समः पर्यनुयोगः। स्वलक्षणत्वमेव सेति चेत् समः समाधिः, साधारणतानिर्देश्यतयोरपि तत्स्वरूपत्वात्।

जैनोंके प्रति बौद्ध पूछते हैं कि स्वलक्षणसे भिन्न होकर यह आपकी बतलायी हुयी निर्देश्यता (वक्तव्यता) अथवा साधारणता (सामान्यपन) भला क्या प्रतिभास रही है ? बताओ ! ऐसा प्रश्न करनेपर तो हम जैन भी पूंछेगे कि आप बौद्धोंसे मानी गयी असाधारणता (विशेष) अथवा अनिर्देश्यता (अवाच्यता) भी उस स्वलक्षणसे न्यारी भला क्या दीखती है ? बताओ ! इस प्रकार सकटाक्ष चोथ उठाना दोनोंके लिये समान (एकसा) है। इसपर आप बौद्ध यदि यों उत्तर दें कि असाधारणता और अनिर्देश्यता तो स्वलक्षण स्वरूप ही हैं, उससे न्यारी नहीं हैं, तब तो हमारी ओरसे भी यही समाधान समानरूपसे समझ लेना चाहिये कि साधारणता और निर्देश्यता भी उस वस्तुके स्वलक्षणस्वरूप ही हैं। स्वभाववान्के स्वभाव उसके स्वरूप ही होते हैं।

तर्हि निर्देश्यं साधारणमिति स्वलक्षणमेव नामान्तरेणोक्तं स्यादिति चेत् तवाप्य साधारणमनिर्देश्यमिति किं न नामान्तरेण तदेवाभिमतम्। तथेष्टौ वस्तु न साधारणं नाप्य साधारणं न निर्देश्यं नाप्यनिर्देश्यमन्यथा चेत्यायातम्। ततोऽकिञ्चिद्रूपं जात्यन्तरं भवन्न दूरीकर्त्तव्यं गत्यन्तराभावात्।

बौद्ध कहते हैं कि तब तो निर्देश्य और साधारण इस प्रकारके पर्यायवाची दूसरे शब्दों करके स्वलक्षण ही कहा गया कहना चाहिये। जैन आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो तुम बौद्धोंके यहां भी असाधारण और अनिर्देश्य इन दूसरे पर्यायवाची शब्दों करके वह स्वलक्षण ही कहा गया क्यों न मान लिया जावे ? अर्थात् स्वलक्षण भी शब्दके द्वारा आपके यहां कहा गया हुआ साधारण और निर्देश्य शब्द करके स्वलक्षण कथन किये जानेपर भी आप यों प्रसन्न हो सकते थे कि जब शब्द वस्तुको छूता ही नहीं है तो अनिर्देश्य और साधारण शब्दको बकने दो, स्वलक्षण तो कान मूंद करके बैठा हुआ है, किन्तु आपके अभीष्ट अनिर्देश्य और असाधारण शब्द तो यों ही बकवाद करके न चले जायेंगे। उन्हें तो वस्तुकी गोदमें आपको बैठाना पडेगा। तभी आपके इष्टतत्त्वकी सिद्धि हो सकेगी और तिस प्रकार इष्ट करनेपर तो वस्तु न तो साधारण है। असाधारण भी नहीं है। कथन करने योग्य भी नहीं है और अवक्तव्य भी नहीं है। अन्य प्रकारके धर्मोंसे भी नहीं है, यह सिद्धान्त आया। क्योंकि शब्दके द्वारा जो कहा गया वह आपके मतानुसार ठीक नहीं माना गया है। तिस कारण साधारण असाधारण या निर्देश्य अनिर्देश्य अथवा दूसरे प्रकार से वस्तुका कुछ भी स्वरूप न रहा, किन्तु आपने वस्तु मानी है। अतः तीसरी भिन्न जातिकी वस्तु कुछ भी स्वरूपोंको रखती हुयी दूर नहीं की जा सकेगी। आपके पास वस्तुके कुछ स्वरूपोंके

सिद्ध करनेके लिए दूसरे उपाय है नहीं। भावार्थ—शद्वके द्वारा ही वस्तुके स्वरूप सिद्ध किये जा सकते हैं। किन्तु बौद्धोंने शद्वको वस्तुस्पर्शी माना नहीं है। अब क्या उपाय शेष रहा? प्रत्यक्ष तो स्वभावोंका निर्णय नहीं कर सकता है। अनुमान केवल समारोपोंको दूर करता रहता है। "पोतकाक" न्यायसे शद्वकी ही शरण लेना आवश्यक है।

तदकिञ्चिद्रूपं चेत् कथं वस्तु व्याघातं सकृत्कल्पितरूपाभावादकिंचिद्रूपं नानुभूयमानरूपाभावादिति चेत् तवाप्यसाधारणं तत्किमिदानीमनुभूयमानरूपं वस्तु स्थितं? तथा वा स्थाने तैमिरिकानुभूयमानमपीन्दुद्वयं वस्तु स्यात्।

उस वस्तुका स्वरूप कुछ भी नहीं है, यदि ऐसा कहोगे तो बताओ! वह वस्तु कैसे बनेगी? कुछ भी स्वरूप नहीं है और वह वस्तु है, ऐसा एकबार कहनेमें व्याघातदोष है। अर्थात् जो कुछ भी नहीं हैं, वह वस्तु नहीं हो सकती है और जो वस्तु है, वह "कुछ नहीं" नहीं हो सकती है। इसपर यदि बौद्ध यों कहें कि (एक बार ही) कल्पना कर लिये गये अनेक स्वरूप तो वस्तुमें नहीं हैं। इस कारण वस्तु अकिञ्चित् स्वरूप है यानी व्यवहारिक शद्वोंसे बोले गये धर्मों करके उसका कुछ भी स्वरूप नहीं है। हां! प्रत्यक्षज्ञानरूप अनुभवमें आरहे स्वरूपोंके अभावसे वस्तु अकिञ्चित्रूप होय ऐसा नहीं है। अर्थात् वस्तुके प्रत्यक्ष करने योग्य स्वरूप तो वास्तविक हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा करनेपर तो हम पूंछेंगे कि तुम्हारे यहां भी माना गया वस्तुका वह असाधारणस्वरूप क्या इस समय अनुभवमें आरहा होकर स्थित हो रहा है? यदि वस्तुके तिस प्रकार असाधारणरूपसे अनुभव किये गये स्वरूपकी श्रद्धा करोगे, तब तो तमारा रोगवाले पुरुषके द्वारा अनुभूत हो रहे दो चन्द्रमा भी वस्तुभूत हो जायेंगे। भावार्थ—एक ही समय दो चन्द्रमा देखनेमें अभी तक नहीं आये हैं, किन्तु आधी मिची हुयी आंखमें अंगुली गाढकर देखनेपर या नेत्र-विकार हो जानेपर दो चन्द्रमाका विशेषरूपसे नवीन ज्ञान होता है। ऐसे असाधारण अनुभवके विषय दो चन्द्रमा वस्तुभूत हो जायेंगे। अथवा धत्तूरको खानेवाले या पीलिया रोग वाले पुरुष द्वारा असाधारणरूपसे देखा गया सब सोना भी वास्तविक हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणं वस्तु नान्यदिति चेत् तर्हि यथा प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं तादृशं वस्तु तद्लिंगशब्दादिविकल्पोपदर्शितमपि देशकालनरान्तराबाधितरूपत्वे सति किं नाभ्युपेयते विशेषाभावात्। ततो जात्यन्तरमेव सर्वथैकान्तकल्पनातीतं वस्तुत्वमित्युक्तेः स्यादवक्तव्यमिति सूक्तम्।

यदि आप यों कहो कि जिस पदार्थके असम्भव होनेको बाधा देनेवाला प्रमाण भले प्रकार निर्णीत हो चुका है। अथवा जिस पदार्थके सद्भावकी सिद्धिमें बाधक होरहे प्रमाणका असंभव

है वह वास्तविक पदार्थ है। अन्य पदार्थ वस्तुभूत नहीं है। एक समय एक ही क्षेत्रमें दो चन्द्रमाको जाननेवाला ज्ञान बाधासहित है। अतः दो चन्द्रमा परमार्थभूत नहीं हैं, तब तो हम कहेंगे कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा अनुभवकी जारही तैसी बाधारहित वस्तु यथार्थ है। उसीके समान अविनाभावी हेतु, संकेत ग्रहण किया शद्ब, चेष्टा आदिसे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञानद्वारा प्रदर्शित किये पदार्थ भी दूसरे देश, अन्य काल, और भिन्न भिन्न व्यक्तियोंसे अबाधित स्वरूप होनेपर वस्तुभूत क्यों न मान लिये जावें। प्रत्यक्ष और विकल्पसे जाने गये विषयमें कोई अन्तर नहीं है। भावार्थ—संपूर्ण देश और सम्पूर्ण काल तथा अखिल व्यक्तियोंके द्वारा जो बाधारहित होकर जान लिया गया है, चाहे वह प्रत्यक्षसे जाना गया हो या विकल्पज्ञानसे जाना हो। वस्तुभूत पदार्थ है। प्रत्यक्ष और विकल्पज्ञानसे जाने गये पदार्थके परमार्थपनेमें कोई अन्तर नहीं है। तिस कारण सभी प्रकार एकान्तोंकी कल्पनाको उल्लंघन करता हुआ सर्वथा निर्देश्य या अनिर्देश आदिसे विलक्षण जातिवाला पदार्थ ही वस्तुभूत है। ऐसा कहनेसे कथञ्चित् जीव आदि वस्तु अवक्तव्य हैं। इसी बातको भले प्रकार कहा जा चुका है। यहांतक तीसरा भंग अवक्तव्य सिद्ध हुआ।

" क्रमार्पिताभ्यां तु सदसत्त्वाभ्यां विशेषितं " जीवादि वस्तु स्यादस्ति च नास्ति-चेति वक्तुं शक्यत्वाद्वक्तव्यं स्यादस्तीत्यादिवत्।

क्रमसे विवक्षित किये गये सत्त्व और असत्त्व धर्मोंकरके विशिष्ट होते हुए तो जीव आदि वस्तु कथञ्चित् अस्ति और नास्तिस्वरूप हैं। इस प्रकार कह सकनेके कारण चौथे भंगद्वारा जीव आदि वस्तु कथञ्चित् वक्तव्य हो जावे, जैसे कि स्यादस्ति इत्यादि वाक्योंसे कहने योग्य होनेके कारण स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, और स्यादवक्तव्य इन भंगोंके द्वारा वस्तुको कहने योग्य सिद्ध किया जा चुका है। इस चौथे भंगमें विशेष विवाद नहीं है। अतः थोडे कथनसे ही कार्यसिद्धि हो गयी है।

कथमस्त्यवक्तव्यमिति चेत् प्रतिषेधशद्धेन वक्तव्यमेवास्तीत्यादि विधिशद्धेनावक्तव्य-मित्येके, तदयुक्तं, सर्वथाप्यस्तित्वेनावक्तव्यस्य नास्तित्वेन वक्तव्यतानुपपतेः विधिपूर्वक-त्वात् प्रतिषेधस्य। सर्वथैकान्तप्रतिषेधोऽपि हि विधिपूर्वक एवान्यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्था-नाभावप्रसंगात्। दुर्नयोपकल्पितं रूपं सुनयप्रमाणविषयभूतं न भवतीति प्रतिषेधे सर्वथैका-न्तस्य न कश्चिद्व्याघातः।

पांचमा भंग अस्त्यवक्तव्य कैसे बनता है? ऐसी आक्षेपसहित शंका होनेपर कोई एक विद्वान् ऊपरसे ही समाधान करते हैं कि निषेधवाचक नास्ति शद्ब करके तो जीव आदिक वक्तव्य ही हैं, किन्तु अस्ति इत्यादिक विधि (सत्ता) वाचक शद्ब करके जीव आदिक अवक्तव्य हैं। अतः अस्ति होकर अवक्तव्य हो गया। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार एक विद्वान्का यह कहना युक्ति रहित है। क्योंकि सर्व प्रकारसे भी अस्तित्व धर्मकरके नहीं कहे जाने योग्य जीव आदिकका नास्ति-पने करके भी वक्तव्यपन नहीं सिद्ध होता है। कारण कि पूर्वमें जब किसीकी सत्ता प्रतीत हो जाती

है, तब पीछे उसका निषेध किया जाता है। अन्यत्र विद्यमान होरहे घटका रीते भूतलमें निषेध करते हैं। खरविषाणका निषेध नहीं हो सकता है। देखो! सर्वथा एकान्तोंका निषेध करना भी अवश्य विधिपूर्वक ही माना गया है। मिथ्याज्ञानी प्रथम गुणस्थानमें मिथ्या अभिनिवेशके वश होकर एकान्तोंको मान लेते हैं और सम्यग्ज्ञानी उन एकान्तोंका निषेध कर देते हैं। अन्यथा यानी एकान्तोंको यदि सभी प्रकारसे न माना जायगा तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अभावका प्रसंग होगा। खोटी नयोंसे गढ लिया गया पदार्थका स्वरूप श्रेष्ठ नय और प्रमाणोंका विषयभूत नहीं होता है। इस कारणसे भी सर्वथा एकान्तोंका निषेध करनेमें कोई व्याघातदोष नहीं है। अर्थात् एकान्तका निषेध भी विधिपूर्वक ही होता है। अतः पांचमे भंगके लिये एक विद्वान्की बनायी गयी रीति प्रशस्त नहीं है।

अस्तित्वविशिष्टतया सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टतया च वस्तुनि प्रतिपित्सिते तदस्त्यवक्तव्यमित्यन्ये, तदप्यसारम्। तत्रास्त्यवक्तव्यावक्तव्यादिभंगान्तरप्रसंगात्। ततोऽपि सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टस्य ततोप्यपरसहार्पितधर्मद्वयविशिष्टस्य वस्तुनो विवक्षाया निराकर्तुमशक्तेः प्रतियोगिधर्मयुगलानामेकत्र वस्तुन्यनन्तानां सम्भवात् तेषां च सहार्पितानां वक्तुमशक्यत्वात् अस्त्यनन्तावक्तव्यं वस्तु स्यात् तच्चानिष्टम्।

अस्तित्व धर्मकी विशिष्टतासे और एक साथ विवक्षित किये गये उससे भिन्न अस्ति, नास्ति, इन दो धर्मोंकी विशिष्टतासे वस्तुके जाननेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर वह वस्तु कथञ्चित् अस्ति होकर अवक्तव्य है। इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् पांचमे भंगकी उपपत्ति कर रहे हैं, वह भी उनका कथन निस्सार है। क्योंकि यों तो उन अस्ति और नास्तिसे भिन्न दूसरे दो धर्मोंकी विवक्षा करनेपर दूसरे तीसरे कई अवक्तव्योंको मिलाकर अस्तिअवक्तव्य-अवक्तव्य आदि अन्य भंगोंके बढजानेका प्रसंग होगा। उससे भी न्यारे अन्य साथ कहनेके लिये विवक्षित किये गये और उससे भिन्न दो धर्मोंसे विशिष्ट वस्तुकी तथा उनसे भी भिन्न न्यारे साथ अर्पित किये दो धर्मोंसे विशिष्ट वस्तुकी विवक्षाका निराकरण करनेके लिये अशक्ति है। एक वस्तुमें नित्य अनित्य, एकत्व अनेकत्व, इष्ट अनिष्ट, आदि प्रतियोगीस्वरूप अनन्त युगलिया धर्मोंका सम्भव है और एक समयमें साथ अर्पणा कर लिये गये उन धर्मोंकी कहनेके लिए अशक्यता होनेके कारण अस्ति होकर अनन्त अवक्तव्य धर्मवाली वस्तु हो जायगी, किन्तु इस ढंगसे वे अनन्त अवक्तव्य धर्म इष्ट नहीं हैं। अतः पांचमे भंगका यह ढंग भी अच्छा नहीं है।

येन रूपेण वस्त्विति तेन तत्प्रतियोगिना च सहाक्रान्तं यदा प्रतिपत्तुमिष्टं तदास्त्यवक्तव्यमिति केचित्, तेऽपि यावद्भिः स्वभावैः यावन्ति वस्तुनोस्तित्वानि तत्प्रतियोगिभिस्तावद्भिरेव धर्म्मैः, यावन्ति च नास्तित्वानि तद्युगलैः सहार्पितैस्तावन्त्यवक्तव्यानि च रूपाणि ततस्तावन्त्यः सप्तभंग्य इत्याचक्षते चेत् प्रतिष्ठत्येव युक्त्यागमाविरोधात्।

जिस स्वरूपकरके वस्तु है उससे तो अस्ति है, किन्तु उस स्वरूप करके और उसके प्रतियोगी धर्मकरके घिरी हुयी होकर एक ही समयमें समझनेके लिये जब इष्ट की गयी है, तब अस्त्यवक्तव्यरूप है। इस प्रकार कोई पांचमे भंगकी पुष्टि कर रहे हैं। वे भी यदि इस प्रकार स्पष्ट कह देवें कि जितने स्वभावों करके एक वस्तुके जितने अस्तित्वरूप भावधर्म हैं और उन धर्मोके प्रतियोगीरूप उतने ही स्वभावों करके जितने नास्तित्वरूप धर्म हैं, उतने एक समय साथ विवक्षित किये गये उन अनेक युगलधर्मों करके उतनी संख्यावाले अनेक अवक्तव्यरूप हो जाते हैं। और तिन अवक्तव्योंसे उतनी संख्यावाली सप्तभंगियां बन जाती हैं। तब तो युक्ति और आगमसे अविरोध होनेके कारण उनका कथन प्रतिष्ठित हो ही जाता है अन्यथा नहीं। भावार्थ—वस्तुको अस्ति या एकत्व, नित्यत्व, आदि धर्मोंसे युक्त करते हुए और युग्मधर्मकी साथ विवक्षा करनेपर पांचमा भंग बन जाता है।

एतेन नास्त्यवक्तव्यं चिन्तितं प्रत्येयं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं च वस्त्विति प्रमाणसप्तभंगी सकलविरोधवैधुर्यात् सिद्धा। नयसप्तभंगी तु नयसूत्रे प्रपञ्चतो निरूपयिष्यते।

इस उपर्युक्त कथनसे नास्त्यवक्तव्य नामके छठवें भंगका विचार कर लिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात् नास्ति होकर युग्म धर्मसे साथ विवक्षित होती हुई वस्तु नास्त्यवक्तव्य धर्मसे कही जाती है। तथा सातवां भंग कथञ्चित् अस्ति, नास्ति, और अवक्तव्यस्वरूप वस्तु है, यह भंग भी वस्तुके अस्तित्व, नास्तित्व, और अवक्तव्य धर्मोंकी एक साथ योजना करनेपर बन जाता है। अनेक वादियोंके भिन्न प्रकारके एकान्त हो रहे हैं। अद्वैतवादियोंका सत्तारूप ही एकान्त है और तत्त्वोपप्लव वादियोंका नास्तित्वरूप एकान्त है। बौद्ध तत्त्वोंको अवक्तव्य माननेका आग्रह कर रहे हैं। वैशेषिक भाव अभावरूप निरपेक्ष अस्ति नास्तिके एकान्तमें मग्न हैं। शंकराचार्यके मतानुयायी आत्माको अस्ति मानकर अवक्तव्य मानते हैं। माध्यमिक पदार्थको नास्ति होकर अवक्तव्य स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बर अस्ति, नास्ति, मानकर अवक्तव्य कह रहे हैं, किन्तु स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार परस्परकी अपेक्षा रखते हुए सातों धर्म वस्तुभूत इष्ट किये जाते हैं। इस प्रकार जीव आदि वस्तु (धर्मी) में प्रमाण द्वारा निर्दिष्ट की गयी सप्तभंगी संपूर्ण विरोधोंके रहितपनेसे सिद्ध करदी गयी है और नय सप्तभंगी तो नय प्रतिपादक अन्तके सूत्रमें विस्तारसे निरूपण की जावेगी। स्थूलदृष्टिसे विचारा जाय तो शब्द द्वारा नयसप्तभंगी और प्रमाण-सप्तभंगीमें कोई अन्तर नहीं है, किन्तु भंगोंका निरूपण करते समय प्रतिपत्ताका यदि वस्तुके धर्मपर लक्ष्य है तो नय-सप्तभंगी हो जाती है और पूर्ण वस्तुरूप धर्मीपर यदि लक्ष्य स्थित है तो प्रमाण-सप्तभंगी हो जाती है। विशेष कथन आगे करेंगे।

ततः परार्थोऽधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः, अन्यथा कात्स्न्र्येनैकदेशेन च तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।

तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि वचनस्वरूप प्रमाण और नयों करके दूसरे श्रोताओंके लिये शिक्षा की जानी चाहिये। जैसे कि ज्ञानस्वरूप प्रमाण और नयों करके स्वयं अपने लिये अधिगम

करना योग्य है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे पूर्णरूप और एकदेश करके तत्त्वार्थोंका अधिगम होना नहीं बन सकता। सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, सम्भव, आदि उपाय तो अधिगतिके ज्ञापक हेतु नहीं हैं। यहांतक " प्रमाणनयैरधिगमः " इस सूत्रका संकलन कर दिया है।

—=x=—

छठे सूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षेपसे विवरण यों है कि प्रथम ही नाम आदिकसे निक्षिप्त किये गये पदार्थोंको पूर्णरूप और एकदेशसे अधिगम होना प्रमाण और नयोंसे बताया गया है। प्रमाण और नय ज्ञानोंको अपनी ज्ञप्ति तो अभ्यास तथा अनभ्यासदशामें स्वतः परतः हो जाती है। नयकी अपेक्षा प्रमाणको पूज्यपना है। नयज्ञान प्रमाणरूप नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है। किन्तु प्रमाणभूत श्रुतज्ञानका एकदेश है। तैसे ही नयका विषय भी वस्तु है और अवस्तु न होकर वस्तुका एकदेश है। उसके बाद आचार्योंने अवयवी पदार्थको सिद्ध किया है। बौद्धोंके तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायसे विषय नियम माननेका खण्डन किया गया है। ज्ञान निरंश और क्षणिक नहीं है, किन्तु सांश और कालान्तरस्थायी है। सत्त्वकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति नहीं है। बौद्धोंके मतका खण्डन हो चुकनेपर ब्रह्माद्वैतवादियोंके स्वतःसिद्ध हाथ लग गये तत्त्वका भी आचार्योंने निरास कर दिया है। विशेषके विना सामान्य रहता नहीं है। केवल अंश या अंशीको नयज्ञान जानता है, किन्तु अंश और अंशीके समुदाय वस्तुको प्रमाण जानता है। वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका कथन करनेवाला प्रमाणवाक्य है और वस्तुके विकल अंशका निर्देश करनेवाला नय–वाक्य है। प्रमाणके द्वारा वस्तुको जानकर उसके अंशको जाननेमें विवाद होनेपर नयज्ञान प्रवर्तता है। असंज्ञी जीवोंके नयज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं है। श्रुतज्ञानके विषयमें ही नयकी प्रवृत्ति है। मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानको मूल मानकर उनके विषयमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं है। अपना और अर्थका निश्चयस्वरूप विकल्प करना अधिगम है। वह प्रमाण और नयों करके किया गया अभिन्न फल है। ज्ञानमें स्वयंकी ज्ञप्ति होना अच्छी युक्तियोंसे घटाया है, जिस बातको कि कोई एकान्तवादी नहीं मानता है। संवाद और असंवादसे प्रमाणपन और अप्रमाणपन व्यवस्थित हो रहा है। विपर्यय ज्ञानमें स्वके लिये योग्य अर्थका विशेषरूपसे निश्चय नहीं है। प्रमाण और नयरूप करणोंसे अधिगमरूप फल कथंचित् भिन्न है। यहां बौद्धोंकी मानी हुई प्रमाण फलव्यवस्थाका और तदाकारताका खण्डन कर ज्ञानावरणके विघटनसे ग्राह्य ग्राहकपन सिद्ध किया है। प्रमितिका साधकतम होनेसे भावइन्द्रियां प्रमाण हैं। अज्ञान निवृत्ति प्रमाणका अभिन्न फल है, तथा हान उपादन और उपेक्षा बुद्धियां प्रमाणसे भिन्न फल हैं। किन्तु एक आत्मामें होनी चाहिये। प्रमाण और फलके भेद और अभेदका अच्छा विचार किया है।

ज्ञानस्वरूप प्रमाण और नयोंसे स्वके लिये अधिगम होता है। तथा वचनस्वरूप या शब्दस्वरूप प्रमाण नयोंकरके दूसरोंके लिए अधिगम होता है। मति आदि पांच ज्ञान हैं। अस्ति आदिक सात भंगोंसे प्रवृत्त रहा सात प्रकारका शब्द है। प्रश्नके वशसे सात भंगोंकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्धोंका माना हुआ शब्दोंकी योजनासे शून्य स्वलक्षण पदार्थ कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ग्रहण करता है। सदृश परिणामरूप व्यञ्जन पर्यायें ही शब्दोंके द्वारा कही जाती हैं, सूक्ष्म पर्यायें नहीं। किन्तु उनसे अभिन्न द्रव्यका जैसे तैसे प्रतिपादन हो जाता है, संख्यात शब्दों करके कथन करने योग्य अनन्त धर्मोंके वचनमार्ग अनन्त सप्तभंगीरूप हो सकते हैं, जैसे सदृश गोशब्द वाणी, पशु, आदि दश अर्थोंको कह देता है। वस्तुके परिणामोंका लक्ष्य रखकर नयको जाननेवाला विद्वान् सप्तभंगोंकी प्रक्रियाका योजन करता है। सात धर्मोंमेंसे कोई भी एक धर्म शेष छह धर्मोंसे अविनाभाव रखता है। स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागसे वस्तुपनकी व्यवस्था है। स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तु है। परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। वस्तुभूत कल्पित सात धर्म सात विवादोंको पैदा करते हुए सात प्रकारकी जिज्ञासाके अनुसार सात प्रश्नोंके उत्तरस्वरूप सात भंगोंका निरूपण करा देते हैं। न्यून अधिक भंग होनेके लिये सम्भावना नहीं है। सब इन्हींमें ही गर्भित हो जाते हैं। दूसरे धर्मोंकी अपेक्षासे यदि प्रश्न उठाये जायंगे तो दूसरी सप्तभंगियां यहां हो जावेंगी। इस प्रकार एक वस्तूमें असंख्य सप्तभंगियां हो जाती हैं। कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोष नहीं आता है। अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये वाक्यमें अवधारण करना आवश्यक बतलाया है। अन्यथा कहना न कहना बराबर है। तीन प्रकारके एवकारोंको पुष्टकर निपातोंको वाचक और द्योतक स्वीकार करते हुए शब्दका विधिनिषेधात्मक अर्थ सिद्ध किया है। यह विचार बडा चमत्कारक है। प्रत्येक वाक्यके द्वारा कोई न कोई पदार्थ व्यवच्छेद्य अवश्य होता है। सर्व, ज्ञेय, आदि पदोंका भी व्यवच्छेद्य अर्थ है। स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार सर्वव्यवस्था बन जाती है। जैसे कि संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें अग्नि है और निष्ठत्वसम्बन्धसे अग्निमें पर्वत रहता है। अथवा पत्नीका स्वामी पति है किन्तु पतिकी भी स्वामिनी पत्नी है। यही पतिपत्नी सम्बन्ध है। पति शब्दका ही स्त्रीलिङ्गमें पत्नी बन जाता है जिस शब्दके साथ एव लगाया जाता है, उसीसे अवधारण अर्थका कथन होकर एवसे द्योतित कर दिया जाता है। अजीवकी सत्ता करके भी जीव अस्तिरूप न हो जाय, इसके लिये स्यात्कारका प्रयोग करना आवश्यक है। स्यात् शब्दसे अनेकान्तका द्योतन होता है। स्यात् लगाने पर ही एवकार शोभित होता है। अभेदवृत्ति और अभेद उपचारसे सकलादेशद्वारा संपूर्णवस्तुका युगपत् निरूपण हो जाता है और भेदकी विवक्षासे विकलादेश द्वारा क्रमसे कथन होता है। काल आदि आठोंसे भेद और अभेद अर्पित किये जाते हैं। यहां स्याद्वादकी प्रक्रियाके उत्पादक बीजभूत पदार्थोंकी सिद्धि की गयी है। स्यात् शब्दके द्वारा अनेकान्तके ध्वनित होनेपर भी

विशेष प्रतिपत्तिके लिये अस्ति आदिक शब्दोंका प्रयोग करना अनिवार्य है। चाहे बोलो, या न बोलो, स्यात्कार और एवकार अपने काम करनेके लिये वाक्यमें जुड ही जाते हैं । आगे सकलादेश और विकलादेशका निर्णय किया गया है। शब्दसे कहा गया धर्म प्रधान है। शेष अर्थापत्तिसे ज्ञायमान धर्म अप्रधान हैं। शब्दोंके गौण, मुख्य दोनों अर्थ अभीष्ट हैं। आदिके तीन भंग निरंश हैं, यानी उनमें एक एक अंश है। चौथे आदिमें दो तीन अंश है। मूल दो भंगोंके उन्नायक अनेक मार्ग हैं। जीव और अस्तिमें कथञ्चित् भेदाभेद है। अनेकान्तरूप अभेद किलेमें बैठे हुए स्याद्वादियोंके ऊपर एकान्तवादियोंकी ओरसे दिये गये संकर, व्यतिकर, आदि दोष आघात नहीं पहुंचा पाते हैं। प्रत्युत भूषण बन जाते हैं। अनेकान्त अनेकान्तरूप ही है, यह भी एकान्त इष्ट किया गया है। विवक्षित नयसे साधागया एकान्त भी अनेकान्तका पोषक है। इन सिद्धान्तोंको आचार्य महाराजने श्रीसमन्तभद्राचार्यके वचनोंका प्रमाण देकर साधा है। मूल दो भंगोंकी सिद्धिके पश्चात् दोनों भंगोंकी युगपत् विवक्षा होनेपर अवक्तव्य भंगकी पुष्टि की है। यहां एकान्तवादियोंकी ओरसे आये हुए उपद्रवोंका श्रेष्ठ युक्तियोंसे निराकरण किया है। अपनी बुद्धिसे गढ लिया गया भी कोई शब्द दो धर्मोंको एकदम नहीं कह सकता है। यहां अवक्तव्य धर्मका बहुत बढिया व्याख्यान किया है। शब्दके द्वारा वास्तविक अर्थ छूना न माननेवाले सौगतोंके प्रतिबाधक प्रमाणोंके असम्भवका निर्णय हो जानेसे वस्तुव्यवस्था सिद्ध की है। संक्षेपसे चौथे भंगको सिद्ध कर पांचमें भंगके विवादोंको हटाकर अस्त्यवक्तव्यका निरूपण किया है, तथा छठे सातवें भंगका निरूपणकर सूत्रका संकलन कर दिया है। इस सूत्रके भाष्यमें अन्य भी अनेक अवान्तर प्रकरणोंका विचार चलाकर सप्तभंग-प्रक्रियाको स्याद्वाद-सिद्धान्तके अनुसार साधा गया है। सहृदय, प्रतिभाशाली, विद्वान्, अनुमनन कर विशेषरूपसे शास्त्ररहस्यको हृदयंगत कर सकेंगे। इस ग्रन्थका जितना गहरा घुसकर विचार किया जायगा, उतना ही रहस्य अधिक प्राप्त होगा।

" स्याद्वाद और अनेकान्त "

मुमुक्षु जीवोंको आराधने योग्य और सम्यग्ज्ञानका अनन्तवां भाग श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानमें भी अनभिलाप्य ज्ञानका अनन्तवां भाग शब्द द्वारा प्रतिपाद्य होता है। क्षपक श्रेणीमें कर्मोंका समूल चूल नाश करनेमें जो शुक्लध्यान होता है, वह श्रुतज्ञानकी ही अंश उपांशोंको जाननेवाली पर्यायोंका पिंड है। मति, अवधि और मनःपर्ययज्ञान कर्मक्षय करनेमें समर्थकारण नहीं हैं। हां ! श्रुतज्ञानरूप सहस्रधार खड्ग ही घातिकर्म शत्रुओंका नाशकर कैवल्य साम्राज्यलक्ष्मीका अव्यवहितरूपसे सम्पादन करता है।

इस ही कारण नय, उपनय, स्याद्वाद, अनेकान्तपद्धति, सप्तभंगी, आदि द्वारा श्रुतज्ञानकी

आराधना करना मोक्ष पुरुषार्थका बीज है। श्रुतज्ञान अंशी होकर प्रमाण है। नय, उपनय, ये श्रुतज्ञानके अंश हैं।

वस्तुके कतिपय धर्मोंको शब्द द्वारा समझने, समझानेवाले, प्रतिपाद्य, प्रतिपादकोंके ज्ञानका बीज स्याद्वाद वाङ्मय है। स्याद्वाद और अनेकान्तका इतिहास अनादि है। एकान्तोंपर इनकी दिग्विजय भी सनातन है। अनेकान्तका क्षेत्र व्यापक है, जब कि स्याद्वादका प्रतिपाद्य विषय व्याप्य है। अर्थात् बहुभाग अनन्तानंत अनेकान्तोंमें संख्यात संख्यावाले शब्दात्मक स्याद्वादोंकी प्रवृत्ति नहीं भी है। अनेकान्त वाच्य है, स्याद्वाद वाचक है। इनका कर्णधार श्रुतज्ञान है। भव्यमुमुक्षु सम्यग्ज्ञानी आत्मा इन धर्मवैचित्र्यों और विविध वचन कलाओंका प्रभु है। अनन्त धर्मोंका अविष्वभाग पिंड हो रही वस्तुके अनुजीवीगुण प्रतिजीवीगुण, आपेक्षिक धर्म, पर्याय शक्तियां, एवं पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, सप्तभंगीविषय नाना स्वभाव आदि अनेक वृत्तिमान् धर्मोंको अनेकान्त कहते हैं। एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक विधिनिषेधोंकी कल्पना करना सप्तभंगी है।

वस्तुके स्वभाव हो रहे भाव और अभाव ये दो धर्म ही शेष पांच भङ्गोंके व्यवस्थापक हो जाते हैं। सर्वत्र अनेकान्तका साम्राज्य है। किन्तु स्याद्वादप्रक्रिया आपेक्षिक धर्मोंमें प्रवर्तती है। अनुजीवी गुणोंमें नहीं। पुद्गल रूपवान् है, आत्मा ज्ञानवान है, मोक्षमें अनन्तसुख है। ऐसे स्थलोंपर सप्तभंगीका प्रयोग करना अनुचित है। सम्यक्एकान्त तथा मिथ्याएकान्त और सम्यक्अनेकान्त तथा मिथ्याअनेकान्तके समान सप्तभंगीके भी सम्यीचीनसप्तभंगी और मिथ्यासप्तभंगी ये दो भेद होते हैं।

स्यात्के साथ अवधारण करनेवाला एवकार भी लगा हुआ है।

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे घटको अस्ति कहते हैं। उसी समय परसम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके घटका नास्तित्व भी प्रस्तुत है।

अनुजीवी, प्रतिजीवी हो रहे भाव, अभाव दोनोंका बल समान है। यदि भावपक्षको सामर्थ्यशाली और अभाव पक्षको निर्बल माना जायगा तो निर्बल द्वारा बलवान्की हत्या करनेपर साङ्कर्यदोष हो जानेके कारण वस्तु स्वयंको भी रक्षित नहीं रख सकेगी। शनैः शनैः भोजन करनेपर मध्यमें अस्पर्शन और अरसनके व्यवधान पड रहे जाने जा रहे हैं। भोज्यसे अतिरिक्त व्यञ्जनोंका अरसन भी तत्कालीन व्यवहृत हो रहा है।

गोल पंक्तिमें लिखे हुये अक्षरोंके ऊपर छेदोंकी गोल पंक्तिवाली चालनीके रख देनेपर व्यवहित हो रहे अक्षर नहीं बांचें जाते हैं। किन्तु उन अक्षरोंके ऊपर चलनीको शीघ्र घुमा देने या डुलादेनेसे वे अक्षर व्यक्त, अव्यक्त पद लिये जाते हैं। यहां चलनीके घुमानेपर शुक्लपत्रके ऊपर लिखे हुये काले अक्षरोंकी शीघ्र शीघ्र आभा पड जानेसे पत्रकी शुक्लतामें कुछ कालापन और अक्षरोंके कालेपनमें भूरेपनकी आभा पड जाती है। चक्रमें अनेक लकीरोंको कई रंगोंसे लम्बा

खींचकर पुनः उसको शीघ्र घुमा देनेपर आभाओंका साङ्कर्य निरखिये । साथ ही मध्यमें रीते अन्तरालोंको भी देखते जाइये । चौकीपर धरे हुये भूषणको देखते समय सिंह, सर्पादिका अभाव ही हमको निर्भय कर रहा है । अन्यथा सिंह, सर्प, विष, आदिके सद्भावकी प्रतीति हो जानेपर भूषण, भोजनादिको छोडकर दृष्टा, रसयिता, स्पृष्टा पुरुष न जाने कहां भागता फिरेगा । यों जगत्के सभी व्यवहार लुप्त हो जायेंगे, शून्यवाद छाजायेगा ।

अतः भाव, अभाव, स्वभाओंसे गुम्फित हो रही वस्तु माननी पडती है । यों स्वकीय देश, देशान्श, गुण, गुणान्शोंसे अस्तित्वस्वरूप और अन्यदीय देश, देशान्श गुण गुणान्शों करके नास्ति स्वरूप हो रहे पदार्थोंमें स्वभावभूत आपेक्षिक धर्मों और सप्तभंगी विषयक कल्पित धर्मोंका अवलम्ब लेकर १ स्यादस्ति २ स्यान्नास्ति ३ स्यादवक्तव्य ४ स्यादस्तिनास्ति ५ स्यादस्त्यवक्तव्य ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्य ७ स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य, ये सात वाक्य बना लिये जाते हैं ।

यह अस्तित्वधर्म उस अस्तित्वधर्मसे न्यारा है, जो कि अस्तित्व, वस्तुत्वादि छः सामान्य गुणोंमें अनुजीवी होकर पढा गया है । अस्तित्वके समान नित्यत्व, एकत्व, महत्त्वम्, पूज्यत्व आदि धर्मोंका आलम्बन पाकर शब्दमुद्रा करके अगणित संख्यात सप्तभङ्गियां हो सकती हैं । और ज्ञानमुद्रासे अनन्ती सप्तभङ्गियां समझली जाती हैं ।

सकलादेश और विकलादेश द्वारा प्रमाण सप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीका प्ररूपण हो जाता है, यह स्याद्वादका चमत्कार है । अब अनेकान्तके विवरणको यों परखिये—

पुद्गलमें केवलज्ञान, या आकाशमें रूप अथवा मुक्त जीवोंमें मिथ्याज्ञान आदि स्थलोंपर ही विरोधदोष माना जाता है । किन्तु अग्निमें शीतलता, जलमें उष्णता, सूर्यका पश्चिममें उदय होना, विषभक्षणसे आरोग्य होना, एक ज्ञानमें प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनोंका होना, आदि विरोधी सरीखे दीख रहे विषयोंमें विरोध नहीं है । देखिये—

एक देवदत्तमें पितापन, पुत्रपन, भानजापन, भतीजापन, भाईपन आदि धर्म अविरोधरूपसे वर्त रहे हैं । संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें अग्नि है, किन्तु निष्ठत्व सम्बन्धसे अग्निमें वही पर्वत ठहरता है । स्वनिष्ठविषयिता निरूपितविषयिता सम्बन्धसे अर्थमें ज्ञान निवास करता है । साथ ही स्वनिष्ठ विषयता निरूपितविषयिता सम्बन्धसे ज्ञानमें अर्थ ठहर जाता है । जन्यत्व सम्बन्धसे बेटेका बाप है । उसी समय जनकत्व सम्बन्धसे तदैव बापका बेटा है । समवाय सम्बन्धसे डालियोंमें वृक्ष है तदेव तदैव समवेतत्वसम्बन्धसे वृक्षमें डालियां हैं । यों धर्मीका धर्म बन जाना और धर्मका धर्मी बन जाना जैनसिद्धान्त अनुसार कोई विरोध नहीं रखता है । अग्निमें दाहकत्व पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व, प्रकाशकत्व धर्मोंके साथ ही शैत्यसम्पादकत्व धर्म भी है । अग्निसे भुरसे हुयेको अग्निसे ही सेका जाता है । " विषस्य विषमौषधं " " गर्मीका इलाज गर्मी ही है ", जलसे सींचनेपर तो

घावमें चौगुनी दाह बढती है। जलकी जमाई हुई बर्फके टुकडे टुकडेमें गर्मी घुसी हुई है। समुद्रमें वडवानल है ।

एक कच्चे और पके चने या चावलमें मध्यकेन्द्रसे लेकर ऊपरतक पचासों पर्तोतक न्यारे न्यारे अनेक स्वाद हैं। सात हाथकी लाठीको मध्यमें पकडकर बालक भी उठा सकता है। इसके उष्टमांश भागको पकडकर युवा पुरुष उठा लेता है। किन्तु अन्तिम मात्र आधा इञ्च भागको पकडकर तो कोई बडा पहलवान् भी नहीं उठा सकता । यहां लाठीके सर्व अवयवोंमें शोक नामक पर्याय शक्तिके न्यारे न्यारे अनेक वस्तुभूत धर्म वर्त रहे मानने पडते हैं ।

ढाई द्वीपमें सभी क्षेत्रोंकी अपेक्षा सुदर्शन मेरु उत्तर दिशामें है । इस सिद्धान्तानुसार सूर्यका पश्चिममें उदय होना अबला, बालक सभी समझ जाते हैं। " अष्टसहस्री " में एक स्थानपर लिखा हुआ है कि—अनेक जीव विषकी " मरण करा देना " शक्तिका ज्ञान रखते हुए भी उसकी कुष्ठ दूर करनेकी शक्तिका परिज्ञान नहीं कर पाते हैं। एक लौकिक दृष्टान्त है कि—किसी प्रसिद्ध नगरमें एक धुरन्धर वैद्य रहता था। वहां अनेक वैद्य, हकीमों, डाक्टरोंसे निराश होकर एक उदुंबर कुष्ट रोगी आया। धुरन्धर वैद्य महाराज प्रत्येक रोगीको देखकर औषधिका परचा लिख दिया करते थे। ऐसी स्वेच्छापूर्वक बाजारसे दवाई खरीद कर इष्ट सिद्धि कर लेते थे। यह कुष्ट रोगी भी प्रसिद्ध वैद्यजीके पास चिकित्सा करानेके लिये उपस्थित हुआ। वैद्यजीने कष्ट-साध्य रोगका निदान कर और काकतालीयन्यायके समान असम्भव नहीं किन्तु अशक्य, अद्वैत औषधिका सेवनपत्रपर लिखकर रोगीको दे दिया। और कह दिया कि इस रोगका इलाज अतीव कठिन है, तुम कुछ दिनमें मर जाओगे।

दुःख पीडित दरिद्र रोगी भी हताश होकर शीघ्र मृत्युको चाहता हुआ बनकी ओर चल दिया। वहां पहुंच कर देखता है कि एक नरकपालमें तत्कालवर्षाके भरे हुये पानीको काला भुजङ्ग पी रहा है। मरणाकांक्षी कोढीने मृत्युका बढिया उपाय समझकर खोपडीके विषमय जलको धाप कर पीलिया, उसी समयसे वह रोगी चङ्गा होने लगा। और कुछ ही दिनोंमें हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, गर्विष्ठ होकर अनुभवी वैद्यजीके निकट आया, और कहने लगा कि आपने मेरी चिकित्सा करनेकी उपेक्षाकी थी। किन्तु मैं आपके सामने नीरोग, बलवान् खडा हुआ हूं। कहो तो तुम्हें ही पटक मारूं ? वैद्यजीने कहा कि तुम्हारे रोगकी केवल एक ही औषधि थी जो कि मैंने परचेमें लिख दी थी। उस दवाईका मिलना शक्यानुष्ठान नहीं समझकर हमने तुम्हारी चिकित्सा करनेका निषेध कर दिया था। वैद्यने उस भूतकुष्टरोगीसे अपनी औषधिका लिखा हुआ पत्र निकलवाया। उस परचेमें जहरीले काले प्रचण्ड सर्पके द्वारा मनुष्य खोपडीमें भरे हुये तत्कालीन वर्षाके पानी पी लेनेका औषधि सेवन लिखा पाया गया।

यों अनेकान्तका साम्राज्य सर्वत्र छा रहा है। संखिया, हरताल आदि अनेक विषोंकी औषधियां बनाई जाती हैं। ज्वर आदि रोगोंका नाश कर देती हैं।

वस्तुमें रक्खे हुये अनेकान्त रत्नोंका स्याद्वादकोट द्वारा रक्षण करते हुये जिज्ञासु सैनिकों करके एकान्तदृष्टियोंका निराकरण कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है।

निरंश परमाणु भी सांश है। परमाणु आप ही अपना आदि भाग है और स्वयं ही अपना पूरा मध्यभाग है। तथा स्वयं पूरा शरीर ही उसका अन्त है। यों एक परमाणुमें अनन्तानंत परमाणु प्रविष्ट होकर संयुक्त हो रहे हैं। किन्तु परमाणु भी एकान्तरूपसे निरंश नहीं है। चौकोर बरफीके समान छह पहलोंको धारण करनेवाले परमाणुके शक्तिकी अपेक्षा, छः मूर्त्त अंश हैं। यद्यपि बरफीके प्रत्यक्षमें आठ कोने दीखते हैं। तथापि बरफी स्थूल है। परमाणु अतिसूक्ष्म है। बरफीके एक कोनेसे दूसरी बरफीके कोने भले ही मिल जायं, किन्तु अन्य बरफीकी अखंड भींत नहीं भिड सकती है। अतः कोनोंको उपमान न समझकर बरफीके पहलोंको परमाणुके अंशोंका दृष्टान्त मान लेना चाहिये। बरफीकी चौरस भींतें छः हैं। यदि बरफीके सभी ओर अन्य बरफियां रखदी जावें तो मध्यवर्ती बरफीकी एक एक ओरकी भींतोंको छूती हुई छः बरफियां संसर्ग करेंगी। ठीक इसी प्रकार अत्यन्त छोटे परमाणुकी चारों दिशाओंमें चार और ऊपर, नीचे, इस प्रकार छः परमाणुयें न्यारे न्यारे छः अंशोंमें संबंधित हो जावेंगी। तभी मेरु और सरसोंकी समानताका दोष प्रसङ्ग भी निवृत्त हो सकेगा। अतीव अणीयान् पदार्थ भी निरंश होकर सांश है।

प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न २ क्षेत्रोंमें वर्त रहा आकाश पदार्थ कल्पित सांश है। साथ ही अखण्डद्रव्य हो रहा आकाश निरंश भी है। चौकोर बरफीके समान—जैसा परमाणु है, ठीक उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी छः पहलवाला पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः इन छहों ओरसे एकसा चौकोर हो रहा अखण्डद्रव्य है। सबसे छोटे परमाणु और सबसे बडे आकाशकी व्यञ्जनपर्याय सदृश है। इसी बातको श्रीवीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्तीने आचारसार ग्रन्थके तृतीयाधिकारमें यों लिखा है कि—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुस्स्पर्शतीन्द्रियः॥
व्योमामूर्त्तं स्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं घनम्। भावावगाहहेतुश्चानंतानंतप्रदेशकम्॥

एक बार मैं गुरुवर्य पं. गोपालदासजीके साथ दक्षिण देशकी यात्राको गया था। वहां श्री बाहुबलिस्वामीकी अत्यन्त छोटी मूर्तिके दर्शन किये। और साथ ही जैनबद्रीमें श्रीबाहुबलि स्वामीकी बृहदाकार शान्तरसमय मूर्तिका दर्शन कर कृतार्थ हुआ।

उस समय परमाणुका लघु शरीर और ठीक उसीके समान आकृतिवाले आकाशका महापरिमाण दृष्टान्तरूपेण स्मरणपथपर आगया था। लोकमें सर्प नकुलका, सिंह गायका, भेडिया बकरीका विरोध माना जाता है। किन्तु सच पूंछो तो इनमें भी एकान्तरूपसे विरोध नहीं है। सर्कसके तमा-

शेमें भले ही इनका विरोधाभाव भय मूलक होवे, किन्तु क्षमाशील मुनि महाराजके निकट या समवसरणमें इनका सख्यभाव है। यह बात केवल आगमाश्रित ही नहीं है। प्रत्युत युक्तिसिद्ध और अनुभव प्रसिद्ध भी है।

कतिपय प्रमाणज्ञानोंमें भी अप्रमाणता अनुप्रविष्ट हो रही है और मिथ्याज्ञानोंमें भी प्रमाणपना घुस रहा है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने।

भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते॥

इस कारिकाद्वारा उक्त प्रामाण्य, अप्रामाण्यके अनेकान्तको पुष्ट किया है। स्वको जाननेमे सभी मिथ्याज्ञान प्रमाण हैं। झूंठ बोलनेवाला यदि अपनेको झूंठा कहे तो उतने अंशमें वह सच्चा है।

ठूंठमें हुये पुरुष या स्थाणुके संशयज्ञानमें ठूंठमें हो रहे घोडा या हाथीके संशयज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणताका विशेष अंश माना जायेगा। अधखुली आंखके पलकमें स्वल्प अंगुली गाढनेपर एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रमाके विपर्ययज्ञानमें लोटेको घोडा जाननेवाले विपर्ययज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणपनका अंश अप्रमाणताके साथ अधिक माना जावेगा। परीक्षकोंको न्याय उचित बात स्वीकार कर लेना चाहिये। यह तो हुई मिथ्याज्ञानोंमें प्रमाणपनके साङ्कर्यकी बात।

अब बहुतसे सर्वाङ्गरूपेण प्रसिद्ध हो रहे प्रमाणोंमें भी अप्रमाणपनकी झलख निरखिये।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने २ विषयोंमें एक देशसे अविसंवाद रखते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तो अपने नियत विषयोंमें पूर्णरूपेण सम्वादी हैं। हां! केवलज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओंको जाननेमें परिपूर्ण विशद है। इस कारण परिपूर्णरूपसे प्रमाणपनका अधिकारी है। इस प्रकार पांचों ज्ञानोंमें तीन ढंगसे प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है। भले ही केवलज्ञान सबको जानता है। फिर भी रसनाइन्द्रिय जनित प्रत्यक्षसे जैसे लड्डूके रसका अनुभव होता है, वैसा केवलज्ञानसे नहीं। केवलज्ञानकी विषयतासे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंकी विषयता बाल बाल न्यारी बची हुई है।

जैन न्यायका यह अखण्ड सिद्धान्त है कि—"यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदाः वस्तुनि सन्तिः" जितने भी छोटे बडे कार्य जिस अर्थसे होते हैं उतने वस्तुभूत स्वभाव उस पदार्थमें अनिवार्य विद्यमान हैं। मनःपर्यय और अवधिज्ञानमें भी देशघाति प्रकृतियोंका उदय कुछ बिगाड कर देता है। तभी तो "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता" यह सिद्धान्त जागरूक हो रहा है। सफलप्रवृत्तिजनकत्व, निर्बाधत्व, समारोपविरोधकत्व, इनमेंसे कोई भी अविसंवाद जहां जैसा जितने परिमाणमें घटित होगा वहां उतने परिमाणमें प्रमाणपना माना जावेगा। प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, प्राप्तिकी एक अधिकरणता या प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति अथवा ज्ञेयमें अभीष्ट अर्थक्रियाकारित्व इन संवादोंसे भी प्रामाण्य व्यवस्थित हो रहा है। प्रायः मतिज्ञान, श्रुतज्ञानोंमें अप्रमाणपनकी पोल चल रही है। जिस ज्ञानमें जितनी पराधीनता होगी उतना ही वह मन्द होगा। चाक्षुष प्रत्यक्षको ही

लीजिये। किसी वृक्षको एक कोस दूरसे देखा जाय छोटा दीखेगा। जितना जितना वृक्षके निकट पहुंचते जायेंगे उतना उतना बडा दीखता जायगा।

वृक्षकी ठीक लम्बाई, चौडाई, कहांसे दीखती है, इसका निर्णय करना कठिन है। यों तो इनमेंसे सभी प्रत्यक्ष अपने द्वारा ठीक ठीक जाननेका दावा बखान रहे हैं। आखिर वृक्षकी यथाथ लम्बाई, चौडाई, किसी न किसी प्रत्यक्षसे दीखती जरूर है। अथवा क्या सूर्यविमानके गडबड प्रत्यक्षोंके समान ये प्रत्यक्ष भी होवें ? । वास्तविक इनकी परीक्षा दुःसाध्य है। इसी तरह दूरसे वृक्षका रूप काला दीखता है। निकटसे हरा दीखता है। मध्यस्थानोंसे देखनेपर हरे और काले रंगका मिश्रण तारतम्यरूपसे प्रतीत होरहा है। वृक्षका ठीक रूप किस स्थानसे दीखा है इसका निर्णय कौन करे ? एक शुक्ल वस्त्रको घाममें, छायामें, दीपकके प्रकाशमें, बिजलीके प्रकाशमें उजिरियामें देखनेपर अनेक ढङ्गोंके शुक्लरूप दीखते हैं, भले ही बिजली आदि निमित्तोंसे वस्त्रके शुक्ल रूपमें कुछ आक्रान्ति हो गई होय। फिर भी इस बातका निर्णय करना शेष रह जाता है कि वस्त्रका असली वर्ण किस प्रकाशमें दीखा था। न्यारी न्यारी आंखें भी रूपके देखनेमें बडी गडबड मचा देती हैं।

घडी बनानेवाले या चित्र दिखानेवाले पुरुषोंके पास एक प्रकारका कांच होता है। उस कांचके द्वारा दशगुना या हजारगुना लम्बा चौडा पदार्थ देखलिया जाता है। सूक्ष्म कीटोंको देखनेवाले यंत्रसे तो एक बाल भी मोटी रस्सीके समान दीख जाता है। इसी प्रकार चक्षुःइन्द्रियमें प्रतिबिम्बित हो रहा पदार्थ भी यथायथं एकलाख गुना प्रतिभास जाता है। इससे चक्षुके अप्राप्यकारीपनका निराकरण नहीं हो जाता है। हां ! यथार्थ ग्रहणको धक्का अवश्य लग जाता है।

सैकडों दर्पणोंमेंसे सम्भवतः कोई एक दर्पण ही शुद्ध होता होगा जो कि प्रतिबिम्ब्य पदार्थका ठीक ठीक प्रतिबिम्ब लेता होय। इसके विपरीत किसी दर्पणमें लम्बा, किसीमें चौडा, किसीमें पीला, किसीमें लाल, इत्यादि विकृतरूपसे मुख दीखते हैं। इसी तरह बालक, कुमार, युवा, वृद्ध, बीमार, निर्बल, सबल, घी खानेवाला, सूखा खानेवाला, बैल, गृद्ध, बिल्ली, उल्लू, आदि जीवोंकी आखोंमें भी प्रतिबिम्ब पडनेका अवश्य अन्तर होगा। यदि ऐसा न होता तो भिन्न २ नम्बरोंके चश्मे अनेक तादृश मनुष्योंको क्यों अनुकूल पडते हैं ? बताओ ! मोतियाबिन्दु रोगवालेका चश्मा किसी निरोग विद्यार्थीको उपयुक्त नहीं होता है। बात यह है कि पदार्थोंके ठीक ठीक लम्बाई, चौडाई, रंग और विन्यासका चाहे जिसकी आंखोंसे यथार्थ निर्णय होना कठिन है।

इधर सभी बालक, वृद्ध, रोगी अपने अपने ज्ञानको ठीक मान बैठे हैं। बडे मोटे अन्तरके देखनेपर तो बाधायें उपस्थित करते हैं। परन्तु छोटे अन्तरोंपर तो किसीका लक्ष्य भी नहीं पहुंच पाता है। यदि हम केवल वृक्ष या शुक्ल वस्त्र अथवा मुखका ही ज्ञान कर लें तो ठीक भी था। किन्तु आंखोंको बुरी आदतें पडी हुई हैं। अंट, संट, सद्भूत, असद्भूत विशेषणोंका अवगाह कर

चट विशिष्टबुद्धियोंको उपजा देती हैं। चाक्षुषप्रत्यक्षमें उन लम्बाई, चौडाई, रङ्ग, चपटापन आदि अवास्तविक सूक्ष्म अंशोंका भी प्रतिभास हो चुका है। जो कि यथार्थ नहीं हैं। यही ढङ्ग रसना इन्द्रियमें भी समझ लेना। अधिक भूंख लगनेपर जो घेवरका स्वाद आता है वह तृप्त होनेपर नहीं। उस एक ही पदार्थको खाते खाते मध्यमें स्वाद लेनेकी अनेक न्यारी न्यारी अवस्थायें गुजरती हैं। एक तोले वजनवाले मोटे कौरके मात्र ऊपरले कागज समान पतले भागका ही जिह्वासे स्वाद आता है। बहुभाग तो यों ही गटक कर पेटमें ढकेल दिया जाता है। रंधे हुये ऊपर नीचे लग रहे ५०० चावलोंके कौरमें कतिपय स्वाद हैं, किन्तु सैकडों पर्तोंवाले चावलकी प्रत्येक परतका स्वाद भी न्यारा है।

यों सूक्ष्मतासे विचारनेपर एक ही वस्तुमें भिन्न २ परिस्थितिके हो जानेपर दशों प्रकारके स्वाद अनुभूत हो रहे हैं। पेडा खानेके पीछे सेवफलका वैसा मीठा स्वाद नहीं आता है जैसा कि पेडा खानेके पहिले आ सकता है, भले ही जीभको खुरच लिया जाय। बहुतसे पुरुषोंका कहना है कि बाल्यावस्थामें फल, दुग्ध, चणक, मिष्टान्न आदिके जैसे स्वाद आते थे वैसे युवा अवस्थामें आते ही नहीं हैं। कुमार अवस्थाकेसे स्वाद बूढेपनमें नहीं मिलते हैं।

यद्यपि उस अवस्थाकी लार, दातोंसे पीसना, चबाना उदराग्निसन्दीपन, बुभुक्षा, आदिसे भी स्वाद लेनेमें अन्तर पड जाता है। फिर भी कहना यही है कि फल आदिके ठीक रसका ज्ञान किस अवस्थामें हुआ था ? सो समझाओ।

एक ही पदार्थको खाकर जब कि बालक युवा, रोगी, आदि सभीने अपने रासन प्रत्यक्षोंमें स्वादके अनेक विशेषको जान लिया है, तब ऐसी दशामें सबके रासन मतिज्ञानोंको सर्वाङ्गरूपसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी मोटे मोटे अंशोंमें प्रमाण है। ज्ञात कर लिये गये सूक्ष्म अंशोंमें नहीं। तर्जनी अंगुलीके ऊपर मध्यमा अंगुलीको चढालो, फिर अग्रिम दो पोटराओंकी बीच सन्धिमें किसी चने बराबर एक गोलीको चौकी या दूसरे हाथकी हथेलीपर धरकर डुलाओ। तुमको दो गोली मालूम पडेंगी।

हम लोगोंको आपेक्षिक ज्ञान अधिक होते हैं। ज्वरी पुरुषको वैद्यका शरीर शीतल प्रतीत होता है। जब कि वैद्यको ज्वरीका हाथ उष्ण ज्ञात हो रहा है। ठण्डे पानीमें अंगुली डालकर कुछ उष्ण जलमें अंगुली डाल देनेसे उष्ण स्पर्शका प्रतिभास होता है। साथ ही अधिक गर्म जल में अंगुली डुबोकर पुनः उसी किञ्चित् गर्म जलमें अंगुली डाल देनेसे शीतस्पर्शका ज्ञान होता है।

अधिक मिरच खानेवालेको स्वल्प मिरच पडे व्यंजनमें चिरपरा स्वाद नहीं आता है। किन्तु दूध पीनेवाले बालकका उस स्वल्प मिरचवाली तरकारीसे पूरा मुंह झुलस जाता है।

हम लोगोंके शरीरमें अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे पदार्थके स्पर्शको जाननेकी न्यारी न्यारी

परिणतियां होती रहती हैं। कहना तो यही है कि किस समयकी परिणतिसे सम्बन्धित वस्तुके स्पर्शको ठीक ठीक जान लिया है इसका निर्णायक उपाय हमारे पास नहीं।

घ्राण इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भी यही टंटा लग रहा है। दूरसे, समीपसे, और अतिशय निकट से उसी गन्धका ज्ञान होनेमें जो विशेषतायें बिना बुलाये अंटसंट झलक रही हैं। वे अयथार्थ ज्ञानांश हो रहीं उस अवयवी ज्ञानकी प्रामाणिकतामें टोटा डाल देती हैं। एक गन्धद्रव्यमें नाना व्यक्तिओंको भिन्न २ प्रकारकी वासें आ रही हैं। श्लेष्म रोगीको तो गन्धज्ञानमें बहुत चूक हो जाती है। कोई कोई पुरुष तो हींगडा, कालानमक, लहसुन, मूरा आदिकी गन्धोंमें सुगन्ध या दुर्गन्धपनेका ही निर्णय अपने विचार अनुसार कर बैठे हैं। जो कि एक दूसरेसे विरुद्ध पडता है। तभी तो गोम्मटसारमें अनुकूलवेदन और प्रतिकूलवेदनका लक्ष्यकर सुगन्ध और दुर्गंधको पुण्य पाप, दोनोंमें गिनाया है। लेकिन सुगन्ध और दुर्गंधका निर्णय किसकी नाकसे कराओगे ?।

शद्वके श्रावण प्रत्यक्षमें भी ऐसी पोलें चल रहीं हैं। दूर, निकटवर्ती, शद्वोंके सुननेमें अनेक अन्तर पड जाते हैं। बहिरङ्ग कारणोंके समान अन्तरङ्ग क्षयोपशम, शक्ति, [illegible], प्रसन्नता, दुःख, रोग, आदिकी अवस्थाओंमें भी अनिवार्य अनेक प्रकार छोटे, बडे विसंवाद हो जाते हैं।

श्रुतज्ञानमें भी अनेक स्थलोंपर पोलम्पोल मच रही है। किसी वस्तुका श्रुतज्ञान करते समय ही इष्टको अनिष्ट और अनिष्टको इष्ट समझ लिया जाता है। जब सांव्यहारिक प्रत्यक्षका यह हाल है तो विचारे परोक्ष श्रुतज्ञानोंमें तो और भी झंझटें पडेंगी।

किसी मनुष्यने सहारनपुरमें यों कहा कि बम्बईमें दो पहलवानोंकी भित्ती (कुश्ती) हुई। एक मल्लने दूसरेको गिरा दिया। दर्शकोंमेंसे प्रधान धनिकने विजेता मल्लको एक हजार रुपये पारितोषक (इनाम) में दिये। यहां विचारिये कि श्रुतज्ञान करनेवाला श्रोता पुरुष यदि कहे हुये शद्वोंके मात्र वाच्य अर्थका ही ज्ञान कर लेता तो उतना श्रुतज्ञान सर्वाङ्गीण ठीक मान लिया जाता। किन्तु सहारनपुरमें वक्ताके सन्मुख बैठा हुआ श्रोता उसी समय अपनी कल्पनासे लम्बे, चौडे अखाडेको गढ लेता है। एक मल्लको काला दूसरेको गोरा मान लेता है। दर्शक लोग कुर्सीपर बैठे हुये हैं, कोट, पतलून, पगडी, अंगरखा आदि पहने हुये हैं। प्रधान पुरुष रत्नोंके अलंकारोंसे मण्डित हो रहा मध्यमें सिंहासनपर बैठा हुआ है। हजार रुपयोंमें सौ सौ रुपयोंके दश नोट थे। विजेता मल्ल प्रसन्नतावश इधर उधर उछलता फिरा होगा। इत्यादि बहुतसी ऊट पटांग बातोंको भी साथ ही साथ उसी श्रुतज्ञानमें जानता रहता है, जो कि झूंठी हैं। श्रोता भी विचारा क्या करे ? झूंठी कल्पनाओंके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता है। लडनेवाले मल्ल अमूर्त तो हैं नहीं। अतः उनकी काली, गोरी, मोंछवाली या बिना मोंछवाली मूर्त्तिको अपने मनमें गढ लेगा। आकाशमें तो कोई भित्ती होती नहीं है। अतः अखाडेकी भी कल्पना करेगा। विचारे देखनेवाले पुरुष कहां बैठे होंगे। अतः कुरसी, मूढा, दरी, चटाई आदिको भी अपने

श्रुतज्ञानमें झलकायेगा। बात यह है कि एक छोटेसे श्रुतज्ञानमें चौगुनी, अठगुनी, बातें सच्ची, झूंठी घुस बैठती हैं। महापुराणको सुनकर भरत और बाहुबलीके युद्धमें भी बहुतसी असद्भूत बातें जोडली जाती हैं। भले ही चक्रवर्त्तीका मुंह पश्चिमकी ओर हो, किन्तु श्रोताओंके ज्ञानमें पूर्व, दक्षिणकी ओर भी जाना जा चुका है। ऐसी कल्पित कितनी कितनी गलतियोंको भगवान् जिनसेनाचार्य कहांतक कंठोक्त कहकर सुधरवा सकेंगे।

सहारनपुरमें एक बत्तड आदमी है। उसको जरासा छेड देनेपर घंटोंतक कानोंको चैन नहीं लेने देता है। प्रत्येक शहरमें एक दो आदमी और प्रत्येक मुहल्लेमें दो चार स्त्रियां ऐसी होती होंगी, जो बातें करती २ नहीं अघाती हैं। वे " तुम कहांसे आरहे हो " इतना प्रश्न करते ही अपना अत्यावश्यक कार्य छोडकर भी खाने, पीने, अदालत, सुनार, मकान आदिकी बातें बनाकर आकाश, पातालीय कुलावे जोडकर दिमाग खाली कर लेते हैं।

एक दिन उन गप्पाष्टकी महाशयने मुझसे जयजिनेन्द्र किया। मैंने शिष्टतावश उनसे, आप अच्छे हैं ? ऐसा प्रश्न कर दिया। मेरे इतने कहनेपर ही उन्होंने अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। ऐसे जीव अपना हर्जा उठाकर या सुननेवालेको कुछ तुंस देकर भी अपनी बातें सुनानेकी खुजली मिटानेके लिये उत्सुक रहा करते हैं। मुझको विद्यालय जानेकी जल्दी पड रही थी, किन्तु बाबदूक महाशयकी व्यर्थाव्यर्थ वाग्धारा कथमपि नहीं टूटी। वही एक दूसरे मेरे मिलनेवालेने चुपकेसे कहा—कि आपने कहां बर्रोके छत्तेपर हाथ डाल दिया, वह तो सबका कपार चाट जाता है। जल्दी मचानेपर भी मुझे उस दिन पौन घण्टेका विलम्ब हो गया। यहां मुझे यही कहना है कि— यही गपोडबाजीकी इल्लत हमारे अनेक शद्बजन्य शाद्बबोधोंमें भरी हुई हैं। एक शद्ब सुनते ही शाद्बबोध करनेवाला न जाने कितने लम्बे चौडे संकल्प विकल्पोंकी डांकगाडी छोड देता है, जिनके कि विशेष्य, विशेषण बहुभाग झूंठे हैं।

पदार्थके अन्यून और अनतिरिक्त ज्ञानको सम्यग्ज्ञान माना गया है। तभी तो दो अंगुलीको एक समझना और एक चन्द्रमाको दो समझना विपर्यय नामका मिथ्याज्ञान है। कहे हुयेसे अधिकको याथातथ्यरहित जान लेना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

तीर्थंकर भगवान्के जन्मकल्याणक अवसरपर इन्द्र आता है। पतितपावन भगवान्को सुमेरुपर्वतपर ले जाता है। इस कथनकी कितने आकार प्रकारकी सूरतें, मूर्ती बनाकर श्रोताजन श्रुतज्ञानकर बैठे हैं। इसके लिखनेके लिये बीसों पत्र चाहिये। भले ही सुमेरुपर्वतका चित्र खींचना त्रिलोकसारसे विरुद्ध पड जाय। इसकी कोई परवा नहीं है। जैसे पहिले कोई पहाड या जलाशय देखा सुना है, उससे मिलती, जुलती, आकृति गढली जाती है। फिर बिचारे संशय, विपर्यय अनध्यवसाय ज्ञानोंको ही क्यों मिथ्यापनकी गाली सुनाई जा रही है। कतिपय सत्यज्ञानोंमें भी तो कलियुगी बाजारियोंके समान पोलें चल रहीं हैं। उक्त संपूर्ण बातोंका निर्णय श्रीविद्यानन्द स्वामीने " तत्प्रमाणे " इस सूत्रके भाष्यमें बहुत अच्छा कह दिया है।

प्रमाणव्यवहारस्तु, भूयः संवादमाश्रितः। गंधद्रव्यादिवद्भूयो, विसंवादं तदन्यथा॥

प्रमाणपनेका व्यवहार तो बहुभाग संवादसे सम्बन्ध रखता है। और जिस ज्ञानमें बहुभाग या तीखे अंशोंमें विसंवाद है उस प्रमाणमें अप्रमाणपनका व्यवहार करना चाहिये। जैसे कपूर, केसर, कस्तूरी, आदिमें रूप, रस, आदिके होनेपर भी गन्धकी प्रधानता हो जानेसे उनको गंध-द्रव्य कहा जाता है। नीबू, नोंन, मिरच आदिको रसद्रव्य माना जाता है। उसी प्रकार बहुभाग या तीक्ष्णप्रमाणपनके अंश पाये जानेसे समीचीन ज्ञानको प्रमाण कह दिया जाता है।

मति आदि ज्ञानोंमें भी संवादके अनुसार जितनी प्रमाणता बांटमें आवे, उतनी संतोषपूर्वक ले लो। अधिकके लिये हाथ पसारना अन्याय है। लेखनी (नेजाकलम) की ऊपरकी छाल सभी चिकनी, कडी होती है। किंतु अक्षर लिखनेके लिये चाकूसे जितना तिल बरोबर छिला भाग उपयोगी है, वह कारण है। शेष बहुभाग उस लेखनीका सहायक है। सर्पके अगले पच्चीसवें हिस्सेमें आंख, कान, आदि अत्युपयोगी पांचों इन्द्रियां बनी हुई हैं। शेष चौवीस भाग सर्पका अल्प प्रयोजनको साधनेवाला निष्फल पुंछतक बना हुआ है। इसके लिये हम क्या करें!। यदि ज्ञानमें छोटी २ विशेषताओंका प्रतिभास नहीं होता तो हम उसके स्थूलरूपको सच्चा मान भी लेते किन्तु प्रतीक ज्ञानमें झूंठे सच्चे अनेक विशेषोंका तदात्मक विकल्प हो चुका है। अतः प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी परीक्षा करनी पडती है।

एक ही ज्ञानके प्रमाणपन, अप्रमाणपनका विवेचन बहुत अच्छा शंकासमाधानपूर्वक श्लोक-वार्तिकालंकारमें लिखा हुआ है। विज्ञ पुरुष उसका पर्यालोचन करें।

निष्कर्ष यह है कि, विरोधीसारिखे दीख रहे अनेक धर्मोंको भी वस्तु झेल रही है तो अविरोधी अनन्तानंत धर्मोंके धारणकी तो बात ही क्या है? एक पदार्थ जितने कार्योंको करता है, उतने स्वभाव प्रत्येक न्यारे न्यारे उसमें मानने पडते हैं।

एक युवतिके मृतशरीरको देखकर साधु, कामुक और कुत्तेका निर्वेद, इन्द्रियलोलुपता और भक्ष्यपन ये तीन कल्पनायें भी युवतिशरीरमें वस्तुभूत विद्यमान हो रहे तीन स्वभावोंके अनुसार ही हुई हैं। ऐसे तीन क्या तीन सौ, तीन लाख, तीनों अनन्तों परिमाणको लिये हुए स्वभाव वस्तुमें विद्यमान हैं। नीलांजनाके नृत्यमें भगवान् आदीश्वरको वैराग्य और शेष राजाओंको रागभाव उत्पन्न करादेनेकी दोनों निमित्त शक्तियां विद्यमान हैं। यों अनेक स्वभावोंके माननेपर ही पदार्थोंमें नवीन नवीन अर्थ क्रियायें बन सकती हैं। अर्थ क्रियाओंके नहीं होनेसे तो पदार्थ अवस्तु हो जायगा, जो कि नष्ट नहीं है।

मुखसे जितने लाखों, करोडों प्रकारके शब्द निकलते हैं, कंठ, तालु आदिमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त आदिको बनानेकी अनेक शक्तियां माननी पडेगी। व्याकरणशास्त्र अनुसार अवर्णके भले ही अठारह भेद हों, किन्तु सङ्गीत शास्त्रानुसार अवर्णके सा, रे, ग, म, प, ध, नी,

यों निषाद, ऋषभ आदिके मन्द, मन्दतर, मन्दतम भेदोंकी विवक्षासे सैकडों भेद हो जाते हैं। बीस बीस वर्ष श्वांस लेनेवाले भी इसी उच्चारणमें अन्तर पड जाता है। कई दिनोंतक भी श्वासोच्छ्वास नहीं लेनेवाले देवोंके यहां तो अवर्णके हजारों भेद हो जाते हैं। बात यही कहना है कि इन कार्योंके सम्पादनकी न्यारी न्यारी शक्तियां तालु आदि में माननी पडेंगी। खेतकी एक डली मिट्टी लाखों वनस्पतियोंकी उपजानेकी शक्ति रखती है। यों अनेकान्तके परिवारका कुछ दर्शन हो जाता है।

छः स्थानोंमें पडी हुई हानि, वृद्धि अनुसार अनन्तानंत अविभाग प्रतिच्छेदोंके अविष्वग्भाव समुदायको एक पर्याय कहते हैं। कालत्रयवर्त्ती अनन्तानंतपर्यायोंका ऊर्ध्वांश समुदाय एक गुण है। अनन्तानंत गुणोंका तादात्मक तिर्यगंश पिंड हो रहा एक द्रव्य है। व्यक्तिरूपसे अनन्तानंत द्रव्योंका संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्व नामका समूह लोक है। क्षेत्रप्रत्यासत्ति अनुसार एक अलोकाकाशमें अनन्तानंत लोक समान टुकडे हो सकते हैं।

एक बात यह और कहनी है कि " परिस्थितियोंके वश पडा हुआ कोई धर्म अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग कारणोंके अनुसार विलक्षण स्वभावोंको धार लेता है। अखंड ब्रह्मचारिणी सीताका ब्रह्मचर्य उसके नौ भङ्गों द्वारा पालन किये जानेसे अथवा सत्य, अचौर्य, आदि धर्मोंके सहचारसे संख्यात गुणा बढ गया था। एक जीव केवल ब्रह्मचारी है, दूसरा ब्रह्मचारी और सत्यव्रती है। और तीसरा व्यक्ति ब्रह्मचारी, सत्यव्रती हो रहा, अनेक आपत्तियोंके पडनेपर भी अपने धर्मसे नहीं विचलित होता है। इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट ब्रह्मचर्य गुणोंमें आनुषंगिक अनेक धर्मोंका सद्भाव मानना पडेगा।

जन्म कल्याणकके समय इन्द्र भगवान्को देखता है और हजार नेत्रसे देखनेपर भी परितृप्त नहीं होता है। यहां भी भावोंमें स्वभाव और उन स्वभावोंमें स्वभावान्तर तथा स्वभावान्तरोंमें अनेक न्यारे न्यारे धर्म ओत, प्रोत प्रविष्ट हो रहे हैं। इनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पाये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि " जो जिस विषयका रीता (दरिद्री) होता है वह उस पदार्थको अनन्य चित्त होकर घण्टों निरखता रहता है। अज्ञ श्रोता विचक्षण विद्वान्के मुंहकी ओर ताकता रह जाता है। पुत्ररहित सेठानी पुत्रसहित पिसनहारीकी ओर झांकती रहती है। निर्धन मनुष्य सेठको एक टक लगाकर देखता रहता है। इसी प्रकार नीरोगको रोगी, रण्डुवा विवाहितको, प्रजा राजाको, विधवा स्त्री सुहागिनको, निर्बल दांतवाला या पोपला आदमी दृढ दांतवालेको, तत्परता पूर्वक निरखते रहते हैं। प्रथम तो इन्द्रके पुत्र ही नहीं है, दूसरे भगवान्की वात्सल्यमय बालमूर्तिमें वैराग्य छटा ओत पोत उट्टंकित हो रही है। जिन तीर्थंकर महाराजसे असंख्यात जीवोंका उद्धार होता है, एक भवतारी और वैराग्यका परम अभिलाषुक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र, उस शान्त, वैराग्य, वात्सल्य, लावण्यसे भरपूर हो रहे जिनेन्द्रमुखको निरखता रहता है। आत्माके भाव मुखपर अवश्य आते हैं, " वक्त्रं वक्ति हि मानसम् "। मुझे यह कहना है कि " ज्ञानत्रय और तीर्थंकरत्वसे अविनाभाव रखनेवाली अनेक पुण्यप्रकृतिओंका उदय, परमोत्कृष्ट शारीरिक शक्ति, नरकोंमें भी

थोडी देरके लिये दुःख मिटानेवाला अचिन्तनीय सामर्थ्य, आदि अनेक स्वभावोंसे तीर्थङ्कर बालककी मुखाकृति इतनी प्रेक्षणीय हो गई है कि " इन्द्र भी रिक्त, मुग्ध पुरुषके समान घण्टों निरखता रहता है। इसी प्रकार एक दोषके साथ दूसरे दोषोंमें भी कई धर्म पैदा हो जाते हैं "। अष्टसहस्रीमें एक स्थलपर लिखा हुआ है कि " चौरपारदारिकसे अचौरपारदारिक निराला ही है "। असली चोर या डाकू पराई बहन बेटीके हाथ नहीं लगाते हैं, किंतु केवल माता या बहिन कहकर माल या गहना झपट लेते हैं। इसी प्रकार अजघन्य परदारासेवी पुरुष परस्त्रीके माल या गहनेको नहीं चुराता है, प्रत्युत स्वयं धन देता है। हां! कोई कोई जघन्य दोनों दोषोंसे लीन रहते हैं। चौथे प्रकारके सज्जन पुरुष दोनों दोषोंसे रहित हैं। जिस प्रकार एक गुणकी आभा दूसरे गुणपर जाती है और एक दोषका प्रभाव अन्य दोषोंपर प्रभाव कर जाता है। उसी प्रकार सांसारिक मनुष्योंमें दोषोंके प्रभाव गुणोंपर और गुणोंके प्रभाव दोषोंपर भी आक्रान्त हो जाते हैं। तभी तो—

" मरदुव जियदुव जीवो, अयदाचारस्स णिच्चिदा हिंसा। "

जीव जीवो या मरो यत्नाचाररहित प्रवर्तनेवालेको हिंसा जरूर लगेगी। ईर्या समितिका पालन कर रहे मुनिको कुलिंगजीवकी मृत्यु हो जानेपर भी उस हिंसाको निमित्त लेकर स्वल्प भी बंध नहीं होता है। इसी अध्यायके आठवें आह्निकमें " तत्सदभिधानमनृतम् " इस सूत्रके भाष्यमें किसी सत्यको असत्य और किसी असत्यको सत्य घोषित किया है।

तेन स्वपरसन्तापकारणं यद्वचोंगिनां। यथादृष्टार्थमप्यत्र, तदसत्यं विभाव्यते॥
मिथ्यार्थमपि हिंसादि, निषेधे वचनं मतं। सत्यं तत्सत्सु साधुत्वादहिंसाव्रतशुद्धिदम्॥

यों अनेकान्तका चाहे जितना विस्तार बढाया जा सकता है। उक्त विवेचन वस्तुके अनंतानंत धर्मोंके प्रबोधपर पहुंचनेमें उपयोगी समझकर किया गया है।

आजकल प्रत्यक्षप्रमाण और युक्तियोंसे सिद्ध हो रहे पदार्थोंको नतमस्तक माननेवाले परीक्षकोंके युगमें स्याद्वाद और अनेकान्तकी सिद्धि करना कोई कठिन नहीं है। स्याद्वाद सिद्धांत और अनेकान्त प्रक्रिया किसी न किसी ढंगसे प्रायः सबको मानने पडते हैं। अलं पल्लवितेन।

सार्वश्रीद्वादशांगाम्बुनिधिसुमथनौत्पत्यभाङ्मन्थतुल्य–।
श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राभिलुठनजनिजानेकरत्नाद्युपज्ञम्।
सत्याङ्कस्यात्प्रमाणैवकृतिनयवचःसप्तभङ्गैर्भवेद्वै।
जित्वैकान्तप्रवादानधिगमजसुदृग्लब्धये स्याच्छ्रुताब्धिः॥
सार्वश्रीद्वादशाङ्गाम्बुनिधिसुमथनौत्पत्यभाङ्मन्थतुल्य-
श्रीमतत्त्वार्थशास्त्राभिलुठनजनिजानेकरत्नाद्युपज्ञम्।
सत्याङ्कस्यात्प्रमाणैवकृतिनयवचः सप्तभंगैर्भवेद्वो (त्रो)
जित्वैकान्तप्रवादानधिगमजसुदृग्लब्धये षष्ठसूत्रम्॥

—=x=—

अब सातवें सूत्रके उत्थानके लिये अवतरण करते हैं—

तदेवं संक्षेपतोऽधिगमोपायं प्रतिपाद्य मध्यमप्रस्थानतस्तमुपदर्शयितुमनाः सूत्रकारः प्राह;—

तिस कारण इस प्रकार संक्षेपसे अधिगम करनेके उपायका प्रतिपादन कर मध्यम गतिसे समझनेवाले शिष्योंके प्रति उस अधिगमके उपायको दिखलानेके लिये मानसिक विचारोंको रखनेवाले सूत्रकार श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको प्रकृष्टपनसे कहते हैं—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

निर्देश (अर्थस्वरूपका कथन) स्वामित्व (अधिपतिपना) साधन (कारण) अधिकरण (आधार) स्थिति (कालकृतमर्यादा) और विधान (प्रकार) इनसे जीव आदि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शन आदिकोंका अधिगम होता है। अधिगमका साक्षात् कारण तो विषयी ज्ञान है, किन्तु उसके अव्यहित पूर्वमें रहनेवाले विषय यदि सहायक हो सकते हैं तो वे निर्देश आदिक हैं। निर्देश आदि स्वरूप अर्थ, शब्द, और ज्ञान ये तीनों अधिगमके प्रयोजक हैं।

निर्देशादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः करणनिर्देशश्च बहुवचनान्तः प्रत्येयस्तथा सति विधानात्। स्थितिशब्दस्य स्वंतत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पूर्वनिपातोऽस्त्विति न चोद्यं, बहुष्वनियमात्। सर्वस्य निर्देशपूर्वकत्वात् स्वामित्वादिनिरूपणस्य पूर्वं निर्देशग्रहणमर्थान्न्यायान्न विरुध्यते स्वामित्वादीनां तु प्रश्नवशात् क्रमः।

निर्देश, आदि छह पदोंका परस्परमें योग करनेपर द्वन्द समास करलेना और समासान्त पदको बहुवचनान्त तृतीया विभक्तिसे करण निर्देशकर समझ लेना चाहिये। क्योंकि तिस प्रकार " निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणास्थितिविधानैः " इस विग्रहसे तसि नामके इत् प्रत्ययका विधान किया गया है। यहां किसीका प्रश्न है कि इकारान्त और उकारान्त शब्दोंकी सुसंज्ञा है। द्वन्द्व समासमें स्वन्त पद और अल्प अक्षरवाले पदोंका पहिले प्रयोग हो जाता है। इस कारण प्रकृत सूत्रमें स्वन्त और अल्पअक्षर होनेके कारण स्थिति शब्दका पूर्वनिपात हो जाओ। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं उठाना चाहिये। क्योंकि बहुत पदोंमें वे नियम लागू नहीं होते हैं। अर्थात् दो पदोंका समास होनेपर पूर्व निपातको विधान करनेवाले सूत्र लगते हैं। किन्तु तीन, चार, छह, आदि बहुतसे पदोंका द्वन्द्वसमास करनेपर पूर्व निपातका कोई नियम लागू नहीं होता है। अन्य सब ही सामित्व, साधन, आदिका निरूपण करना निर्देश पूर्वक ही होता है। अतः अर्थसम्बन्धी न्यायसे निर्देशका पहिले ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है, यानी शब्दशास्त्रकी नीतिको गौण कर अर्थ समझनेकी नीतिसे पहिले निर्देशका ग्रहण करना आवश्यक है। हां! स्वामिपन

आदिकोंका क्रमसे कहना तो प्रतिपाद्यके प्रश्नोंकी अधीनतासे है। जैसे श्रोताने प्रश्न किये गुरु महाराजने तदनुसार प्रतिवचनोंका क्रम लिख दिया है।

ननु च संक्षिप्तैः प्रमाणनयैः संक्षेपतोऽधिगमो वक्तव्यो विस्तरप्रस्थानतस्तैरेव मध्यमप्रपञ्चैर्न पुर्निर्देशादिभिस्ततो नेदं सूत्रमारम्भणीयमित्यनुपपत्तिचोदनायामिदमाहः—

यहां दूसरे ढंगसे शंका है कि संक्षेपको प्राप्त हुए प्रमाण और नयों करके संक्षेपसे अधिगम होना कहना चाहिये सो कहा ही जा चुका है। हां! मध्यम रुचिकी अपेक्षासे भी उन्हीं मध्यम विस्तारवाले प्रमाण नयों करके अधिगम होना कहना चाहिये था। सर्वथा निराले निर्देश आदिकों करके फिर नवीन ढंगका अधिगम बताना तो उचित नहीं है। तिस कारण ग्रन्थकर्त्ताको इस सूत्रके बनानेका प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। इस प्रकार निर्देश आदि सूत्रके असिद्ध हो जानेकी प्रेरणा करनेपर विद्यानन्द स्वामी महाराज इस वार्तिकको कहते हैं।

निर्देशाद्यैश्च कर्तव्योऽधिगमः कांश्चन प्रति।
इत्याह सूत्रमाचार्यः प्रतिपाद्यानुरोधतः॥ १॥

कोई कोई शिष्य किसी नवीन वस्तुको देखकर उसके नामनिर्देश, स्वामी, कारण, आदिकोंको प्रश्न उठाते हुए चले आते हैं। अतः उन किन्हीं शिष्योंके प्रति निर्देश आदिकों करके जीव आदि वस्तुओंका अधिगम कराना चाहिये। इस कारण प्रतिपादन करने योग्य शिष्योंकी अनुकूलताके वशसे श्रीउमास्वामी आचार्य इस सूत्रको कहते हैं। सब जीवोंके अनुग्रह करनेमें प्रवर्त्त रहे आचार्योंकी मध्यमरुचिवाले जीवोंको समझानेके लिये प्रवृत्ति करना स्वाभाविक धर्म है। उक्त छह प्रश्नोंका उत्तर देनेसे श्रोता वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंचकर अधिगम कर लेता है।

ये हि निर्देश्यमानादिषु स्वभावेषु तत्त्वान्यप्रतिपन्नाः प्रतिपाद्यास्तान् प्रति निर्देशादिभिस्तेषामधिगमः कर्त्तव्यो न केवलं प्रमाणनयैरेवेति सूक्तं निर्देशादिसूत्रं विनेयाशयवशवर्तित्वात्सूत्रकारवचनस्य। विनेयाशयः कुतस्तादृश इति चेत् ततोऽन्यादृशः कुतः तथा विवादादिति। तत एवायमीदृशोऽस्तु न्यायस्य समानत्वात्।

जो शिष्य निर्देश करने योग्य हो रहे या स्वामिपन आदि स्वभावोंमें तत्त्वोंको नहीं समझ पाये हैं, उनके प्रति निर्देश आदिकों करके उन कथन करने योग्य आदि स्वभावोंका अधिगम कराना होगा। पूर्व सूत्रमें कहे गये केवल प्रमाण और नयों करके उनको अधिगम नहीं हो पाता है। इस कारण सूत्रकारने निर्देश स्वामित्व आदि यह सूत्र बहुत अच्छा बनाया है। सूत्र बनानेवाले ऋषियोंके वचन विनीत शिष्योंके अभिप्रायानुकूल वर्तते हैं। यहां कोई यदि यह पूंछे कि विनयधारी शिष्योंका अभिप्राय तैसा ही क्यों हुआ? ऐसा कहनेपर तो हम भी कह सकते हैं कि उससे

दूसरे प्रकारका अभिप्राय उनके कैसे हुआ ? बताओ ! इसपर कोई यह समाधान देवे कि तिस प्रकारसे विवाद था। अतः सूत्रसे भिन्न सरीखा अभिप्राय पूंछनेका हुआ, यानी सूत्रोक्त क्रमका व्यत्यय कर पूंछनेका अभिप्राय प्रगट किया। तब तो हम भी कहते हैं। कि तिस ही कारण यह सूत्रमें कहे हुए क्रमके अनुसार अभिप्राय भी ऐसा ही हो। न्यायमार्ग सर्वत्र समान है। अपने अपने विचारोंके अनुसार अभिप्रायके खैंचनेसे न्यायकी हत्या हो जाती है। लोकमें भी यही ढंग प्रसिद्ध हो रहा है कि किसी भूषण, घटीयन्त्र, रत्न, पुस्तक आदिका पहिले निर्देश किया जाय, उनका स्वामी बतला दिया जाय। पीछे उनके कारणोंका निरूपण किया जाय। पश्चात् उनके स्थानका निरूपण कर उनके ठहरनेका काल और भेद गणना कर देनेसे जितना शीघ्र और दृढतम ज्ञान उनका हो जाता है, इन छहोंका आगे पीछे प्रश्नकर व्युत्क्रम कर देनेसे उतनी दृढप्रतिपत्ति नहीं हो पाती है। प्रत्येक प्राणियोंकी स्वानुभवगम्य प्रतीति होना ही इसका साक्षी है। अतः संक्षेप और विस्तारसे मध्यवर्ती मार्गका अवलम्बन करनेवाले शिष्योंके प्रति निर्देश आदिके कण्ठोक्त क्रमसे ही सूत्र कहना आवश्यक है। परोपकार करनेमें स्वतन्त्र होकर प्रवर्तनेवाले आचार्योंके वचन किसीके पर्यनुयोग करके योग्य नहीं होते हैं।

किं पुनर्निर्देशादय इत्याहः—

फिर शिष्यकी जिज्ञासा है कि वे निर्देश आदिक छह क्या हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

यत्किमित्यनुयोगेर्थस्वरूपप्रतिपादनम्।
कार्त्स्न्यतो देशतो वापि स निर्देशो विदां मतः ॥ २ ॥
कस्य चेत्यनुयोगे सत्याधिपत्यनिवेदनम्।
स्वामित्वं साधनं केनेत्यनुयोगे तथा वचः ॥ ३ ॥
केति पर्यनुयोगे तु वचोऽधिकरणं विदुः।
कियच्चिरमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरवचः स्थितिः ॥ ४ ॥
कतिधेदमिति प्रश्ने वचनं तत्त्ववेदिनाम्।
विधानं कीर्तितं शद्धं तत्त्वज्ञानं च गम्यताम् ॥ ५ ॥

(१) जो कुछ है सो क्या है ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर पूर्णरूपसे अथवा एकदेशसे भी जो अर्थस्वरूपका प्रतिपादन करना है, वह निर्देश है। ऐसा सभी विद्वानोंका मत है।

अर्थात् इन लौकिक बातोंमें वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध आदि कोई भी विवाद नहीं उठाते हैं। (२) यह पदार्थ किसका है? ऐसा प्रश्न होनेपर उसके अधिपतिपनेका निवेदन करना स्वामित्व है। (३) यह किस कारणसे बना है? ऐसा प्रश्न करनेपर तिस प्रकार उत्तरके वचनसे कथन करने योग्यको साधन कहते हैं। (४) यह पदार्थ कहां निवास करता है? इस प्रकार बोध करनेपर तो जो उत्तर कहा जाता है उसको अधिकरण समझते हैं। (५) यह कितनी देर तक ठहरेगा? ऐसा कथन करनेपर जो प्रत्युत्तरका वचन है, वह स्थिति है। (६) यह कितने प्रकारका है? इस प्रकारका प्रश्न होनेपर जो तत्त्वज्ञानियोंका वचन है, वह विधान कहा गया है। अधिगमका साक्षात्कारण ज्ञान है और उससे अव्यवहित पूर्ववर्ती शब्द उसका प्रधान कारण है, जो कि अज्ञानस्वरूप जड है। अतः छहोंके लक्षण करते समय वचन कहनेको प्रधान माना गया है। अर्थात् शब्दात्मक और ज्ञानात्मक निर्देश आदिक उपाय अधिगमके कारण हैं, यह समझ लेना चाहिये।

किं कस्य केन कस्मिन् कियचिरं कतिविधं वा वस्तु तद्रूपं चेत्यनुयोगे कात्स्न्र्येन देशेन च तथा प्रतिवचनम्। निर्देशादय इति वचनात्। प्रवक्तुः पदार्थाः शब्दात्मकास्ते प्रत्येयाः तथा प्रकीर्तितास्तु सर्वे सामर्थ्यात्ते ज्ञानात्मका गम्यन्तेऽन्यथा तदनुपपत्तेः, सत्यज्ञानपूर्वका मिथ्याज्ञानपूर्वका वा? शब्दा निर्देशादयः सत्या नाम सुषुप्तादिवत्। नाप्यसत्या एव ते संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत्।

क्या वस्तु है? किसकी वस्तु है? किससे बनी हुयी वस्तु है? किसमें स्थित हो रही है? कितनी देरतक ठहरेगी और कितने प्रकारकी वस्तु है? अथवा उस वस्तुसे तदात्मक हो रहा स्वभाव क्या है? किसका है? इस प्रकारके प्रश्न होनेपर पूर्णरूपसे और एकदेशसे तिस प्रकारके उत्तररूप प्रतिवचन कहना निर्देश आदिक हैं। इस प्रकार मूलसूत्रमें कहा है। प्रकृष्ट वक्ताके वे निर्देश आदिक पदार्थ शब्दस्वरूप समझने चाहिये और तिस प्रकार कहे गये वे सभी अधिगम करनेवाले निर्देश आदिक पदार्थ सामर्थ्यसे श्रोताके ज्ञानस्वरूप समझे जाते हैं। अन्यथा वह कथनोपकथन व्यवहार नहीं बन सकता है। भावार्थ—"तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्" इस श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यके सूत्र करके वचनको भी प्रमाणपना सिद्ध किया है। वचन वक्ताके प्रमाणज्ञानके कार्य हैं और श्रोताके प्रमाणज्ञानके कारण हैं। कारणका कार्यमें और कार्यका कारणमें उपचार करनेसे शब्द भी प्रमाण हो जाता है। यहां प्रकरणमें सत्यवक्ताके शब्दोंको सुनकर श्रोताको निर्देश, स्वामिपन, आदि ज्ञान हो जाते हैं। इस प्रकार वाच्यवाचकभाव और गम्यगमकभावकी सामर्थ्यसे निर्देश आदिक शब्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप हैं। वे निर्देश, आदिक अकेले वक्ता या केवल श्रोताके भी ज्ञानस्वरूप और शब्दस्वरूप हो जाते हैं। सत्यज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुए निर्देश आदिक शब्द सत्य बोले जाते हैं और पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञानको कारण मानकर हुए निर्देश आदिक शब्द

मिथ्या समझे जाते हैं। सभी प्रकारोंसे निर्देश आदिक सत्य ही नहीं हैं। जैसे गाढ सोते हुए या मदोन्मत्त, मूर्च्छित, आदि जीवोंके शब्द सत्य नहीं हैं। तथा वे निर्देश आदिक शब्द असत्य ही होंय यह भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंके समान सफल प्रवृत्तिके जनक होनेके कारण अनेक शब्द सत्य भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। यहां निर्देश आदि करके अर्थ, ज्ञान और शब्द तीनों पकडे गये हैं।

किं स्वभावैर्निर्देशादिभिरर्थस्याधिगमः स्यादित्याहः—

किस स्वभाववाले निर्देश आदिकों करके जीव आदिकोंका अधिगम करना होवेगा। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकको कहते हैं।

तैरर्थाधिगमो भेदात्स्यात्प्रमाणनयात्मभिः।
अधिगम्यस्वभावैर्वा वस्तुनः कर्मसाधनः॥ ६॥

प्रमाण और नयस्वरूप उन निर्देश आदिकों करके पूर्णरूप और एकदेशसे जीव आदि वस्तुका अधिगम होता है। यहां आत्मासे प्रमाण, नयस्वरूप करणज्ञानोंका भेदसे विवक्षा की गयी है। कर्त्तामें हो रहा अधिगम कर्त्तासे भिन्न विषयीभूत प्रमाण नयों करके किया जाता है। तथा अधिपूर्वक गम् धातु सकर्मक है, अतः कर्ताके समान कर्ममें भी रहती है। तब कर्ममें अच् प्रत्ययकर साधा गया वस्तुका अधिगम होना जानने योग्य स्वभाववाले विषयभूत निर्देश आदिकों करके होता है। भावार्थ—मूलसूत्रमें करणमें तसि प्रत्यय किया गया है। कर्त्तामें रहनेवाला अधिगम आत्मासे न्यारे माने गये प्रमाण, नयस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है और कर्ममें रहनेवाला अधिगम जानने योग्य वस्तुके स्वभावभूत जड निर्देश आदिकों करके होता है।

कर्तृस्थोऽधिगमस्तावद्वस्तुनः साकल्येन प्रमाणात्मभिर्भेदेन निर्देशादिभिर्भवतीति प्रमाणविशेषास्त्वेते। देशतस्तु नयात्मभिरिति नयाः ततो नाप्रमाणनयात्मकैस्तैरधिगतिरिष्टा यतो व्याघातः।

श्रोतारूप कर्त्तामें स्थित हो रहा वस्तुका पूर्णरूपसे अधिगम तो प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है। यहां श्रोता आत्माके प्रमाणस्वरूप ज्ञानको भेद करके विवक्षित किया है। इस कारण आत्मा श्रोता प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकों करके जीव आदि वस्तुका अधिगम कर लेता है। इस वाक्यमें कर्त्ता, करण, और क्रिया, भिन्न भिन्न प्रतीत हो रही हैं। इस प्रकार कर्त्तामें स्थित अधिगमको करनेवाले ये निर्देश आदिक ज्ञान पांच प्रमाणोंमेंसे कोई विशेष प्रमाण [श्रुतज्ञान] स्वरूप है। और कर्तामें स्थित हो रहा वस्तुका एकदेशसे अधिगम होना तो नयस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है। इस कारण वे निर्देश आदिक नयज्ञान हैं। यानी प्रमाण, नय स्वरूप निर्देश आदिकों करके दोनों प्रकारोंसे अधिगम हो जाता है। प्रमाण नयोंसे भिन्न मिथ्याज्ञानरूप

या जडस्वरूप उन निर्देश आदिकों करके अधिगम होना इष्ट नहीं है, जिससे कि व्याघात होजाय। अर्थात् मिथ्याज्ञानोंसे जो होगा, वह समीचीन अधिगम नहीं कहा जायगा और जो समीचीन अधिगम है, वह मिथ्याज्ञानोंसे हुआ नहीं कहा जायगा। इस प्रकारका व्याघातदोष होना प्रमाणनयस्वरूप निर्देश आदिकोंसे अधिगम मान लेनेपर टल जाता है।

कस्य पुनः प्रमाणस्यैते विशेषाः श्रुतस्यास्पष्टसर्वार्थविषयता प्रतीतिरिति केचित्। मतिश्रुतयोरित्यपरे। तत्र प्रष्टव्याः कुतो मतेर्भेदास्ते इति? मतिपूर्वकत्वादुपचारादिति चेन्न, अवधिमनःपर्ययविशेषत्वानुषंगात्। यथैव हि मत्यार्थं परिच्छिद्य श्रुतज्ञानेन परामृशन्निर्देशादिभिः प्ररूपयति तथाऽवधिमनःपर्ययेण वा। न चैवं, श्रुतज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वप्रसंगः साक्षात्तस्यानिन्द्रियमतिपूर्वकत्वात् परम्परया तु तत्पूर्वकत्वं नानिष्टम्। शब्दात्मनस्तु श्रुतस्य साक्षादपि नावधिमनःपर्ययपूर्वकत्वं विरुध्यते केवलपूर्वकत्ववत्। ततो मुख्यतः श्रुतस्यैव भेदा निर्देशादयः प्रतिपत्तव्याः किमुपचारेण प्रयोजनाभावात्।

आप जैनोंने कहा है कि ये ज्ञानस्वरूप निर्देश आदिक तो कोई विशेष प्रमाण हैं सो बतलाइये कि फिर कौनसे प्रमाणज्ञानके भेद प्रभेद हैं?। इसपर कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते हैं कि निर्देश आदिकोंके द्वारा संपूर्ण अर्थोंकी अविशदरूपसे विषय करनेपनसे प्रतीति हो रही है इस कारण श्रुतज्ञानके ये विशेष हैं। अस्पष्टरूपसे संपूर्ण अर्थोंको विषय करना श्रुतज्ञानका कार्य है यह मत अच्छा दीखता है। कोई दूसरे विद्वान् वे निर्देशादिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंके विकल्प हैं इस प्रकार कह रहे हैं। हमें यहांपर उनको यह पूंछना चाहिये कि वे निर्देशादिक श्रुतज्ञानके भेद हैं यह तो ठीक है। किन्तु वे मतिज्ञानके भेद आपने कैसे कहे सो बताओ! यदि इसपर वे विद्वान् यों कहैं कि श्रुतज्ञानरूप निर्देशादिक तो मतिज्ञानको पूर्ववर्त्ती कारण मानकर उत्पन्न होते हैं। अतः कार्य (श्रुत) में कारण (मतिज्ञानपन) का उपचार करनेसे वे मतिज्ञानस्वरूप कह दिये जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो उन निर्देशादिकोंके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके विशेषपनका प्रसंग होगा। जिस ही प्रकार मतिज्ञानद्वारा अर्थको जानकर श्रुतज्ञानसे विचार करता हुआ निर्देशादिकों करके शिष्योंके लिये अर्थका निरूपण करता है तिसी प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानसे अर्थका प्रत्यक्ष कर श्रुतज्ञानसे विचारता हुआ वक्ता निर्देश आदिकों करके पदार्थका कथन करता है। भावार्थ—अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। चक्षुसे वस्त्रका प्रत्यक्ष कर जैसे यह वस्त्र मलमल है, लट्ठा है, गजी है, देवदत्तका वस्त्र है, जिनदत्तका वस्त्र है, करघेसे बना है, हाथसे बना है इत्यादि निरूपण किया जाता है। उसी प्रकार अवधिज्ञानसे या मनःपर्ययसे देशान्तर कालान्तरवर्ती पदार्थका विशद प्रत्यक्ष कर उसमें श्रुतज्ञान द्वारा अनेक विचार उठाकर निर्देश आदिकोंसे निरूपण कर दिया जाता है। अतः वे निर्देशादिक अवधि और मनःपर्ययके भी विशेष क्यों न समझे जांय! उपचार करनेका उपाय अच्छा बन

गया। यदि यहां कोई यों कहे कि जब अवधि और मनःपर्ययसे प्रत्यक्ष कर उस पदार्थ का श्रुतज्ञान द्वारा विचार हो जाता है तो मतिपूर्वकपनेके समान अवधि मनःपर्ययपूर्वक भी श्रुतज्ञानके होनेका प्रसंग हो जायगा। ऐसी दशामें "श्रुतं मतिपूर्वं" इस सूत्रसे विरोध आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो इस प्रकारका प्रसंग हम जैनोंके ऊपर नहीं आ सकता है। क्योंकि हम उस श्रुतज्ञानका अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण मानस मतिज्ञानको मानते हैं। अतः अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणकी अपेक्षासे श्रुतज्ञानका कारण मतिज्ञान ही है। हां! परम्परासे तो उन अवधि और मनःपर्ययको कारण मानकर श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होना अनिष्ट नहीं है। ज्ञानस्वरूप और शब्दस्वरूप दो प्रकारका श्रुत होता है। ज्ञानरूप श्रुतका अव्यहितकारण मानस मतिज्ञान है और व्यवहितकारण चाक्षुषप्रत्यक्ष, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि हैं। किन्तु शब्दस्वरूप श्रुतके तो अव्यवहित रूपसे भी साक्षात् कारण अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान हो जाते हैं। कोई विरोध नहीं है। जैसे श्री अरहन्त भगवान् केवलज्ञानद्वारा यावत् पदार्थोंका सकल प्रत्यक्ष करके शब्द रूप द्वादशांग श्रुतका विधान या भाषण करते हैं, अतः द्वादशांगश्रुत केवलज्ञानपूर्वक है, तैसे ही अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे प्रत्यक्ष कर प्रश्नकर्त्ताके सन्मुख शब्दस्वरूप श्रुतका निरूपण कर दिया जाता है। यहां यों समझ लेना चाहिये कि तेरहवें गुणस्थानमें भगवान्के एक केवलज्ञान ही है। वे उससे चराचर जगत्का हस्तामलक समान प्रत्यक्ष कर रहे हैं। तदनुसार द्वादशांगवाणीद्वारा भव्य जीवोंको उपदेश देते हैं। उस शब्दमय द्वादशांगका कारण केवलज्ञान ही है। अन्यथा यानी भगवान्की द्वादशांगवाणीका और भगवान्के केवलज्ञानका यदि कार्यकारणभाव सम्बन्ध न होता तो द्वादशांग वाणीद्वारा यथार्थ वस्तुका प्रतिपादन होना नहीं बन सकता था। अतः शब्दात्मक श्रुतके अव्यवहित कारण पांचों ज्ञान हो सकते हैं। हां! ज्ञानात्मक श्रुतज्ञानका कारण मनइन्द्रियजन्य मतिज्ञान है। तभी तो अरहन्तदेवके ज्ञानात्मक श्रुत नहीं माना गया है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि मुख्य रूपसे श्रुतज्ञानके ही भेद निर्देश आदिक हैं, यह समझ लेना चाहिये। उपचार करनेसे क्या? अर्थात् कुछ लाभ नहीं है, यानी दूरवर्ती परम्परा कारणोंसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। अतः वे निर्देश आदिक मतिज्ञानके भेद नहीं हैं।

तत एव श्रुतैकदेशलक्षणनयविशेषाश्च ते व्यवतिष्ठन्ते। येषां तु श्रुतं प्रमाणमेव तेषां तद्वचनमसाधनांगतयानिग्रहस्थानमासज्यत इति क्वचित् कथञ्चित् प्रश्नप्रतिवचनव्यवहारो न स्यात्। स्वपरार्थानुमानात्मकोऽसौ इति चेन्न, तस्य सर्वत्राप्रवृत्तेरत्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु तदभावप्रसंगात्। न च श्रुतादन्यदेव स्वार्थानुमानं मतिपूर्वकं परार्थानुमानं चेति, तद्भेदत्वमिष्टमेव निर्देशादीनाम्। प्रामाण्यं पुनः श्रुतस्याग्रे समर्थयिष्यत इति नेह प्रतन्यते।

तिस ही कारणसे श्रुतज्ञानके एकदेशस्वरूप नयोंके विशेष भी निर्देश आदिक व्यवस्थित हो रहे हैं। अर्थात् निर्देश आदिकोंको श्रुतज्ञानरूप माननेपर ही वे नयस्वरूप भी हो सकते हैं।

अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। जिन विद्वानोंका यह मत है कि श्रुत तो प्रमाणज्ञान स्वरूप ही है, शब्दस्वरूप या नयस्वरूप नहीं है, उनके यहां उन निर्देश आदिकोंका कथन करना साधनका अंग न होनेके कारण निग्रहस्थान बन बैठेगा। इस कारण कहीं भी किसी भी प्रकारसे प्रश्न और उत्तर, प्रत्युत्तरके बोलनेका व्यवहार न हो सकेगा। अर्थात् साध्यकी सिद्धि करना जहां अभिप्रेत हो रहा है। वहां असाधन अंगोंका उच्चारण करना वादीके लिये निग्रहस्थान माना गया है। ज्ञान तो बोला नहीं जा सकता, शब्द ही कहा जायगा। सो उन्होंने श्रुतस्वरूप नहीं माना। ऐसी दशामें प्रश्नका वचन और उसके उत्तरका वचन श्रोता और वक्ताओंके लिये निग्रह प्राप्तिके प्रयोजक हो जायंगे। यदि इसपर कोई यों कहे कि वह प्रश्नोत्तर व्यवहार तो श्रुतरूप नहीं है। किन्तु स्वार्थानुमान और परार्थानुमान स्वरूप है। वक्ताका वचन स्वार्थानुमान है और श्रोताका वचनव्यवहार परार्थानुमान है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दृष्टान्तमें गृहीत की गयीं अन्वयव्याप्तियां व्यतिरेक व्याप्तिकी भित्तिपर उठनेवाले उस अनुमानकी सभी स्थलोंपर प्रवृत्ति होना नहीं मानी गयी है। प्रत्यक्ष योग्य या अनुमेय पदार्थोंमें अनुमान चलता है। अत्यन्त परोक्ष सुमेरु, राम, रावण, आदिक अथवा परमाणु व्यक्तिएं, अविभाग प्रतिच्छेद, मोक्षसुख, आदिमें अनुमानकी प्रवृत्ति न होनेके कारण प्रश्नोत्तर व्यवहारका अभाव हो जायगा, किन्तु यह प्रसंग होना इष्ट नहीं है। क्योंकि वचनों द्वारा उक्त पदार्थोंका आगमज्ञान होता है। दूसरी बात यह है कि निर्देश, स्वामित्व, आदि वचनव्यवहारोंको अनुमानस्वरूप भी माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। हमारा ही सिद्धान्त आया। मतिको कारण मानकर होनेवाले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। यानी अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है और साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। अतः साधन और साध्यकी भेदविवक्षा करनेपर उत्पन्न हुआ अनुमान तो श्रुतज्ञानस्वरूप ही है। इस कारण निर्देश आदिकोंको उस श्रुतज्ञानका भेदपना ही इष्ट किया गया है। रहा श्रुतज्ञानके प्रमाणपनका निर्णय सो तो श्रुतज्ञानकी प्रमाणताका फिर अग्रिम ग्रन्थमें समर्थन कर दिया जायगा। इस प्रकरणमें विस्तार हो जानेके भयसे दूसरा प्रमाणपनका प्रकरण नहीं फैलाया जाता है।

कर्मस्थः पुनरधिगमोऽर्थानामधिगम्यमानानां स्वभावभूतैरेव निर्देशादिभिः कात्स्न्यैकदेशाभ्यां प्रमाणनयविषयैर्व्यवस्थाप्यते। निर्देश्यमानत्वादिभिरेव धर्मैरर्थानामधिगतिप्रतीतेः कर्मत्वाच्चेषां कथं करणत्वेन घटनेति चेत् तद्भेदप्रतीतेः। अग्नेरुष्णत्वेनाधिगमवत्यत्र यथा।

सकर्मक धातुका शुद्ध अर्थ भिन्न भिन्न सम्बन्धोंसे कर्ता कर्म दोनोंमें स्थान पाता है, अतः कर्त्तामें रहनेवाले अधिगमका ज्ञानस्वरूप निर्देश आदिकों करके होना बता दिया गया है। अब कर्ममें ठहरे हुए अधिगम होनेके कारणका विचार चलाते हैं। फिर कर्ममें ठहरा हुआ जानने योग्य पदार्थोंका पूर्णरूप और एकदेशसे हो रहा अनुभव तो उन अर्थोंके स्वभावभूत ही निर्देश आदिकों

करके व्यवस्थित किया जाता है। जो कि प्रमाण नयोंके विषयभूत हैं। अर्थात् अर्थस्वरूप कर्ममें ठहरनेवाला अधिगम तो अर्थके स्वभावभूत ज्ञेय निर्देश आदिकों करके किया जाता है। कथन करने योग्य अर्थके धर्म, स्वामीपनको प्राप्त हुए अर्थके धर्म, साधने योग्य अर्थके धर्म आदि इन धर्मों करके ही जीव आदि पदार्थोंका अधिगम होना प्रतीत हो रहा है। " आत्मा निर्देशादिभिः जीवादीनधिगच्छति " आत्मा निर्देश आदिकों करके जीव आदिकोंको जान रहा है। यहां निर्देश आदिक प्रमाण नय ज्ञानस्वरूप हैं तथा " स्वयमेव निर्देशादिभिः अधिगम्यन्ते "। यहां अर्थोंके स्वभाव होकर ज्ञेयस्वरूप निर्देश आदिक हैं। यदि यहां कोई प्रश्न करे कि निर्देश आदिक जब कर्मस्वरूप अर्थोंके स्वभाव मान लिये गये, तब तो वे कर्म हो गये। अतः सूत्रकारद्वारा उनका करणपनेसे कथन करना कैसे घटित होगा ? जो कर्म हो चुका है। वह उसी समय करण हो नहीं सकता है। इसपर तो हम यह उत्तर देते हैं कि हम क्या करें। तिस प्रकारसे होता हुआ सबको प्रतीत हो रहा है। जैसे कि उष्ण अग्निका उष्णपनेसे अधिगम होना बालकों तकको प्रतीत हो रहा है। तैसे ही निर्देश योग्य अर्थका अपने निर्देश स्वभावसे अधिगम होना जाना जा रहा है। एक वस्तुमें उससे अभिन्न अनेक स्वभाव होते हैं। " भज्यते वृक्षशाखाभारेण " अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूटता है। घोडा अपने वेगसे दौडा जा रहा है। यहां कर्मपन और करणपन एक ही पदार्थमें स्थित हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "।

नन्वग्नेः कर्मणः करणमुष्णत्वं भिन्नमेवेति चेत् न, तद्भेदैकान्तस्य निराकरणात्। कथञ्चिद्भेदस्तु समानोऽन्यत्र। न हि निर्देश्यत्वादयो धर्माः करणतया समभिधीयमाना जीवादेः कर्मणः पर्यायार्थान्निह्नवा नेष्यन्ते। द्रव्यार्थात्तु ततस्तेषामभेदेऽपि भेदोपचारात्कर्म-करणनिर्देशघटनेति केचित्।

यहां नैयायिक शंका करते हैं कि अग्निस्वरूप कर्मसे उष्णपनारूप करण तो सर्वथा भिन्न ही है। गुण और गुणीका भेद माना गया है। अतः वह करण बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अग्नि और उष्णताके एकान्तरूपसे भेदका पहिले खण्डन किया जा चुका है। हां ! कथञ्चित् भेद तो दूसरे स्थलपर भी समान है, अर्थात् जैसा अग्नि और उष्णतामें परिणाम परिणामी भावसे भेद है। वैसा ही निर्देश्य अर्थ और उसके स्वभाव निर्देशमें भी कथञ्चित् भेद है। निर्देश्य कर्म है और उससे कथञ्चित् भिन्न निर्देश करण माना गया है। सूत्रकार द्वारा करणपनसे भले प्रकार कहे गये निर्देशत्व, स्वामित्व आदि धर्म जीव आदिक कर्म स्वरूप धर्मीसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न नहीं माने गये हैं। ऐसा नहीं समझना। अर्थात् पर्यायदृष्टिसे धर्म धर्मीका भेद इष्ट किया है। हां, द्रव्यार्थिक नयसे तो उन जीव आदिकोंसे उन निर्देशत्व आदि धर्मोंका अभेद होनेपर भी भेदका उपचार करनेसे कर्मरूप और करणरूपसे कथन

करना घटित हो जाता है। इस प्रकार किन्ही आचार्योंका मत है, जो कि हमें भी अभीष्ट है। अतः खण्डनीय नहीं।

परे पुनः कर्मसाधनाधिगमपक्षे निर्देश्यत्वादीनां कर्मतया प्रतीतेः करणत्वमेव नेच्छन्ति तेषां विशेषणत्वेन घटनात्। न हि यथाग्निरुष्णत्वेन विशिष्टोऽधिगमोपायैरधिगम्यत इति प्रतीतिरविरुद्धा तथा सर्वेऽर्था निर्देश्यादिभिर्भावैरधिगम्यन्त इति निर्णयोऽप्यविरुद्धो नावधार्यते। तथा सति परापरकरणपरिकल्पनायां मुख्यतो गुणतो वानवस्थाप्रसक्तिरपि निवारिता स्यात्। तदपरिकल्पनायां वा स्वाभिमतधर्माणामपि करणत्वं मा भूदित्यपि चोद्यमानमनवकाश्यं स्यात्।

दूसरे विद्वान् फिर यों कहते हैं कि कर्मसाधन व्युत्पत्तिसे साधे गये अधिगमका पक्ष लेनेपर निर्देश करने योग्यपन या स्वामित्वके योग्यपन आदिकोंकी कर्मरूपसे ही प्रतीति होती है। अतः निर्देश आदिकोंका करणपन ही वे नहीं चाहते हैं। उनके मतमें निर्देश आदिकोंको विशेषणपनेसे घटित किया जाता है। अर्थात् " निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, इन विशेषणोंसे विशिष्ट अर्थका अधिगम होता है, यह सूत्रका अर्थ है। जैसे कि उष्णत्व नामके विशेषणसे विशिष्ट हुयी अग्नि अधिगमके उपायों करके जानी जाती है। इस प्रकारकी प्रतीति अविरुद्ध है। तिसी प्रकार सम्पूर्ण निर्देश आदिक अर्थ अपने निर्देश्यत्व आदि परिणामरूप विशेषणों करके विशिष्ट होते हुए जाने जा रहे हैं। इस प्रकारका निर्णयका भी अविरुद्ध नहीं निर्णीत किया जाय, यह न समझना। किन्तु यह निर्णय भी अविरुद्ध है। तैसा होनेपर एक दूसरा लाभ यह भी हो जाता है कि अनवस्था नहीं होने पाती है। यदि निर्देश आदिकोंको करण माना जायगा तो उन अर्थोंके स्वभावभूत निर्देश आदिकोंको भी पुनः दूसरे करणोंकी आकांक्षा होगी, जैसे कि अर्थोंके जाननेमें निर्देश आदि करणोंकी आवश्यकता पडी थी और उन दूसरे तीसरे करणोंके भी अन्य चौथे पांचमें आदि करणोंकी आकांक्षा होना बढता जायगा। इस प्रकार मुख्यरूप या गौणरूपसे उत्तरोत्तर करणोंकी परिकल्पना करते हुए अनवस्था हो जायगी। यदि आगे आगेवाले करणोंकी कल्पना नहीं करोगे तो अनवस्थाका तो वारण हो जायगा, किन्तु मूलमें अपने माने गये धर्मोंको भी करणपना मत होओ! यानी जीव आदिकोंका अधिगम भी निर्देश आदिको करण माने विना ही हो जाओ! इस प्रकार प्रेरणा कर उठाया गया प्रश्न भी अवकाश नहीं पायेगा। भावार्थ—निर्देशादिको विशेषण माननेपर तो अनवस्थाका वारण हो जाता है और उक्त प्रश्न उठानेका भी अवकाश नहीं रहता। अतः कर्मस्थ अधिगमके पक्षमें निर्देश आदिकोंको करण नहीं मानकर विशेषण मानना चाहिये। यह परविद्वानोंका मतप्रकृष्ट है। इष्ट होनेके कारण आचार्य महाराजने इसका खण्डन नहीं किया।

नन्वेवमपरापरविशेषणकल्पनायामप्यनवस्था विशेषणान्तररहितस्य वा जीवादेः स्वाभिमतधर्मविशेषणैः प्रतिपत्तौ तैरपि रहितस्य प्रतिपत्तिरस्तु विशेषाभावादिति चेन्न विशेष्यात् कथञ्चिदभिन्नत्वाद्विशेषणानाम् । वस्तुतोऽनन्ता विधयोऽपि हि धर्मा निर्देशादिभिः संगृहीता विशेषणान्येव, तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्यासम्भवात् । तत्र जीवादिवस्तु विशेष्यमेव द्रव्यार्थादेशात् निर्देश्यत्वादि विशेषणमेव पर्यायार्थात् । प्रमाणादेशादपि विशेषणविशेष्यात्मकं वस्तु जात्यन्तरमिति प्ररूपणायां नोक्तदोषावकाशः ।

इसपर किसीकी शंका है कि इस प्रकार तो करणपक्षके समान विशेषण पक्षमें भी अनवस्था लग जायगी । उत्तरोत्तरवर्ती विशेषणोंको भी अन्य न्यारे न्यारे विशेषणोंसे सहितपनेकी कल्पना बढती जायगी, अर्थात् दूसरे विशेषणोंकी तीसरे विशेषणोंसे सहित होकर ज्ञप्ति होगी । और तीसरे विशेषणकी चौथे विशेषणसहित होकर ज्ञप्ति होगी । यह अनवस्था है । यदि दूसरे, तीसरे, चौथे, आदि अन्य विशेषणोंसे रहित ही जीव आदिकोंकी अपने अभीष्ट निर्देशत्व आदि धर्म विशेषणों करके ही प्रतिपत्ति होना मानोगे तो उन अभीष्ट विशेषणों करके भी रहित कोरे रीते जीव आदिकोंकी प्रतिपत्ति हो जाओ ! कोई अन्तर नहीं है । यानी आगे चल कर विशेषणोंसे रहित जैसे अन्य विशेषणोंकी प्रतिपत्ति होना अनवस्थाको हटानेके लिये मानना पडता है । वैसे मूलमें ही विशेषणोंसे रहित ही जीव आदिकोंकी प्रतिपत्ति मान ली जाय । पहिले ही विशेषणोंका बोझ क्यों बढाया जाता है ? अथवा करणपक्षमें जैसे अनवस्था और चोथ उठाये जाते हैं, वैसे ही विशेषणपक्षमें भी अनवस्था और चोथ उठाये जा सकते हैं । निर्देश आदिको करण मानने और विशेषण मानने इन दोनों पक्षोंमें कोई अन्तर नहीं दीखता है । आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना । क्योंकि विशेष्यसे विशेषणोंको कथञ्चित् अभिन्न माना है । वास्तविकरूपसे विचारा जाय तो विधिस्वरूप अनन्तधर्म भी जो कि निर्देश आदिकों करके पकडे गये हैं, वे सब अवश्य विशेषण ही हैं । उन निर्देश आदिकोंसे न्यारे धर्मका वस्तुमें असम्भव है । अतः अभेद माननेपर अनवस्थादोष नहीं है । तहां जीव आदिक वस्तुयें द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विशेष्य ही हैं और निर्देश करने योग्यपन, स्वामिपन आदि तो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा विशेषण ही हैं । द्रव्य और पर्यायोंके समुदायभूत वस्तुको जाननेवाले प्रमाणवाक्यकी अपेक्षासे भी विचारा जाय तो विशेष्य विशेषणस्वरूप वस्तु है । जो कि भिन्न दोनों जातिओंसे तीसरी जातिवाला है । इस प्रकार सिद्धान्त कथन करनेपर पूर्वमें कहे हुए दोषोंको स्थान नहीं मिलता है ।

नन्वेवं निर्देशादिधर्माणां करणत्वपक्षेऽपि न परापरधर्मकरणत्वपरिकल्पनादनवस्था तद्व्यतिरेकेण परापरधर्माणामभावात्तेषां तु करणत्वं तैरधिगम्यमानस्यार्थस्य कर्मता नयादेशात्, प्रमाणादेशात्तु कर्मकरणात्मक जात्यन्तरं वस्तु प्ररूप्यते इति न किञ्चिदनवद्यम् । नैतत्साधीयः । करणत्वे निर्देशादीनां कर्मसाधनतानुपपत्तेः विशेषणत्वे तु तदुपपत्तेः ।

विशेषणविशेष्यभूतस्य जीवाद्यर्थस्य कर्मसाधनोऽधिगमः प्रतिपत्तुं शक्यत इति विशेषत्व-पक्ष एव श्रेयान्।

शंकाकार कहता है कि इस प्रकार तो निर्देश आदि धर्मोको करणपन माननेमें भी उत्तरोत्तर धर्मोके करणपनकी परिकल्पनासे भी हुआ अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि उन निर्देश्य आदि कर्मोंसे भिन्न होकरके पर अपर धर्मोका अभाव है। हां! उन निर्देश आदिकोंको तो करणपना उन करके जाने गये अर्थको कर्मपनकी नय निरूपणासे है। नय विवक्षाको गौणकर प्रमाण अपेक्षासे यदि विचारा जाय, तब तो कर्म और करणस्वरूप होकर तीसरी जातिवाली ही वस्तु कही जाती है। इस प्रकार कोई दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकारका कहना तो अधिक अच्छा नहीं है। क्योंकि निर्देश आदिकोंका करणपन माननेपर कर्म साधनपना नहीं बन सकता है। जो कि कर्मस्थ अधिगमको माननेपर इष्ट किया जा चुका है। हां! हमारे कथनानुसार निर्देश आदिक यदि विशेषण माने जांय तो वह कर्मसाधनपना बन जाता है। प्रायः अन्यवादी भी विशेषण और विशेष्यका अभेद माननेको उत्सुक हैं, किन्तु स्याद्वादियोंके अतिरिक्त सभी विद्वान् कर्मसे करणको भिन्न ही मानते हैं। अतः विशेषणविशेष्य स्वरूप हो रहे जीव आदि अर्थका कर्ममें निरुक्ति कर साधा गया अधिगम होना जाना जा सकता है। इस कारण करण पक्षसे विशेषणपनका पक्ष ही बहुत अच्छा है। जैनसिद्धान्तके अनुसार सब व्यवस्था बन जाती है। एकान्तपक्षमें नहीं।

सकलविशेषणरहितत्वाद्वस्तुनो न सम्भवत्येव निर्दिश्यमानरूपमिति मतमपाकुर्वन्नाहः-

निरंश वस्तु संपूर्णविशेषणोंसे रहित है। अतः वस्तुका कथन करने योग्यपना स्वरूप नहीं सम्भवता है, वस्तु अवक्तव्य है। इस प्रकारके बौद्धमतका खण्डन करते हुए आचार्य महाराज स्पष्ट वक्ता होकर कथन कर रहे हैं।

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।
तत्स्वरूपवचो मिथ्येत्ययुक्तं निःप्रमाणकम् ॥ ७ ॥
यत्तदेकमनेकं च रूपं तेषां प्रतीयते।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाच्चाबाधितादागमादपि ॥ ८ ॥

जिस स्वरूप करके पदार्थ निरूपण किये जाते हैं, परमार्थरूपसे विचारा जाय तो वह पदार्थोंका वास्तविकस्वरूप ही नहीं है। अतः उस स्वरूपका वचन करना मिथ्या है। इस प्रकार अपनी कारिका बनाकर कह दिया गया बौद्धोंका मन्तव्य युक्तियोंसे रहित है और किसी भी प्रमाणके विषय न होनेसे अप्रमाणीक है। जिस कारणसे कि उन पदार्थोंके समीचीन प्रत्यक्ष प्रमाण और

अनुमान प्रमाण तथा बाधारहित आगमज्ञानसे भी वे एक और अनेकस्वरूप प्रतीत हो रहे हैं। अर्थात् सभी प्रमाणोंसे वास्तविक एक, अनेकस्वरूपोंका ज्ञान हो रहा है। अतः बौद्धोंका मत युक्ति और प्रमाणोंसे बाधित है। भावोंमें अनेक विशेषण ठहरते हैं और वे शब्दों द्वारा कहने योग्य भी हैं।

न हि प्रत्यक्षानुमेयागमगम्यमानानामर्थानां प्रत्यक्षानुमानागमैरेकमनेकं च रूपं परस्परापेक्षं न प्रतीयते परस्परनिराकरणप्रवणस्यैव तस्याप्रतीतेः। न चाप्रतीयमानस्य सर्वथैकान्तस्याप्यनवस्थितौ प्रतीयमानस्यापि जात्यन्तरस्यानवस्थितिर्नाम स्वेष्टरूपस्यापि तत्प्रसंगात्। तथा चैकरूपाभावस्य भावेष्वनवस्थितौ स्यादेवैकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितौ अनेकरूपस्य परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यं भावान्नीलत्वा-नीलत्ववत् परस्परव्यवच्छेदस्वभावौ एकरूपभावाभावौ प्रतीतौ, तदनेनानेकरूपाभावस्य भावेष्वनवस्थितावनेकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितावेकरूपस्य निवेदितः समानत्वान्न्यायस्य।

प्रत्यक्षगम्य तथा अनुमेय और आगमसे जाने जा रहे पदार्थोंका परस्परमें अपेक्षा रखनेवाला एक और अनेकस्वरूप प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम करके नहीं प्रतीत हो रहा है, यह न समझना। यानी इन्हीं प्रमाणोंसे वस्तुके एक अनेक स्वरूप जाने जा रहे हैं। हां! परस्परमें एक दूसरेका निराकरण करनेमें तत्पर हो रहे ही उस एक या अनेक स्वरूपकी प्रतीति प्रत्युत नहीं हो रही है। नहीं प्रतीत हो रहे सर्वथा एकान्तोंकी व्यवस्था न होनेपर भले प्रकार जाने जा रहे भी जात्यन्तर वस्तुकी व्यवस्था न मानी जाय, यह कैसे भी नहीं हो सकता है। अन्यथा बौद्धोंको अपने इष्ट रूप स्वलक्षण, क्षणिकत्व, आदिकी भी अव्यवस्था होनेका प्रसंग हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि बौद्धजन वस्तुके एकरूप और अनेकरूप दोनोंका तो निषेध कर ही नहीं सकते हैं। देखो, तिस प्रकार पदार्थोंमें एकरूपके अभावकी व्यवस्था न होनेपर एकरूपकी भावविधि अवश्य हो जायगी और एकरूपकी व्यवस्था न होनेपर अनेकस्वरूपकी विधि अवश्य हो जायगी। परस्पर एक दूसरेसे व्यवच्छेदस्वरूप हो रहे दो पदार्थोंमेंसे एक किसीका निषेध करनेपर शेष दूसरेकी विधि अवश्य हो जाती है। जैसे कि कोई पदार्थ नील भी न होय और अनील भी न होय। इस प्रकार दोनोंका निषेध नहीं किया जा सकता है। आत्मा, आकाश, सूर्य, शंख, आदि पदार्थ नीले नहीं हैं तो अनील बने बनाये हैं तथा उत्पल, जामुन, नीला थोथा आदि पदार्थ नील हैं तो अनील नहीं हो सकते। इसीके समान एकरूपका भाव और अभाव भी परस्परमें व्यवच्छेद स्वभाववाले प्रतीत हो रहे हैं। अतः आप बौद्ध इन दोनोंमेंसे एकको अवश्य मानिये। तिस कारण इस कथनसे यह भी निवेदन कर दिया गया है कि पदार्थोंमें अनेक रूपोंके अभावकी यदि व्यवस्था न हो सकेगी तो उसी समय अनेकरूपकी विधि हो जायगी और अनेकरूपकी व्यवस्था न होनेपर एक रूपकी विधि हो जायगी। मेघके समान न्याय सर्वत्र एकसा होता है। अर्थात् एकरूप या एक

रूपाभाव अथवा अनेकरूप या अनेकरूपाभाव इनको मानो चाहे न मानो। वस्तुमें अनेक धर्मोंकी सिद्धि अनायास हो जाती है।

ननु चाध्यक्षे सकलधर्मरहिस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासनात् न तत्रैकमनेकं वा रूपं परस्परं सापेक्षं निरपेक्षं वा तद्रहितत्वं वा प्रतिभाति कल्पनारोपितस्य तु तथा प्रतिभासमानस्य तावतोसत्त्वात्। संवृत्त्या तत्सद्भावोऽभीष्ट एव। तथा चैकरूपतदभावयोरनेकरूपतदभावयोश्चैकानेकरूपयोः परस्परव्यवच्छेदस्वभावयोरेकतरस्य प्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यंभावेऽपि न किंञ्चिद्विरुद्धं, भावाभावोभयव्यवहारस्यानादि शद्धविकल्पवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितस्य शद्धार्थतयोपगमात्। तदुक्तम्—" अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः, शद्धार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः "। इति केचित्।

बौद्धोंकी ओरसे पुनः अनुनय सहित होकर पूर्वपक्ष है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित वस्तुभूत स्वलक्षणका प्रतिभास हो रहा है। उस प्रत्यक्षमें एकरूप अनेकरूप परस्परमें अपेक्षा रखते हुए अथवा नहीं रखते हुए या उनसे रहितपना धर्म ये कभी नहीं प्रतीत होते हैं। हां! झूठी कल्पनासे तिस प्रकार आरोपे गये स्वरूपोंका प्रतिभास तो भले ही होय. कल्पित धर्म तो वास्तविकरूपसे असत् हैं, अतः व्यवहारसे उन कल्पित धर्मोंका सद्भाव हम बौद्धोंको अभीष्ट ही है और तिस प्रकार होनेपर अन्योन्यमें एक दूसरेका व्यवच्छेद करनारूप स्वभाववाले एकरूप और उसके अभाव एकरूपाभाव तथा अनेकरूप और उसके अभाव अनेकरूपाभाव जो कि एकरूप और अनेकरूपस्वरूप हैं। दोनोंमेंसे एकका निषेध करनेपर बचे हुए दूसरेकी विधिके अवश्य हो जानेपर भी कुछ विरुद्ध नहीं पडता है। पत्रमें चित्रित किये हुए सिंह और गायका या नकुल और सर्पका कोई झगडा नहीं है। भले ही सिंहके सिरपर पैर रखकर हिरण खडा हो जाय। कोई अडचन नहीं पडती। मनमानी घरू कल्पनाओंको कौन रोकने बैठा है ! भाव अभाव और उभयरूपसे हो रहे व्यवहार तो अनादिकालसे लगी हुयीं शद्ध बुलानेवाली और विकल्पज्ञान बनानेवाली वासनाओंसे उत्पन्न हुए विकल्पोंमें स्थित हो रहे हैं। उनके व्यवहारको हमने शद्धका वाच्यार्थपनेसे स्वीकार किया है, वास्तविकरूपसे नहीं। वही हमारे ग्रन्थमें कहा है कि भाव, अभाव, और उभयका आश्रय लेकर गढ लिया गया तीन प्रकारका धर्म ही शद्धका वाच्यार्थ है। जो कि आत्मामें बीजाङ्कुर न्याय अनुसार अनादिकालसे लगे हुए मिथ्यासंस्कारोंसे उत्पन्न हो चुके झूंठे विकल्पज्ञानोंमें विषयभूत होकर स्थित हो रहा है। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं।

तेऽपि नानवद्यवचसः सुखनीलादीनामपि रूपाणां कल्पितप्रसंगात्। स्पष्टमवभासमानत्वान्न तेषां कल्पितत्वमिति चेन्न, स्वप्नावभासिभिरनेकान्तात्। न हि चैषामविकल्पितत्वं मानसविभ्रमात्मना स्वप्नस्योपगमात् तस्य करणजविभ्रमात्मनोपगमे वा कथमिन्द्रिय-

जविभ्रमात्तद्भ्रान्तेः पृथक् प्ररूपणं न विरुध्यते । मानसविभ्रमत्वेऽपि विशदत्वं स्वप्नस्य विरुध्यत इति चेन्न, विशदाक्षज्ञानवासनासमुद्भूतत्वेन तस्य वैशद्यसम्भवात् । न च तत्र विशदरूपतयावभासमानानामपि सुखनीलादीनां पारमार्थिकत्वं विसंवादात् । तद्बुज्जाग्रदशायामपि तेषामनादीन्द्रियादिजज्ञानवासनोद्भूतप्रतिभासपरिनिष्ठितत्वात् प्रत्यक्षा एव ते न वस्तुस्वभावा इति शक्यं वक्तुम् ॥

आचार्य कहते हैं कि वे बौद्ध भी निर्दोष वचन कहनेवाले नहीं है । अर्थात् जब वे शब्द के वाच्यअर्थको वस्तुभूत मानते ही नहीं हैं तो उनका उक्त कथन करना भी निस्सार है । मिथ्यासंस्कारोंसे कहा हुआ होकर सदोष ही है । तथा यों तो प्रत्यक्षसे जाने गये अन्तरंग सुख, ज्ञान, आदि पदार्थोंको और बहिरंग नील पीत आदि स्वरूपों (स्वलक्षणों) को भी कल्पितपनेका प्रसंग हो जायगा । रहा इनका ज्ञान या इनका शब्दद्वारा व्यवहार सो तो इनकी मिथ्यावासनाओंसे सुख, नील, आदिकोंका मतिज्ञान होना कहा जा सकता है । इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्पष्ट रूपसे प्रकाशमान होनेके कारण वे सुख, नील, आदिक कल्पित नहीं हैं । किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञानसे जाने गये परमार्थभूत हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि स्वप्नमें प्रतिभास रहे सुख, नील, आदि पदार्थोंसे तुम्हारे हेतुका व्यभिचार हो जायगा । स्वप्नमें देखे हुए पदार्थ स्पष्ट प्रतिभास रहे हैं । किंतु अकल्पित नहीं हैं और इन स्वप्नके सुख, नील, आदिकोंको निर्विकल्पक ज्ञानका विषयपना नहीं समझ बैठना । जिससे कि व्यभिचार दूर हो सके । आप बौद्धोंने स्वप्नको मनोजन्य विभ्रम ज्ञानस्वरूपसे स्वीकार किया है । यदि उस स्वप्नको बहिरिन्द्रिय-जन्य विभ्रमस्वरूपसे माना जायगा तो अन्यत्र ग्रन्थमें इन्द्रियजन्य भ्रान्तिसे उस स्वप्नरूप भ्रमका पृथक्पनेसे निरूपण करना कैसे नहीं विरुद्ध होगा ? बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नको मानसभ्रान्ति रूप माननेपर भी स्पष्टपना विरुद्ध हो जाता है । अर्थात् जो भ्रान्तिरूप ज्ञान हैं, वे स्पष्ट नहीं होते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणरूप ज्ञान ही विशद होते हैं । इसपर ग्रन्थकार सकटाक्ष बोलते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि आपकी मानी हुयीं वासनायें संसार भरका प्रत्येक ढंगसे ज्ञान करनेमें जब समर्थ हैं तो चिन्ता किस बातकी है ? विशद इन्द्रियज्ञानको बनानेवाली वासनासे उत्पन्न होनेके कारण उस स्वप्नका विशदपना सम्भव है । किन्तु उस स्वप्नमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहे भी सुख, नील आदिकोंको विसंवाद (सफलप्रवृत्तिका अजनक) होनेके कारण परमार्थभूत नहीं माना गया है । उसी स्वप्न दशाके समान जागती हुयी अवस्थामें भी वे सुख, नील, आदिक पदार्थ इन्द्रिय आदिकोंसे जन्य ज्ञानकी अनादिकालीन वासनासे उत्पन्न हुए प्रतिभासमें स्थित होनेके कारण वे प्रत्यक्ष विषय तो हो ही जांयगे, किन्तु वे वास्तविक नहीं हैं । यह हम जैन कह सकते हैं ।

बाधकाभावाद्वास्तवास्ते इति चेत्, शब्दार्थास्तथा सन्तु । न चाभावस्यापि शब्दार्थत्वात्सर्वशब्दानामवास्तवत्वमिति युक्तं, भावान्तररूपत्वादभावस्य ।

कोई बाधक प्रमाण न होनेके कारण वे जागती हुयी दशाके सुख, नील, आदिक तो वस्तुभूत हैं। ऐसा माननेपर तो बौद्धोंके यहां शद्वके वाच्यअर्थ भी तिस प्रकार बाधक प्रमाण न होनेके कारण वास्तविक हो जाओ! बौद्धोंको यह भय करना उचित नहीं है कि अभाव भी शद्वोंका वाच्य-अर्थ माना गया है और अभाव तुच्छ पदार्थ अवास्तविक है। अतः सभी शद्वोंके वाच्यअर्थोंको अवास्तविकपना है। देखो! हम जैन अभावको दूसरे भावस्वरूप मानते हैं। जैसे कि घटका अभाव रीते भूतलस्वरूप है। हां! तुच्छ और निरुपाख्य अभाव कोई पदार्थ नहीं है। "भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत्"। जैसे गाढ सोते हुए मनुष्यका या मूर्ख जीवका अज्ञान अनुपलम्भ नहीं कहाता है, किन्तु चैतन्य अवस्थामें ठहरे हुए मनुष्यका किसी पदार्थका ज्ञान होना अन्य पदार्थका अनुपलम्भ कहा जाता है। अनुपलम्भ शद्वमें नञ्का अर्थ पर्युदास है, प्रसज्य अर्थ नहीं है। वैसे ही अन्य भावोंसे रहित दूसरा भावपदार्थ ही अभाव पडता है। मीमांसक भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं।

ननु तुच्छाभावस्याशद्वार्थत्वे कथं प्रतिषेधो नाम निर्विषयप्रसंगादिति चेन्न, वस्तुस्वभावस्याभावस्य विधानादेव तुच्छस्वभावस्य तस्य प्रतिषेधसिद्धेः क्वचिदनेकान्तविधानात् सर्वथैकान्तप्रतिषेधसिद्धिवत्।

यहां शंका है कि कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता, विशेष्यता, विशेषणता, आदि सभी धर्मोंसे रहित तुच्छ अभावको यदि शद्वका वाच्यअर्थ न माना जायगा तो भला उसका निषेध भी कैसे होगा? यों तो निषेधको प्रतियोगीस्वरूपसे रहितपनेका प्रसंग होगा। अर्थात् निषेध तो किसी पदार्थका होना चाहिये। खरविषाण आदि अवस्तुका तो निषेध नहीं होता है। ज्ञानका जैसे षष्ठयन्त या सप्तम्यन्त विषय आवश्यक है, वैसे ही निषेधका भी वस्तुभूत षष्ठयन्त प्रतियोगी होना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो न करना। क्योंकि वस्तुस्वरूप अभावको विधान करनेसे ही तुच्छस्वरूप उस अभावके निषेधकी स्वयं सिद्धि हो जाती है। जैसे कि कहीं अग्नि, हेतु, विष, आदिमें भावस्वरूप अनेकान्तकी विधि होजानेसे सभी प्रकार एकान्तोंके निषेधकी सिद्धि हो जाती है। हम चलाकर सर्वथा एकान्त या तुच्छ अभावको स्थिर करके पुनः उसका निषेध नहीं करते है। यों तो व्याघातदोष होता है। हां! भावात्मक अनेक धर्मवाले पदार्थ संसारमें प्रसिद्ध हो रहे हैं अथवा वस्तुभूत नास्तित्व धर्मसे युक्त पदार्थ प्रतिभास रहे हैं, इस ही कारण सर्वथा एकान्त और तुच्छ अभाव प्रतीत ही नहीं हो पाते हैं।

तथा तस्य मुख्यो प्रतिषेधो न स्यादिति चेन्न किञ्चिदनिष्टं, न हि सर्वस्य मुख्येनैव प्रतिषेधेन भवितव्यं गौणेन वेति नियमोऽस्ति यथाप्रतीतस्योपगमात्।

बौद्धोंकी ओरसे कोई कहता है कि यों तिस प्रकार होनेपर तो उस तुच्छ अभावका मुख्य रूपसे निषेध नहीं हो सकेगा। मुख्य निषेध तो उसे कहते हैं जो कि ठीक उसीका किया जाय। यों तो एक अभावके होनेपर हाथी, भैंसे, बैल, आदि असंख्य पदार्थोंका निषेध हो जाता है, किन्तु

वह गौण निषेध है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो आक्षेप न करना। क्योंकि हमको कोई अनिष्ट नहीं है। सर्वथा एकान्तोंका या तुच्छ अभावोंका षष्ठयन्त विषय नियत करते हुए मुख्य निषेध न होनेमें हमारी कोई क्षति नहीं है। सबका मुख्य ही निषेध होना चाहिये या गौण ही निषेध होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं बंधा हुआ है। जिसका कि आवश्यक पालन किया जाय। हां! जिनका जिस प्रकार निषेध होना प्रतीत हो रहा है, उसका वैसा मुख्य या गौण निषेध होना स्वीकार कर लिया जाता है। आपके यहां भी तो खर विषाण, वन्ध्यापुत्र आदि असत् पदार्थोंका गौणरूपसे निषेध करना माना गया है। इसी प्रकार यहां भी सर्वथा एकान्तोंका या तुच्छ अभावोंका निषेध गौण ही सही।

ननु गौणेऽपि प्रतिषेधे तुच्छाभावस्य शब्दार्थत्वसिद्धिर्गम्यमानस्य शब्दार्थत्वाविरोधात् सर्वथैकान्तवदिति चेन्न, तस्यागम्यमानत्वात्तद्वत्। यथैव हि वस्तुनोऽनेकांतात्मकत्वविधानात् सर्वथैकान्ताभावो गम्यते न सर्वथैकान्तस्तथा वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावो न तु स गम्यमानः।

पुनः शंकाकारका कथन है कि तुच्छ अभावका गौणरूप निषेध करनेपर भी शब्द द्वारा वाच्यार्थपना सिद्ध हो जाता है क्योंकि शब्दके द्वारा कण्ठोक्त कहे गये उच्यमान पदार्थके समान शब्दसे यों ही जान लिये गये गम्यमान पदार्थको भी शब्दका वाच्यार्थपन प्राप्त होनेका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि हमने सर्वथा एकान्तोंको शब्दके वाच्यअर्थ माना है। अब श्रीविद्यानन्दस्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह तुच्छ अभाव शब्दके द्वारा जानने योग्य नहीं है। जैसे कि सर्वथा एकान्त अर्थात् शब्दोंके द्वारा सर्वथा एकान्त और तुच्छ अभाव साक्षात् या परम्परा कैसे भी नहीं जाने जाते हैं। सींगोंसे खाली घोडेके सिरको देखकर एकदम घोडेके सींगोंका अभाव जान लिया जाता है। घोडेके सींगोंके जाननेके लिये अवसर ही नहीं मिल पाता है। जिस ही प्रकार वस्तुके अनेक धर्म स्वरूपपनका विधान करनेसे ही उसी समय सर्वथा एकान्तोंका अभाव जान लिया जाता है, सर्वथा एकान्त नहीं जाने जाते हैं, तिसी प्रकार वस्तुस्वरूप अभावकी विधि होनेसे तुच्छस्वरूप अभावका अभाव एकदम जान लिया जाता है, किन्तु वह तुच्छ अभाव तो कैसे भी नहीं जाना जाता है। प्रमेयत्व धर्म जिसमें रहेगा, वह जाना जायेगा। तुच्छ अभाव तो सर्वथा एकान्तके समान प्रमेयत्व धर्मसे रीता है। भला वह परम्परासे भी कैसे जाना जा सकता है?।

ननु तुच्छाभावस्याभावगतौ तस्य गतिरवश्यंभाविनी प्रतिषेध्यनान्तरीयकत्वात् प्रतिषेधस्येति चेन्न, व्याघातात्। तुच्छाभावस्याभावश्च कुतश्चिद्गम्यते भावश्चेति को हि ब्रूयात् स्वस्थः।

शंका है कि तुच्छ अभावके अभावका ज्ञान करने पर उस तुच्छ अभावका ज्ञान करना तो अवश्यरूपसे होना चाहिये, क्योंकि निषेध करना निषेध करने योग्य प्रतियोगीके साथ अविनाभाव

रखता है। अर्थात् निषेध करने योग्य पदार्थके विना निषेध करना नहीं बनता है। " न अन्तरे सम्पाद्यमान इति नान्तरीयकः "। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। जिसका भाव विद्यमान है, भला उसका निषेध किस प्रकार हो सकता है ? किसी वास्तविक कारणसे तुच्छ अभावका अभाव भी जान लिया जाय और तुच्छ अभावकी सत्ता भी जानली जाय, इस प्रकार भला कौन नीरोग मनुष्य कह सकेगा ? यानी उन्मत्त या रोगी (बीमार) मनुष्य ही ऐसी पूर्वापरविरुद्ध बातोंको कह सकता है। अतः तुच्छ अभावका भाव कहना कैसे भी आवश्यक नहीं है।

ननु वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावगतिस्तद्गतेस्तस्य गतिस्ततो न व्याघातो नाम, यत एव हि तस्याभावगतिस्तत एव भावस्यापि गतौ व्याघातो नान्यथेति चेन्न, सामस्त्येन तस्याभावगतौ पुनर्भावगतेर्व्याहतेरवस्थानात्। प्रतिनियतदेशादितया तु कस्यचिद्भावगतौ अपि न भावगतिर्विहन्यत इति युक्तम्।

बौद्ध अपने मतका अवधारण कर कहते हैं कि वस्तुस्वरूप अभावके विधान करनेसे ही तुच्छ अभावके अभावकी ज्ञप्ति हो जाती है। यह तो आपने भी माना है किन्तु उस तुच्छ अभावकी अभाव गतिसे उस तुच्छाभावकी ज्ञप्ति हो जायगी। तिस कारण कोई व्याघात दोषकी सम्भावना नहीं है। हां, जिस ही स्वरूपसे उस तुच्छ अभावके अभावकी ज्ञप्ति होती और उस ही स्वरूपसे तुच्छाभावके भावकी भी ज्ञप्ति मानी जाती तब तो व्याघातदोष हो सकता था। अन्य प्रकारसे माननेपर तो व्याघात नहीं होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सम्पूर्ण रूपसे जब तुच्छ अभावके अभावका ज्ञान कर लिया है, तो फिर तुच्छ अभावके भावकी ज्ञप्ति करनेसे व्याघातदोष होना तदवस्थ रहता है। हां ! नियत कर दिये गये प्रत्येक देश, काल, अवस्थामें ठहरनेपनसे तो किसीके अभावकी ज्ञप्ति हो जानेपर भी पुनः अन्य देश, अन्य काल, और अन्य अवस्थाओंमें उसके भावका ज्ञान कर लेनेमें व्याघात नहीं आता है, यह युक्त है। भावार्थ—विवक्षित घटका किसी समय अन्य स्थानोंमें अभाव जाननेपर भी कुलालके घरमें उसका भाव भी जान लिया जाता है। क्योंकि घटका संपूर्ण देश, काल, और अवस्थाओंकी अपेक्षासे अभाव नहीं हो रहा है। कहीं कभी किसी अवस्थामें घट है। अन्यत्र अन्यदा अन्य अवस्थामें नहीं है। यहां व्याघातकी सम्भावना नहीं, किन्तु तुच्छ अभावोंका तो सर्वदा सर्वत्र सभी प्रकारोंसे अभाव हो रहा है। अतः उसका भाव जाननेमें व्याघातदोष अवश्य लागू होगा सो समझ रखना।

कथमिदानीं "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इति मतं न विरुध्यते ? तुच्छाभावस्य प्रतिषेध्यस्याभावेऽपि प्रतिषेधसिद्धेरन्यथा तस्य शब्दार्थतापत्तेरिति चेन्न, संज्ञिनः सम्यग्ज्ञानवतः प्रतिषेध्यादृते न क्वचिदन्तर्बहिर्वा प्रतिषेध इति व्याख्यानात्तदविरोधात्।

किसीका प्रश्न है कि आप जैन यह बताओ कि श्रीसमन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है कि प्रतिषेध करने योग्य पदार्थके विना संज्ञावालेका कहीं भी निषेध नहीं होता है। यह आचार्यका मन्तव्य आप जैनोंके कथनसे क्यों नहीं विरुद्ध पडेगा ? यानी आपको अपने आचार्यके वचनसे विरोध आवेगा। तुमने तो प्रतिषेध करने योग्य तुच्छ अभावके विना भी उसका निषेध सिद्ध कर दिया है। अन्यथा यानी निषेध्यके मान लेनेपर ही उसका निषेध किया जायगा, तब तो वाचक संज्ञावाले उस तुच्छ अभावको शब्दके वाच्य अर्थपनका प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं हो सकता है, क्योंकि गुरूणां गुरुः श्रीसमन्तभद्राचार्यकी कारिकाका इस प्रकार व्याख्यान है कि संज्ञी अर्थात् समीचीन ज्ञानवाले निषेध्यके विना कहीं भी अन्तरंग अथवा बहिरंग पदार्थका निषेध नहीं होता है। ऐसा व्याख्यान करनेसे उन आचार्योंके मन्तव्यसे हमारे कथनका कोई विरोध नहीं आता है। भावार्थ—सर्वथा एकान्तोंके समान तुच्छ अभाव सम्यग्ज्ञानका विषय ही नहीं है। अतः निषेध्यके विना भी उसका निषेध किया जा सकता है। संज्ञीका अर्थ वाचक संज्ञावाला नहीं किन्तु सम्यग्ज्ञानकी विषयतावाला है।

सकलप्रमाणाविषयस्य तुच्छाभावस्य प्रतिषेधः स्वयमनुभूतसकलप्रमाणाविषयत्वेन तदनुवदनमेवेति स्यात्प्रतिषेध्याद्दते प्रतिषेधः स्यान्नेत्यनेकान्तवादिनामविरोधः प्रमाणवृत्तानुवादपरत्वात्तेषाम्। न हि यथा जीवादिवस्तु प्रतिनियतदेशादितया विद्यमानमेव देशान्तरादितया नास्तीति प्रमाणमुपदर्शयति तथा तुच्छाभावं तस्य भावरूपत्वप्रसंगात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुरूपमेवाभावं तदुपदर्शयति तथा तुच्छाभावाभावमुपदर्शयति इति तद्वचने दोषाभावः।

तुच्छ अभाव जब सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञानों द्वारा विषय नहीं किया जा रहा है तो उसका निषेध करना स्वयं अनुभूत हो रहे सम्पूर्ण प्रमाणोंके अविषयपनेसे उसका केवल अनुवाद करना मात्र है। भावार्थ—जैसे कि यह मनुष्य घोडा नहीं है, यहां मनुष्यमें घोडेपनकी कल्पना कर उसका अनुवाद करते हुए निषेध कर देते हैं, तैसे ही किसी भी ज्ञानके विषयभूत नहीं ऐसे तुच्छ अभावका अनुवाद कर निषेध कर दिया जाता है। इस कारण कथञ्चित् प्रतिषेध्यके विना भी निषेध हो जाता है और कथञ्चित् प्रतिषेध्यके विना प्रतिषेध नहीं होता है। यानी वन्ध्यापुत्र आदि समसित पदके अर्थ या तुच्छ अभाव और सर्वथा एकान्तोंका प्रतिषेध्यके बिना अभाव साध दिया जाता है तथा अखण्ड पद या सद्भूत अर्थ और सम्यग्ज्ञानवाले अर्थका निषेध तो प्रतिषेध्यके विना नहीं हो पाता है। इस प्रकार अनेकान्त वादियोंके यहां कोई विरोध नहीं आता है, वे तो प्रमाणके द्वारा आचरे गये वृत्तान्तका अनुवाद करनेमें प्रवीण हैं। देखो ! प्रमाण जैसे नियत देश प्रतिनियत काल और नियमित स्वभावों करके विद्यमान हो रहे ही जीव आदि वस्तुओंको दूसरे देश अन्य काल और न्यारे परचतुष्टयादि स्वभावों करके नहीं हैं, यों जिस प्रकार दिखला देता है, तिस प्रकार तुच्छ

अभावोंको नहीं दिखलाता है। यदि जीव आदि वस्तुओंके समान तुच्छ अभावोंको भी सम्यग्ज्ञान दिखलाता होता तो उस तुच्छ अभावको भावरूपपनेका प्रसंग हो जाता। जो कि वैशेषिकोंने भी नहीं माना है। हां! वह प्रमाण सर्व स्थलोंपर सब कालमें सभी प्रकारोंसे वस्तुस्वरूप अभावको ही दिखलाता है और तुच्छ अभावके तिस प्रकार वस्तुस्वरूप अभावको जता देता है। इस प्रकार उसके कथन करनेमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् तुच्छ अभाव तो कोई पदार्थ नहीं है। हां! तुच्छ अभावका अभाव जैसे तैसे कठिनतापूर्वक किसी अपेक्षासे वस्तुरूप कहा जा सकता है। तुच्छाभावके न होनेपर ही तुच्छाभावाभावके ज्ञान और शब्दके गोचरपनेसे ऐसा मानना पडा है। अन्यथा नहीं।

नन्वेवं तुच्छाभावसदृशस्या(शब्दस्या)नर्थकत्वे प्रयोगो न युक्तोऽतिप्रसंगात्, प्रयोगे पुनरर्थः कश्चिद्वक्तव्यः स च बहिर्भूतो नास्त्येव च कल्पनारूढस्त्वन्यव्यवच्छेद एवोक्तः स्यात्तद्वत् सर्वशब्दानामन्यापोहविषयत्वे सिद्धेर्न वास्तवाः शब्दार्था इति चेत् नैतदपि सारं, अभावशब्दस्याभावसामान्यविषयत्वात्तस्य विवादापन्नत्वात्। सर्वो हि किमयमभावो वस्तुधर्मः किं वा तुच्छ इति प्रतिपद्यते न नास्तीति प्रत्ययोर्थोऽभावमात्रे, तत्र च वस्तुधर्मतामभावस्याचक्षाणाः स्याद्वादिनः कथमभावशब्दं कल्पितार्थं स्वीकुर्युः? स्वयं तुच्छरूपतां तु तस्य निराकुर्वतः परैरारोपितामाशंकितां वानुवदतीत्युक्तप्रायम्।

पुनः बौद्धोंका अवधारण है कि इस प्रकार तुच्छ अभाव शब्दको व्यर्थ माननेपर तो उसका प्रयोग करना ही युक्त नहीं है। अथवा शब्दोंकी प्रवृत्ति सदृश पदार्थोंमें होती है। संकेतग्रहण करते समय सन्मुख होरहे पदार्थका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। जब कि तुच्छ अभावके सदृश कोई पदार्थ ही नहीं है, तो वह शब्द व्यर्थ है। ऐसी दशामें उसका प्रयोग करना युक्त नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् जब ग ड द, कुथ, विथ आदि निरर्थक शब्दोंका प्रयोग करना भी आवश्यक हो जायगा। यदि तुच्छ अभावका वचन प्रयोग करोगे तो फिर उसका कोई वाच्यअर्थ कहना ही पडेगा और वह घट, पट, आदिके समान बहिरंग वस्तुभूत अर्थ होता नहीं है, तब तो झूंठी कल्पनामें आरोपा गया अन्य व्यवच्छेद ही तुच्छ पदार्थ अभाव शब्दसे कहा जा सकेगा। उस अभाव शब्दके समान सब शब्दोंका अन्यापोहरूप अर्थको विषय करनापन सिद्ध हो जानेसे सभी शब्दोंके वाच्यअर्थ वस्तुभूत नहीं ठहरते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहोगे सो यह बौद्धोंका स्वकीय मतका अवधारण भी निस्सार है। क्योंकि अभाव शब्द निरर्थक नहीं है, वह अभाव सामान्यको विषय करता है। हां! सामान्य अभाव क्या पदार्थ है? वह विवादमें पडा हुआ है। उसका विचार कर लीजिये। सर्व ही वादी विद्वान् अभावको क्या वस्तुका धर्म है? अथवा क्या तुच्छ स्वभाव है? इस प्रकार विवाद उठाकर जान लेते हैं। अभावका "नहीं" नहीं है इत्यादि प्रकारसे अभावसामान्यमें अर्थ समझ लेना चाहिये। तिन विद्वानोंमें अभावको वस्तुका धर्मपना कह रहे स्याद्वादी पण्डित अभाव शब्दको कल्पित अर्थवाला कैसे स्वीकार

कर सकेंगे ? वे तो उस अभावकी तुच्छरूपताका स्वयं खण्डन करते हुए दूसरे वैशेषिक द्वारा आरोपण की गयी या मीमांसकद्वारा शंकाको प्राप्त हुयी तुच्छरूपताका अनुवाद मात्र कर देते है। जैसे कि कोई सत्यव्रती सज्जन किसीके असत्य भाषणका अनुवाद कर देते हैं, इस बातको हम बहुलतासे पूर्वमें कह चुके हैं।

न चात्यन्तासम्भविनो रूपस्य वस्तुन्यारोपितस्य केनचिदाशंकितस्य चातुच्छादेः सर्वशब्दानामन्यव्यवच्छेदविषयत्वप्रसंजनं प्रायः प्रतीतिविरोधात्। कथमन्यथा कस्यचित्प्रत्यक्षस्य नीलविषयत्वे सर्वप्रत्यक्षाणां नीलविषयत्वप्रसंजनं नानुज्ञायते सर्वथा विशेषाभावात्। अथ यत्र प्रत्यक्षे नीलं प्रतिभासते निर्बाधात्तन्नीलविषयं यत्र पीतादि तत्तद्विषयमित्यनुगम्यते तर्हि यत्र शाब्दे ज्ञाने वस्तुरूपकल्पितमाभाति तद्वस्तुरूपविषयं यत्र तु कल्पनारोपितरूपं तत्तद्गोचरमित्युक्तम्। ततः शब्दार्थानां भावाभावोभयधर्माणामभावादिवासनोदितविकल्पपरिनिष्ठितत्वे प्रत्यक्षार्थानामपि तत्स्यात् तेषां बाधकाभावात्। पारमार्थिकत्वे वा तत एव शब्दार्थानामपि तद्भवेदिति न प्रतिपादितविरोधाभावः।

अत्यन्तपनसे असम्भव हो रहे किन्तु खण्डन करनेके लिये किसीमें आरोपे गये अथवा किसीके द्वारा शंकाको प्राप्त हुए तुच्छ अभाव आदिके वाचक शब्दोंको अन्यापोह अर्थकी विषयता मानकर सर्व ही सत्य शब्दोंको भी अन्यापोह अर्थके विषयपनका प्रसंग देना उचित नहीं है। क्योंकि प्रायः करके प्रतीतियोंसे विरोध होगा। अन्यथा किसी भी नील पदार्थको जाननेवाले प्रत्यक्षको नीलका विषय करनेवाला होनेपर सभी लाल, पीले आदिको विषय करनेवाले प्रत्यक्षोंको भी नीलको विषय करनेवालेपनका प्रसंग क्यों नहीं माना जावेगा ? सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है। अब यदि आप यों मानें कि जिस प्रत्यक्षमें बाधा रहितपनेसे नील पदार्थ प्रतिभास रहा है, वह नीलको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है और जिसमें पीत, रक्त, आदि पदार्थ बाधारहित होकर प्रतीत हो रहे हैं, वह उन पीत आदिको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष है, ऐसा माना जायगा। तब तो जिस शब्दजन्य ज्ञानमें नहीं कल्पना किया परमार्थभूत वस्तुस्वरूप प्रकाशित हो रहा है, वह शाब्दज्ञान तो वस्तुभूत पदार्थको विषय करनेवाला माना जाय, किन्तु जिस शाब्दज्ञानमें कल्पनासे आरोप कर किया गयारूप जाना जाता है, वह शाब्दज्ञान उस कल्पित झूंठे पदार्थको विषय करनेवाला मान लिया जाय। इस बातको हम पहिले भी कह चुके हैं। प्रमाण और प्रमाणाभास तो सर्वत्र मानने पडते है। तिस कारण शब्दके वाच्यअर्थस्वरूप भाव, अभाव, और उभय धर्मोंको या इन तीन धर्मवाले धर्मियोंको यदि अनादिकालकी लगी हुयी भाव, अभाव आदिकी वासनासे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान द्वारा स्थित होना (मनगढन्त) माना जायगा तो प्रत्यक्ष ज्ञानके विषयभूत अर्थोंको भी वह झूंठे विकल्पज्ञान रूपी शिल्पीद्वारा यों ही त्यों ही गढ लिया गयापन हो जाओ ! अर्थात् प्रत्यक्षद्वारा जाने गये पदार्थ भी वस्तुभूत नहीं माने जायं, तिसपर बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षसे जाने गये उन अर्थोंका

बाधक प्रमाण न होनेके कारण वस्तुभूतपना है। ऐसा कहने पर तो हम भी कहते हैं कि तिस ही बाधक प्रमाण न होनेके कारण शद्वोंके वाच्यअर्थोंको भी वास्तविकपना हो जाओ! इस प्रकार शद्वका वाच्यार्थ सिद्ध हो जानेपर आप बौद्धोंको अपनी कही गयी "अनादिवासनोद्भूत" इस कारिकासे विरोध हुआ। अथवा बौद्ध इधर तो शद्वका वाच्यअर्थ नहीं मानते हैं और उधर अनेक ग्रन्थों या वक्ताओंद्वारा स्वकीय तत्त्वका प्रतिपादन कराते हैं। अतः अपने ही प्रतिपादितसे अपना ही विरोध हुआ। उस विरोध दोषका अभाव आप बौद्ध नहीं कर सकते हैं।

यदप्युक्तं प्रत्यक्षे सकलधर्मरहितस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासान्न तत्रैकमनेकं वा रूपं वा परस्परसापेक्षं वा निरपेक्षं वा तद्रहितं वा प्रतिभातीति। तदपि मोहविलसितमेव, अनेकांतात्मकवस्तुप्रतीतेरपह्नवात्। को ह्यमोहविडंबितः प्रतिभासमानमाबालमबाधितमेकमनेकाकारं वस्तु प्रत्यक्षविषयतयानादृत्य कथमप्यप्रतिभासमानं ब्रह्मतत्त्वमिव स्वलक्षणं तथा आचक्षीत? अतिप्रसंगात्।

और भी जो बौद्धोंने पहिले "ननु चाध्यक्ष" इत्यादि ग्रन्थसे कहा था कि प्रत्यक्षमें संपूर्ण धर्मोंसे रहित कोरे स्वलक्षणका प्रतिभास होता है। अतः उसमें एक अथवा अनेकरूप या परस्पर अपेक्षा रखते हुये या नहीं अपेक्षा रखते हुये अथवा उनसे रहित भी कोई स्वरूप नहीं प्रतिभास रहा है, इस प्रकार वह कहना भी गाढ मोह (मूर्च्छा) में फसकर चेष्टा करना ही है। क्योंकि अनेक धर्मस्वरूप वस्तुकी हो रही प्रतीतिको छिपाया गया है। कौन ऐसा मोहकी विडम्बनासे रहित विचार शील लौकिक या परीक्षक होगा जो कि बालगोपालोंतक प्रतिभास रही बाधारहित एक अनेक आकारवाली वस्तुका प्रत्यक्षके गोचरपनेसे आदर न कर किसी भी प्रकारसे नहीं दीखते हुये ब्रह्माद्वैततत्त्वके समान बौद्ध अभिमत स्वलक्षणको तिस प्रकार धर्मोंसे रहित कहता फिरे अर्थात् कोई भी नहीं है। यदि प्रमाणसे जाने गये पदार्थका तिरस्कार कर प्रमाणसे न जाने गये पदार्थकी कल्पना की जायगी तो चाहे जिस अण्ट सण्ट पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जायगी। अद्वैतवादियोंका माना गया ब्रह्मतत्त्व भी बौद्धोंको मानना पडेगा, तथा सांख्यके भी नित्य माने गये प्रकृति, आत्मा, आदि तत्त्व अंगीकार करने पडेंगे, यह अतिप्रसंग होगा।

तथानुमानादागमाच्च भावस्यैकानेकरूपविशिष्टस्य प्रतीयमानत्वान्न "भावा येन निरूप्यंते तद्रूपं नास्ति तत्त्वत।" इति वचनं निःप्रमाणकमेवोररीकार्यं, यतः स्वरूपवचनं सूत्रे मिथ्या स्यात्। यथा च प्रत्यक्षमनुमानमागमो वानेकांतात्मकं वस्तुप्रकाशयति सुनिर्णीतासंभवं तथाग्रे प्रपंचयिष्यते। किंच।

इस सूत्रकी आठवीं वार्तिकका उपसंहार करते हैं प्रत्यक्षसे तो अनेकधर्म आत्मक वस्तु सिद्ध कर दी है तथा अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे भी पदार्थ एक और अनेकरूपोंसे विशिष्ट होते हुये प्रतीत हो रहे हैं। अतः बौद्धोंका यह कथन करना ठीक नहीं है कि "पदार्थ जिस

स्वरूपसे कहे जाते हैं, वास्तविकपनेसे वह स्वरूप नहीं है, " यह उनका वचन अप्रमाणीक ही स्वीकार करना चाहिये। जिससे कि सूत्रकारका निर्देश आदि सूत्रमें निर्देशशब्दसे स्वरूपका कथन करना मिथ्या हो जाता। अर्थात् बौद्धोंका माना गया स्वरूपरहितपना या अवक्तव्यपना सिद्ध न हो सका। अतः निर्देश करना सच्चा सिद्ध हो गया। भले प्रकार निर्णीत हो रहा है, बाधा रहितपना जिनका ऐसे प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगमप्रमाण जिस प्रकारसे अनेक धर्मस्वरूप वस्तुका प्रकाश कराते हैं, तिस प्रकारको आगेके भविष्यके ग्रन्थमें विस्तारके साथ कहेंगे। दूसरी बात यह है कि–

निःशेषधर्मनैरात्म्यं स्वरूपं वस्तुनो यदि।
तदा न निःस्वरूपत्वमन्यथा धर्मयुक्तता ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितपना यदि वस्तुका स्वरूप है, तब तो उसको स्वरूपरहितपना नहीं आया, धर्मोंका रहितपना ही उसका स्वरूप (धर्म) बन बैठा। अन्यथा यानी धर्म रहितपनेको वस्तुका स्वरूप न माना जायगा, तब तो धर्मरहितपनेका अभाव होनेपर सुलभतासे ही धर्मसहितपना सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार दोनों ढंगसे हमारा सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। बौद्धोंकी " इतो व्याघ्र इतस्तटी " इधर बाघ है और दूसरी ओर नदी है की नीतिसे दोनों पक्षोंमें हार है और जैनोंको " दोनों हाथ लड्डू " की नीतिसे प्रत्येक पक्षमें जय है।

तत्त्वं सकलधर्मरहितत्वमकल्पनारोपितं प्रत्यक्षतः स्फुटमवभासमानं वस्तुनः स्वरूपमेव, तेन तस्य न निःस्वरूपत्वमितीष्टसिद्धम्। कल्पनारोपितं तु तन्न वस्तुनः स्वरूपमाचक्ष्महे, न च कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्यात्मस्वरूपत्वे वस्तुनो निःशेषधर्मयुक्ततानिष्टा, कल्पितसकलधर्मयुक्तस्य तस्येष्टत्वात्। वस्तुभूताखिलधर्मसहितता तु न शक्यापादयितुं तया वस्तुनि कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्वरूपत्वस्याविनाभावाभावात् तामन्तरेणापि तस्योपपत्तेरिति केचित्। तेऽपि महामोहाभिभूतमनसः। स्वयं वस्तुभूतसकलधर्मात्मकतायाः स्वीकरणेऽपि तदसम्भवाभिधानात्। कल्पिताखिलधर्मरहितत्वं हि वस्तुनः स्वरूपं ब्रुवाणेन वस्तुभूतसकलधर्मसहितता स्वीकृतैव तस्य तन्नान्तरीयकत्वात्।

बौद्ध अपने ऊपर आये हुए कटाक्षका निवारण करते हैं कि कल्पनाज्ञानसे नहीं आरोपा गया और निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे विशद प्रतिभास हो रहा तथा वास्तविक ऐसा सकल धर्मोंसे रहितपना तो वस्तुका स्वरूप ही है। अर्थात् धर्मरहितपना ही तो वस्तुका शरीर [डील] है। तिस धर्मरहितपन स्वशरीरसे तो उस वस्तुका स्वरूपरहितपना नहीं हुआ। इस प्रकार हम बौद्धोंका इष्टसिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। जो कल्पनासे आरोपा गया है, उसको तो वस्तुका स्वरूप हम नहीं कह रहे हैं। तथा कल्पनासे गढ लिये गये सम्पूर्ण धर्मोंकी शून्यताको वस्तुका अपना स्वरूप माननेपर संपूर्ण धर्मोंसे सहितपना हो जायगा। यह हमको अनिष्ट नहीं है। हम बौद्ध उस वस्तुको

थोड़ी देरके लिये कल्पित सम्पूर्ण धर्मोंसे सहित मान लेते हैं। हां ! वस्तुभूत संपूर्ण धर्मोंसे सहितपना तो वस्तुमें नहीं आपादन किया जा सकता है। क्योंकि वस्तुमें कल्पित हो रहा सम्पूर्ण धर्मोंके रहितपन स्वरूपका उस वस्तुभूत अखिल धर्मोंसे सहितपनेके साथ अविनाभाव नहीं हो रहा है। भावार्थ—जहां कल्पित हो रहा धर्मोंका अभाव है, वहां वास्तविक धर्म ठहर सकते हैं, ऐसा नियम नहीं। हम बौद्ध वस्तुमें कल्पित धर्मोंको मानते हैं। अतः वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका अभाव स्वयं हो जाता है। उस वास्तविक अखिल धर्मोंकी सहितताके विना भी कल्पित धर्मसहितपनेकी सिद्धि हो सकती है। अन्ततो गत्वा वस्तुमें सम्पूर्ण धर्मोंका स्वभावरहितपन सध जाता है, इस प्रकार कोई वैभाषिक बौद्ध कह रहे हैं। अब स्याद्वादी कहते हैं कि उन बौद्धोंके भी विचारनेवाले मानसिक अभिप्राय बढे हुए मोहके प्रभावसे ढक गये हैं। देखो तो सही उन्होंने वस्तुकी परमार्थभूत सकल धर्मोंसे तदात्मकताको स्वीकार करनेपर भी फिर उसका असम्भव कह दिया है। मानकर मुकर जाना मनस्वी पुरुषोंका कार्य नहीं है। कारण कि कल्पित सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितपनेको वस्तुका स्वरूप कहनेवाले बौद्ध करके वस्तुभूत सकल धर्मोंकी सहितता तो स्वयं स्वीकृत कर ली ही हो गयी समझ लेनी चाहिये। क्योंकि वह कल्पित धर्मरहितपना वास्तविक धर्मोंकी सहितताके साथ व्याप्ति रखता है। उसके विना नहीं हो सकता है। जैसे कि नलीमेंसे जलके निकाल लेनेपर उस स्थानको वायु घेर लेती है वैसे ही कल्पितधर्मोंसे रहित कहनेपर ही उसी समय वस्तुमें वास्तविकधर्म सहितता आ धमकती है।

कल्पनापोढं प्रत्यक्षमित्यत्र कल्पनाकाररहितत्वस्य वस्तुभूताकारनान्तरीयकत्वेन प्रत्यक्षे तद्वचनात्तत्सिद्धिवत्।

प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है, निर्विकल्पक है। इस प्रकार यहां प्रत्यक्षके लक्षणमें कल्पनारूप आकारोंसे रहितपनेका वास्तविक आकारोंके साथ अविनाभावपन होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञानमें उस कल्पनापोढ शब्दसे जैसे उन कल्पनारूप आकारोंकी सिद्धि हो जाती है, वैसे ही धर्मरहितपना कहनेसे वस्तुमें धर्मसहितपनेकी सिद्धि हो जाती है। यह कारिकामें कहे हुए दार्ष्टान्तका दृष्टान्त है, कल्पनारहितपन भी तो एक कल्पना है।

तथा कल्पनाकाररहितत्वस्य वचनाद्वस्तुभूताकारसिद्धिर्न प्रत्यक्षे स्वीकृतैवेति चेत्, तत्किमिदानीं सकलाकाररहितत्वमस्तु तस्य संविदाकारमात्रत्वात्तत्त्वतस्तथापि नेति चेत् कथं न वस्तुभूताकारसिद्धिः। न हि संविदाकारो वस्तुभूतो न भवति संविदद्वैतस्याप्यभावप्रसंगात्। ततः कल्पितत्वेन निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं यदि वस्तुनः स्वरूपं तदा स्वरूप संसिद्धिः यस्मादन्यथा वस्तुभूतत्वेनाखिलधर्मयुक्तता तस्य सिद्धेति व्याख्या श्रेयसी।

बौद्ध कहते हैं कि तिस प्रकार कल्पनास्वरूप आकारोंसे रहितपनेका वचन कर देनेसे हमने प्रत्यक्ष ज्ञानमें वास्तविक आकारोंकी सिद्धि तो नहीं स्वीकार की है, ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं

कि क्या उस प्रत्यक्षको अब सम्पूर्ण आकारोंसे रहितपना मान रहे हो ? बताओ। बौद्ध यदि यों कहें कि उस प्रत्यक्षका तो केवल संवित्ति होना ही आकार है। अतः वास्तविकरूपसे तिस प्रकार आकार रहितपना धर्म भी नहीं माना जाता है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि यों वास्तविक आकारोंकी सिद्धि क्यों न हो जावेगी ? अर्थात् जब ज्ञानमें आकाररहितपना नहीं है तो यही कल्पनारूप आकारोंसे सहितपना स्वतः ही आ जाता है। और ज्ञानमें मान लिया गया संवित्ति आकार भी वस्तुभूत नहीं है यह नहीं समझना। यानी ज्ञानमें संवित्तिकी कल्पना वस्तुभूत है। अन्यथा संवित्तिके अद्वैतका अभाव हो जायगा। यह प्रसंग तो बौद्धोंको इष्ट न पडेगा। तिस कारणसे कल्पित होनेके कारण सम्पूर्ण धर्मोंके निरात्मक (रहित) पनेको यदि वस्तुका स्वरूप माना जायगा, तब तो वस्तुका स्वरूप कुछ न कुछ भले प्रकार सिद्ध हो ही जाता है। जिस कारण कि दूसरे प्रकारसे यानी धर्मरहितपनेको वस्तुका स्वरूप नहीं माननेपर तो वस्तुभूतपना होनेके कारण उस वस्तुको सम्पूर्ण धर्मोंसे सहितपना फिर स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कारिकाकी व्याख्या करना अत्यन्त प्रिय प्रतीत हो रहा है।

अथवा वस्तुभूतनिःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनो यदि स्वरूपं तदा तस्य स्वरूपसंसिद्धिस्तत्स्वरूपस्यानिराकरणात्। अन्यथा तस्य पररूपत्वप्रकारेण तु सैव वस्तुभूतधर्मयुक्तता वास्तवाखिलधर्माभावस्य वस्तुनः परभावे तादृशसकलधर्मसद्भावस्य स्वात्मभूतत्वप्रसिद्धेरन्यथा तदनुपपत्तेः।

अथवा दूसरे प्रकारसे इस कारिकाकी व्याख्या करते हैं कि वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका रहितपना यदि वस्तुका स्वरूप है, तब तो उस वस्तुके स्वरूपकी यों ही विना प्रयत्नके भले प्रकार सिद्धि हो गयी। क्योंकि उस वस्तुके स्वरूपका आप बौद्धोंने निराकरण नहीं किया है, वस्तुका कुछ न कुछ तो स्वरूप मान ही लिया है। अन्यथा यानी धर्मरहितपनेको वस्तुका स्वयं गांठका रूप न मानोगे तो उस धर्मरहितपनेको पररूपपने प्रकारसे तो वही वास्तविक धर्मोंसे युक्तपना आ जाता है। कारण कि वस्तुभूत अखिल धर्मोंके अभावको वस्तुका स्वभाव न मानकर परभाव माना जायगा तो तैसे वास्तविक सकल धर्मोंके सद्भावको स्वात्मभूतपना प्रसिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी धर्म सहितपनेको स्वात्मभूत माने विना धर्मरहितपनेका परभावपना बन नहीं सकता है। अर्थात् जिस वस्तुसे धर्मरहितपना दूर पडा हुआ होकर परका भाव हो रहा है, उस वस्तुका धर्मसहितपना आत्मीयभाव बन बैठता है। इसमें किसी दूसरेका लेना देना नहीं है।

अथवा कल्पितानां वस्तुभूतानां च निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनः स्वरूपं यदि तदा तस्य स्वरूपसंसिद्धिरन्यथा कल्पिताकल्पितसकलधर्मयुक्तता तस्येति व्याख्येयं सामान्येन निःशेषधर्मवचनात्। व्याघातश्चास्मिन् पक्षे नाशंकनीयः कल्पितानां वस्तुभूतानां च

धर्माणां वस्तुनि यथाप्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो यत्सकलधर्मरहितं तन्न वस्तु यथा पुरुषाद्वैतं तथा च क्षणिकत्वलक्षणमिति जीवादिवस्तुनः स्वधर्मसिद्धिः ।

अथवा वार्त्तिकका तीसरा अर्थ इस प्रकार है कि बौद्धजन यदि कल्पना किये गये धर्मों और वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका रहितपना वस्तुका स्वरूप मानेंगे, तब तो उसके स्वरूपकी अच्छे ढंगसे सिद्धि हो ही जाती है । निरात्मकपना भी बढिया स्वरूप है । अन्यथा यानी दोनों प्रकारके धर्मोंसे रहितपनेको वस्तुका गांठका रूप न मानेंगे तो कल्पित और अकल्पित धर्मोंसे युक्तपना उस वस्तुको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार यह तीसरा व्याख्यान समाप्त हुआ । कारिकामें सम्पूर्ण धर्म ऐसा सामान्यसे कहा है । अतः वास्तविक धर्मोंके समान कल्पितधर्म भी पकडने चाहिये । दूसरी बात यह है कि इस तीसरे पक्षमें व्याघातदोष भी आशंका करने योग्य नहीं है। क्योंकि वस्तुमें प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका अतिक्रमण नहीं करके कल्पित अस्ति, नास्ति, आदि सप्तभङ्गीके विषयभूत धर्मोंकी और वस्तुभूत वस्तुत्व, द्रव्यत्व, ज्ञान, सुख, रूप, रस, नीला, खट्टा आदि धर्मोंकी सिद्धि होरही है । तिस कारण सिद्ध होता है कि जो सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित है, वह वस्तु नहीं है । जैसे कि ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, आदि वस्तुभूत नहीं है, तिसी प्रकार बौद्धोंका माना हुआ क्षणिक स्वलक्षण भी सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित होता हुआ परमार्थभूत नहीं है । इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा जीव, पुद्गल, आदि वस्तुओंके अपने अपने धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है । कल्पितधर्म भी वस्तुके अंग हैं, झूंठ मूठ नहीं हैं ।

सकलधर्मरहितेन धर्मेणानेकान्तस्तस्य वस्तुत्वादिति चेन्न, वस्त्वंशत्वेन तस्य प्ररूपितत्वात् वस्तुत्वासिद्धेः । अन्यथा वस्त्वनवस्थानानुषंगात् तदेवं सर्वथा वस्तुनि स्वरूपस्य निराकर्तुमशक्तेः सूक्तं निर्देश्यमानत्वमधिगम्यम् ।

कोई प्रतिवादी दोष दे रहा है कि जो सकल धर्मोंसे रहित है वह वस्तु नहीं है । इस व्याप्तिमें एक धर्मसे व्यभिचारदोष होता है । देखिये, एक अस्तित्व नामका धर्म अन्य धर्मोंसे रहित है। क्योंकि गुणमें दूसरे गुण नहीं रहते हैं । पर्यायमें अन्य पर्यायें नहीं रहती हैं । स्वभावमें फिर कोई दूसरे स्वभाव नहीं रहते हैं । गुण निर्गुण हैं । पर्याय निःपर्याय हैं, स्वभाव निस्स्वभाव हैं । यहां निषेध वाचक निर् अव्ययका अर्थ अन्योन्याभाव नहीं है, किन्तु अत्यन्ताभाव है । गुण गुणस्वरूप तो है, किन्तु गुणमें द्रव्यके समान दूसरे गुण नहीं पाये जाते हैं । चौकीमें चौकी नहीं है । रुपयेमें रुपया नहीं है । इसी प्रकार धर्ममें अन्य धर्म नहीं हैं । किन्तु वह धर्म वस्तुभूत माना गया है । साध्यके नहीं ठहरने और हेतुके ठहर जानेसे यह व्यभिचारदोष हुआ। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार व्यभिचार तो न देना। क्योंकि वह धर्म वस्तुका अंश है, वस्तु नहीं । पूर्व प्रकरणमें उसको वस्तुके अंशपनेसे निरूपण किया जा चुका है । अतः वस्तुत्वपना असिद्ध है, अतः वस्तुत्व हेतु नहीं रहा और सकलधर्म सहितपना साध्य भी नहीं रहा, कोई दोष नहीं है । अथवा व्यतिरेक मुखसे एकधर्ममें सकलधर्मरहितपना हेतु भी रह गया और अवस्तुपना साध्य भी रह गया, कोई

व्यभिचार नहीं है । अन्यथा यानी एकधर्मको भी अन्य धर्मोंसे सहित कर वस्तुपना माना जायगा तो उन धर्मोंको भी अन्य धर्मोंसे सहितपना होगा तथा उन तीसरे धर्मोंको भी चौथे प्रकारके धर्मोंसे सहितपना प्राप्त होगा । इस प्रकार आकांक्षाके बढते रहनेसे वस्तुके अनवस्थादोषका प्रसंग होता है । किन्तु जैनसिद्धान्तमें धर्म, धर्मीका समुदायरूप एक अखण्ड वस्तु मानी गयी है । तिस कारण इस उक्त प्रकारसे वस्तुमें अपने स्वरूपका सभी प्रकारसे निराकरण करनेके लिये बौद्धोंकी सामर्थ्य न होनेके कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि वस्तुका शब्दके द्वारा अर्थस्वरूपका अवधारण करनारूप निर्देशको प्राप्त होनापन जानने योग्य है । यहांतक निर्देशका विचार हो चुका अब स्वामित्वका निर्णय करते हैं ।

न कश्चित्कस्यचित्स्वामी संबन्धाभावतोंजसा ।
पारतंत्र्यविहीनत्वात् सिद्धस्येत्यपरे विदुः ॥ १० ॥

बौद्ध कहते हैं कि कोई भी पदार्थ किसीका स्वामी नहीं है । क्योंकि, तत्त्वार्थरूपसे विचारा जाय तो पदार्थोंका सम्बन्ध ही नहीं बनता है । वैराग्यभावनावाले साधु भी यही भावना भाते हैं कि कोई किसीका नहीं है । " हम न किसीके कोई न हमारा " देवदत्तका घोडा मोल ले लेनेपर यज्ञदत्तका हो जाता है । चोर द्वारा चोरी कर लेनेपर चोरका हो जाता है । क्रय विक्रयके चलनका रुपया न जाने कहांका कहां जाकर किस किसको अपना स्वामी बनाता फिरता है । वस्तुभूत पदार्थका बातचीत कर देनेसे परिवर्तन नहीं हो जाता है । जीवकी बुद्धि सगाई कर देनेसे पुद्गलकी नहीं हो जाती है और न पुद्गलकी गन्धका स्वामी जीव पदार्थ होता है । इससे सिद्ध है कि घोडे या रुपयेका स्वामीपन कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है । कल्पना कैसी भी गढ लो ! स्वामीको सेवककी और सेवकको स्वामीकी पराधीनता होनेपर संबन्ध व्यवस्था मानी गयी है । किन्तु जो पदार्थ स्वकीय कारणोंद्वारा पहिलेसे ही बनकर पूर्णरूपसे सिद्ध हो चुका है, वह परतन्त्रतासे रहित होनेके कारण किसीका भी सम्बन्धी नहीं हो सकता है । इस प्रकार कोई दूसरे बौद्ध समझ रहे हैं ।

सम्बन्धो हि न तावदसिद्धयोः स्वस्वामिनोः शशाश्वविषाणवत् । नापि सिद्धासिद्धयोस्तत् वन्ध्यापुत्रवत् । सिद्धयोस्तु पारतन्त्र्याभावादेवासम्बन्ध एव अन्यथातिप्रसंगात् । केनचिद्रूपेण सिद्धस्यासिद्धस्य च पारतन्त्र्ये सिद्धे परतन्त्रसम्बन्ध इत्यपि मिथ्या, पक्षद्वयभाविदोषानुषंगात् । न चैकस्य निष्पन्ननिष्पन्ने रूपे स्तः प्रतीघातात् । तत्र तत्त्वतः सम्बन्धोऽस्तीति । तदुक्तम्—" पारतन्त्र्ये हि सम्बन्धे सिद्धे का परतन्त्रता । तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ " इति सम्बंधमात्राभावे च सिद्धे सति न कश्चित्कस्यचित् स्वामी नाम यतः स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं स्यादित्येके ।

बौद्धोंका अनुभव है कि सबसे पहिले विचारा जाय तो नहीं सिद्ध हुए दोनों स्व और स्वामीका कैसे भी सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे कि खरहाके सींग और घोडेके सींगोंका असिद्ध होनेके कारण कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा एक सिद्ध और दूसरे असिद्ध पदार्थका भी सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे कि विद्यमान बन्ध्या स्त्री और अविद्यमान उसके पुत्रका कोई जन्य—जननी—सम्बन्ध नहीं है। तथा जो दो पदार्थ परिपूर्ण होकर निष्पन्न हो चुके हैं, उनका तो परतन्त्रता न होनेके कारण ही असंबंध ही है। जो स्वयं पूरा नहीं बना है या बनेमें कुछ त्रुटि हो रही है, वह पर की अधीनताको रखता है, किन्तु सर्वांग सिद्ध हो चुके पदार्थको दूसरेकी आवश्यकता नहीं है। अन्यथा यानी सिद्ध पदार्थ भी यदि पराधीन होने लगेंगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। बने बनाये पदार्थ भी कर्त्तव्यकोटिमें आजायंगे। आकाश या मुक्तजीव भी पराधीन हो जायंगे। किन्तु कृतका तो पुनः करण नहीं होता है। किसी स्वरूपसे सिद्ध हुए और किसी दूसरे रूपसे नहीं सिद्ध हुए पदार्थको यदि परतन्त्र माना जायगा तो हम बौद्ध कहेंगे कि सिद्ध अंशमें परतन्त्रतारूप सम्बन्ध कहना यह भी झूंठ है। क्योंकि सिद्ध, असिद्ध, इन दोनों पक्षमें होनेवाले दोषोंका प्रसंग होता है। हम बौद्ध प्रथम ही कह चुके हैं कि सिद्धपदार्थको पराधीनताकी आवश्यकता नहीं है। और असत्स्वरूप असिद्ध अंश भी पराधीन क्या होगा? जो है ही नहीं, वह क्या तो दूसरोंके अधीन होगा और क्या अपने अधीन होगा? "नंगा पुरुष क्या धोवे? और क्या निचोडे"। दूसरी बात यह है कि पदार्थमें बनगयापन और नहीं बनगयापन ये विरुद्ध दो स्वरूप एकसमय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इसमें पूर्वापर कथनको या परस्पर उद्देश्यविधेय अंशको व्याघात करनेवाला प्रतीघातदोष आता है। जो निष्पन्न है, वह अनिष्पन्न नहीं है और जो अनिष्पन्न है, वह निष्पन्न नहीं है। तिस कारण वास्तवरूपसे विचारा जाय तो सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। वही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है कि परतन्त्रता होनेपर अन्य मतोंके अनुसार संबन्ध हुआ करता है। किन्तु पूर्णांग सिद्ध हो चुके पदार्थोंमें पराधीनता क्या है? यानी कुछ नहीं, तिस कारण सम्पूर्ण भावोंका परमार्थपनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सामान्यरूपसे भी सम्बन्धोंका अभाव सिद्ध हो जानेपर कोई भी किसीका स्वामी नहीं बन पाता है, जब कि आधार आधेय, जन्यजनक वाच्यवाचक आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं बना तो भला विचारा अकेला स्वस्वामिसम्बन्ध कहां रहा? सामान्य ही नहीं रहा तो विशेषकी स्थिती कैसे बन सकती है? जिससे कि आप जैनोंके सूत्र अनुसार पदार्थोंका स्वामीपन जानने योग्य हो सके। इस प्रकार कोई एक बौद्ध कह रहे हैं।

तथा स्याद्वादसंबंधो भावानां परमार्थतः।
स्वातन्त्र्यात् किं नु देशादिनियमोद्भूतिरीक्ष्यते ॥ ११ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार कहने पर तो स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंका

वास्तविकरूपसे सम्बन्ध मानना बौद्धोंको आवश्यक हो जायगा। पदार्थोंको परतन्त्र नहीं माननेपर स्वतन्त्र माना जायगा तो नियत देश और नियतकाल आदिमें उनका उत्पन्न होना भला क्यों देखा जा रहा है ? अर्थात् स्वतन्त्रतासे चाहे जिस देश या कालमें पदार्थोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है। आपके मन्तव्यानुसार स्वतन्त्र पदार्थको किसी देश या कालके पराधीन होनेकी तो आवश्यकता नहीं पडती है। सर्वत्र सर्वदा सर्व कार्य उत्पन्न हो जांयगे। ऐसा होनेपर बौद्धोंके यहां भी "सर्वं सर्वत्र विद्यते" यह सांख्यका मत घुस जायगा। विद्यतेके स्थानपर उत्पद्यते लगा देना चाहिये।

पारतन्त्र्यस्याभावाद्भावानां संबन्धाभावमभिदधानास्तेन संबन्धं व्याप्तं क्वचित्प्रतिपद्यंते न वा ? प्रतिपद्यन्ते चेत् कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावमभिदधुर्विरोधात्। नो चेत् कथमव्यापकाभावादव्याप्याभावसिद्धेः। परोपगमात्तस्य तेन व्याप्तिसिद्धेरदोष इति चेन्न, तथा स्वप्रतिपत्तेरभावानुषंगात्। परोपगमाद्धि परः प्रतिपादयितुं शक्यः।

परतन्त्रता न होनेके कारण पदार्थोंका सम्बन्ध न होनेको कथन कर रहे बौद्ध क्या उस परन्त्रतासे सम्बन्धको व्याप्त हुआ यानी अविनाभव रखता हुआ किसी दृष्टान्तमें जान लेते हैं ? या नहीं ? भावार्थ— जैसे व्याप्त हुए धूमको महानसमें समझकर सरोवरमें अग्निके अभावसे धूमका अभाव जान लिया जाता है। इसी प्रकार परतन्त्रतारूप व्यापकके साथ सम्बन्धरूप व्याप्य यदि अविनाभाव रखेगा, तब तो व्यापकके अभावसे व्याप्यका अभाव जान लिया जा सकता है। अन्यथा नहीं। प्रथमपक्षके अनुसार यदि यों कहोगे कि सम्बन्ध परतन्त्रताके साथ व्याप्तिको रखता है, तब तो यही सम्बन्ध सिद्ध हो गया। फिर आप बौद्धोंने सब देशोंमें और सर्व कालोंमें सम्बन्धके अभावको कैसे कह दिया था ? क्योंकि आपके ऊपर विरोधदोष आता है। प्रथम सम्बन्धको मानकर फिर सम्बन्धको न मानना पूर्वापर विरुद्ध है। हां, दूसरे पक्षके अनुसार यदि परतन्त्रतासे व्याप्त हुए संबन्ध हेतुको कहीं नहीं जानते हो तो अव्यापकके अभावसे अव्याप्यके अभावकी सिद्धि कैसे कर दी गयी है ? जहां मनुष्य नहीं हैं, वहां ब्राह्मण नहीं है, यह तो ठीक बन सकता है। किन्तु जहां सुवर्ण नहीं है, वहां ब्राह्मण नहीं है, यह सिद्धिका उपाय नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणपनका व्यापक सुवर्णपन नहीं है और ब्राह्मणपन भी सुवर्णत्वका व्याप्य नहीं है। अथवा परतन्त्रताके अभावस्वरूप हेतुकी सम्बन्धाभावस्वरूप साध्यके साथ व्याप्ति बनना कहीं निर्णीत है या नहीं ? दोनों पक्षोंमें बौद्धोंको सम्बन्ध मानना अनिवार्य है अनुमान वादिओंको व्याप्ति नामका सम्बन्ध मानना ही पडता है। यदि बौद्ध यों कहे कि दूसरे नैयायिक या जैनोंके स्वीकार करनेसे हम बौद्ध भी उस सम्बन्धकी उस परतन्त्रताके साथ व्याप्तिको सिद्ध कर लेते हैं। अतः कोई दोष नहीं है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि तिस प्रकार दूसरोंके स्वीकार करनेसे बौद्धोंको स्वयं प्रतिपत्ति होनेके अभावका प्रसंग होगा। दूसरोंके स्वीकारसे तो दूसरा ही कहकर समझाया जा

सकता है। स्वयंको इति नहीं हो सकती है। अथवा दूसरोंके स्वीकारसे दूसरा विद्वान् श्रोताओंको कहकर समझा सकता है, तुम नहीं।

सर्वथा संबंधाभावान्नाशक्य एव प्रत्यक्षत इति चेन्न, तस्य स्वांशमात्रपर्यवसानात्। न कश्चित्केनचित् कथञ्चित् कदाचित् सम्बन्ध इतीयतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वादन्यथा सर्वज्ञत्वापत्तेः। सर्वार्थानां साक्षात्करणमंतरेण संबन्धाभावस्य तेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। केषाञ्चिदर्थानां स्वातन्त्र्यमसम्बन्धेन व्याप्तं सर्वोपसंहारेण प्रतिपद्य ततोऽन्येषामसम्बन्धप्रतिपत्तिरानुमानिकी स्यादिति चेत् तर्हि स्वातन्त्र्यमर्थानां न तावदसिद्धानां, सिद्धानां तु स्वातन्त्र्यात्सम्बन्धाभावे तत्त्वतः किन्नु देशादिनियमेनोद्भवो दृश्यते तस्य पारतन्त्र्येण व्याप्तत्वात्। न हि स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वनिरपेक्षतया नियतदेशकालद्रव्यभावजन्मास्ति न चाजन्मा सर्वथार्थक्रियासमर्थः स्वातन्त्र्यस्याकारणात्। प्रत्यासत्तिविशेषादेशादिभिस्तन्नियतोत्पत्तिरर्थस्य स्यादिति चेत्, स एव प्रत्यासत्तिविशेषः सम्बन्धः पारमार्थिकः सिद्ध इत्याहः—

बौद्ध कहते हैं कि सभी प्रकारोंसे सम्बन्ध न होनेके कारण दूसरा भी समझानेके लिये शक्य नहीं ही है। वस्तुतः प्रत्यक्षके द्वारा ही पदार्थोंके संबन्धका अभाव जाना जा रहा है। अतः स्वको प्रतिपत्ति होना कठिन नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान तो अपने केवल नियत अंशको जाननेमें ही चरितार्थ होकर नष्ट हो जाता है। प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं माना गया है। जगत्का कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थके साथ किसी ढंगसे कभी सम्बन्ध नहीं रखता है। इस प्रकार इतने व्यापारोंको करनेके लिये प्रत्यक्षज्ञान समर्थ नहीं है। अन्यथा सर्वज्ञपनेका प्रसंग होता है। क्योंकि संपूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष किये विना संबंधाभावको उस प्रत्यक्षके द्वारा जाननेके लिये शक्ति नहीं है। सर्व देश और सर्व कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्तिको प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ ही हो सकता है। पुनः बौद्ध कहते हैं कि किन्हीं विवक्षित अर्थोंके स्वतन्त्रपनको सम्बन्धाभावके साथ व्याप्ति रखते हुए जानकर सबको घेर करके साध्य साधनकी व्याप्तिको बनाकर उससे भिन्न पदार्थोंकी स्वतन्त्रतारूप हेतुसे सम्बन्धाभावरूप साध्यकी अनुमान द्वारा प्रतिपत्ति हो सकेगी। अतः प्रत्यक्षको सर्वज्ञपनेका प्रसंग टल जाता है तथा विचारक होनेके कारण अनुमानज्ञान इतने व्यापारोंको भी कर सकता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कटाक्ष करेंगे कि अनुमानसे व्याप्तिको जाननेमें भी अनवस्था दोष आता है। क्योंकि व्याप्तिको जाननेवाले अनुमानका उत्थान करनेमें भी पुनः व्याप्तिको जाननेकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि सबसे पहिले तुम यह बताओ कि वह स्वतंत्रता असिद्ध पदार्थोंकी तो हो नहीं सकती है। जो विचारा अभीतक असिद्ध है, वह भला स्वतन्त्र कहां? और सिद्धपदार्थोंका तो स्वतंत्र होनेके कारण यदि सम्बन्ध न माना जायगा तो परमार्थरूपसे देश, काल, आदिके नियमसे पदार्थोंकी

उत्पत्ति होना भला क्यों देखा जा रहा है ? बताओ ! क्योंकि नियतदेश और कालमें उत्पन्न की परतन्त्रपनेके साथ व्याप्ति हो रही है । जो अपनी उत्पत्तिमें नियतदेश, कालोंकी अपेक्षा रखता है वह परतन्त्र है । प्रत्येक पर्वतमें माणिक्यरत्न प्राप्त नहीं होता है । प्रत्येक हाथीमें सदा गजमुक्ता नहीं पाये जाते हैं । अतः ये परतन्त्र हैं । जो अर्थ सभी प्रकारसे स्वतन्त्र है, वह सभी की नहीं अपेक्षा करके नियत देश, नियत काल, नियत द्रव्य और नियम भावका अवलम्ब लेकर उत्पन्न नहीं होता है । और जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है, कूटस्थ, व्यापक, नित्य, है । (या असत् है) वह सभी प्रकार अर्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं है । क्योंकि स्वतंत्र पदार्थ किसीका कारण नहीं है, परिणामी पदार्थ कारण होता है । जो कि अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे हुए परिणामोंके साथ तदात्मक हो रहा है । यदि तुम बौद्ध किसी विशेषसम्बन्धसे देश, काल, आदिसे नियतपने करके पदार्थकी उस देश आदिमें नियमित हो रही उत्पत्ति मानोगे तो वह विशेष सम्बन्ध ही तो वास्तविक संबंध सिद्ध हो गया । इस बातको ग्रन्थकार और भी स्पष्टरूपसे कहते हैं।

द्रव्यतः क्षेत्रतः कालभावाभ्यां कस्यचित्स्वतः ।
प्रत्यासन्नकृतः सिद्धः सम्बंधः केनचित्स्फुटः ॥ १२ ॥

किसी पदार्थका किसी इतर पदार्थके साथ द्रव्यसे क्षेत्रसे और कालभावोंसे निकटताको रखकर सम्बन्धित किया गया सम्बन्ध अपने आप ही स्पष्टरूपसे हो रहा है । स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे पदार्थमें टण्टा खडा करना व्यर्थ है । द्रव्यप्रत्यासत्ति, क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति ये चार सम्बन्ध व्यक्त हैं ।

कस्यचित्पर्यायस्य स्वतः केनचित्पर्यायेण सहैकत्र द्रव्ये समवायाद्द्रव्यप्रत्यासत्तिर्यथा स्मरणस्यानुभवेन सहात्मन्येकत्र समवायस्तमन्तरेण तत्रैव यथानुभवं स्मरणानुपपत्तेः सोममित्रानुभवाद्विष्णुमित्रस्मरणानुपपत्तिवत् । सन्तानैकत्वादुपपत्तिरिति चेन्न, सन्तानस्यावस्तुत्वेन तन्नियमहेतुत्वाघटनात् । वस्तुत्वे वा नाममात्रं भिद्येत सन्तानो द्रव्यमिति । तथैकसन्तानाश्रयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चेति न कश्चिद्विशेषः, यत्सन्तानो वासनाप्रबोधस्तत्सन्तानं स्मरणमिति नियमोपगमोऽपि न श्रेयान्, प्रोक्तदोषानतिक्रमात् । सन्तानस्यात्मद्रव्यत्वोपपत्तौ यदात्मद्रव्यपरिणामो वासनाप्रबोधस्तदात्मद्रव्यविवर्तः स्मरणमिति परमतसिद्धेः ।

किसी एकपर्याय की अपने आपसे किसी दूसरी पर्यायके साथ एकद्रव्यमें समवायसम्बन्ध हो जानेके कारण द्रव्यप्रत्यासत्ति कही जाती है । जैसे कि स्मरणका पूर्वअनुभवके साथ एक आत्मामें समवाय हो रहा है । उस द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप समवायसम्बन्धके विना उस ही आत्मामें अनुभवका अतिक्रमण नहीं कर स्मरण होना नहीं बन सकता है । जैसे कि सोममित्र व्यक्तिके अनुभव करनेसे विष्णुमित्र पुरुषको स्मरण होना नहीं बन सकता है । जो पहिले समयोंमें अनुभव कर चुका

है, वही धारणावश पीछे स्मरण कर सकता है। यद्यपि धारणा नामक अनुभवका नाश हो चुका है। फिर भी कालान्तरतक वासनायुक्त नित नये हो रहे उत्तरोत्तर ज्ञानपर्यायोंके तादृश परिणमन-रूप संस्कारोंसे युक्त होरहा आत्मा नित्य है। अतः द्रव्यप्रत्यासत्तिके कारण जन्म जन्मान्तरमें भी उस आत्माके स्मृत्ति होना सम्भव है। बौद्ध कहते हैं कि नित्यद्रव्य आत्माको न माना जाय, फिर भी व्यवहारदृष्टिसे मान लिये गये सन्तानके एकपनेसे अनुभवके अनुसार स्मरण होना बन जायगा। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वास्तविक पदार्थ तो कार्योंको करते हैं। लकडीका बना हुआ [illegible] इसलिये चित्र विचित्र नाना [illegible] पूर्वक दौड नहीं सकता है। बीचमें पिरोये हुए डोराके विना दानोंकी माला टिक नहीं सकती है। जब कि आप बौद्धोंकी मानी गयी सन्तान वस्तुभूत नहीं है कल्पित है तो वह अनुभवके अनुसार नियत व्यक्तिमें ही स्मरण होनेका कारण नहीं घटित होती है। कल्पित सन्तानोंके बालक, कुमार, युवा, अवस्थाओंके एक अवस्थाताका भी निर्णय नहीं होने पाता है। यदि सन्तानको वास्तविक पदार्थ माना जायगा तब तो हमारे और आपके माने गये शब्दोंमें ही भेद है। अर्थमें भेद नहीं है। हम जिसको द्रव्य कहते हैं। उसको आप सन्तान कहते हैं। बस झगडा निवटा। तथा एक सन्तानके आश्रय रहकर आश्रयी-पना कहो और चाहे एक द्रव्यरूप आधारका आधेयपना कहो, एकही बात है। कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आत्मद्रव्यको न मानते हुए बौद्धोंका यह स्वीकार करना अच्छा नहीं है कि जिस सन्तानमें स्मरण करानेवाली वासनाएं जागृत होंगी। उसी सन्तानमें स्मरण उत्पन्न होगा, क्योंकि इस नियममें भी पहिले कहे हुए दोषोंका उल्लंघन नहीं हो सकता है। भावार्थ—जब कि सन्तान कोई वस्तुभूत नहीं है तो जिस सन्तान या उस सन्तानका विवेक करना भी अशक्य है। हां! नाना सन्तानियोंकी लडीस्वरूप सन्तानको आत्मद्रव्यपना बन जानेपर तो जिस आत्मद्रव्यका परिणाम होकर अनुभवके पश्चात् वासनाका जागरण हुआ है। उसी आत्मद्रव्यका परिणाम होकर स्मरण उत्पन्न हो जायगा। इस ढंगसे तो बौद्धोंके यहां दूसरे जैनोंके मतकी ही सिद्धि हो जाती है, जो कि होनी चाहिये ही।

कथं परस्परभिन्नस्वभावकालयोरेकमात्मद्रव्यं व्यापकमिति च न चोद्यं, सकृज्ज्ञाना-कारव्यापिना ज्ञानेनैकेन प्रतिविहितत्वात्। समसमयवर्तिनो रसरूपयोरेकगुणिव्याप्तयोर-नुमानानुमेयव्यवहारयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेनेनोक्ता तदभावे तयोस्तद्व्यवहारयोग्यतानुपपत्तेः।

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न स्वभाववाले तथा भिन्न कालमें होनेवाले ऐसे अनुभव और स्मरणमें व्यापक होकर रहनेवाला भला एक आत्मद्रव्य कैसे माना जा सकता है! दौडते हुए दो घोडोंके ऊपर या मझधारमें बहती हुयी दो नावोंपर चलनेवाले मनुष्यकी जो दशा होगी, वही जैनोंके माने हुए आत्मद्रव्यकी दुर्व्यवस्था हो जायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चोद्य नहीं करना। क्योंकि बौद्ध चित्रज्ञानको मानते हैं। एक ही समय अनेक

नील, पीत, आदि आकारोंमें व्यापनेवाले एक चित्रज्ञानके दृष्टान्तसे आपके आक्षेपका खण्डन हो जाता है। इस उक्त कथनसे यह बात भी कह दी गयी है कि समान समयमें वर्त रहे और एक गुणवान् द्रव्यमें व्याप्त हो रहे तथा रूपसे रसका या रससे रूपका अनुमान कर अनुमान अनुमेयके व्यवहारको प्राप्त हुए ऐसे रूप और रसगुणकी भी परस्परमें एकद्रव्य प्रत्यासत्ति है। वैशेषिक इसको एकार्थसमवाय कहते हैं। जैसे एक गुरुके पास पढे हुए दो शिष्योंका परस्परमें गुरुभाईपनेका नाता है। या माजाये दो भाइयोंका सहोदरत्व सम्बन्ध है। यदि उन रूप और रसका एकद्रव्य नामका सम्बन्ध नहीं माना जावेगा तो उनमें उस अनुमान अनुमेय व्यवहारकी योग्यता नहीं बन सकती है। एकद्रव्यके रूपसे दूसरे द्रव्यके रसका अनुमान नहीं हो पाता है।

एकसामग्र्यधीनत्वात्तदुपपत्तिरिति चेत् कथमेका सामग्री नाम ? एकं कारणमिति चेत्, तत्सहकार्युपादानं वा ? सहकारि चेत् कुलालकलशयोर्दण्डादिरेका सामग्री स्यात् समानक्षणयोस्तयोरुत्पत्तौ तस्य सहकारित्वात्। तथा एतयोरनुमानानुमेयव्यवहारयोग्यता अव्यभिचारिणी स्यात् तदेकसामग्र्यधीनत्वात्। एकसमुदायवर्तिसहकारिकारणमेका सामग्री न भिन्नसमुदायवर्ति यतोऽयमतिप्रसंग इति चेत्, कः पुनरयमेकः समुदायः ?

बौद्ध कहते हैं कि रूप और रसकी सामग्री एक रूपस्कन्ध है। इस एक सामग्रीके अधीन होनेके कारण रससे रूपका अनुमान या रूपसे रसका अनुमान होनेकी योग्यता बन जायगी। व्यर्थ ही एकद्रव्य क्यों माना जाता है ? बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम पूंछेंगे कि दो पदार्थोंकी सामग्री भी भला एक कैसे हुयी ? बताओ ! इसपर बौद्ध यों कहें कि हम एक कारणको एक सामग्री कहते हैं। इसपर हमारा पूंछना है कि वह कारण क्या सहकारी कारण लिया गया है ? या उपादान कारण पकडा गया है ? यदि सहकारी कारण एक होनेसे दो कार्योंकी एक सामग्री हो जाय, तब तो कुम्भकार और घटकी दण्ड, चक्र, आदि सहकारी कारण भी एक सामग्री हो जावें। क्योंकि समान समयमें परिणमन करते हुए उन कुलाल और घटकी उत्पत्तिमें वह दण्ड आदि पदार्थ सहकारी कारण बन रहे हैं। चाकपर दण्डको हाथमें लेकर घटको बना रहे उत्तरवर्ती कुलाल और घट दोनोंके सहकारी कारण दण्ड, चक्र हैं और तिस प्रकार उस एक सामग्रीके अधीन होनेके कारण उन कुलाल और घटकी अनुमान अनुमेयके व्यवहारकी योग्यता भी व्यभिचार—दोषरहित हो जाय। क्योंकि वे दोनों एक सामग्रीके अधीन हैं। भावार्थ—सहकारी कारण एक होनेसे कुलालसे घटका और घटसे कुलालका अनुमान हो जाना चाहिये, जो कि होता नहीं है। इसपर बौद्ध यदि उस गलीको ढूंढें कि एक समुदायमें रहनेवाला सहकारी कारण तो एक सामग्री है, किन्तु भिन्न समुदायमें रहनेवाला सहकारी कारण एकसामग्री नहीं है, जिससे कि यह अतिप्रसंग होता। अर्थात् घटके बनानेवाला कारणसमुदाय तो कुलालके कारणकूटसे न्यारा है। भिन्न समुदायमें रहनेके कारण ही दण्ड आदिक एक सामग्री नहीं हैं। इसपर तो फिर हमारा प्रश्न है कि यह एक समुदाय भी भला

क्या पदार्थ है ? आप बौद्धोंके यहां एकत्व परिणति न होनेसे [illegible] सामान्य, साधर्म्य, आदि तो वस्तुभूत नहीं मानें गये है। ऐसी दशामें आपका कल्पनासे गढा गया समुदाय क्या पडता है ? बताओ !।

साधारणार्थक्रियानियताः प्रविभागरहिता रूपादय इति चेत् कथं प्रविभागरहितत्वमेकत्वपरिणामाभावे तेषामुपपद्यतेऽतिप्रसंगात्। सांवृत्यैकत्वपरिणामेनेति चेन्न, तस्य प्रतिविभागाभावहेतुत्वायोगात्। प्रविभागाभावोऽपि तेषां सांवृत इति चेन्न हि तत्त्वतः प्रविभक्ता एव रूपादयः समुदाय इत्यापन्नम्। न चैवम्। केषाञ्चित्समुदायेतरव्यवस्था साधारणार्थक्रियानियतत्वेतराभ्यां सोपपन्नेति चायुक्तं, सूर्याम्बुजयोरपि समुदायप्रसंगात्। तयोरम्बुजप्रबोधरव्योः साधारणार्थक्रियानियतत्वात्। ततो वास्तवमेव प्रविभागरहितसमुदायविशेषस्तेषामेकत्वाध्यवसायहेतुरंगीकर्तव्यः। स चैकत्वपरिणामं तात्त्विकमन्तरेण न घटत इति सोऽपि प्रतिपत्तव्य एव, स चैक द्रव्यमिति सिद्धम्। स्वगुणपर्यायाणां समुदायस्कन्ध इति वचनात्।

सामान्यरूपसे एकसी हो रही अर्थक्रियाके करनेमें नियत और प्रकट हुए, विभागसे रहितरूप आदिकोंको यदि समुदाय कहोगे, तब तो हम जैन कहते हैं कि उन रूप आदिकोंका परस्पर एकम एक हुए परिणामके विना विभागसे रहितपना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? यों तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् एकत्व परिणामके विना भी विभागरहितपना हो जाय तो पानी और चांदी निर्मित रुपयेका तथा आकाश, आत्मा, आदिका भी विभाग रहितपना होकर समुदाय बन जाओ ! जैसे कि क्षीर, नीरका अथवा दूध बूरेका समुदाय बन जाता है। यदि आप बौद्ध कल्पनारूप झूंठे स्वरूपसे एकत्व परिणाम करके रूप आदिकोंका अविभागीपन मानोगे, सो तो ठीक नहीं। क्योंकि उस कल्पना किये गये साम्वृत एकत्व परिणामको प्रकृष्ट विभागके अभावका हेतुपना नहीं है। यदि उन रूप आदिकोंका अविभागीपन भी कल्पित ही माना जाय, ऐसा माननेपर तो वास्तविकरूपसे अविभागयुक्त नहीं हुए ही या प्रकर्षतासे विभक्त हो गये ही रूप आदिक समुदाय बन गये यह कथन प्राप्त हुआ। किन्तु इस प्रकार अतत्को तत् कहकर असत्य कथन करना तो युक्त नहीं है। तथा बौद्धोंका किन्हीं ही पदार्थोंकी सामान्य अर्थकी क्रियामें नियतपन और सामान्यरूपसे अर्थक्रियामें नहीं नियतपनसे समुदाय और पृथग्भावकी वह व्यवस्था करना बन बैठेगा, यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि यों तो सूर्य और कमलके भी समुदाय हो जानेका प्रसंग होगा। उन सूर्य और कमलको कमलका खिल जाना और रविका विकास होना इनमें सामान्यरूपसे रहनेवाली विकासरूप अर्थक्रिया करनेमें नियतपना हेतु विद्यमान है। तिस कारण वास्तविक ही विभाग रहित स्वरूप विशेष समुदाय उन रूप आदिकके एकपनको निर्णय करनेका हेतु स्वीकार करना चाहिये और वह वास्तविक समुदाय तो परमार्थभूत एकत्व परिणामके

विना नहीं घटित होता है। इस कारण वह कथञ्चित् तदात्मक हो जाना स्वरूप एकत्व परिणाम भी समझ लेना ही चाहिये और वह एकत्व परिणतिसे युक्त वस्तु ही तो एकद्रव्य है। यह सिद्ध हुआ। अपने गुण और अपनी पर्यायोंका समुदाय स्कन्ध होता है, ऐसा अन्यत्र ग्रन्थोंमें वचन है। वही अन्वयरूपसे रहनेवाला एकद्रव्य है।

तथा सति रूपरसयोरेकार्थात्मकयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव लिंगलिंगिव्यवहारहेतुः कार्यकारणभावस्यापि नियतस्य तदभावेनुपपत्तेः सन्तानान्तरवत्। न हि क्वचित् पूर्वे रसादिपर्यायाः पररसादिपर्यायाणामुपादानं नान्यत्र द्रव्ये वर्तमाना इति नियमस्तेषामेकद्रव्यतादात्म्यविरहे कथंचिदुपपन्नः।

तैसा होनेपर पहिले कहे गये एकअर्थस्वरूप रस और रूपका एकद्रव्य नामका ही सम्बन्ध है और वह एकद्रव्य प्रत्यासत्ति ही रूप रसके साध्य साधन व्यवहारका कारण है। आप बौद्धोंका माना गया अर्थक्रियामें नियत रहनारूप कार्यकारणभाव भी एकद्रव्य प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्धके विना नहीं बन सकता है; जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, आदि दूसरे सन्तानोंके अनुभव, स्मरण, ज्ञान, सुख, आदिका परस्परमें कार्यकारणभाव नहीं बनता है, किसी एकद्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि पर्याय उत्तरवर्त्ती समयमें होनेवाले रस आदि पर्यायोंके उपादान कारण हो जाते हैं, किन्तु दूसरे द्रव्योंमें वर्त्त रहे पूर्वसमयवर्त्ती रस आदि पर्याय इस प्रकृत द्रव्यमें होनेवाले रसादिकके उपादान कारण नहीं हैं, इस प्रकार नियम करना उन रूप आदिकोंके एकद्रव्य तादात्म्यके विना कैसे भी नहीं बन पाता है। नहिका अन्वय उपपन्नःके साथ करना चाहिये।

एकमुपादानमेका सामग्रीति द्वितीयोपि पक्षः सौगतानामसंभाव्य एव, नानाकार्यस्यैकोपादानत्वविरोधात्। यदि पुनरेकं द्रव्यमनेककार्योपादानं भवेत्तदा सैवैकद्रव्यप्रत्यासत्तिरायाता रसरूपयोः।

प्रथम सहकारी और उपादान दो पक्ष उठाये थे, उनमें पहिले सहकारी कारणका विचार हो गया। अब दूसरे विकल्प उपादान कारणका विचार चलाते हैं कि अनेक कार्योंका एक उपादान कारण होना एक सामग्री है। इस प्रकार बौद्धोंका दूसरा पक्ष लेना भी सम्भावना करने योग्य नहीं है। क्योंकि अनेक कार्योंके एक उपादन होनेका विरोध है। "यावान्ति कार्याणि तावन्ति कारणानि" जितने कार्य होते हैं उतने ही कारण होते हैं। स्वभावभेद या शक्तिभेदसे धर्मी कारण भी भिन्न माना जाता है। यदि फिर आप बौद्धोंके यहां अनेक कार्योंका उपादान कारण एकद्रव्य हो जाय, तब तो रूप और रसकी वही एकद्रव्य–प्रत्यासत्ति आगयी। रूप–स्कन्ध नामक सामग्रीसे रूप और रसकी उत्पत्ति मानना एकद्रव्य–प्रत्यासत्तिसे सम्भव है। इस प्रकार अनुभव और स्मरणकी अथवा रूप, रस, आदिकी प्रत्यासत्ति हुयी। इस सम्बन्धको पुष्ट किया। अब दूसरे सम्बन्धका वर्णन करते हैं।

क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्यथा बलाकासलिलयोरेकस्यां भूमौ स्थितयोः संयुक्तसंयोगो हि ततो नान्यः प्रतिष्ठामियर्ति जन्यजनकभाव एव तयोः परस्परं प्रत्यासत्तिरिति चेन्न, अन्यसरःसमुद्भूतायाः परत्र सरसि बलाकायाः निवाससंभवात् । नैका बलाका पूर्वं सरः प्रविहाय सरोन्तरमधितिष्ठन्ती काचिदस्ति प्रतिक्षणं तद्भेदादिति चेन्न कथञ्चित्तदक्षणिकत्वस्य प्रतीतिर्बाधकाभावात्तद्भ्रान्तत्वानुपपत्तेः । क्षितेः प्रतिप्रदेशं भेदादेकत्र प्रदेशे बलाकासलिलयोरवस्थानान्नैव तत्क्षेत्रप्रत्यासत्तिरिति चेन्न,क्षित्याद्यवयविनस्तदाधारस्यैकस्य साधनात्। न चैकस्यावयविनो नानावयवव्यापिनः सकृदसम्भवः प्रतीतिसिद्धत्वाद्वेद्याद्याकारव्याप्त्येकज्ञानवत् ।

पदार्थोंका क्षेत्र सम्बन्ध यह है। जैसे कि एक भूमिमें ठहर रहे बकपङ्क्ति और जलका संयुक्त संयोग संबन्ध हो रहा है। भावार्थ—लम्बे चौडे तालाबकी भूमिमें जल भरा हुआ है और वहीं किनारेपर बगुलोंकी पङ्क्ति बैठी हुयी है। ऐसी दशामें बगुला और जलका साक्षात् संयोगसम्बन्ध नहीं है, किन्तु जलसे संयुक्त नीचेकी भूमि है और उस लम्बी चौडी अवयवीस्वरूप भूमिपर बगुलाका संयोग हो रहा है। अतः बगुला और जलका परस्परमें परम्परासे संयुक्त संयोगसम्बन्ध हुआ। उससे भिन्न और कोई दूसरा सम्बन्ध यहां प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकारके क्षेत्र सम्बन्धको नहीं मानकर यदि कोई उन जल और बगुलाओंका परस्परमें जन्यजनक भाव सम्बन्ध ही माने यानी सरोवरका जल जनक है और बगुला जन्य है, बगुलाओंकी स्थितिका निमित्त जल ही है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दूसरे सरोवरमें भले प्रकार उत्पन्न हुयी बकपङ्क्तिका उडकर अन्य सरोवरोंमें निवास होना सम्भव है। मनुष्य जैसे देशान्तरमें जा बसते हैं, तैसे ही पशु, पक्षी, भी कहीं उत्पन्न होकर अन्य स्थलोंमें चले जा सकते हैं। ऐसी दशामें सरोवरके जलका और परदेशी बगुलाका जन्यजनकभाव सम्बन्ध नहीं बन पाता है। किन्तु उनका क्षेत्रसम्बन्ध ही है। यहां कोई बालकी खाल निकालनेवाले कहते हैं कि पहिले सरोवरको छोडकर दूसरे सरोवरमें निवास करती हुयी कोई बकपङ्क्ति एक नहीं है। क्योंकि बगुलाकी भिन्न भिन्न समयोंमें न्यारी न्यारी पर्यायें हैं। अतः बगुलाकी पहिली पर्यायोंका पहिले सरोवरके साथ जन्यजनक सम्बन्ध था और यहां आकर बसी हुयी बगुलाकी नवीन पर्यायोंका इस सरोवरके जलसे कार्यकारणभाव है। यहां बगुलाकी इस क्षणमें उपजी पर्यायका कारण तो इस सरोवरका जल ही मानना पडेगा, सूक्ष्मतासे विचार देखिये। बाल्य अवस्थासे लेकर बूढे होनेतक बगुलाको एक ही मानना भ्रान्त है। अतः अवश्य मान लिये गये कार्यकारण भाव सम्बन्धसे ही निर्वाह हो जायगा। क्षेत्र–प्रत्यासत्तिका गौरव क्यों बढाया जाता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं करना। क्योंकि उस बकपंक्तिके कथञ्चित् अक्षीणपनेकी प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण अण्ड [अण्डा] अवस्थासे लेकर वृद्ध अवस्थातक कालान्तरस्थायी बगुलाके अक्षिकपनकी भ्रान्ति होना नहीं बनता है। जन्मसे लेकर मरणपर्यंत जीवित रहनेवाला बगुला एक है। अतः

जिस सरोवरके तीरमें बकका जन्म हुआ है। उसीके साथ उसका कार्यकारण भाव है। अन्यके साथ नहीं। फिर यदि कोई बौद्ध आधारपर यों आक्षेप करें कि लम्बी, चौडी, भूमि कोई एक अवयवी द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें भूमिका भेद है, यानी न्यारी न्यारी है। अतः परमाणु बराबर एकप्रदेशमें तो बकपंक्ति और सलिल दोनोंकी अवस्थिति नहीं हो सकती है। इस कारण आप जैनोंकी मानी हुई वह एकदेशमें रहनेवालोंकी क्षेत्र–प्रत्यासत्ति सिद्ध न हो सकी। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूमि, घट, पर्वत, शरीर, आदि अनेकक्षेत्रव्यापी अवयवियोंकी सिद्धि की जा चुकी है। वे क्षिति, गृह, पर्वत, आदि अवयवी उन बगुला, जल, आदिकके आधार होते हुए साधे जा चुके हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि अनेक अवयवोंमें एक ही समय व्यापनेवाले एक अवयवी द्रव्यका असम्भव है सो नहीं कहना। क्योंकि अनेक थम्भोंपर रखे हुए वांसके समान अनेक तन्तुओंमें एक पटका रहना प्रतीतियोंसे सिद्ध है। जैसे कि आप सौत्रान्तिकोंके यहां वेद्य आकार, वेदक आकार, और सम्वित्ति आकार इनमें व्यापक रूपसे रहनेवाला एकज्ञान माना गया है, इस प्रकार क्षेत्रप्रत्यासत्तिको सिद्धकर अब कालिक सम्बन्धको बौद्धोंके सम्मुख सिद्ध करते हैं।

कालप्रत्यासत्तिर्यथा सहचरयोः सम्यग्दर्शनज्ञानसामान्ययोः शरीरे जीवस्पर्शविशेषयोर्वा पूर्वोत्तरयोर्भरणिकृत्तिकयोः कृत्तिकारोहिण्योर्वा तयोः प्रत्यासत्त्यन्तरस्याव्यवस्थानात्।

कतिपय पदार्थोंका कालिक सम्बन्ध इस प्रकार है कि एक साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सामान्यका है। आत्मामें जिसी समय सम्यग्दर्शन है उसी समय सम्यग्ज्ञान है, सामान्य रूपसे चाहे कोई भी उपशम, क्षयोपशम, या क्षायिक सम्यक्त्व, होय उस समय सामान्यरूपसे चाहे कोई न कोई मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान मनःपर्यय या केवलज्ञान अवश्य होगा विशेष सम्यग्दर्शनका विशेष ज्ञानके साथ इस कालिक सम्बन्ध नियत नहीं करते हैं। अथवा शरीरमें जीवका और विशेष स्पर्शका कालिक संबन्ध है। रोग अवस्थामें या जीवित और मृत अवस्थाकी परीक्षा करते समय शरीरमें जीवका और उष्ण आदि विशेष स्पर्शका कुछ काल आगे पीछे तक संबन्ध होना माना जाता है तथा पहिले मुहूर्त्त और उत्तर मुहूर्त्तमें उदय होनेवाले भरणी नक्षत्र और कृत्तिका नक्षत्रका अथवा कृत्तिका और रोहिणीका कालकी अपेक्षासे सम्बन्ध है। पूर्वमें कहे हुए तिन सम्यक्त्व, ज्ञान, आदिकका अन्य संबन्ध होनेकी व्यवस्था नहीं है। यह काल प्रत्यासत्ति हुयी।

भावप्रत्यासत्तिर्यथा गोगवयोः केवलिसिद्धयोर्वातयोरेकतरस्य हि यादृग्भावः संस्थानादिरनंतज्ञानादिर्वा तादृक्तदन्यतरस्य सुप्रतीत इति न प्रत्यासत्त्यंतरं कयोश्चिदनेकप्रत्यासत्तिसंबन्धे वा न किंचिदनिष्टं प्रतिनियतोद्भूतेः सर्वपदार्थानां द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयव्यति-

रेकेणानुपपद्यमानत्वेन प्रसिद्धेः। सैव चतुर्विधा प्रत्यासत्तिः स्फुटः संबन्धो बाधकाभावादिति न सम्बन्धाभावो व्यवतिष्ठते।

कतिपय पदार्थोंकी भावप्रत्यासत्ति तो इस प्रकार है जैसे कि गौ और रोझमें सादृश्य सम्बन्ध है। उन दोनोंमेंसे एकके जिस प्रकार संस्थान रचना आदि परिणाम हैं वैसे ही शेष बचे हुयेके सन्निवेश आदि हैं तथा केवली भगवान् और सिद्धपरमेष्ठीमें परस्पर भावप्रत्यासत्ति है। जैसे ही अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, आदिक भाव तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले केवली महाराजके हैं। वैसे ही उन दोमेंसे बचे हुये दूसरे सिद्ध भगवान्के हैं। या सिद्ध परमात्माके जैसे अनन्तज्ञान आदि भाव हैं। वैसे ही अरहन्त भगवान्के हैं। यह अच्छी तरह प्रतीत हो रहा है। दूसरे सम्बंधकी यहां सम्भावना नहीं है। न्यायतीर्थ या न्यायाचार्य परीक्षाको उत्तीर्ण करनेवाले कैई छात्रोंमें परस्पर भावप्रत्यासत्ति है। उनके व्युत्पत्तिरूप भाव एकसे हैं। किन्हीं दो पदार्थोंमें यदि अनेक प्रत्यासत्तिरूप सम्बन्ध हो जाय तो भी कोई अनिष्ट नहीं है। अपने नियत हो रहे द्रव्य आदिकोंसे संपूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चारों सम्बन्धोंके अतिरिक्त अन्य संबन्धोंकी असिद्धि होनेके कारण द्रव्य आदि चार सम्बन्धोंकी ही प्रसिद्धि है। अर्थात् सम्यग्दर्शन और ज्ञानकी द्रव्यप्रत्यासत्ति है तथा कालप्रत्यासत्ति भी है और एक आत्मामें रहनेके कारण क्षेत्रप्रत्यासत्ति भी हो सकती है। क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव होनेसे भावप्रत्यासत्ति भी सम्भव है। जैसे कि भाईपनेके साथ मित्रता सम्बन्ध या गुरुशिष्य सम्बन्ध भी घटित हो जाता है। प्रकरणमें वह चार प्रकारकी ही प्रत्यासत्ति स्फुट होकर सम्बंध है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण बौद्धोंका माना गया सम्बन्धाभाव व्यवस्थित नहीं होता है। यों वस्तुभूत सम्बन्ध पदार्थकी सिद्धि कर दी गयी है।

ननु च द्रव्यप्रत्यासत्तिरेकेन द्रव्येण कयोश्चित्पर्याययोः क्रमभुवोः सहभुवोर्वा तादात्म्यं तच्च रूपश्लेषः स च द्वित्वे सति सम्बन्धिनोरयुक्त एव विरोधात् तयोरेक्येऽपि न सम्बन्धः सम्बन्धिनोरभावे तस्याघटनात् द्विष्ठत्वादन्यथातिप्रसंगात्। नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेष इत्यप्ययुक्तं,तस्यान्तराभावरूपत्वे तात्त्विकत्वायोगात् प्राप्तिरूपत्वेऽपि प्राप्तेः। परमार्थतः कात्स्न्यैंकदेशाभ्यामसम्भवाद्गत्यन्तराभावात्। कल्पितस्य तु रूपश्लेषस्याप्रतिषेधात् न स तात्त्विकः सम्बन्धोस्ति प्रकृतिभिन्नानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः, अन्यथा सान्तरत्वस्य संबन्धप्रसंगादिति केचित्। तदुक्तम्—" रूपश्लेषो हि संबन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्। तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां संबन्धो नास्ति तत्त्वतः " इति।

बौद्ध अपने मतको पुष्ट करनेके लिए अनुनय [खुशामद] करते हैं कि आप जैनोंकी मानी गयी द्रव्यप्रत्यासत्ति तो एक द्रव्यके साथ क्रमसे होनेवाली किन्हीं विवक्षित अनुभव, स्मरण, रूप पर्यायोंका अथवा साथ रहनेवाली रूप, रस, आदि गुणस्वरूप पर्यायोंका तदात्मक हो जाना

है और वह तादात्म्य तो स्वरूपका एकमएक होकर चुपक जाना है, किन्तु वह श्लेष हो जाना तो सम्बन्धियोंके दोपना होनेपर अयुक्त ही है, क्योंकि विरोध है। अर्थात् स्वतन्त्र दो पदार्थोंका एकम-एक हो जाना स्वरूप तादात्म्य बनता नहीं है। तथा उन सम्बन्धियोंकी एक संख्या होनेपर भी सम्बन्ध होना नहीं बनता है। दो सम्बन्धियोंके न होनेपर उस सम्बन्धकी घटना नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध दो आदिमें स्थित रहनेवाला माना गया है। अकेलेका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक खम्भेका कोई द्वार नहीं है। एक किनारेकी नदी भी नहीं है, अन्यथा यानी एकमें ही रहनेवाला सम्बन्ध मान लिया जाय तो अतिप्रसंग हो जायगा। घट घटका या आत्मा, आत्माका भी रूप श्लेष हो जाना चाहिये। जैन लोग तादात्म्यको रूपश्लेष न मानकर उन उन सम्बन्धियोंके अन्तरालरहितपनेको यदि रूपश्लेष कहें यह भी उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि वह निरन्तरता अन्तरालका अभावरूप है। अतः वास्तविक नहीं मानी जा सकती है। विरहका तुच्छ अभाव वस्तुभूत नहीं है। वैशेषिकोंने ही तुच्छ अभावको पदार्थ माना है, जैनोंने नहीं। यदि रूपश्लेषका अर्थ दोनोंकी परस्परमें प्राप्ति हो जाना स्वरूप माना जाय तो भी पूर्णरूपसे या एकदेशसे प्राप्ति (संसर्ग) का प्रश्न उठानेसे परमार्थरूपसे प्राप्ति होना असम्भव है। पूर्णरूपसे रूपश्लेष माननेसे अनेक अणुओंका पिण्ड केवल अणुमात्र हो जायगा। एकदेशसे सम्बन्ध माननेपर वे एकदेश उसके आत्मभूत हैं या परभूत हैं ? बताओ! प्रथम पक्षमें दूसरे एकदेशसे रूपश्लेष न हुआ पृथग्भाव बनारहा परभूत माननेपर तो अनवस्था होवेगी। रूपश्लेषका स्पष्ट अर्थ करनेके लिये उक्त इन तीन अर्थोंके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय जैनोंके पास नहीं है। हां, कल्पनासे गढ लिये गये रूपश्लेषका तो हम बौद्ध भी निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह कल्पित रूपश्लेष वास्तविक संबन्ध नहीं है। क्योंकि अपनी अपनी न्यारी प्रकृतियोंके अनुसार सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थ अपने अपने भावमें व्यवस्थित हो रहे हैं। उनका भला पर-स्परमें स्वरूप संश्लेष क्या हो सकता है ? कहीं जल भी कमलपत्रसे मिला है। अथवा अग्नि और पारा या परमाणुएं भी कभी मिलती हैं ? अर्थात् नहीं। अन्यथा यानी निरन्तरताको सम्बन्ध कहोगे तो भाव होनेके कारण सान्तरता (विरह पडना) को बडी प्रसन्नतासे संबन्ध हो जानेका प्रसंग होगा। जो कि जैनोंको इष्ट नहीं, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं। उनके ग्रन्थोंमें भी वही कहा गया है कि रूपका एकमएक होकर श्लेष हो जाना ही सम्बन्धवादिओंके यहां सम्बन्ध माना गया है। वह सम्बन्धियोंके दो होनेपर भला कैसे होवेगा ? तिस कारण प्रकृतिसे ही भिन्न भिन्न पडे हुए पदार्थोंका परमार्थरूपसे कोई सम्बंध ही नहीं है। गढन्त कैसी भी कर लो ! जैसे कि कोई हास्यशील मनुष्य किसी व्यक्तिसे कहे कि तुम्हारी चाचीकी बहिनकी भतीजीकी भौजाईकी दादीकी बेवतीसे मेरी सगाई होनेवाली थी। तिस कारण तुम मेरे साले लगते हो, यह साला जमाईपनका सम्बंध झूंठा है। उसी प्रकार सब सम्बन्ध झूंठे हैं। यों बौद्धोंके कहनेपर अब आचार्य कहते हैं उसे सुनो।

तदेतदेकान्तवादिनश्चोद्यं न पुनः स्याद्वादिनां । ते हि कथंचिदेकत्वापत्तिं सम्बन्धिनो रूपश्लेषं संबन्धमाचक्षते । न च सा द्वित्वविरोधिनी कथंचित्स्वभावनैरंतर्यं वा तदपि नांतराभावरूपमस्तित्वं छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमस्यांतरस्याभावो हि तत्स्वभावांतरात्मको-वस्तुभूत एव यदा रूपश्लेषः कयोश्चिदास्थीयते निर्बाधं तथा प्रत्ययविषयस्तदा कथं कल्पनारोपितः स्यात् । केनचिदंशेन तादात्म्यमतादात्म्यं च संबन्धिनोर्विरुद्धमित्यपि न मंतव्यं तथानुभवाच्चित्राकारसंवेदनवत् ।

सो इस प्रकार वह एकान्तवादी बौद्धोंका कुतर्क पूर्वक प्रश्न करना उन्हींके ऊपर लागू होता है । स्याद्वादियोंके ऊपर किस प्रकार [illegible] लगता है । वे स्याद्वादी तो निश्चयसे दो संबन्धियोंके कथञ्चित् एकपनेकी प्राप्ति हो जानेको रूपश्लेष नामका सम्बन्ध कह रहे हैं और वह एकपनेकी प्राप्ति दोपनका विरोध करनेवाली नहीं है । आत्मा और पुद्गलका या मिले हुए सोने और कीटका एकपनारूप बन्ध होते हुए भी दो द्रव्यपना स्थिर रहता है । अतः आपका पहिला आक्षेप निर्मूल है, अथवा दूसरा संबंधियोंके अन्तरका अभावरूप भी वह रूपश्लेष हो सकता है । वह नैरन्तर्य अन्तरका अभावरूप तुच्छ अभाव नहीं है । किन्तु अन्तर शब्दके छिद्र, मध्य, विरह, सामीप्य, विशेष, आदि अनेक अर्थ हैं । यहां प्रकरणमें छिद्र मध्य और विरहोंमेंसे किसी एक अन्तरका अभावस्वरूप संबन्ध माना गया है । जिससे कि वह अभाव अन्य भावस्वरूप होता हुआ वास्तविक ही है । तुच्छ अभावको हम भी नहीं मानते हैं । अतः जिस समय किन्हीं दो पदार्थोंका वस्तुभूत नैरन्तर्य ही रूपश्लेष बाधारहित होकर तिस प्रकारके ज्ञानका विषय निर्णीत हो रहा है, उस समय वह रूपश्लेष कल्पनासे आरोपा गया कैसे कहा जा सकेगा ? अर्थात् रूपश्लेष कल्पित नहीं है। दो सम्बन्धियोंका किसी अंशसे तादात्म्य हो जाना और दूसरे किसी अंशसे तादात्म्य न होना विरुद्ध है, यह भी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि तिस प्रकार अनुभव हो रहा है । जैसे कि चित्र आकारवाले संवेदनका नील आकारसे अभेद है और उसीके नील आकारका उसके पीत आकारके साथ भेद है । ऐसा भेदाभेदात्मक चित्रज्ञान आपने माना है । पांचों अंगुलियां परस्परमें भिन्न होती हुई भी हाथके साथ अभेदको रखती हैं ।

एतेन प्राप्त्यादिरूपं नैरन्तर्यं रूपश्लेष इत्यपि स्वीकृतं तस्यापि कथञ्चित्तादात्म्यानतिक्रमात् । ततः स्वस्वभावव्यवस्थितेः प्रकृतिविभिन्नानामर्थानां न सम्बन्धस्तात्त्विक इत्ययुक्तं तत एव तेषां सम्बन्धसिद्धेः । स्वस्वभावो हि भावानां प्रतीयमानः कथञ्चित्प्रत्यासत्तिर्विप्रकर्षश्च सर्वथा तदप्रतीतेस्तेन चावस्थितिः कथं संबन्धाभावैकान्तं साधयेत् सम्बन्धैकान्तवत् ।

इस कथनसे हमने आप बौद्धोंका कहा गया प्राप्ति आदि स्वरूप नैरन्तर्य रूपश्लेष है, यह भी अंगीकार कर लिया है । क्योंकि उस निरन्तरका भी कथञ्चित् तादात्म्यसे अतिक्रमण नहीं हो

पाता है अर्थात् जो ही आपका नैरन्तर्य है। वही हमारा कथंचित् तादात्म्य है। तिस कारण प्रकृति अनुसार ही भिन्न हो रहे पदार्थोंकी अपने अपने स्वभावमें व्यवस्थिति होनेके कारण उनका परस्परमें वास्तविक सम्बंध नहीं है। यह बौद्धोंका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि जिस ही कारणसे आप सम्बन्धका निषेध करते हैं उसी कारणसे उनका सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। देखिये, पदार्थोंके अपने अपने स्वभाव प्रतीत हो रहे हैं तथा स्वभाव और स्वभाववानोंका कथंचित् निकटपना और दूरपना भी जाना जा रहा है। हां! सर्वथा वह निकटवर्ती पर्यायके साथ निकटपना और दूरवर्त्ती पर्यायोंके साथ दूरपना नहीं प्रतीत होता है। अर्थात् जैनजन किसी भी सम्बन्धको कथंचित् स्वीकार करते हैं, सर्वथा नहीं। मित्रता नामक सम्बन्धके समान शत्रुता (प्रतियोगिता) भी एक सम्बन्ध है। जिस समय देवदत्तके पास रुपया है उस समय उसका देवदत्तके साथ स्वस्वामिसम्बन्ध है, जिनदत्तके पास चले जानेपर जिनदत्तके साथ उस रुपयेका स्वस्वामिसम्बन्ध है। कथंचित्संयोग, कथञ्चित् समवाय, कथंचित् तादात्म्य, कथंचित् जन्यजनकभाव आदि सभी सम्बन्धोंमें कथञ्चित् लगा देना चाहिये, तभी ठीक नाता जुड सकेगा। जब कि तिस स्वरूपसे पदार्थोंकी स्थिति हो रही है वह एकान्तरूपसे भला सम्बन्धाभावको कैसे साध देवेगी? जैसे कि एकान्तरूपसे सम्बन्धको सिद्ध नहीं कर पाती है। भावार्थ—" प्रकृतिभिन्नानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः " उस हेतुसे आप बौद्धोंने सम्बन्धके अभावको पुष्ट किया है। किन्तु उसी हेतुसे सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है। पर्याय और पर्यायीका सम्बन्ध माने विना, अपने अपने स्वभावोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था होना नहीं बन सकता है।

न चापेक्षत्वात् सम्बन्धस्वभावस्य मिथ्याप्रतिभासः सूक्ष्मत्वादिवदसम्बन्धस्वभावस्यापि तथानुषंगात्। न चासम्बन्धस्वभावोऽनापेक्षिकः कंचिदर्थमपेक्ष्य कस्यचित्तद्व्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः स्थूलत्वादिवत्। प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो अनापेक्षिक एव तत्पृष्ठभाविना तु विकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथा वास्तवो भवतीति चेत्, संबन्धस्वभावेपि समानं। न हि स प्रत्यक्षे न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात्।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व, आदि धर्म अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण झूंठे हैं, उसीके समान अपेक्षा जन्य होनेसे संबन्ध स्वभावका झूंठा प्रतिभास हो रहा है। अर्थात्—आमलेकी अपेक्षा बेर छोटा है और बेरकी अपेक्षा फालसा छोटा है। यह छोटापन कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। वस्तुभूत होनेपर तो परिवर्त्तन (बदलना) नहीं होना चाहिये था, किन्तु छोटा भी दूसरेकी अपेक्षा उसी समय बडा होरहा है। ऐसे ही गुरुशिष्यसम्बन्ध स्वस्वामिसंबन्ध भी अपेक्षासे ही है। शिष्यके अधिक पढजानेपर गुरु भी चेला बन जाता है, धनिक हो जानेपर सेवक भी स्वामी हो जाता है, यहांतक कि स्वयं अपना पुत्र आप हो जाता है। लोकमें एक व्यक्तिके साथ मामा, साला, आदि कैई सम्बन्ध हो जाते हैं, अतः ये नाते सब झूंठे हैं। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यह नहीं समझना। यों तो पदार्थोंके असम्बन्ध स्वभावको तिस प्रकार झूंठे जाननेका प्रसंग होगा।

आप बौद्धोंका माना हुआ परमाणुओंमें परस्पर असम्बन्धस्वभाव यानी विभक्त होकर रहनापन भी तो अनापेक्षिक नहीं है। अन्यथा अर्थात् असंबन्धको यदि अपेक्षाके विना ही होनेवाला माना जायगा तो किसी एक पदार्थका किसी अन्य एक अर्थकी अपेक्षा करके उस असम्बन्धकी व्यवस्था होती हुयी न बन सकेगी। जैसे कि स्थूलत्व, महत्त्व, आदि आपेक्षिक हैं। भावार्थ—आंवलेसे विल्व बडा है। विल्वसे नारियल बडा है। नारियलसे पेठा बडा है। यह बडापन जैसे आपेक्षिक है, वैसे ही कुचारित्रवाला पुत्र पितासे न्यारा है। देवदत्त जातिसे पृथग्भूत है। एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये असम्बन्ध भी झूंठे बन बैठेंगे। किन्तु ये सब वस्तुके परिणामोंपर अवलम्बित हैं। 'यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं वस्तुस्वभावाः'। सम्बन्ध या असम्बन्ध कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु परिणामके अनुसार बदलते रहते हैं। स्वामीके कार्य करनेपर ही सेवक स्वामीपन पाता है। ऐसे ही पृथग्भाव भी परिणामोंपर टिका हुआ है। कोरी झूठी अपेक्षासे नहीं है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानमें विशदरूपसे जाना जा रहा असम्बन्ध तो अनापेक्षिक ही है। हां! उसके पीछे होनेवाले झूंठे विकल्पज्ञान करके तो निर्णीत किया गया होकर जिस प्रकार आपेक्षिक है। तिस प्रकार अवस्तुभूत भी है, अर्थात् प्रत्यक्षसे जान लिया गया असम्बन्ध अंश वास्तविक है और कल्पनासे जाना गया असम्बन्ध अंश अवास्तविक है। सम्बन्ध तो कथमपि वस्तुभूत नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो वस्तुके सम्बन्धस्वभावमें भी समान रूपसे यही कथन लागू हो जाता है। वह सम्बन्ध प्रत्यक्षज्ञानमें नहीं प्रतिभासता है, यह न कहना। जिससे कि अनापेक्षिक न हो सके यानी प्रत्यक्षज्ञानसे जाना जा रहा और नहीं अपेक्षा रखता हुआ सम्बन्ध भी वस्तुभूत है। वस्तुभूत असम्बन्धकी अपेक्षा भावस्वरूप सम्बन्ध बलवत्तर होकर वास्तविक है। दूसरी बात यह है कि आपेक्षिक पदार्थ सब झूंठे ही थोडे होते हैं, समीचीन अपेक्षासे आरोपे गये सब पदार्थ सत्यार्थ हैं।

ननु च परापेक्षैव सम्बन्धस्तस्य तन्निष्ठत्वात् तदभावे सर्वथाप्यसम्भवात्। परापेक्षमाणो भावः स्वयमसन् वापेक्षते सन् वा। न तावदसन्नपेक्षो धर्माश्रयत्वविरोधात् खरश्रृंगवत्। नापि सन् सर्वनिराशंसत्वादन्यथा सत्त्वविरोधात्। कथञ्चित् सन्नसन्नपेक्ष्य इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, पक्षद्वयदोषानतिक्रमात्। न चैकोर्थः सन्नसंश्च केनचिद्रूपेण सम्भवति विरोधादन्यथातीतानागताद्यशेषात्मको वर्तमानार्थः स्यादिति न क्वचित् सदसत्त्वव्यवस्था, संकरव्यतिकरापत्तेः। यतो परापेक्षाणामसन्निबन्धनः सम्बन्धः सिध्येत्। तदुक्तम्—"परापेक्षादिसम्बन्धः सो सन् कथमपेक्षते। संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते॥" इति कश्चित्।

सम्बन्धको न माननेवाला बौद्ध आमन्त्रण करके जैनोंके प्रति कहते हैं कि परकी अपेक्षा करना ही सम्बन्ध है। क्योंकि वह सम्बन्ध अपेक्षा किये गये उन पदार्थोंमें रहता है। 'अपेक्ष-

णीय पदार्थोंके न होनेपर सभी प्रकारसे संबन्ध होनेका असम्भव है। हम बौद्धोंका यहां यह विचार है कि परकी अपेक्षा करनेवाला पदार्थ स्वयं असत् होकर दूसरेकी अपेक्षा करता है ? अथवा स्वयं सत् होकर परापेक्षा करता है ? प्रथम पक्षके अनुसार खरविषाणके समान असद्भूत पदार्थ तो परकी अपेक्षा नहीं कर सकता है। क्योंकि अपेक्षा क्रिया रूप धर्मका आश्रय सद्भूत कर्त्ता होना चाहिये। (सन् देवदत्तो घटमपेक्षते)। असत् पदार्थको खरशृंगके समान अपेक्षा धर्मके आश्रयपनका विरोध है। तथा दूसरे पक्षके अनुसार सद्भूत पदार्थ भी परकी अपेक्षा नहीं रखता है। क्योंकि वह पूर्णरूपसे बन चुका है। सत् पदार्थ तो सबकी आकांक्षाओंसे रहित है। कृतकृत्यके समान उसको किसीकी अपेक्षा नहीं, अन्यथा यानी सत्को भी परकी अपेक्षा होने लगे तो उसके सद्भूतपनमें विरोध आता है। अपूर्ण पदार्थ ही अपने शरीर को बनानेके लिये अन्यकी अपेक्षा रखता है परिपूर्ण नहीं। यदि जैन लोग कथंचित् सत् और कथंचित असत् पदार्थको अन्यकी अपेक्षा रखनेवाला मानें सो यह पक्ष भी बढिया नहीं है। क्योंकि दोनों पक्षमें हुये दोषोंका अतिक्रम नहीं हो सकेगा। प्रत्येक पक्षमें जो दोष होते हैं वे उभय पक्षमें भी लागू हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि एक पदार्थ किसी रूपसे सत् होय और किसी दूसरे स्वरूपसे असत् होय ऐसा नहीं सम्भवता है, क्योंकि विरोध है। अन्यथा वर्तमानकालका पदार्थ भी भूत चिरतरभूत भविष्यत् और दूर भविष्यत् आदि सम्पूर्ण अर्थस्वरूप बन बैठेगा। इस प्रकार किसी भी पदार्थमें सत्पने और असत्पनेकी व्यवस्था न हो सकेगी। संकर और व्यतिकर दोष होनेका भी प्रसंग होगा। जिससे कि जैनोंके यहां दूसरोंकी अपेक्षा रखनेवाले पदार्थ का असत्को कारण मानकर होनेवाला संबंध सिद्ध हो जाता। अर्थात् परापेक्षारूप सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता है। वही हमारे ग्रंथोंमें कहा है कि परपदार्थोंकी अपेक्षा ही सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु वह अपेक्षक पदार्थ असद्भूत होकर कैसे दूसरोंकी अपेक्षा करता है ? मरगया पुरुष जलको नहीं चाहता है और पूर्ण अंगोंसे सद्भूत भाव तो सम्पूर्ण अपेक्षाओंसे रहित है। वह भला दूसरेकी क्यों अपेक्षा करने चला ? इस प्रकार अपेक्षक कर्ताके समान अपेक्षणीय कर्ममें भी सत् और असत् पक्ष लगाकर उसकी अपेक्षा होना नहीं घटित होता है। यहांतक कोई बौद्ध कहरहा है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि—

सोऽपि सर्वथा सदसत्त्वाभ्यां भावस्य परापेक्षाया विरोधमप्रतिपद्यमानः कथं तां प्रतिषेध्यात्। प्रतिपद्यमानस्तु स्वयं प्रतिषेद्धुमसमर्थस्तस्याः क्वचित्सिद्धेरन्यथा विरोधायोगात् कथं चानिराकुर्वन्नपि परापेक्षां सर्वत्र सम्बन्धस्यानापेक्षिकत्वं प्रत्याचक्षीत ? न चेदुन्मत्तः।

वह बौद्ध भी सभी प्रकार सत्पने और असत्पनेसे पदार्थको परकी अपेक्षा करनेके विरोधको नहीं समझता हुआ कैसे उस परापेक्षाका निषेध कर सकेगा ? और सत् असत्पने करके भावका

परापेक्षाके साथ विरोधको समझता हुआ बौद्ध तो स्वयं निषेध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि कहीं न कहीं उस परपदार्थकी अपेक्षाकी सिद्धि हो चुकी है। अन्यथा विरोध होनेका अयोग है तथा पर अपेक्षाको नहीं निराकरण करता हुआ भी सर्व स्थलोंमें सम्बन्धकी अनापेक्षिकताका कैसे प्रत्याख्यान कर सकेगा ? और बलात्कारसे प्रत्याख्यान करेगा तो क्या वह उन्मत्त न समझा जायगा ? अर्थात् विक्षिप्त पुरुष ही परअपेक्षाको मानता हुआ अपेक्षा रखनेका खण्डन कर सकता है। अन्य नहीं।

स्वलक्षणमेव सम्बन्धोऽनापेक्षिकः स्यान्न ततोऽन्यः स चेष्टो नाममात्रे विवादाद्वस्तुन्यविवादादिति चेत्, कः पुनः सम्बन्धस्वलक्षणमाह तस्यापि स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वलक्षणत्वात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि स्वलक्षण तत्त्व ही नहीं अपेक्षा करता हुआ सम्बंध हो जायगा। उससे भिन्न "स्वस्वामि" आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं है और वह स्वलक्षणरूप अनापेक्षिक सम्बन्ध हम बौद्धोंको भी इष्ट है। हमारे और आप जैनोंके माने गये पदार्थका केवल नाममें ही विवाद है। वस्तुतत्त्वमें विवाद नहीं है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम समझाते हैं कि कौन वादी विद्वान् सम्बन्धका स्वलक्षणरहित कहता है ? अर्थात् कोई नहीं। सम्पूर्ण पदार्थोंमें अपने अपने लक्षण स्वरूप गुथ रहे हैं वह संबन्ध भी स्वकीयरूप करके लक्ष्य करने योग्य होता हुआ स्वलक्षणस्वरूप है। "सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं" भले ही कहे जाओ अच्छा है।

ननु कुतः सम्बन्धस्तथा द्वयोः सम्बन्धिनोः सिद्धः ? एकेन गुणाख्येन संयोगेनान्येन वा धर्मेणान्तरस्थितेनावाच्येन वा वस्तुरूपेण सम्बन्धादिति चेत् स तत्सम्बन्धिनोरनर्थान्तरमर्थान्तरं वा ? यद्यनर्थान्तरं तदा संबन्धिनावेव प्रसज्येते। तथा च न सम्बन्धो नाम। स ततोऽर्थान्तरं चेत् सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बद्धौ स्यातां तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यश्चेत् कथं वस्तुभूतः स्यात्। भवतु चार्थामन्तरनर्थान्तरं वा सम्बन्धः। स तु द्वयोरेकेन कुतः स्यात्। परेणैकेन सम्बन्धादिति अनवस्थानात्। न सम्बन्धमतिः सदूरमपि गत्वा द्वयोरेकाभिसंबन्धमन्तरेणापि सम्बन्धत्वे कथं नाभिसम्बन्धत्वमतिः केवलयोः सम्बन्धिनोरतिप्रसंगात्। यदि सम्बन्धश्च स्वेनासाधारणेन रूपेण स्थितस्तदा सिद्धमिश्रणमर्थानां परमार्थतः। तदुक्तम्—"द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्वयोः। कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा॥" तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः। इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान्मिश्रयति कल्पना॥" इति कथं सम्बन्धः स्वलक्षणमिष्यते। सम्बन्धिनोरर्थान्तरं ततोऽनर्थान्तरस्य तु तथेष्टौ न वस्तुव्यतिरेकेण सम्बन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रादिति वदन्नपि न स्याद्वादिमतमवबुध्यते। तद्धि भेदाभेदैकान्तपरान्मुखं न तद्दोषास्पदम्।

जैनोंके प्रति बौद्ध प्रश्न करते हैं कि दो सम्बन्धियोंके मध्यमें रहनेवाला सम्बन्ध तिस प्रकार कैसे सिद्ध होता है ? बताओ ! इसपर आप नैयायिक, जैन, या अन्य कोई यों कहें कि एक संयोग नामक गुण पदार्थसे अथवा अन्य किसी बीच अन्तरालमें ठहरे हुए धर्मसे या नहीं कहने योग्य वस्तु स्वरूपसे दोनोंका सम्बन्ध होना बन जाता है। जैसे कि दो पत्रोंके बीचमें गोंद धर देनेसे वे चुपक जाते हैं, आदि। इस प्रकार कहनेपर तो हम सौगत जैनोंको फिर पूछेंगे कि वह मध्यमें पडा हुआ संयोग या धर्म अथवा अवाच्य वस्तुस्वरूप क्या उन दो सम्बन्धियोंसे भिन्न है ? या अभिन्न है ? यदि अभिन्न मानोगे, तब तो केवल दो सम्बन्धियों ही को माननेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर मध्यवर्ती कोई निराला संबन्ध न हो सका। यही तो हम मान रहे हैं। तथा द्वितीय पक्षके अनुसार वह सम्बन्ध उन दो सम्बन्धियोंसे यदि भिन्न माना जायगा तो उस सर्वथा न्यारे पडे हुए उदासीन सम्बन्धके द्वारा केवल दो सम्बन्धी भला सम्बद्ध कैसे हो सकेंगे ? अलग गोंददानीमें पडा हुआ गोंद तो सन्दूकमें रखे हुए पत्रोंको नहीं जोड सकता है। अथवा दूर देशमें पडा हुआ डोरा कपडेको नहीं सींव सकता है। यदि तिस भिन्नपन और अभिन्नपनसे न कहा जाय ऐसा कोई अवक्तव्य वह संबंध होगा तो वह वास्तविक कैसे हो सकेगा ? बताओ ! और वस्तु कैसा भी हो चाहे सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियोंसे भिन्न हो अथवा अभिन्न हो, किन्तु वह दोनोंमें एक सम्बन्धसे कैसे रहेगा ? बताओ ! अर्थात् दो सम्बन्धियोंमें किसी अन्य सम्बन्धसे रहनेवाला सम्बन्ध हुआ करता है। " द्वित्र तिष्ठतीति द्विष्ठः " जैसे कि दण्ड और पुरुषमें रहनेवाला संयोगसम्बन्ध गुण होनेके कारण जब दोनोंमें समवाय सम्बन्धसे तिष्ठता है, तब सम्बन्ध बनता है और संयोग तथा दण्डमें रहनेवाला समवाय भी स्वरूपसम्बन्धसे तिष्ठता हुआ सम्बन्ध बनता है। इसी प्रकार यहां भी दूसरे किसी एक सम्बन्धसे संबंध हो जानेके कारण दोनोंका एक वृत्तिमान् सम्बन्धके साथ सम्बन्ध होना यदि कहा जायगा तो उस सम्बन्धको भी सम्बन्धपना दोमें किसी अन्य संबंधसे ठहरानेपर होगा। अतः न्यारे तीसरे, चौथे, पांचवें, आदि एक सम्बन्धसे सम्बन्ध हो सकेगा। इस प्रकार अनवस्थादोष हो जानेसे सम्बन्धज्ञान नहीं होने पाता है। बहुत दूर भी जाकर उन दो सम्बन्धियोंका एक सम्बन्धके विना भी सम्बन्ध होना मान लोगे तो मूलमें पडे हुये केवल दो सम्बन्धियोंकी भी सम्बन्ध हुए विना सम्बन्धबुद्धि हो जाओ ! सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। किसीका किसीसे सम्बन्ध (ताल्लुक) नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी चाहे जिसका चाहे जिसके साथ सम्बन्ध गढ जाओ ! यदि आप जैनोंके यहां सम्बन्ध पदार्थ अपने असाधारण स्वरूपसे स्थित हो रहा है। जैसा कि आपने पहिले साभिमान कहा था वह किसीकी अपेक्षा नहीं करता है, तब तो पदार्थोंका वास्तविकरूपसे नहीं मिलनारूप असम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सब अपने न्यारे स्वरूपमें स्थित होकर बैठे हुये हैं। सम्बन्ध भी अलग बैठा हुआ है। कोई भी किसीका सम्बन्धी नहीं है, सो ही हमारे यहां कहा है कि दोनोंका एक सम्बन्धसे

यदि सम्बन्ध होना मानोगे तो फिर उन दोनोंका क्या सम्बन्ध होगा ? तिस प्रकार तो सम्बन्ध ज्ञान नहीं हो सकता है। भावार्थ—दण्ड और दण्डीका संयोग सम्बन्ध माना जाय और दण्डमें संयोग गुण समवायसम्बन्धसे रहे, अतः संयोग और दण्डका समवाय माना जाय। समवायसम्बन्ध भी संयोगमे स्वरूपसम्बन्धसे रहे। अतः संयोग और समवायका योजक स्वरूपसम्बन्ध माना जाय एवं समवायमें स्वरूपसम्बन्ध भी विशेषणता सम्बन्धसे रहे, इस प्रकार सम्बन्धियोंमें रहनेवाले सम्बन्धोंके ठहरानेके लिए अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती जायगी। यह अनवस्थादोष सम्बन्ध ज्ञानको न होने देगा ! तथा वे दोनों सम्बन्धीरूप भाव और उनसे भिन्नसम्बन्ध तथा दूसरे पदार्थ वे सब अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। इस कारण पदार्थ अपने आप न्यारे न्यारे हैं। स्वयं व्यावृत्त हैं, मिले हुए नहीं हैं तो भी हां, व्यवहारी लोग कल्पनाज्ञानोंसे झूंठ मूठ उन्हें मिला लेते हैं। इस प्रकार सम्बन्ध पदार्थ सम्बन्धियोंसे भिन्न होता हुआ भला कैसे स्वलक्षण माना जाता है ? बताओ ! अर्थात् नहीं। और उन सम्बन्धियोंसे अभिन्न पडे हुये सम्बन्धको तो तिस प्रकार इष्ट करोगे तब तो दोनों सम्बन्धीरूप वस्तुओंसे भिन्न कोई सम्बन्ध पदार्थ नहीं बनता है। केवल कल्पनाके अतिरिक्त सम्बन्ध कोई वस्तु नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बडी देरसे कह रहा बौद्ध भी स्याद्वादियोंके मतको नहीं समझता है। वह स्याद्वाद सिद्धान्त तो सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदके एकान्तसे प्रतिकूल होता हुआ सम्बन्धियोंसे सम्बन्धका कथंचित् भेद, अभेद, मानता है। अतः वह किसी भी दोषका स्थान नहीं है।

येन रूपेण लक्ष्यमाणः सम्बन्धो अन्यो वार्थः स्वलक्षणमिति तु परस्परापेक्षभेदाभेदात्मकं जात्यंतरमेवोक्तं तस्याबाधितप्रतीतिसिद्धत्वेन स्वलक्षणव्यपदेशात्। ततो न कल्पनामेवानुरुन्धानैः प्रतिपत्तृभिः क्रियाकारकवाचिनः शब्दाः संयोज्यन्तेऽन्यापोहप्रतीत्यर्थमेवेति घटते येनेदं शोभेत। " तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवादिनः। भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेऽभिधायकाः॥ " इति क्रियाकारकादीनां सम्बन्धिनां तत्सम्बन्धस्य च वस्तुरूपप्रतीतये तदभिधायिकानां प्रयोगसिद्धेः सर्वत्रान्यापोहस्यैव शब्दार्थत्वनिराकरणाच्च। ततः कश्चित्कस्यचित्स्वामी सम्बन्धात्सिद्ध्येदिति स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं निर्देश्यत्ववदुपपन्नमेव।

जिस स्वरूपसे लक्षित किया जाय ऐसा कोई सम्बंध पदार्थ या अन्य पदार्थ स्वलक्षण है, इस प्रकार कहनेपर तो परस्परमें अपेक्षा रखते हुए भेद, अभेद, स्वरूप, विभिन्न जातिवाला पदार्थ ही कहा जा सकता है। सर्वथा भेद या अभेदके एकान्तोंसे भिन्नजाति वाला वह कथञ्चित् भेद, अभेद, आत्मक पदार्थ बाधारहित प्रतीतियोंसे सिद्ध है। इस कारण स्वलक्षण इस नामको पा जाता है। बौद्धोंका माना गया स्वलक्षण तो स्वलक्षण नहीं है, किन्तु सुष्ठु अलक्षण है। तिस कारणसे वास्तविक सम्बन्ध न होते हुए भी कल्पना हीके अनुरोधसे चलनेवाले व्यवहारी प्रतिपत्ताओं करके अन्यापोहकी प्रतीतिके लिये ही क्रिया कारकको कहनेवाले शब्द जोड लिये जाते हैं। जैसे कि वे

देवदत्त श्वेत गायको दण्डसे घेर लाओ आदि। यह बौद्धोंका कथन नहीं घटित होता है। जिससे कि उनका यह सिद्धान्त शोभा पाता कि उस कल्पनाका ही अनुरोध करनेवाले ज्ञाताओं करके भावोंकी भेदप्रतीति करानेके लिये क्रियावाची शब्द और कारकवाची शब्दोंकी जोडकला करली जाती है। क्षणिक होनेके कारण क्रियाकालमें कारक नहीं। अतः उनका सम्बन्ध नहीं है तथा वस्तुतः वाच्यवाचक भाव भी नहीं है। इस प्रकार यह बौद्धोंका कथन विद्वानोंमें शोभा नहीं पाता है। क्योंकि क्रिया, कारक, ज्ञापक, आदि सम्बन्धियों और उनके सम्बन्धके वास्तविक स्वरूपकी प्रतिपत्ति करनेके लिये उनके कहनेवाले शब्दोंका प्रयोग करना सिद्ध हो रहा है तथा सब स्थानोंपर अन्यापोह ही शब्दका वाच्यअर्थ है। इसका निराकरण कर दिया गया है। तिस कारण कोई एक विवक्षित पदार्थ किसी एकका स्वस्वामि सम्बन्ध हो जानेसे स्वामी सिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार पदार्थोंका निर्देश्यपनेके समान स्वामीपना भी जानने योग्य है। यह सिद्ध कर दिया गया ही है। यहांतक स्वामित्वका विचार किया। अब तीसरे उपाय साधनका विचार चलाते हैं—

न किंचित्केनचिद्वस्तु साध्यते सन्न चाप्यसत्।
ततो न साधनं नामेत्यन्ये तेऽप्यसदुक्तयः॥ १३॥

कार्यकारण भावको न माननेवाले बौद्ध कह रहे हैं कि कोई भी बन चुकी सद्भूत वस्तु किसी एक साधन करके नहीं साधी जाती है और सर्वथा नहीं बनी हुयी असत् वस्तु भी किसी कारणसे नहीं साधी जा सकती है। तिस कारण संसारमें कोई भी साधन पदार्थ नाममात्रको भी नहीं है। इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वे भी प्रशंसनीय कथन करनेवाले नहीं हैं। प्रत्यक्षसे ही बाल गोपालों तकको कार्यकारणभाव प्रतीत हो रहा है। दण्ड, चक्र, मिट्टीसे घडा बनता है, सूत, तुरी, वेमासे कपडा बनता है।

साधनं हि कारणं तच्च न सदेव कार्यं साधयति स्वरूपवत्, नाप्यसत् खरविषाणवत्। प्रागसत्साधयतीति न वा युक्तं, सदेव साधयतीति पक्षानतिक्रमात्। न ह्युत्पत्तेः प्रागसत् प्रागेव कारणं निष्पादयति, तस्यासत एव निष्पादनप्रसक्तेः। उत्पत्तिकाले सदेव करोतीति तु कथनेन कथं न सत्पक्षः? कथञ्चिदसत् करोतीत्यपि न व्यवतिष्ठते, येन रूपेण सत्तेन करणायोगादन्यथा स्वात्मनोऽपि करणप्रसंगात्। येन चात्मना तदसत्तेनापि न कार्यतामियर्ति शशविषाणवदित्युभयदोषावकाशात् सदसद्रूपं कार्यं नाऽनाकुलं, न च कथञ्चिदपि कार्यमसाधयत् किञ्चित्साधनं नाम कार्यकरणभावस्य तत्त्वतोसम्भवाच्च। तदुक्तम्—

वे अन्यवादी ही विकल्पोंको उठाकर कार्यकारणभावमें दूषण दिखा रहे हैं। जिससे कि साधनका अर्थ कारण है और वह कारण सद्रूप ही कार्यको नहीं बनाता है। जैसे कि कारण

अपने पहिले बने बनाये स्वरूपको फिर नहीं बनाता है तथा वह कारण खरविषाणके समान असत् पदार्थको भी नहीं बनाता है। यदि यहां कोई नैयायिक यों कहे कि प्रागभावका प्रतियोगी कार्य होता है। अतः पहिले नहीं विद्यमान किन्तु वर्तमान में विद्यमान ऐसे कार्यको कारण साधता है यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि इस तरह तो सत् कार्यको ही कारण बनाता है,इस पक्षका अतिक्रमण न हुआ और उत्पत्तिके पहिले असत् कार्यको कारण पहिले ही बना डालता है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि यों तो उस असत् कार्यके ही बनानेका प्रसंग आता है। उत्पत्तिके समय सत् ही कार्यको कारण बनाता है ऐसा कथन करनेसे तो क्यों नहीं सत्पक्ष ही आया। दोनों पक्षोंमें नैयायिक और जैन कार्यका बनाना सिद्ध नहीं कर सकते हैं। किसी द्रव्यकी अपेक्षासे सत् और पर्यायकी अपेक्षासे असत् कार्यको कारण बनाता है। यह स्याद्वाद पक्ष भी व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि जिस स्वरूपसे कार्य सत् है उस स्वरूपसे उसका करना नहीं हो सकता है अन्यथा यानीं बने हुये सत् स्वरूपका भी पुनः उत्पादन किया जाय तो कारणको अपनी आत्माके भी पुनः निष्पादन करनेका प्रसंग होगा। तथा जिस स्वरूपसे वह कार्य कथंचित् असत है, उस स्वरूपसे भी वह कर्तव्यपनेको प्राप्त नहीं होता है, जैसे कि शशके (खरगोश) असत् सींग नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षके दोषोंको स्थान मिल जानेसे स्याद्वादियोंका सत् असत्रूप कार्यका पक्ष लेना भी अनाकुल नहीं है यानी आकुलताको उत्पन्न कराता है। किसी भी ढंगसे कार्यको नहीं बनाता हुआ तो कोई साधन नहीं हो सकता है। तथा वास्तविकरूपसे देखा जाय तो कार्यकारण भावका असम्भव है, सो ही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें यों कहा है।

" कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः। प्रसिद्ध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम् ॥ " क्रमेण भाव एकत्र वर्तमानोन्यनिस्पृहः। तदभावेऽहि भावाच्च सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ॥ " यद्यपेक्ष्यतयोरेकमन्यात्रासौ प्रवर्तते। उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात् कथं चोपकरोत्यसन् ॥ " यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः। प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोः ॥ " द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणम्। भावाभावो पधियोगः कार्यकारणता यदि ॥ " योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम्। भेदाच्चेदवयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥ " पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तदर्शने। अपश्यन् कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥ " दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात्। कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ तद्भावभावात्तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते। संकेतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता। प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥ एतान्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः। विकल्पाः दर्शयंत्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव ॥ भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का।

भावे वान्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ " इति । तदेतदसद्दूषणम् । स्वाभिमतेऽप्यकार्यकारणभावे समानत्वात् । तथाहि—

दूसरे उपाय स्वामित्वका निरूपण करते समय सामान्यरूपसे सम्बन्ध पदार्थमें पहिले दूषण दिया था । अब साध्यसाधनके प्रकरण अनुसार बौद्ध विशेषसम्बन्धमें भी दूषण देते हैं कि कार्यकारणभाव नामका सम्बंध भी समीचीन नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध दोमें रहनेवाला होता है और कार्यकारणोंका एक कालमें साथ न रहनेके कारण द्विष्ठ सम्बन्धका असम्भव है। कारण समयमें कार्य नहीं है और कार्यकालमें कारण नहीं है । कार्यसे कारण पूर्वसमयवर्ती होता है । बैलके सीधे और डेरे सींगके समान समानकालवाले पदार्थोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता है। तिस कारण साथ रहनेवाले दो सम्बन्धियोंमें रहनेवाला सम्बन्ध अर्थात् सम्बन्धी आश्रित कार्यकारणोंमें कैसे प्रसिद्ध होवेगा ? अर्थात् नहीं। तथा दोमें नहीं रहनेवाले पदार्थमें तो सम्बन्धपना असिद्ध ही है। अतः दोमें नहीं रहनेवाले कार्यकारणमें सम्बन्धपना कैसे सिद्ध हो सकता है ? (१) यहां कोई सम्बन्धवादी यदि यों कहे कि कारण अथवा कार्यमें वह सम्बन्ध क्रमसे वर्त्तेगा, बौद्ध कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि क्रमसे भी सम्बन्ध नामका पदार्थ एक कारण अथवा कार्यमें वर्तता हुआ कार्य और कारणोंमेंसे एककी नहीं अपेक्षा रखकर एकही में वर्तनेवाला होकर तो सम्बन्ध नहीं बन सकता है। क्योंकि कार्य और कारणमेंसे एकके न होते हुए भी वह सम्बन्ध रह जाता माना गया है और केवल एकमें रहनेवाला तो सम्बन्ध होता नहीं है । (२) यदि फिर भी कोई सम्बन्धवादी यों कहे कि उन कार्य और कारणोंमेंसे एक कार्य अथवा कारणकी अपेक्षा करके बचे हुए दूसरे कार्य अथवा कारणमें वह सम्बन्ध क्रमसे वर्त्तता है । अतः अपेक्षा सहित होनेसे दोमें रहनेवाला ही माना जायगा। तब तो हम बौद्धोंका यह कहना है कि जिसकी अपेक्षा की जाती है, वह उपकारी होना चाहिये। क्योंकि उपकारीकी अपेक्षा होती है । अन्यकी कार्य अथवा कारणोंको अपेक्षा नहीं होती है । जब कि कार्यकालमें कारण और कारणकालमें कार्यनामका भाव अविद्यमान है, तब वे किस प्रकार क्या उपकार कर सकेंगे ? खरविषाणके समान असत् पदार्थ तो यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है इत्यादि उपकारोंको करनेमें समर्थ नहीं है । (३) यदि एक सम्बन्धरूप अर्थसे बन्ध जानेके कारण उन कार्यपन और कारणपनसे मान लिये गये क्रमवर्ती पदार्थोंमें कार्यकारणभाव माना जायगा, तब तो द्वित्व संख्या या बडे छोटे और दूरवर्ती निकटवर्ती पदार्थोंमें होनेवाले काल, देश, सम्बन्धी परत्व या अपरत्व अथवा विभाग, पृथक्त्व, आदिके सम्बन्धसे वह कार्यकारणभाव बैलके सीधे डेरे सींगोंमें भी प्राप्त हो जावेगा। दोनों सींगोंमें द्वित्व, विभाग, आदि विद्यमान हैं (४) इसपर कोई सम्बन्धवादी यदि यों कहे कि चाहे किसी भी द्वित्वसंख्या, परत्व, आदिके सम्बन्धसे हम कार्यकारणता नहीं मानते हैं, किन्तु सम्बन्ध नामक पदार्थसे जुड जानेपर कार्यकारणता मानते हैं। बौद्ध कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं । क्योंकि दोमें रहनेवाला ही कोई पदार्थ सम्बन्ध होगा।

इस दो आदिमें बन्ध जानेसे भिन्न कोई उस सम्बन्धका लक्षण नहीं है। ऐसी दशामें इस सम्बन्धका द्वित्वसंख्या, पृथक्त्व, आदिकसे अन्तर कैसे व्यवस्थित करोगे ? अर्थात् सम्बन्धसे संख्या आदिमें कोई विशेषता नहीं है। यदि किसी कार्य या कारणके होनेपर होना और न होनेपर न होना इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा वे भाव और अभाव हैं विशेष जिसके ऐसे सम्बन्धको कार्यकारणता कहोगे (५) तब तो सभी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि उन भाव अभावरूप विशेषणाको ही यहां कार्यकारणभाव क्यों न मान लिया जाय! असत् सम्बन्धकी कल्पना करनेसे क्या लाभ है ! यदि सम्बन्धवादी जैन यों कहें कि होनेपर होना न होनेपर न होना इस भाव अभावसे कार्य-कारणभाव सम्बन्धका भेद है, तब तो बहुतसे वाच्यअर्थ हुए जाते हैं। एक कार्यकारणभाव इस शब्द करके अन्वय, व्यतिरेकरूप प्रमेय कैसे कहा जा सकता है ! यहां कोई यदि यों नियम करे कि शब्द तो प्रयोग करनेवालेके अधीन होता है। नियोजन करनेवाला जिस शब्दका जिस प्रकार प्रयोग करता है। वह शब्द उस प्रकारके अर्थको भले प्रकार कह देता है। इस कारण अनेक अर्थोंमें भी एक शब्दका सुना जाना विरुद्ध नहीं है तो भी वे दो अन्वय व्यतिरेक ही कार्यकारणभाव हुए (हुआ) (६) जिस कारणसे कि जानने योग्य किन्तु कारणसे पहिले न देखे गये फिर भी वर्त्तमानमें कार्यनामक पदार्थके दर्शन होनेपर एक कारणपनसे मान लिये गये पदार्थको देखता हुआ और उस कारणके न देखनेपर कार्यको नहीं देखनेवाला मनुष्य " यह उससे उत्पन्न होता है। " इस बातको उपदेशक पुरुषोंके विना भी जान लेता है (७) तिस कारण दर्शन अदर्शन यानी इनके विषय स्वरूपभाव और अभावको छोडकर कार्यबुद्धि कुछ नहीं सम्भवती है यह इसका कार्य है। इत्यादि शब्दव्यवहार भी लाघवके लिये निविष्ट किया गया है। अन्यथा पदपर जनसमुदायको इतनी लम्बी चौडी शब्दमाला कहनी पडेगी कि दर्शन, अदर्शनके, विषय भाव, अभावरूप अन्वय, व्यतिरेक इन विवक्षित पदार्थोंके हैं। इतना शब्द समूह न कहना पडे। इसलिये " यह इसका कार्य है। " " यह इसका कारण है। " ऐसा शब्द बोल दिया जाता है। (८) अतः अन्वय, व्यतिरेकको छोडकर अन्य कोई कार्य कारणता नहीं है। फिर वह भाव, अभावसे क्यों साधी जाती है ! सम्बन्धवादी पुरुष उसके भाव अभावसे हेतु द्वारा जो कार्यपनेका ज्ञान होना वर्णन करते हैं, वह भी इस कारणका यह कार्य है और इस कार्यका यह कारण है। इस संकेतको ही विषय करती है। वस्तुभूत कार्यकारण भावको नहीं जताती है। जैसे कि सास्ना [गल कम्बल] सींग, ककुद, [ढांट] पूंछके अन्तमे बालोंका गुच्छा, इत्यादिक करके जैसे गौका ज्ञान कर लिया जाता है। यहां गौ और सासना आदिका कार्यकारणभाव तो नहीं है। ज्ञाप्यज्ञापक भाव भले ही होय। (९) जिससे कि कार्य नामक पदार्थके भवन होनेपर उस कारणका भाव होना ही कारणत्व है। और कारणके होनेपर ही कार्यका होना कार्यत्व है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे हेतुता, कार्यता, दोनों प्रसिद्ध हो रही हैं। (१०) तिस कारण भाव, अभाव,

ही कार्यकारणता है, उससे भिन्न नहीं। अतः केवल इतने ही भाव और अभावरूप तत्त्वको विषय लेकर उत्पन्न होनेवाले झूंठे विकल्पज्ञान कार्य, कारणोंको विषय कर रहे हैं, और असत्य अर्थको विषय करनेवाले वे विकल्पज्ञान प्रत्येक असम्बद्ध पदार्थोंको भी परस्पर सम्बद्धोंके समान दिखला देते हैं (११)। दूसरी बात हम यह पूंछते हैं कि यह कार्यकारणभावको प्राप्त हुआ अर्थ क्या भिन्न है या अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो सर्वथा भिन्न पदार्थमें संयोजना कैसे हो सकती है ? क्योंकि वे तो अपने अपने न्यारे स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। यदि अभिन्न मानोगे तो अभिन्न यानी अकेलेमें कार्यकारणता भी क्या होगी ? अर्थात् नहीं। सम्बन्धवादियोंका यह भी विचार हो कि हम भिन्नका या सर्वथा अभिन्नका सम्बन्ध नहीं मानते, किन्तु एक सम्बन्ध नामके पदार्थसे जडे हुए पदार्थोंका सम्बन्ध मानते हैं। इसपर भी हम बौद्ध पूछेंगे कि न्यारे पडे हुए भिन्न सम्बन्धके विभक्त पडे रहनेपर वे कार्यकारणरूप दो पदार्थ भला मिले हुए (चिपके हुए) कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् नहीं मिल सकते हैं (१२)। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि सो इस प्रकार बारह कारिकाओं द्वारा बौद्धोंका जैनोंके ऊपर ये दूषण उठाना समीचीन नहीं है। क्योंकि विशेष सम्बन्ध कार्यकारणभावमें जैसे ये दोष लगाये जाते हैं, वैसे ही बौद्धोंको अपने माने गये अकार्यकारणभावमें भी समानरूपसे वे दोष लागू हो जाते हैं। तिसीको स्पष्टकर कहते हैं। प्रतिनारायणके द्वारा नारायणके ऊपर चलाया हुआ चक्र पुनः उसीपर आघात करता है। वैसे ही सम्बन्धवादियोंके ऊपर बौद्धोंका बारह कारिकाओं द्वारा कुचक्र चलाना उनके ऊपर ही पडता है। देखिये।

अकार्यकारणभावो द्विष्ठ एव कथमसहभाविनोः कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्ययोरर्थयोर्वर्तते। न चाद्विष्ठोऽसौ सम्बन्धाभावत्वविरोधात्। पूर्वत्र भावे वर्तित्वा परत्र क्रमेण वर्तमानोऽपि यदि सोन्यनिस्पृह एवैकत्र तिष्ठन् कथमसम्बन्धः? परस्य ह्यनुपपन्नस्याभावोऽपि पूर्वत्र वर्तमानः पूर्वस्य च नष्टत्वेनाभावेऽपि परत्र वर्तमानोसावेकवृत्तिरेव स्यात्। पूर्वत्र वर्तमानः परमपेक्षते परत्र च तिष्ठन्पूर्वमतोऽसम्बन्धो द्विष्ठो एवान्यनिस्पृहत्वाभावादिति चेत् कथमनुपकारं तथोत्तरमपेक्ष्यतेऽति प्रसंगात्। सोपकारकमपेक्षत इति चेत् नासतस्तदोपकारकत्वायोगात्। यदि पुनरेकेनाभिसम्बन्धात्पूर्वपरयोरकार्यकारणभावस्तदा सव्येतरविषाणयोः स स्यादेकेन द्वित्वादिनाभिसम्बन्धात्। तथा च सिद्धसाध्यता। द्विष्ठो हि कश्चिदसम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणं येनाभिमतसिद्धिः। यदि पुनः पूर्वस्याभाव एव यो भावाभावेऽभावस्तदुपाधियोगोऽकार्यकारणभावस्तदा तावेव भावाभावावयोगोपाधी किं नाऽकार्यकारणभावः स्यात्, तयोर्भेदादिति चेत्, शब्दस्य नियोक्तृसमाश्रितत्वेन भेदेऽप्यभेदवाचिनः प्रयोगाभ्युपगमात्। स्वयं हि लोकोऽयमेकमदृष्टस्य दर्शनेऽप्यपश्यंस्तददर्शने च पश्यन् विनाप्याख्यातृभिरकार्यमवबुध्यते। न च तथा दर्शनादर्शने मुक्त्वा क्वचिदकार्यबुद्धिरस्ति। न चतयोरकार्यादिश्रुतिर्विरुध्यते लाघवार्थत्वात् तन्निवेशस्य। या पुनरतद्भावाभावादकार्यगतिरुप-

वर्ण्यते सा संकेतविषयाख्या, यथा असास्नादेरगोगतिः। नैतावता तत्त्वतोकार्यकारणभावो नाम। भावे हि अभाविनि वा भाविता अहेतुफलते प्रसिद्धे। प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामेव। तदेतावन्मात्रतत्त्वार्था एवाकार्यकारणगोचरा विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् स्वयमघटितानपीति समायातम्। भिन्ने हि भावे का नामाघटना तत् कान्यावभासते ? येनासौ तात्त्विकी स्यात्। अभिन्ने सुतरां नाघटना। न च भिन्नावर्थौ केनचिदकार्यकारणभावेन योगादकार्यकारणभूतौ स्याताम्। सम्बंधविधिप्रसंगात्। तदेवं न तात्त्विकोऽर्थो नामाकार्यकारणभावो व्यवतिष्ठते कार्यकारणभाववत्।

हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि आपका माना हुआ अकार्यकारणभाव भी दोमें रहनेवाला ही होगा। तब कार्यपन और कारणपनेसे निषेधे गये दो असहभावी अर्थोंमें वह भला कैसे वर्त्तेगा। हां! सहभावियोंमें तो विभागके समान रह भी जाता और वह अकार्यकारणभाव दोमें न रहे, यह तो ठीक नहीं। क्योंकि यों तो उसको सम्बन्धाभावपनेका विरोध होता है। पहिले भावमें वर्त करके फिर दूसरेमें वर्तता हुआ भी वह यदि अन्यकी स्पृहा नहीं करेगा तो एकमें ठहरनेवाला वह असम्बन्ध भी भला कैसे हो सकता है? अभी तक नहीं उत्पन्न हुए परवर्त्ती पदार्थके न होनेपर भी पूर्व समयवर्ती पदार्थमें वर्तता हुआ और पूर्व पदार्थके नष्ट होनेके कारण अभाव हो जानेपर भी उत्तर समयवर्ती परपदार्थमें वर्त्त रहा वह असम्बन्ध एकमें ही वृत्ति होगा। यदि [illegible] तो कहें कि पहिलेमें वर्त रहा असम्बन्ध परकी अपेक्षा करता है और परसमयवर्ती पदार्थमें ठहरता हुआ पूर्व समयवर्ती पदार्थकी अपेक्षा रखता है। अतः अन्यकी निस्पृहता न होनेके कारण असम्बन्ध दोमें रहनेवाला ही है। ऐसे कहनेपर तो हम जैन कटाक्ष करेंगे कि नहीं उपकार करनेवाले तिस प्रकार उत्तर पदार्थकी वह अपेक्षा क्यों करेगा? अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी चाहे कोई भी चाहे जिस उपकार न करनेवालेकी अपेक्षा कर बैठेगा। यदि सहित होकर उपकार करनेवालेकी वह अपेक्षा करता है ऐसा कहोगे सो तो ठीक नहीं। क्योंकि उस समय अविद्यमान पदार्थको उपकारकपनेका अयोग है। यदि फिर किसी एक पदार्थसे पूरा सम्बन्ध हो जानेके कारण पूर्व उत्तर पदार्थोंमें अकार्यकारणभाव माना जायगा, तब तो बैलके डेरे और सीधे सींगोंमें भी अकार्यकारणभाव हो जाना चाहिये। क्योंकि द्वित्व, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, आदि एक पदार्थ करके ठीक सम्बन्ध हो रहा है और तैसा होनेपर तो हमको सिद्धसाध्यपना (सिद्धसाधन) ही है। यानी यों तो सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है। यही तो हम साधना चाहते हैं। कोई भी जो असम्बन्ध होगा वह दो आदि पदार्थोंमें ठहरनेवाला ही होगा। इससे भिन्न और कोई उसका लक्षण नहीं है। जिससे कि आप बौद्धोंका अभीष्ट सिद्ध हो सके। यदि फिर आप बौद्ध यों कहें कि पूर्ववर्त्ती पदार्थके अभाव होनेपर ही जो परवर्त्ती पदार्थका भाव है। और पूर्वके भाव होनेपर परका जो अभाव है, उसको विशेषण रखनेवाला अयोग ही अकार्यकारण भाव है। तब तो वे भाव,

अभाव, ही अयोग विशेषणवाले होकर क्यों नहीं अकार्यकारण भाव मान लिये जांय। असत् असम्बन्धकी कल्पनासे क्या लाभ ? यदि बौद्ध यों कहें कि भाव, अभावके साथ उस अकार्यकारण भावका विशेष्यविशेषण होनेके कारण उनमें भेद है। अतः वह अयोग ही अकार्यकारण भाव नहीं हो पाता। इसपर हम जैन भी वही कहेंगे जो कि आपने पहिले हमारे ऊपर कटाक्ष किया था। शब्द तो नियोक्ताके अधीन होकर प्रवर्तता है। प्रयोक्ता जिस प्रकार एक अर्थ या अनेक अर्थवाले शब्दको बोलता है, वह शब्द द्विरेफ, सरोज, तादात्म्य, अब्ज, पुष्कर, आदिके समान वैसे अर्थको कह देता है। इस कारण भेद होनेपर भी अभेदको कहनेवाले शब्दका प्रयोग करना मान लिया गया है। अदृष्ट अकार्यके वर्तमानमें दर्शन होनेपर भी एक अकारणको नहीं देखता हुआ और उसके नहीं दीखनेपर देखता हुआ यह जन सहस्रों व्याप्तियोंके बिना भी यह इसका अकार्य है, यह इसका अकारण है, ऐसा स्वयं समझ लेता है। दर्शन अदर्शन या इनके विषयभाव अभावको छोडकर कहीं भी अकार्यबुद्धि नहीं होती है, तथा भाव अभाव ही अकार्य हैं और अकारण हैं इत्यादि शब्दप्रयोग भी उन दोनोंमें विरुद्ध नहीं पडते हैं। क्योंकि उन शब्दोंका निवेश करना लाघवके लिये है। जो भी फिर उस भाव, अभावके न होनेसे अकार्यपनेका ज्ञान होना कहा जाता है। वह केवल संकेतको जतानेवाली संज्ञा है। जैसे कि सास्ना आदिकके अभावसे गोसे भिन्न अगो पदार्थका ज्ञान कर लिया जाता है, इतने करके ही परमार्थरूपसे अकार्यकारणभाव कैसे भी नहीं बनता है। अतः अकार्यरूपभावके न होनेपर अकारणका होना अथवा अकारणके न होनेपर अकार्यका होना ही अहेतु फलपना प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे ही अकार्यता और अकारणता प्रसिद्ध हो जाती हैं। बस इतना ही वह केवल तत्त्वअर्थ है। जिसका ऐसे अकार्यकारणको विषय करनेवाले विकल्पज्ञान स्वयं सम्बद्ध पदार्थोंको भी असम्बद्धोंके समान दिखला देते हैं। तभी तो वे झूंठे अर्थको विषय करनेवाले है। यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ। परिशेषमें यह कहना है कि भिन्न पदार्थमें भला असम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? और वह असम्बन्ध भिन्न होकर कहां प्रतिभासता है ? अर्थात् वह अघटना न्यारी होकर कहीं नहीं दीखती है। जिससे कि वह असम्बन्ध वास्तविक हो जाय और अभिन्नमें तो सुलभतासे ही असम्बन्ध नहीं हो सकता है, तथा भिन्न पडे हुए अर्थ भी यदि किसी अकार्यकारणभावसे बन्ध जानेके कारण अकार्य और अकारणस्वरूप हो जायेंगे, तब तो यों बौद्धोंको वास्तविक सम्बन्धके विधान करनेका प्रसंग आ जावेगा। तिस कारण इस प्रकार अकार्यकारणभाव भी वास्तविक अर्थ कैसे भी सिद्ध नहीं होता है, जैसे कि बौद्धोंके यहां कार्यकारणभाव नहीं बनता है।

स्वस्वभावव्यवस्थितार्थान् विहाय नान्यः कश्चिदकार्यकारणभावोस्तिवति। तथा व्यवहारस्तु कल्पनामात्रनिर्मित एव कार्यकारणव्यवहारवदिति चेत् तर्हि वास्तव एव कार्य-

कारणभावोऽकार्यकारणभाववत् । केवलं तद्व्यवहारो विकल्पशब्दलक्षणो विकल्पनिर्मित इति किमनिष्टम् ।

आप बौद्ध यदि यों कहें कि अपने अपने स्वभावमें व्यवस्थित हो रहे अर्थोंको छोडकर कोई अन्य अकार्यकारणभाव नहीं है, यही ठीक रहो । फिर अकार्यकारणपनेका जो लोकमें व्यवहार हो रहा है । वह तो केवल कल्पनासे ही गढ लियाँ गया ही है । जैसे कि कार्यकारणभावका व्यवहार कल्पित हो रहा है । इस प्रकार कहनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो वास्तविक ही अकार्यकारणभावके समान वस्तुभूत कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है । हां ! केवल उनका व्यवहार तो विकल्पज्ञान या शब्दस्वरूप होता हुआ सच्ची कल्पनाओंसे बनाया गया है । ऐसा माननेमें क्या अनिष्ट होता है ? अर्थात् अकार्यकारणभाव और कार्यकारणभाव ये दोनों ही वस्तुओंके स्वभाव हैं । जैसे कि आत्मा और आकाशका अकार्य और अकारणभाव इन दोनोंका स्वभावभूत है, तथा ज्ञान [मतिज्ञान] और आत्माका कार्यकारणभाव भी आत्मा और ज्ञानका स्वभाव हो रहा है । ऐसे अपने अपने स्वभावोंमें पदार्थ व्यवस्थित हो रहे हैं । संसारमें स्वभाव और स्वभाववानोंके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं हैं । एक बात यह है कि सर्वज्ञदेव स्वकीय केवलज्ञानसे कार्यकारण भावका व्यवहार नहीं करते हैं । क्योंकि व्यवहार करनेमें श्रुतज्ञानों या नयज्ञानोंका अधिकार है । यद्यपि अनेक व्यवहार और कल्पनायें वस्तुभूत परिणामोंकी भित्तिपर अवलम्बित हैं । फिर भी व्यावहारिक ज्ञान या शब्दोंके यथार्थ विषयभूतका निर्णय करनेपर वे प्रवक्तव्य ठोस वस्तुके हृदयको नहीं पा सकते हैं । सर्वज्ञदेव ठोस वस्तु या वस्त्वंशोंको जानते हैं । देखो, नैगमनयके भविष्यमें कोई कोई नहीं परिणमनेवाले संकल्पितविषयोंको पारिणामिक मुद्रासे सर्वज्ञ नहीं जान पाते हैं । इस तक्षक [बढई] के नैगमनयने प्रस्थको जाना है इसको भले ही सर्वज्ञ जान लेवें, किन्तु जो काष्ठ आवश्यकतावश मुद्गर बनाया जाकर प्रस्थ नहीं हो सका है, उस परिणामको सर्वज्ञ भला कैसे जान सकते हैं ? नैगमनयवालेने सर्वज्ञको कोई लांच [घूंस] तो नहीं देदी है । इसी प्रकार हमारे झूंठे सांचे बहुतसे संकल्पित विकल्पित विषयोंको भी सर्वज्ञ विषय नहीं करते हैं । हमको धन, पुत्र, कलत्र विषयसेवनमें इष्टताकी कल्पना है । शत्रु, कटुऔषधि, सदुपदेशमें अनिष्टताका व्यवहार हो रहा है । हमारी इस इच्छा या ज्ञानको वे जान लेवें, किन्तु जब पदार्थका वैसा परिणाम ही इष्ट अनिष्ट कल्पनाके विषयस्वरूप नहीं है तो अवक्तव्य ज्ञानधारी सर्वज्ञ हमारी कल्पना अनुसार उन विषयोंको तदात्मक कैसे जान सकते हैं ? एतावता भलें ही वे असर्वज्ञ हो जाय, अनेकान्तवादियोंको यह उपालम्भ असह्य नहीं है ।

वस्तुरूपयोरपि कार्यकारणभावे तयोरभावो वस्तु चेति न तु युक्तं, व्याघातात् क्वचिन्नीलेतरत्वाभाववत् । ततो यदि कुतश्चित् प्रमाणादकार्यकारणभावः परमार्थतः केषांचिदर्थानां सिध्येत् तदा तत एव कार्यकारणभावोऽपि प्रतीतेरविशेषात् यथैव हि गवादी-

नामसाध्यसाधनभावः परस्परमतद्भावभावित्वप्रतीतेर्व्यवतिष्ठते तथाग्निधूमादीनां साध्यसाधनभावोऽपि तद्भावभावित्वप्रतीतेर्बाधकाभावात् ।

वस्तुस्वरूप भी पदार्थोंका कार्यकारण भाव माननेपर फिर उनका अभाव कहना और उन कार्यकारणके अभावको वस्तु कहना यह तो युक्त नहीं है । क्योंकि ऐसा कहनेमें व्याघातदोष है । अर्थात् दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं । जैसे कि किसी पदार्थमें नीलेसे भिन्नपना स्थापकर पुनः उसमें नीलेतरपनेका अभाव कहना व्याघातयुक्त होता है । तिस कारण किसी भी प्रमाणसे किन्हीं अर्थोंका यदि परमार्थरूपसे अकार्यकारणभाव सिद्ध करोगे, तब तो तिस ही कारण कार्यकारणभाव भी सिद्ध हो जावेगा । दोनोंकी प्रतीतियोंका कोई अन्तर नहीं है । जिस ही प्रकार गौ, भैंस पुस्तक, चौकी, आदिका परस्परमें अन्वय, व्यतिरेकसे होने न होनेपनकी नहीं प्रतीत होनेके कारण असाध्यसाधनपना व्यवस्थित हो रहा है । तिसी प्रकार अग्नि, धूम, अनित्यत्व, कृतकत्व, आदिकोंका उसके होनेपर होनापन प्रतीत होनेसे साध्यसाधन भाव भी व्यवस्थित हो जाता है, कोई बाधक प्रमाण नहीं है । अतः ज्ञाप्य ज्ञापक और कार्यकारणभावको प्राप्त हुए पदार्थोंमें साध्यसाधनपना प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है ।

नन्वकस्मादग्निं धूमं वा केवलं पश्यतः कारणत्वं कार्यत्वं वा किं न प्रतिभातीति चेत् किं पुनरकारणत्वमकार्यत्वं वा प्रतिभाति ? सातिशयसंविदां प्रतिभात्येवेति चेत्, कारणत्वं कार्यत्वं वा तत्र तेषां न प्रतिभातीति कोऽपानं विधेयम् । अस्मदादीनां तु तदप्रतिभासनं तथा निश्चयानुपपत्तेः क्षणक्षयादिवत् ।

बौद्ध शंका करते हैं कि किसी भी कारणवश नहीं किन्तु यों ही केवल अग्नि अथवा अकेले धूमको देखनेवाले पुरुषको अग्निमें कारणपन और धूममें कार्यपना भला क्यों नहीं प्रतिभासता है ? जब कि वह उसका स्वभाव है तो अग्निके दीखनेपर उसकी कारणता या साध्यता भी अवश्य दीखजानी चाहिये । तथा बालकके द्वारा भी धूमके दीख जानेपर उसका कार्यपन या हेतुता स्वभाव भी प्रतीत हो जाना चाहिये था । ऐसा कहोगे तब तो हम जैन भी कटाक्ष करते हैं कि आपकी मानी हुयी वह्निमें अकारणता तथा धूममें अकार्यता क्या फिर ज्ञात हो जाती है ? तुम्ही बताओ । यदि आप बौद्ध यों कहो कि चमत्कारक विशेष बुद्धिमानोंको तो उनकी अकारणता और अकार्यता प्रतिभास जाती ही है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि उन वह्नि धूमोंमें प्रतिभाशाली विद्वानोंको कारणता अथवा कार्यता नहीं दीखती है। इस विषयकी आपने सौगन्द करली है । अर्थात् विचारशाली पुरुषोंको तो वहां कार्यता और कारणता भी दीख जाती है । हां ! हम सरिखे साधारण लोगोंको तो तिस प्रकार निश्चय न होनेके कारण इनका प्रतिभास नहीं होता है । जैसे कि स्वलक्षणका प्रत्यक्ष हो जानेपर भी उसके अभिन्न स्वभाव क्षणिकपनेका निश्चय न होनेसे प्रत्यक्ष द्वारा उल्लेखज्ञान नहीं हो पाता आपने माना है । यद्यपि दृष्टान्त उभयको मान्य होना चाहिये

किन्तु अकेले प्रतिवादीको भी मान्य होय तो भी वादी अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये प्रतिवादीके प्रति उसका प्रयोग कर अपना प्रयोजन साध सकता है।

तथोभयत्र समानम्। यथैव हि तद्भावभावित्वानध्यवसायिनां न कचित्कार्यत्वकारणत्वनिश्चयोस्ति तथा स्वयमतद्भावभावित्वाव्यवसायिनामकार्यकारणत्वनिश्चयोऽपि प्रतिनियतसामग्रीसापेक्षकत्वाद्वस्तुधर्मनिश्चयस्य। न हि सर्वत्र समानसामग्रीप्रभवो निर्णयस्तस्यान्तरंगबहिरंगसामग्रीवैचित्र्यदर्शनात्।

तिस प्रकार निश्चय न बननेके कारण कार्यकारणभावका या अकार्यकारणभावका साधारण जीवको ज्ञान न होना दोनोंमें एकसा है। जैसे ही उस कारणके होनेपर उस कार्यके होनेपनका नहीं निर्णय करनेवालोंको कुलाल घट या वन्हि धूम आदि किसी भी पदार्थमें कार्यपन और कारणपनका निश्चय नहीं हो पाता है, तिसी प्रकार स्वयं उसके न होनेपर होनेपनका नहीं व्यवसाय करनेवाले पुरुषोंको अकार्यपन और अकारणपनका निश्चय भी कहीं आकाश और आत्मामें नहीं हो पाता है। धर्मीके देखनेपर ही शीघ्र उसके धर्मोंका भी निर्णय हो जाय, यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि वस्तुके धर्मोंका निश्चय होना प्रत्येक नियतसामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला है। सभी स्थलोंपर धर्मी और धर्मोंकी सदृश सामग्रीसे ही निर्णय उत्पन्न हो जाय। ऐसी कोई राजाकी आज्ञा नहीं है। उस निर्णयके अन्तरङ्ग और बहिरंग कारणोंकी विचित्रता देखी जाती है। कहीं धर्मीका ज्ञान होनेपर भी धर्मोंका ज्ञान नहीं होता है और कहीं धर्मका ज्ञान हो जानेपर भी धर्मीका विशदज्ञान नहीं हो पाता है। कोई विद्वान् सूक्ष्मतत्त्वोंका निर्णय कर लेते हैं, किन्तु स्थूल लौकिक वृत्तोंको नहीं जान पाते हैं। शेष मनुष्य मोटी ऊपरी बातोंको जानकर सूक्ष्म रहस्योंके ज्ञानसे कोरे रह जाते हैं। भींतमें बनी हुयी सिगडीकी अग्निके उष्णपन धर्मका ज्ञान हो जाय किन्तु छिपी आगका ज्ञान न हो सके तथा औषधिका चाक्षुष प्रत्यक्ष भलें ही हो जाय किन्तु उसके धर्मोंका ज्ञान न होवे। अन्तरंग क्षयोपशम और बहिरंग शिक्षक, भक्ष्य, आचार, आदिकी परिस्थितिसे ज्ञानोंकी अनेक जातियां हो जाती हैं।

धूमादिज्ञानसामग्रीमात्राच्चत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेः न कार्यत्वादि धूमादिस्वरूपमिति चेत् तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूपं माभूत्तत एव। क्षणिकत्वाभावे वस्तुत्वमेव न स्यादिति चेत् कार्यत्वकारणत्वाभावेऽपि कुतो वस्तुत्वं खरशृंगवत्। सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः कूटस्थवत् क्षणिकैकान्तवद्वा विशेषासम्भवात्।

बौद्ध कहते हैं धूआं, आग, आदिके ज्ञानोंकी सामान्य सामग्रीसे उनके कार्यपन, कारणपन, आदिका निश्चय उत्पन्न नहीं होता है। अतः कार्यत्व या कारणपन आदि तो धूम, अग्नि, आदिके स्वभाव नहीं हैं। ऐसा करनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो तिसी कारण उन नील आदि स्वलक्षणोंके भी क्षणिकपन, सूक्ष्मपन, असाधारणपन, आदि स्वरूप न होओ। क्योंकि आप बौद्धोंने

स्वलक्षणको जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ही क्षणिकपन, आदिका निश्चय होना नहीं माना है। यदि बौद्ध यों कहे कि क्षणिकपनके विना तो पदार्थोंका वास्तविकपना ही न हो सकेगा, ऐसा कहने पर तो हम भी कहेंगे कि कार्य और कारणपनके अभाव होने पर भी वस्तुत्व कहांसे ठहर सकेगा? जैसे कि किसीका कार्यकारण न होनेसे गधाका सींग कोई वस्तु नहीं है। जो सभी प्रकारोंसे कार्यरूप या कारणरूप नहीं है उसको वस्तुपना असिद्ध है जैसे कि सांख्योंका माना गया कूटस्थ आत्मा अथवा आपका माना हुआ पदार्थोंके एकक्षणस्थायीपनेका एकान्त अवस्तु है। अर्थक्रियाको न कर सकने या अर्थक्रिया न होनेके कारण नित्य, कूटस्थ और क्षणिक एकान्तमें अन्तर होनेका असम्भव है। अर्थात् जो किसीका कार्य नहीं है अथवा—किसीका कथंचित् कारण जो नहीं है वह परमार्थरूप पदार्थ नहीं है।

ननु च सदपि कार्यत्वं कारणत्वं वा वस्तुत्वस्वरूपं न सम्बन्धोऽद्विष्ठत्वात्, कार्यत्वं कारणे हि न वर्तते कारणत्वं वा कार्ये येन द्विष्ठं भवेत्, कार्यकारणभावस्तयोरेको वर्तमानः सम्बन्ध इति चेन्न तस्य कार्यकारणाभ्यां भिन्नस्याप्रतीतेः सतोपि प्रत्येकपरिसमाप्त्या तत्र वृत्तौ तस्यानेकत्वापत्तेः, एकदेशेन वृत्तौ सावयवत्वानुषक्तेः सावयवेष्वपि वृत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगस्य तदवस्थत्वादनवस्थानावतारात्। कार्यकारणान्तराले तस्योपलम्भप्रसंगाच्च ताभ्यां तस्याभेदेऽपि कथमेकत्वं भिन्नाभ्यामभिन्नस्य भिन्नत्वविरोधात्। स्वयमभिन्नस्यापि भिन्नार्थैस्तादात्म्ये परमाणोरेकस्य सकलार्थैस्तादात्म्यप्रसंगादेकपरमाणुमात्रं जगत् स्यात् सकलजगत्स्वरूपो वा परमाणुरिति भेदाभेदैकान्तवादिनोरुपालम्भः स्याद्वादिनस्तथानभ्युपगमात्। कार्यकारणभावस्य हि सम्बन्धस्याबाधिततथाविधप्रत्ययारूढस्य स्वसम्बन्धिनो वृत्तिः कथंचित्तादात्म्यमेवानेकान्तवादिनोच्यते स्वाकारेषु ज्ञानवृत्तिवत्।

फिर भी बौद्ध अनुज्ञा करते हुए उलाहना देते हैं कि कार्यत्व और कारणत्व ये सद्भूत होते हुए भी वस्तुस्वरूप तो है, किन्तु सम्बन्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि आप जैनोंने सम्बंध दो आदिमें रहनेवाला माना है और वे दोमें नहीं ठहरते हैं। कार्यपना कारणमें नहीं है और कारणपना कार्यमें नहीं ठहरता है, जिससे कि वह दोमें ठहर जाता। यदि कोई सम्बन्धवादी यों कहे कि उन दोनोंमे वर्त रहा एक कार्यकारणभाव नामका संबंध हो जायगा। बौद्ध कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि कार्य और कारणोंसे भिन्न होते हुए उस कार्यकारणभावकी प्रतीति नहीं हो रही है। यदि आप जैनोंके कहनेसे उनमें कार्यकारणभावको विद्यमान भी मान लें तो भी उस कार्यकारणभाव सम्बन्धकी उन कार्य और कारणोंमें प्रत्येकमें परिपूर्णरूपसे वृत्ति मानी जायगी? तब तो वह सम्बन्ध अनेकपनको प्राप्त हो जायगा। क्योंकि जो पदार्थ एक ही समय अपने पूरे शरीरसे दोमें रहता है, वह एक नहीं है। वस्तुतः वे दो हैं। हां! यदि आप जैन उस मध्यवर्ती एक सम्बन्धको कुछ एक देशसे कारणमें और दूसरे एक देशसे कार्यमें वर्तनेवाला मानोगे तो अनेकपनका

प्रसंग तो दूर हो जायगा, किन्तु उस सम्बन्धको अवयवसहितपनेका प्रसंग हो जायगा। जो सावयव है, वही एक एक भागसे अनेकोंमें ठहर सकता है। जैसे कि पांच अंगुली और एक हथेलीवाला [illegible] एक एक देशसे पांच अंगुली और हथेलीवाले दक्षिण पाणिपर संयुक्त हो जाता है। तब तो फिर उन एक एक देशस्वरूप अपने अवयवोंमें भी अवयवीकी एक देशसे ही वृत्ति मानी जायगी तो फिर भी प्रकरणप्राप्त प्रश्न उठाना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अतः अनवस्था दोष उतर आता है। दूसरी बात यह है कि कार्य और कारणके मध्यमें रहनेवाले उस कार्यकारणभावके उपलम्भ होनेका प्रसंग होवेगा। जैसे कि दो कपाटोंके मध्यमें सांकल दीखती है किन्तु धूम और अग्निके मध्यमें रहता हुआ कार्यकारण भाव तो दीखता नहीं है। अन्यथा बालक या पशुको भी धूम, अग्निके समान वह दीखना चाहिये था। उन कार्य और कारणोंसे उस सम्बन्धका अभेद माननेपर भी वह सम्बन्ध भला एक कैसे हो सकता है? जो दो भिन्न पदार्थोंसे अभिन्न है, उसको एकपनका विरोध है। दोसे अभिन्न दो ही होंगे। स्वयं अभिन्न (एक) होते हुए भी पदार्थका यदि भिन्न अर्थोंके साथ तादात्म्य माना जायगा, तब तो एक परमाणुका भी सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ तादात्म्य हो जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें पूरा जगत् केवल एक परमाणुस्वरूप हो जायगा। अथवा एक परमाणु ही सम्पूर्ण जगत्स्वरूप बन बैठेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार भेद एकान्त या अभेद एकान्तको माननेवाले दोनों वादियोंकी ओरसे दिया गया उलाहना उन हीके ऊपर लागू होता है। जैनोंके ऊपर नहीं। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां तिस प्रकार एकान्त नहीं माने गये हैं। अनेकान्तवादी तो यों कहते हैं कि तिस प्रकारके बाधारहित ज्ञानोंमें आरूढ होरहे कार्यकारणभाव नामक सम्बन्धकी अपने प्रतियोगी, अनुयोगी, रूप सम्बन्धियोंमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धरूप ही वृत्ति है। जैसे कि बौद्धोंने ज्ञानकी अपने आकारोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूप वृत्ति मानी है। अर्थात् ज्ञान एक होकर भी अनेक आकारोंमें वर्त्तता हुआ जैसे माना गया है, वैसे ही एक सम्बन्ध भी अनेक सम्बन्धियोंमें कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्धसे वर्त्त रहा है।

कुतोऽनेकसम्बन्धितादात्म्ये कार्यकारणभावस्य सम्बन्धस्यैकत्वं न विरुध्यते इति चेत्। नानाकारतादात्म्ये ज्ञानस्यैकत्वं कुतो न विरुद्ध्यते? तदशक्यविवेचनत्वादिति चेत् तत एवान्यत्रापि कार्यकारणयोर्हि द्रव्यरूपतयैकत्वात् कार्यकारणभावस्यैकत्वमुच्यते न च तस्य शद्धे विवेचनत्वं मृद्द्रव्यात् कुशूलघटयोर्हेतुफलभावेनोपगतयोर्द्रव्यान्तरं नेतुमशक्तेः। क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः।

जैनोंके प्रति बौद्ध पूंछते हैं कि अनेक सम्बन्धियोंके साथ तदात्मकपना हो जानेपर कार्यकारणभाव सम्बन्धका एकपना कैसे नहीं विरुद्ध होता है? देखो, सम्बन्धी एक आकाशके साथ तादात्म्य रखता हुआ परम महापरिणाम एक है और अनेक शुद्ध आत्माओंमें तादात्म्य सम्बन्धसे वर्त्तनेवाले

केवलज्ञान अनेक हैं। इसी प्रकार कार्य और कारण इन दो सम्बन्धियोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे ठहरने-वाला कार्यकारणभावसम्बन्ध भी दो हो जावेंगे, इस प्रकार कटाक्ष करनेपर तो हम जैन भी पूंछते हैं कि आप बौद्धोंके यहां नील, पीत, आदि अनेक आकारोंमें तादात्म्यसे वृत्ति होने पर ज्ञानका एकपना क्यों नहीं विरुद्ध होता है ? इस पर यदि आप बौद्ध यों उत्तर दें कि उस एक ज्ञानका उसके अनेक आकारोंमेंसे पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है। तब तो हम जैन भी वही उत्तर देदेंगे कि तिस ही कारण दूसरे स्थल यानी सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है कि एक कार्य-कारणभाव सम्बन्धका दो आदि सम्बन्धियोंमेंसे पृथक् करना अशक्य है। जैसे कि दो पदार्थोंमें द्वित्व संख्या अकेली होकर तदात्मक ठहर जाती है। वैशेषिकोंने भी द्वित्व या त्रित्व संख्याका पर्याप्ति सम्बन्धसे दो या तीन द्रव्योंमें ठहरना माना है। इस विषयमें जैन सिद्धान्त ऐसा है कि कार्य और कारणके नियम करके द्रव्यरूपपनेसे एक होनेके कारण कार्यकारणभाव संबंधका एकपना कहा है। उस सम्बन्धका शब्दके निमित्तसे पृथक्करण नहीं होता है। द्रव्यपनेसे दोनों एक हैं। घटकी पूर्व-वर्ती पर्याय कुशूल हेतु है और उत्तरवर्त्ती पर्याय घट उसका फल है। इस ढंगसे स्वीकार कर लिये गये कुशूल और घटकी पट, पुस्तक, आदि दूसरे द्रव्योंमें प्राप्त करानेके लिये शक्ति नहीं है। क्योंकि आगे पीछे क्रमसे होने वाली पर्यायोंमें एकद्रव्य नामक सम्बन्धसे उपादान, उपादेयपनका कथन किया गया है। एक द्रव्यकी पूर्वसमयवर्ती पर्याय उपादान कारण है और उत्तरसमयवर्त्ती पर्याय उपादेय कार्य है, ऐसा श्रीकार्त्तिकेय स्वामी और श्री समन्तभद्र स्वामी आदि महर्षिओंने कहा है। अतः ऐसे प्रकारका कार्यकारणभाव जैनसिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं है। एक द्रव्यकी पर्यायें होनेके कारण उपादेय कार्यकी उपादान कारणके साथ एकद्रव्यप्रत्यासत्ति है। यह सिद्धान्त पुष्ट होचुका है।

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्या-सत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः, यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितर-त्कार्यमिति प्रतीतम्।

यहां किसीका प्रश्न है कि घट, पट, आदि कार्योंका अपने सहकारी कारण कुलाल, दण्ड, तुरी, वेमा, आदि सहकारी कारणोंके साथ वह पूर्वोक्त कार्यकारणभाव कैसे ठहरेगा ? क्योंकि एक द्रव्यकी पर्यायें न होनेके कारण एक द्रव्य नामके सम्बन्धका तो अभाव है अर्थात् एक द्रव्यकी जो कतिपय पर्यायें हैं, उनमें एकद्रव्य नामका साक्षात् सम्बन्ध होता है। जैसे कि एक गुरुके अनेक चेलोंमें परस्पर एकगुरुपना सम्बन्ध है अथवा एक माताके अनेक पुत्रोंमें एकोदरत्व या सहोदरत्व सम्बन्ध है। ये परम्परासे होनेवाले सम्बन्ध एकद्रव्य सम्बन्धसे न्यारे हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कालप्रत्यासत्ति नामके विशेष सम्बन्धसे सहकारी कारण और कार्योंमें उस कार्यकारणभाव सम्बन्धकी कार्यसिद्धि होना मानते हैं जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न हो

जाता है, वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है, इस प्रकार कालिकसम्बंध सबको प्रतीत हो रहा है। अतः सहकारी कारणोंके साथ कार्यकी कालप्रत्यासत्ति बन गयी।

न चेदं सहकारित्वं क्वचिद्भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात्। संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ। यदि पुनर्यावत्क्षेत्रं यद्यद्यस्योत्पत्तौ सहकारिदृष्टं यथाभावं च तत्तावत्क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्रभावप्रत्यासत्तिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते तदा न दोषो विरोधाभावात्।

यह सहकारीकारणपना कहीं भावप्रत्यासत्ति अथवा क्षेत्रप्रत्यासत्तिरूप होजाय सो नहीं समझना। क्योंकि नियम नहीं है। निकटदेशवाले चक्षुको भी रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारीपना देखा जाता है तथा सोनेके स्वभावरूप नहीं किन्तु लोहेके बने हुये संडासी, हथोडा, निहाई, आदिको सोनेके कडेकी उत्पत्तिमें सहकारीपना देखा जाता है। [illegible] कार्य और कारणका एक क्षेत्रपना नहीं है। शरीरके एक देशमें चक्षु है और संपूर्ण आत्मामें रूपज्ञान है, ऐसे ही संडासी और खडुआका भी सूक्ष्मरूपसे विचारनेपर एकक्षेत्र नहीं बनता है, तथा भावसम्बन्ध भी नहीं है। पुद्गलका परिणाम चक्षु है और चेतनका परिणाम रूपज्ञान है एवं सोनेका कडा है और संडासी आदि लोहेके भाव हैं। अतः इनमें भाविकसम्बन्ध या क्षैत्रिक सम्बन्ध न होकर कालिकसम्बन्ध ही मानना चाहिये। हां, फिर यदि इतना व्यापक विचार होय कि जितने लम्बे चौडे क्षेत्रमें और जिस प्रकारके स्वभावका अतिक्रमण न कर जो कारण जिस कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण होता हुआ देखा गया है वह कारण उतने लम्बे चौडे और उस प्रकारके परिणामोंके अनुसार ही सब स्थलोंपर कार्यकारी है। इस कारण क्षेत्रप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति भी नियत होरही हैं। वे कार्यमें सहकारीपनकी नियोजक कहीं जातीं हैं, तब तो हम भी कोई दोष नहीं मानते हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार इस व्यवस्थामें कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—उन्हीं आकाशके प्रदेशोंमें अन्यून अनतिरिक्त रूपसे कार्य और कारणोंका होना भले ही क्वचित् उपादान उपादेयोंमें मिल जाय, किन्तु सहकारी और कार्योंमें मिलना दुःसाध्य है। तैसे ही उस एक ही भावपरिणामसे अविभागप्रतिच्छेदोंकी ठीक संख्यामें सम्बन्धियोंका मिलना भी कष्टसाध्य है। अतः दो हाथ भूमिमें बैठे हुये कुलाल और घटका उतना लंबा चौडा एकक्षेत्र कहा जाता है। पचास हाथ लम्बे एक अवयवी कपडेके साथ कोरियाका या सूर्यके साथ कमलका इतना बडा एक क्षेत्र कहा जायगा। ऐसे ही यथासम्भव भावोंमें भी संख्या, परिणाम, जाति, आदिकी समानताको लगाकर भाव सम्बन्ध करलेना चाहिये। पदार्थोंके परिणाम और विवक्षाके अनुसार थोडीसी न्यूनता, अधिकता, सहन करनी पडती है। अतः योग्यताको देखकर कार्य और कारणोंमें क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति भी कहीं कहीं लगालेना।

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धोन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धं। न चात्रसाध्यसाधनभावस्य व्यवहारनयादाश्रयणे कथंचिदसम्भव इति सूक्तं साधनत्वमधिगम्यमर्थानां तदपलपंतोऽसदुक्तय एव इत्याह।

तिस कारण इस प्रकार व्यवहारनयका वस्तुस्थितिके अनुसार भले ढंगसे आश्रय लेनेपर संयोग, समवाय, विशेषण विशेष्य, गुरुशिष्यत्व आदि सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कार्यकारण भाव सम्बन्ध भी प्रतीतियोंसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है, किन्तु फिर कल्पनाओंसे गढ लिया गया नहीं है। क्योंकि सभी प्रकारोंसे निर्दोष सिद्ध हो रहा है। हां! त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती सम्पूर्ण पदार्थोंके सम्पूर्णभेदोंको एक सत्पनेसे या द्रव्यपनेसे एकपना रूपमें घेरनेवाली संग्रहनय और सूक्ष्म या स्थूल एक ही पर्यायको विषय करनेवाली ऋजुसूत्र नयका सहारा लेनेपर तो कोई भी किसीका सम्बन्ध नहीं है। कोरी कल्पनायें चाहें जैसी कर लो, जो कि हेय हैं। और केवल कल्पना के अतिरिक्त (सिवाय) कोई भी किसीका सम्बन्धी नहीं है। सब अपने अपने स्वभावोंमें लीन हैं। यही निश्चय नय कहता है। इस प्रकार अनेकान्तमें सम्बन्ध और असम्बन्ध सभी अविरुद्ध होकर बन जाते हैं। यहां साधनके प्रकरणमें व्यवहारनयसे साध्यसाधनभावका आश्रय करनेपर साध्यपन और साधनपनका किसी अपेक्षासे असम्भव नहीं है। इस कारण जीव, सम्यग्दर्शन, आदि पदार्थोंका किसी नियतसम्बन्धी कारणमें साधनपना जानने योग्य है। श्री उमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा था। उसको जानबूझकर छिपानेवाले बौद्ध समीचीन भाषण करनेवाले ही नहीं हैं। इसी बात को आगेकी कारिकामें ग्रन्थकार और भी स्पष्टरूपतासे कहते हैं।

मोक्षादिसाधनाभ्यासाभावासक्तेस्तदर्थिनां ।
तत्राविद्याविलासेष्टौ क्व मुक्तिः पारमार्थिकी ॥ १४ ॥
संविच्चेत्सम्विदेवेत्यदोषः सा यद्यसाधना ।
नित्या स्यादन्यथा सिद्धं साधनं परमार्थतः ॥ १५ ॥
नित्यसर्वगतात्मेष्टौ तस्याः संवित्त्यसम्भवात् ।
क्व व्यवस्थापनानंशक्षणिकज्ञानतत्त्ववत् ॥ १६ ॥

व्यवहार नयसे भी साध्यसाधन भावका अपलाप (प्रतीत कर चुकनेपर भी न मानना) यदि करोगे तो बौद्धोंके यहां उस मोक्षके अभिलाषी जीवोंको मोक्ष, ज्ञानार्जन, धनोपार्जन आदिके साधनोंका अभ्यास करनेके अभावका प्रसंग होगा। उन दीक्षा, तत्त्वज्ञान, क्रय विक्रय आदि साध-

नोंमें यदि अविद्याका विलास (खेल) इष्ट किया जायगा तो कारणोंके झूंठे होनेपर वास्तविक मोक्ष कहां हुयी ? यदि मोक्षके साधनोंको ज्ञानस्वरूप मानोगे, तब तो मोक्ष भी विशिष्ट ज्ञानस्वरूप ही होगी। इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु वह सम्वित्स्वरूप मोक्ष यदि साधनोंसे रहित है तब तो नित्य हो जावेगी। क्योंकि " सदकारणवन्नित्यम् " जो सत् होकर अपने बनानेवाले कारणोंसे रहित है, वह नित्य होता है। यदि अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे मोक्षको कारणसहित माना जायगा, तब तो बौद्धोंके यहां वास्तविकरूपसे साधन सिद्ध हो जाता है। यदि उस संवित्को अद्वैतवादियोंकी ओरसे नित्य और सर्वव्यापक आत्मारूप इष्ट किया जायगा तो उस संवित्स्वरूप मुक्तिकी सम्विति होना असम्भव है। इस कारण बौद्धोंके निरंश और क्षणक्षयी ज्ञानतत्त्वके समान ब्रह्मवादियोंकी नित्य, व्यापक, सम्विति रूप, मोक्षकी भी व्यवस्था भला कहां हुयी ? अतः मुख्यरूपसे साध्यसाधनभाव माननेपर ही मोक्ष और उसके अष्टांग साधन या श्रवण, मनन, आदिका अभ्यास होना बन सकता है। अन्यथा नहीं।

न हि क्षणिकानंशसम्वेदनं स्वतः प्रतिभासते, सर्वस्य भ्रान्त्यभावानुषंगात्। तद्वन्नित्यं सर्वगतं ब्रह्मेति न तत्सम्वेदनमेव मुक्तिः पारमार्थिकी युक्ता, ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो मुक्तिरुररीकर्त्तव्या। सा बन्धपूर्विकेति तात्त्विको बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः तयोः ससाधनत्वात्। अन्यथा कादाचित्कत्वायोगात्साधनं तात्त्विकमभ्युपगन्तव्यं न पुनरविद्याविलासमात्रमिति सूक्तं साधनमधिगम्यम्।

बौद्धोंका माना गया क्षणिक और अंश रहित सम्वेदन स्वयं अपने आप तो नहीं प्रतिभासता है। यदि सम्वेदन स्वयं प्रतिभासता होता तो सब जीवोंको उसमें भ्रान्तिके न होनेका प्रसंग हो जाता। भावार्थ—जो स्वयं प्रतिभास जाता है, उसमें बालगोपाल भी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करते हैं। अपने तीव्र दुःखवेदनके समान विना रोकटोकके मानलेते हैं। उसी सम्वेदनके समान अद्वैतवादियोंका नित्य और सर्वव्यापक परब्रह्म भी स्वयं नहीं प्रतिभासता है। इस कारण बौद्धों या अद्वैतवादिओंकी ओरसे उस सम्वित्का संवेदन होना ही वास्तविकरूपसे मुक्ति है। यह कहना भी अयुक्त है। तिस कारण क्षणिकवादी और नित्यवादी दोनोंको सम्पूर्ण कर्मोंका प्रागभावके साथ प्रकृष्टतासे मोक्षण हो जाना ही मुक्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह मोक्ष तो बन्धपूर्वक ही होगी। क्योंकि पहिले बन्धा हुआ ही पीछे मुक्त होता है। इस कारण बन्धतत्त्व भी वास्तविक स्वीकार करना चाहिये। वे बन्ध और मोक्ष दोनों अपने उत्पादक कारणोंसे सहित है। अन्यथा यानी उनको यदि कारणसहित न माना जायगा तो कभी कभी होनेपनका अयोग हो जायगा अर्थात् जिस पदार्थका कोई कारण नहीं है, वह या तो नित्य है अथवा असत् है। किन्तु बन्ध और मोक्ष सत् होते हुए व्यक्तिरूपसे कभी कभी किसीके होते हैं। अतः वे कारणसहित हैं। यहांतक साध दिये अधिगमक साधनको वास्तविक स्वीकार कर लेना चाहिये। फिर वह केवल

अविद्याका विलास ही नहीं है, जैसा कि बौद्धोंने कहा था। इस प्रकार साधनज्ञानसे जानने योग्य साधनका श्रीउमास्वामी महाराजने सूत्रमें बहुत अच्छा निरूपण किया है। अर्थात् बौद्ध, अद्वैतवादी आदि सभीको साधन जानने योग्य है। तभी वस्तुके तलको स्पर्श करनेवाला ज्ञान हो सकेगा। विना साधनको जाने ऊपरी टटोलसे ठोसज्ञान नहीं होने पाता है।

आधाराधेयभावस्य पदार्थानामयोगतः।
तत्त्वतो विद्यते नाधिकरणं किञ्चिदित्यसत् ॥ १७ ॥
स्फुटं द्रव्यगुणादीनामाधाराधेयतागतेः।
प्रसिद्धिबाधितत्वेन तदभावस्य सर्वथा ॥ १८ ॥

अब अधिगमके चौथे उपाय अधिकरणका विचार चलाते हैं। तहां प्रथम निश्चयवादीके समान बौद्धोंका कहना है कि भूतल, घट, चौकी, पुस्तक, आत्मा, ज्ञान, आदि पदार्थोंके आधार आधेय भावका वस्तुतः अयोग है। अतः जगत्में वास्तविकरूपसे कोई किसीका अधिकरण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कथन झूंठा है। क्योंकि द्रव्यगुण, जातिव्यक्ति, आम्रवृक्ष, आदि पदार्थोंका स्पष्टरूपसे आधार आधेयभाव जाना जा रहा है। अतः उस अधिकरणका अभाव सभी प्रकारकी लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे बाधित है। यहां दो अनुमान बना लेना। तब पहिले अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष या बाधितहेत्वाभास हो जायगा।

न हि द्रव्यमप्रसिद्धं गुणादयो वा प्रत्यभिज्ञानादिप्रत्ययेनाबाधितेन तन्निरूपणात्। नाप्याधाराधेयता द्रव्यगुणादीनामप्रसिद्धा यतः सर्वथाधिकरणमसदिति पक्षः प्रसिद्धिबाधितो न स्यात्। हेतुश्चासिद्धः पदार्थानामाधाराधेयभावस्य विचार्यमाणस्यायोगादिति। स्थाल्यां दधि पटे रूपमिति तत्प्रत्ययस्य निर्बाधस्य तत्साधनत्वात् कार्यकारणभावविशेषस्य साधकोऽयं प्रत्यय इति चेत् स एवाधाराधेयभावोऽस्तु। सांवृतोऽसाविति चेत् न कार्यकारणभावस्य तात्त्विकस्य साधितत्वात् तद्विशेषस्य तात्त्विकत्वसिद्धेः।

वैशेषिकोंके यहां द्रव्य पदार्थ माना ही है, किन्तु जैनोंके यहां भी द्रव्यपदार्थ अप्रसिद्ध नहीं है अथवा गुण, क्रिया, पर्याय आदिक भी अप्रसिद्ध नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, आदि बाधा रहित प्रमाणोंसे उन द्रव्य, गुण, आदिकी सिद्धिका निरूपण किया है तथा द्रव्य, गुण, आदिकोंका आधाराधेयभाव भी अप्रसिद्ध नहीं है। जिससे कि सभी प्रकारोंसे अधिकरण असत् है, यह बौद्धोंकी प्रतिज्ञा करना लोकप्रसिद्धियोंसे बाधित न होता और पदार्थोंका आधार आधेयभाव विचारा गया होकर नहीं बन पाता है, यह बौद्धोंका हेतु असिद्ध न होता। भावार्थ—प्रतीतियोंसे आधार आधेयभाव जब सिद्ध हो चुका है, तो बौद्धोंका पक्षप्रमाण बाधित

है और आधारआधेयभावके खण्डनके लिये दिया गया हेतु असिद्ध है। थाली [कुंडी] में दही है। कपडेमें रूप है, वृक्षमें आम्रफल है, आत्मामें सुख है, इत्यादि प्रकार बाधारहित प्रसिद्ध ज्ञान ही उस आधारआधेयभावके साधनेवाले हैं। इसपर कोई बौद्ध यों कहें कि ये थालीमें दही है इत्यादि ज्ञान तो विशेष कार्यकारणभावके साधक हैं। यानी पूर्वसमयकी रीती थाली दही आ जानेपर दधिसहित थालीकी उत्पादक है। घटज्ञानसे रहित आत्मा उत्तरक्षणमें घटज्ञानवाले आत्माका जनक है। आपको भी पर्यायदृष्टिसे आत्माका उत्पाद मानना अभीष्ट है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि अच्छा, वही आधार आधेयभाव हो जाओ। अर्थात् स्याद्वादियोंके मतमें कार्यकारणभावका व्याप्य आधारआधेयभाव बन जाओ! कोई क्षति नहीं। जब कि सम्पूर्ण पदार्थोंमें अर्थक्रियायें होती रहती हैं, तो सान्तर अवस्थाको छोडकर निरन्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होना या कार्यप्रागभावकी दशाके पीछे कार्य सद्भावरूप पर्याय होना अथवा और कुछ समयोंतक सदृश अर्थक्रियायें होते रहना माना जाता है। कार्यकारणभाव व्यापक है और आधाराधेयभाव व्याप्य है। चक्षुका और ज्ञानका अथवा दण्ड और घटका कार्यकारणभाव है। किन्तु आधाराधेय-भाव नहीं है। कचित् आत्मा और ज्ञान तथा आकाश और अवगाह कार्यका कार्यकारण होते हुए भी आधाराधेय भाव है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वह कार्यकारणभाव तो कल्पित है। परमार्थ नहीं, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो न कहना। क्योंकि हम वास्तविक कार्यकारणभावको अभी साध चुके हैं। इस कारण उस सामान्य और वस्तुभूत कार्यकारणभावके विशेष आधार आधेयभाव का वस्तुभूतपना सिद्ध हो जाता है।

कथं तर्हि गुणादीनां द्रव्याधारत्वे द्रव्यस्याप्यन्याधारत्वं न स्याद्यतोऽनवस्था निवार्येत। तेषां वा द्रव्यानाधारत्वप्रसक्तिरिति चेत्—

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि गुण, क्रिया, आदिकोंका आधार यदि द्रव्य माना जायगा तो द्रव्यका भी अन्य आधार क्यों न होगा? और उस द्रव्यका भी तीसरा द्रव्य आधार क्यों न होगा? जिससे कि अनवस्थाका निवारण किया जा सके और यदि द्रव्यके आधारभूत अन्य द्रव्योंको न माना जायगा तो उन गुणोंका आधार भी सबसे प्रथम द्रव्य न माना जाय। यह प्रसंग होता है अर्थात् द्रव्योंके आधारोंकी कल्पना करते हुए अनवस्था होगी। और यदि तीसरी चौथी या सौवीं कोटिपर आधारान्तर न मानकर अनवस्था दोषको हटाया जायगा तो पहिलेसे ही गुणोंका आधार द्रव्य न मानना अच्छा है। बौद्धोंके इस प्रकार आक्षेप करनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं कि—

नानवस्थाप्रसंगोत्र व्योम्नः स्वाश्रयतास्थितेः।
सर्वलोकाश्रयस्यान्तविहीनस्य समंततः॥ १९॥

यहां अनवस्था दोषका प्रसंग नहीं है। क्योंकि छह द्रव्योंके समुदायरूप सम्पूर्ण लोकका आधार और सब ओर दशों दिशाओंसे अन्तरहित ऐसे आकाशको स्वयं अपना आश्रयपना सिद्ध कर दिया जाता है। अतः गुणोंके आधार द्रव्य हैं। और द्रव्योंका आधार आकाश है। सर्व व्यापक होनेसे आकाशका कोई अन्य आश्रय नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठ है। अतः तीसरी कोटिपर अवस्थिति हो जाती है। वस्तुस्थितिके अनुसार आधार आधेयपन बन गया और अनवस्था दोष भी नहीं रहा। बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार अलोकाकाशके अनंतानन्त प्रदेश भी संख्यामें परिमित हैं जो कि अक्षयअनंत जीवराशिसे अनन्तगुणी पुद्गलराशिसे भी अनन्तगुणी हैं। पोलकी नापमें पोल नहीं है। श्रीत्रिलोकसारमें द्विरूपवर्गधाराको गिनाते समय अनन्तराजू लम्बी अलोकाकाशकी श्रेणीको और प्रतराकाशको नापा है। उक्त श्रेणी और प्रतरको गुणा करदेनेसे चौकोर बरफीके समान पूरे अलोकाकाशके सर्वप्रदेश गिन लिये जाते हैं। अनन्तानन्तराजू लम्बे और उतने ही चौडे मोटे आकाशके बाहर फिर कोई पदार्थ नहीं है। आंख मीच लेनेपर तुमको कोई पूछे कि क्या दीखता है? उसका उत्तर "कुछ नहीं" यही है। कोई बालक कह देता है कि हमको तो आंख मीचनेपर काला काला दीखता है। वस्तुतः यह भ्रम है। ज्ञानाभाव है। मध्यम अनन्तानन्त प्रदेशी होनेपर भी आकाश परिमित है। केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव आकाशकी अन्तिम मर्यादाको उसी प्रकार इससे भी अधिक स्पष्ट जान रहे हैं जैसे कि हम किसी प्रासाद (हवेली) की छैऊ दिशाओंकी अन्तिम सीमाको आखोंसे देख रहे हैं या परमाणुके आकारवाली बरफीके छःऊ पैलोंको स्पष्ट जान रहे हैं। यह अनन्त आकाशका स्पष्टीकरण है।

स्वाश्रयं व्योम, समन्ततोन्तविहीनत्वान्यथानुपपत्तेः। समन्ततोन्तविहीनं तत् सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वे सत्येकद्रव्यरूपत्वात्। रूपादिपरमाणूनां रसादिपरमाणुभावरूपत्वादविरोध इति चेत् ते तर्हि रूपरसादिपरमाणवः सर्वे सकृत्परस्परं संसृष्टा व्यवहिता वा स्युः, न तावत्संसृष्टाः कात्स्न्येनैकदेशेन वा संसर्गस्य स्वयं निराकरणात्। व्यवहितत्वे तु तेषामनन्तानामनन्तप्रदेशं व्यवधायकं किञ्चिदुररीकर्तव्यं तदेव व्योम तेषामभाव इति सिद्धं सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वं व्योम्नः।

आकाश (पक्ष) अपने ही आधार ठहरा हुआ है (साध्य) क्योंकि सभी ओरसे अन्तरहितपना अन्यथा यानी स्वाश्रयपनके विना बन नहीं सकता है (हेतु)। इस हेतुको पुनः अनुमान बनाकर सिद्ध करते हैं कि वह आकार (पक्ष) सब ओरसे अन्तविहीन है (साध्य) क्योंकि सम्पूर्ण अव्यापक पदार्थोंके अभाव (भेद) स्वरूप होता सन्ता वह एकद्रव्यरूप पदार्थ है। (हेतु) बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, आदिकी परमाणुएं रस, गन्ध, आदिकी परमाणुओंके स्वभावरूप हो जाती हैं। अतः कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—आप जैन और हम बौद्ध दोनोंने निरवयव परमाणुओंको आदि मध्य और अन्तसे रहित स्वीकार किया है। फिर अन्त विहीनपना

सिद्ध करनेके लिये एकद्रव्यरूप हेतुका अव्यापक अर्थोंके अभावस्वरूप यह विशेषण क्यों दिया जाता है ? अव्यापक अर्थके भावस्वभाव होते हुए भी परमाणुओंमें अन्तविहीनता बन जाती है। कोई विरोध नहीं आता है। परमाणुका घट आदिकके समान कोई अन्त अंश नियत नहीं है। परमाणुका अपना स्वरूप ही आदि है और वही मध्य है तथा अपना पूरा शरीर ही अन्त है। " अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इन्दिये गेज्झं। जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ॥ " यह परमाणुकी परिभाषा आपने मानी है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि तब तो वे रूप परमाणुएं या रस, गन्ध, आदिकी परमाणुएं सम्पूर्ण एक ही समय क्या परस्परमें संसर्गयुक्त हैं ? अथवा अन्तरालसहित होंगे ? बताओ ! प्रथम पक्षके अनुसार वे परमाणुएं आप बौद्धोंके मतानुकूल सम्बन्धित तो नहीं हैं। क्योंकि सम्पूर्ण देशोंसे या एकदेशसे उनके संसर्ग होनेका आपने स्वयं निषेध कर दिया है। अर्थात् एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ यदि पूरे भागोंमें सम्बन्ध मान लिया जायगा तो परमाणुके बराबर द्यणुक बन जायगा। मेरु, सरसों, द्यणुक, ये सब परमाणुके बराबर हो जायेंगे। अथवा विवक्षित परमाणुका अन्य परमाणुके साथ यदि एक भागसे सम्बन्ध होना माना जायगा तो पुनः उस विवक्षित परमाणुके अनेक देशोंकी कल्पना प्रथमसे ही करनी पडेगी, तभी तो उसके एक एक भाग बन सकेंगे। और उन देशोंमें भी एक एक अंशसे पुनः संसर्ग माननेपर अनवस्था हो जायगी। अतः सम्पूर्ण परमाणुओंका एक समय सम्बन्धित होना तो बनेगा नहीं तथा द्वितीयपक्षके अनुसार उन परमाणुओंका व्यवधानसहितपना माननेपर तो उन अनन्त परमाणुओंका परस्परमें व्यवधान करानेवाला कोई अनन्त प्रदेशवाला पदार्थ स्वीकार करना चाहिये और वही हमारे यहां आकाश माना गया है। वह आकाश उन अव्यापक परमाणुओंका अभाव (भिन्न) स्वरूप है। इस प्रकार आकाशको सम्पूर्ण अव्यापकअर्थोंका अभाव-स्वरूपपना सिद्ध हो गया।

न च तस्यानन्ताः प्रदेशाः परस्परमेकशो व्यवहिता यतस्तद्व्यवधायकान्तरकल्पनायामनवस्था कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्येनाव्यवहितत्वात् अन्यथा तदव्यवधानायोगात्। भवितव्यं वाऽव्यवधानेन तेषां प्रसिद्धसत्त्वानां व्यवधानेनवस्थानात्। येन चैकेन द्रव्येण तेषां कथञ्चित्तादात्म्यं तन्नो व्योमेति तस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिरिति नासिद्धं व्योम्नो सर्वगतार्थाभावस्वभावत्वसाधनम्। ततस्तदनन्तं सर्वलोकाधिकरणमिति नानवस्था तदाधारान्तरानुपपत्तेः।

उस व्यापक अखण्ड आकाशद्रव्यके अनन्तानन्त प्रदेश परस्परमें एक एक होकर व्यवधान युक्त हैं सो नहीं समझना। जिससे कि उन आकाश प्रदेशोंका भी परस्परमें व्यवधान करानेवाले अन्य पदार्थकी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोष हो जाता। यानी आकाशके प्रदेशोंका पुनः व्यवधान करानेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है। एक ठोस आकाश द्रव्यमें उसके अनन्त प्रदेशोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध हो जानेके कारण स्वतः व्यवधान रहितपना है। अन्यथा यानी एक

द्रव्यमें तादात्म्य सम्बन्धके माने विना उन प्रदेशोंका अव्यवधान होना नहीं बन पावेगा। किन्तु अखण्ड अछिद्र द्रव्यके उन प्रदेशोंका अव्यवधान अवश्य होना चाहिये। यदि प्रसिद्ध सत्तावाले उन अनन्त प्रदेशोंका पुनः अन्य व्यवधायक पदार्थसे व्यवधान होना माना जावेगा तो अनवस्था हो जायगी अर्थात् वह दूसरा व्यवधायक पदार्थ भी लम्बा चौडा व्यापक होगा। उसके भी अनेक प्रदेशोंमें मध्यवर्ती व्यवधानको डालनेवाला तीसरा व्यवधायक माना जायगा। इस ढंगसे अनवस्था दोष है और एक द्रव्यके साथ तादात्मकपना माननेपर कोई दोष नहीं आता है। जिस एक अखण्ड द्रव्यके साथ उन अनन्त प्रदेशोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है, वही हम स्याद्वादियोंके यहां आकाश द्रव्य है। इस प्रकार उस आकाशको एकद्रव्यपनेकी सिद्धि हो गयी। इस कारण हेतुका विशेष्य दल एकद्रव्यपना आकाशरूप पक्षमें वृत्ति हो जानेसे असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। अव्यापक अर्थोंका अत्यन्ताभाव या वैशेषिक मतानुसार अन्योन्याभावस्वरूपपना भी आकाशमें साधन कर दिया है। वैशेषिकोंके यहां भूतलमें घट नहीं है, आकाशमें ज्ञान नहीं है ऐसे सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंके उच्चारण होनेपर अत्यन्ताभाव माना गया है। पट घट नहीं, आकाश आत्मा नहीं है, इस प्रकार प्रथमान्त पदोंके स्थलपर अन्योन्याभाव माना है। किन्तु जैनोंने घट, पुस्तक, पट आदि पुद्गलकी पर्यायोंमें परस्पर अन्योन्याभाव माना है। क्योंकि घट भी कालान्तरमें पटस्वरूप हो सकता है। किन्तु जो द्रव्य या पर्यायें तीनों कालोंमें जिस रूप न हो सकें उनका परस्परमें अत्यन्ताभाव स्वीकार किया है। तिस कारण सत्यन्त विशेषणसहित हेतुके पक्षमें वर्त जानेसे वह आकाश अन्त-रहित अनन्त सिद्ध हो जाता है। जो अनन्त है, वही छह द्रव्योंके समुदायरूप सम्पूर्ण लोकका अधिकरण है। अनन्त होनेके कारण ही वह स्वयं अपना भी आधार है। इस कारण अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते अनस्था दोष नहीं है। क्योंकि फिर उस आकाशके अन्य आधा-रोंकी उपपत्ति नहीं है। दूसरी तीसरी या चौथी आकाशरूप कोटिपर ही रुककर आकांक्षा शान्त हो जाती है। निश्चय नयसे देखा जाय तो सबसे छोटा परमाणु और सबसे बडा लोक या आकाश भी अपनेमें ही आप ठहरे हुए हैं। असंख्यात योजन ऊंचे लोकके नीचे लगा हुआ साठ हजार योजन मोटा वातवलय विचारा क्या कर सकता है? और फिर वातवलयको भी तो अन्य आधार चाहिये। अंगरखामें लगी हुयी गोटके समान नीचे केवल शोभाको प्राप्त हो रहा है। यदि वह आठ पृथिवियोंके नीचे या लोकके नीचे अथवा चारों ओर न भी होता तो भी अनन्त अलोकके ठीक बीचमें यह लम्बा चौडा भारी लोक डटा रह सकता था। एक प्रदेश भी इधर उधर हिल डुल नहीं पाता। किंतु आचार्य महाराजने वस्तुस्थितिके अनुसार ऊपर नीचे ठहरनेवाले पदार्थोंकी यथार्थ व्यवस्था बता दी है। गोदमें जगता हुआ बालक सोते हुए बालककी अपेक्षासे अपने शरीरको अधिक डाट रहा है, तभी तो उसका भार उतना होते हुए भी लघु प्रतीत होता है। शरीरके अंग, उपांग, धातु, उप-धातु, और मल, मूत्रोंको शरीरप्रकृति अपने बलानुसार डाटे रहती है। हां! अति रुग्ण अव-

स्थामें उनको रोके रखनेकी शक्ति न रहनेपर वे खसक जाते हैं। पानीकी गोल बूंदके समान लवण समुद्रका जल सोलह हजार योजन ऊंचा उठा हुआ डट रहा है। वेलन्धर जातिके नागकुमारोंके नगर तो नियोगमात्रको साधते हैं। अतः पदार्थोंको स्वाश्रय मानना ही आवश्यक है। फिर भी मूर्त्त, भारी, पदार्थके अधःपतनको रोकनेके लिये व्यवहार नयसे आधारकी आवश्यकता है। अनेक पदार्थ अपने अपने आधार द्रव्योंमें हैं। और " लोकाकाशेऽवगाहः " के अनुसार सर्व पदार्थ आकशमें हैं तथा आकाश स्वयं अपना आधार है।

व्योमवत्सर्वभावानां स्वप्रतिष्ठानुषंजनम्।
कर्तुं नैकान्ततो युक्तं सर्वगत्वानुषंगवत् ॥ २० ॥

आकाशके समान सभी पदार्थोंको एकान्त रूपसे स्वयं अपनेमें प्रतिष्ठित रहनेका प्रसंग करनेके लिये आपादन करना युक्त नहीं है। जैसे कि सभी पदार्थोंको आकाशद्रव्यके सदृश सर्व व्यापकपनेका प्रसंग देना समुचित नहीं है। भावार्थ—जैसे आकाशके समान सभी पदार्थ सर्व व्यापक नहीं हो सकते हैं, तैसे ही स्वप्रतिष्ठ भी नहीं हो सकते हैं। निश्चय नयके अनुसार व्यवस्थाको हम पूर्वमें कह चुके हैं। यह व्यवहार नय और प्रमाणसे आधार आधेयकी निरूपणा है। विशेष बात यह है कि त्रिलोकसारमें आकाशकी श्रेणी और प्रतरको नापा है। अतः बरफीके समान सब ओरसे चौकोर अलोकाकाश सिद्ध हो ही जाता है। यह प्रबल युक्ति है तथा वीरनन्दी-सिद्धान्त चक्रवर्तीके बनाये हुये आचारसार ग्रन्थमें तृतीयाधिकारका चौवीसवां श्लोक है कि " व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनं। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् ॥ " इससे भी अलोकाकाशका चौकोरपना आगमसिद्ध है। उसीके तेरहवें श्लोक अनुसार सबसे छोटे परमाणुका संस्थान भी चौकोर उन्होंने बताया है। " अणुश्च पुद्गलोभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः " ॥ अतः अखण्ड निरवयव परमाणु भी निरंश होता हुआ बरफीके समान छः पैलवाला चौकोर मानना चाहिये। सबसे छोटे परमाणु और सबसे बडे आकाशका संस्थान (व्यञ्जनपर्याय) सदृश है। अब इसमें कोई संशय नहीं रहा।

निश्चयनयात् सर्वे भावाः स्वप्रतिष्ठा इति युक्तं न पुनः सर्वथा व्योमवत्तेषां सर्वगतत्वामूर्त्तत्वादिप्रसंगस्यापि दुर्निवारत्वात्। सर्वद्रव्याणां सर्वगतत्वेको दोष इति चेत् प्रतीतिविरोध एवामूर्त्तत्वादिवदिति वक्ष्यामः। प्रतीत्यतिक्रमे तु कारणाभावात् सर्वमसमञ्जसं मानमेयं प्रलापमात्रमुपेक्षणीयं स्यादिति यथाप्रतीतिसिद्धमधिकरणमधिगम्यमर्थानाम्।

निश्चयनयसे सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं अपने आपमें भले प्रकारसे प्रतिष्ठित हो रहे हैं। यह कहना युक्तिपूर्ण है। किन्तु फिर सभी प्रकारसे आकाशके समान स्वाश्रित हैं। यह तो ठीक नहीं।

यदि व्यवहार नयसे भी उन पदार्थोंको स्वाश्रयपना माना जायगा तो आकाशके समान उन सभी पदार्थोंके सर्वगतपन, अमूर्त्तपन, सबको अवकाश देनापन, आदि प्रसंगोंका भी कठिनतासे निवारण हो सकेगा। यहां सांख्य यदि यों कहें कि सम्पूर्ण द्रव्योंको सर्वव्यापक हो जानेपर कौन दोष आता है ? बताओ ! ऐसा कहनेपर तो हम यह स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध होना ही महान् दोष है। जैसे कि संसारी जीव या पुद्गलको अमूर्त्तत्व साधनेमें और धर्म, अधर्म, आकाश, तथा कालको मूर्त्तपना साधनेमें प्रतीतियोंसे विरोध आता है। घट, पट, देवदत्त, इन्द्रदत्त, आदि पदार्थ अल्पक्षेत्रमें ठहरे हुए सबके द्वारा जाने जा रहे हैं। आकाशके व्यापकपने और शेष द्रव्योंके अव्यापकपनका पांचमे अध्यायमें और भी हम स्पष्ट निरूपण कर देंगे। प्रतीतियोंका अतिक्रमण करनेपर तो व्यवस्थापक कारण न होनेसे कोरे ज्ञानसे जान लिये गये सम्पूर्ण पदार्थ मान लेना अन्याय है। व्यर्थ बकवाद है। अतः ऐसा नीतिरहित कथन ग्राह्य नहीं, किन्तु उपेक्षा करने योग्य ही समझा जायगा। इस प्रकार प्रतीतियोंके अनुसार अधिकरण सिद्ध हो गया है। अतः पदार्थोंकी अधिगतिका चौथा उपाय जानने योग्य है। यहांतक अधिकरणका निरूपण हुआ। अब स्थितिका व्याख्यान करते हैं।

सदस्थिरस्वभावत्वाद्भावानां स्थितिर्नैवास्ति तात्त्विकी।
क्षणादूर्ध्वमितीच्छन्ति केचित्तदपि दुर्घटम् ॥ २१॥
निरन्वयक्षयैकान्ते सन्तानाद्यनवस्थितेः।
पुण्यपापाद्यनुष्ठानाभावासक्तेर्निरूपणात् ॥ २२ ॥

तहां बौद्ध कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अस्थिरपना होनेके कारण एक क्षणसे ऊपर किसीकी भी वास्तविक स्थिति नहीं है। इस प्रकार कोई बौद्ध इष्ट करते हैं, सो वह अस्थिरपना कठिनतासे भी घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि पाषाण, लोहा, आदि पदार्थ अनेक क्षणोंतक ठहरने वाले प्रतीत हो रहे हैं। बौद्ध लोगोंके यहां एक क्षणमें ही अन्वयरहितपनेके साथ क्षय हो जानेका एकान्त मानने पर सन्तान, समुदाय, आदिकी सुव्यवस्था नहीं हो पाती है। इस कारण क्षणिक पक्षमें पुण्यकर्म करना, पाप, मोक्ष, ऋण देना, आदि अनुष्ठान करनेके अभावका प्रसंग आता है। इसका श्रीसमन्तभद्र भगवान्ने देवागममें अच्छा निरूपण किया है।

सम्वृत्या सन्तानसमुदायसाधर्म्यप्रेत्यभावानां पुण्यपापमुक्तिमार्गानुष्ठानस्य चाभ्युपगमात् परमार्थतस्तदभावासक्तिर्नानिष्टेति चेत्, किमिदानीं सम्वेदनाद्वैतमस्तु परमार्थं सत्, निरन्वयविनश्वराणामेकक्षणस्थितीनां नानापदार्थानामनुभवात् तदपि नेति चेत् तर्हि इष्टं सन्तानादि सर्वं निरंकुशत्वात् तच्च निरन्वयक्षयैकान्ते सम्वृत्यापि न स्यात्। तथा च

निरूपितं । " सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरंकुशः । प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ " इति ।

बौद्ध यदि यों कहें कि कालिकप्रत्यासत्तिसे मान ली गयी अनेक क्षणिक परिणामोंकी लडी रूप सन्तान और दैशिक प्रत्यासत्तिसे गढ ली गयी अनेकानेक परिणामोंका समुदाय तथा समानधर्मोका कल्पित किया गया साधर्म्य एवं मर करके पुनः जन्मधारण करना रूप प्रेत्यभाव और भी पुण्य, पाप, मोक्षके मार्गोका अनुष्ठान करना इन सबको हम वस्तुको न छूनेवाली व्यवहार कल्पनासे स्वीकार करलेते हैं । अतः परमार्थरूपसे उनके अभाव हो जानेका प्रसंग हमको अनिष्ट नहीं है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते है कि इस समय क्या आप बौद्धोंके यहां सम्वेदनका अद्वैत ही परमार्थभूत पदार्थ हुआ समझा जाय । इसपर सौत्रान्तिक बौद्ध यदि यों कहें कि अन्वयरहित होकर विनाश स्वभाववाले और केवल एक क्षण है स्थिति जिनकी ऐसे अनेक घट-स्वलक्षण आत्मक परमाणुयें पटस्वलक्षण आत्मक क्षणिक सूक्ष्म असाधारण परमाणुयें आदि पदार्थोंका अनुभव हो रहा है । अतः वह सम्वेदन अद्वैत भी नहीं है । इस प्रकार कहने पर तो बौद्धोंको बाधक रहित होनेके कारण सभी सन्तान, समुदाय, आदिक पदार्थ अभीष्ट हो जावेंगे । किन्तु दूसरे ही क्षणमें द्रव्यपनेके अन्वयसे रहित होकर नाश हो जानेका एकान्त पक्ष माननेपर कल्पनासे भी वे सन्तान आदिक न बन सकेंगे और तिस ही प्रकार श्री समन्तभद्राचार्य स्वामीने देवागममें भी यह निरूपण किया है कि मालामें पुवे हुए डोरेके समान ध्रौव्यपनके एकत्वको यदि छिपाया जायगा तो बौद्ध मतमें सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, मरकर पुनः जन्म लेना, ये सभी बाधारहित होते हुए सिद्ध नहीं हो सकेंगे । भावार्थ—क्षणवर्ती पदार्थ जब समूलचूल नष्ट हो गया और द्रव्यदृष्टिसे भी वह आगे पीछे विद्यमान नहीं है । ऐसी दशामें सर्वथा न्यारे न्यारे सन्तानियोंकी सन्तान नहीं बन सकती है । जैसे कि अन्य सन्तानके सन्तानियोंका संयोजन प्रकृत सन्तानमें नहीं हो सकता है और अवयवीको नहीं मानकर क्षणिक परमाणु रूप अवयव ही माने जाते हैं । उनका कथमपि एकत्रीकरण नहीं बनना स्वीकार किया जाता है । ऐसी दशामें एकत्व परिणतिके विना समुदाय नहीं बन सकता है । तथा असाधारण या विसदृशपनेका आग्रह करनेवाले बौद्धोंके यहां सदृश परिणामरूप एकत्वके छिपानेपर सधर्मी पदार्थोंका साधर्म्य नहीं बनता है । जैसे कि सर्वथा विसदृश पदार्थोंका साधर्म्य नहीं बन पाता है । एवं दोनों भवोंमें अनुयायी एक नित्य आत्माको न स्वीकार करनेपर मरकर पुनः उत्पन्न होना भी नहीं बन पाता है और ऋण भी देने लेने तथा माता, पुत्र, ब्रह्मचर्य, आदि-पदार्थ भी अस्थिर पक्षमें नहीं बनते हैं ।

ननु च बीजांकुरादीनामेकत्वाभावेपि संतानः सिद्धस्तिलादीनां समुदायः साधर्म्यं च तद्वत्सर्वत्र तत्सिद्धौ किमेकत्वेनेति चेन्न, सर्वबीजांकुरादीनामेकसंतानत्वापत्तेः, सकलतिला-

दीनां वा समुदायसाधर्म्यप्रसक्तेः। प्रत्यासत्तेर्विशेषात्केषांचिदेव संतानः समुदायः साधर्म्यं च विशिष्टमिति चेत्, स कोन्योऽन्यत्रैकद्रव्यक्षेत्रभावप्रत्यासत्तेरिति नान्वयनिन्हवो युक्तः।

बौद्ध अपने मतका अवधारण करते हैं कि बीज, अंकुर, लघुवृक्ष आदिका एकत्व न होनेपर भी सन्तान सिद्ध होजाता है अर्थात् अंकुर अवस्थामें बीजके सर्वथा नष्ट हो जानेपर और लघुवृक्ष (पौदा) की दशामें अंकुरका नाश हो जानेपर भी एकपना माना जाता है, तभी तो उस बीजके अनुरूप फल लगते हैं तथा न्यारे न्यारे तिल, सरसों, आदिका समुदाय भी बन जाता है और तिल आदिका सादृश्य होनेसे साधर्म्य बनना भी शक्य है। प्रत्युत भेद होनेपर ही सन्तान आदिकी भले प्रकार सिद्धि होती है। तिस हीके समान सभी स्थलोंपर क्षणिक, छोटे, और विभिन्न धर्मवाले पदार्थोंके होनेपर भी उन सन्तान आदिकी सिद्धि होजायगी तो फिर द्रव्यरूप करके एकत्व माननेसे जैनोंको क्या लाभ है ? यानी एकत्व मानना व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो सभी गेंहू, जौ, चने, के बीज और अंकुर आदिकोंकी परस्पर एक सन्तान बन जानेका प्रसंग आवेगा। जैसे गेंहू और गेंहूके अंकुरका भेद है, उसी प्रकार गेंहू और जौके अंकुरका भी भेद है। फिर इनकी एकसन्तान क्यों न बन जावे ? तथा सम्पूर्ण तिल, घट, रुपया, घोडा आदिकोंका भी समुदाय बन जाना चाहिये। इसी प्रकार इनके सधर्मापन बननेका भी प्रसंग होगा, जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है। यदि आप बौद्ध यों कहे कि किसी विशेषसम्बन्धसे किन्हीं ही विवक्षित पूर्वोत्तरभावी सन्तानियोंका सन्तान बनता है और विशेषसम्बन्धके वश ही किन्हीं नियत पदार्थोंका ही समुदाय अथवा विशिष्ट साधर्म्य बनता है। अन्य तटस्थ पदार्थोंका नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह विशेष सम्बन्ध एकद्रव्यप्रत्यासत्ति, एकक्षेत्रप्रत्यासत्ति, और एकभावप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त भला अन्य कौन हो सकता है ? भावार्थ—एक द्रव्यमें उसकी भूत, वर्तमान, भविष्यत् अनेक पर्यायें तदात्मक हो रही हैं। अतः उनका एकद्रव्य सम्बन्ध होनेके कारण सन्तान बन जाता है। अन्य द्रव्यकी पर्यायें उस सन्तानमें अन्वित नहीं हो पाती हैं। और कुछ लम्बे चौडे एक क्षेत्रमें सजातीय अनेक पदार्थोंके ठहरनेपर उनका एकक्षेत्र सम्बन्ध हो जानेके कारण समुदाय बन जाता है। अन्यक्षेत्रवर्त्ती पदार्थका इस समुदायमें योग नहीं है। तथा समानरूपसे परिणमन करनेवाले पदार्थोंका एकभावप्रत्यासत्ति होनेसे साधर्म्य बन जाता है। सर्वथा भिन्नोंका नहीं। इस प्रकार बौद्धोंको ओत पोत रहनेवाले एकपनेके ध्रुव अन्वयका निह्नव करना युक्त नहीं है।

न ह्यव्यभिचारी कार्यकारणभावः सन्ताननियमहेतुः सुगतेतरचित्तानामेकसंतानत्वप्रसंगादिति समर्थितं प्राक्।

बौद्ध मतमें व्यभिचार दोषसे रहित कार्यकारणभाव सम्बन्ध तो सन्तानकी नियतव्यवस्था

करनेका हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि यों तो बुद्ध और अन्य संसारी आत्माओंके भी एक सन्तान पना बनजानेका प्रसंग होगा, इसको हम पूर्वप्रकरणमें समर्थन करचुके हैं। भावार्थ—उत्तरवर्त्ती पर्यायका पूर्वसमयवर्ती पर्याय कारण है, ऐसा निर्दोष कार्यकारणभाव जिन सन्तानियोंमें घट जाय उन पदार्थोंका सन्तान यदि माना जायगा, तब तो सर्वज्ञबुद्धके ज्ञानके कारण संसारी जीवोंके ज्ञान भी हैं। क्योंकि बौद्धोंका मत है कि ज्ञान अपने कारणोंको ही विषय करता है। बुद्धका ज्ञान संसारी जीवोंके ज्ञानको जानता है, ऐसी दशामें स्वकीय पूर्वापर भावी ज्ञानोंके समान संसारी जीवोंके ज्ञान और बुद्धके ज्ञानकी भी एक सन्तान बन जानी चाहिये जो कि आपको इष्ट नहीं है। सर्वथा भेद-वादिओंके यहां उपादान कारण या निमित्तकारण (अवयव) का विवेक भी तो क्षाणीक पक्षमें नहीं किया जासकता है। अतः व्यभिचारदोषसे रहित कार्यकारण भाव भी एकसन्तानका नियामक नहीं सम्भवता है।

नाप्येकसामग्र्यधीनत्वं समुदायैकत्वनियमनिबंधनं धूमेंधनविकारादिरूपादीनां नाना-समुदायानामेकसमुदायत्वानुषंगात् प्रतीतमातुलुंगरूपादिवत्।

और एकसामग्रीका आधीनपना भी समुदायके एकपनकी नियत व्यवस्थाका कारण नहीं हो सकता है। यों तो अनेक समुदायोंमें वर्तनेवाले धूमके रूप आदिक और गीले विकृत ईंधन आदिके रूप आदिकोंका भी एक समुदायपन होनेका प्रसंग होगा, जैसे कि प्रमाणसे जान लिये गये बिजौरा नीबूके रूप, रस, आदिका समुदाय बन जाता है। अर्थात्—आग सुलग जानेपर गीले ईंधनके रूप और धुंवेके रूप आदिकी सामग्री एक है, किन्तु उनका समुदाय न्यारा न्यारा माना जाता है। ऐसे ही क्षेत्र भूमि, जल, वायु, आतप, आदि एक सामग्रीके होते हुये भी अनेक बीज, या अंकुरोंके समुदाय न्यारे न्यारे माने जाते हैं। अतः एक सामग्रीकी अधीनता एक समुदायका कारण नहीं हो सकती है।

एतेन समानकालत्वं तन्निमित्तमिति प्रत्युक्तं। एकद्रव्याधिकरणत्वं तु सहभुवामेक-समुदायत्वव्यवस्थाहेतुरिति सत्येवान्विते द्रव्ये। तिलादिरूपादिसमुदायैकत्वनियमः साधर्म्यं न पुनर्नानाद्रव्याणां। समानहेतुकत्वादिति वार्तामात्रं, विसदृशहेतूनामपि बहुलं साधर्म्य-दर्शनात् रजतशुक्तिकादिवत्। समानपरिणामसत्त्वात् साधर्म्ये भावप्रत्यासत्तिविशेषादेव साधर्म्यं। न च समानपरिणामो नाना परिणामिद्रव्याभावे सम्भवतीति न तद्वादिनामेक-द्रव्यापह्नवः श्रेयान्।

समानकालपना तो एकसन्तानपन या एक समुदायपनका व्यवस्थापक नियम हो जायगा। यह भी इस पूर्वोक्त कथनसे खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि एक ही समयमें गेंहू, जौ, चने आदि उत्पन्न हो रहे हैं तथा देवदत्त, यज्ञदत्त, हाथी, घोडा आदि परिणमन कर रहे हैं। फिर भी इन विजातियोंका सन्तान या समुदाय इष्ट नहीं किया गया है।

हां, साथ होनेवाली पर्यायोंके एक समुदायपनकी व्यवस्थाका कारण एकद्रव्यको अधिकरण मानकर रहनापन तो है, किन्तु यह तीनों कालमें अन्वयरूपसे ठहरनेवाले द्रव्यके माननेपर ही बन सकता है, अन्यथा नहीं। और तिल, सरसों, आदिके रूप, रस, आदिकोंका न्यारा न्यारा समुदाय या सजातियोंके कथंचित् एकत्वका नियमरूप साधर्म्य भी अन्वेता क्षेत्रसम्बन्धके माननेपर बनता है। किन्तु फिर चाहे जिन अनेक द्रव्योंका तो समानधर्मधारीपना नहीं बन पाता है। यदि कोई समान हेतुवाले पदार्थोंका साधर्म्य कहे सो यह तो केवल व्यर्थ बकवाद है। क्योंकि विसदृश कारणोंसे उत्पन्न हुये पदार्थोंका भी प्रायः करके साधर्म्य देखा जाता है, जैसे कि चांदी खानसे उत्पन्न होती है और सीप जलमें उत्पन्न होती है, चांदी धातु है सीप हड्डी है। चांदी पवित्र है, सीप सदा अपवित्र है। एकेन्द्रियजाति नाम कर्मके उदयसे जीवका चांदी शरीर बना था और सीपका शरीर द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मसे बना था। किन्तु इनका चाकचक्य होनेसे साधर्म्य माना जाता है। सर्प, रज्जु, आदिका भी साधर्म्य देखा गया है। यदि समान परिणतिके विद्यमान होनेसे पदार्थोंका साधर्म्य माना जायगा तब तो एक विशेष भावप्रत्यासत्तिसे ही साधर्म्य होना इष्ट किया गया, किन्तु वह समान जातिवाला परिणाम तो देरतक एक सदृश परिणमन करनेवाले अनेक द्रव्योंके न माननेपर नहीं सम्भवता है। इस कारण उन सन्तान, समुदाय, और साधर्म्यको कहनेवाले बौद्धवादियोंको एकद्रव्यपनका अपह्नव करना कल्याणकारी नहीं है। अपना सिद्धान्त मानकर कहना और उत्तर समझना फिर आक्षेप करना आदि क्रियायें तो अनेक क्षणोंतक ठहरनेवाले ही बौद्धोंके बन सकेंगी। और तभी उनको कल्याणमार्ग प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नहीं।

प्रेत्यभावः कथमेकत्वाभावे न स्यादिति चेत् तस्य मृत्वा पुनर्भवनलक्षणत्वात्। सन्तानस्यैव मृत्वा पुनर्भवनं न पुनर्द्रव्यस्येति चेन्न, सन्तानस्यैकद्रव्याभावे नियमायोगस्य प्रतिपादनात्। कथंचिदेकद्रव्यात्मनो जीवस्य प्रेत्यभावसिद्धेः।

यदि कोई यों प्रश्न करे कि अन्वित एक द्रव्यपनेके न माननेपर भला प्रेत्यभाव क्यों नहीं बनेगा ? इसपर हमारा यह उत्तर है कि उस प्रेत्यभावका स्वरूप मरकर पुनः जन्म लेना है मरनेवाला वही एक जीव यदि जन्म लेवे तब तो प्रेत्यभाव बनता है, अन्यथा नहीं। सन्तानका ही मरकर पुनः जन्मधारण करना है फिर एक जीव द्रव्यका नहीं यह तो न कहना। क्योंकि एक द्रव्यके न माननेपर किन ही विवक्षित सन्तानियोंका ही यह पूर्वापर लडीरूप सन्तान है, इस नियमका अयोग है। इसको हम अभी स्पष्ट कह चुके हैं। वस्तुतः देखा जाय तो कथंचित् एकद्रव्यस्वरूप जीवका ही मरकर पुनः जन्म ग्रहण करना सिद्ध होता है। एक क्षणमें ही रहनेवाला सन्तानी मर तो जायगा किन्तु पुनः उसीका उत्तरकालमें जन्मधारण नहीं हो सकता है। वही बबूला नष्ट होकर पुनः बबूला नहीं हो सकता है। हां, उसका जलद्रव्य भले ही फिर बबूला पर्यायको धारण करले।

पुण्यपापाधनुष्ठानं पुनरपि संवादकर्तृदिवाकल्पनानुपसृत्यानात्वे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसक्तेर्दूरोत्सारितमेव । तत्संतानैक्ये चैकद्रव्यत्वस्य सिद्धेर्न निरन्वयक्षयैकांतस्तद्वादिभिरभ्युपगंतव्यः । ततः सर्वथा संतानाद्युपगमे द्रव्यस्य कालांतरस्थायिनः प्रसिद्धेर्न क्षणादूर्ध्वमस्थितिः पदार्थानाम् ।

फिर क्षणिकवादमें पुण्य, पाप, ऋण लेना, देना, आदि क्रियाओंका अनुष्ठान करना तो दूर फेंकदिया गया ही समझो। क्योंकि दान करनेवाला चित्त (आत्मा) तो नष्ट हो गया, स्वर्ग अन्यको ही प्राप्त होगा। ऐसे ही हिंसक अन्य है, नरकगामी दूसरा ही जीव बनेगा। ऋण लेने देनेवाले व्यक्ति भी सब बदल चुके हैं । माता पुत्रको प्रेम न कर सकेगी। परदेशी पुरुष ही स्वदेशको न लौट सकेगा। ब्रह्मचर्यव्रत लुप्त हो जायगा इत्यादि। तथा मर्दन करनेवाला पुरुष और उस क्रियाके फलको अनुभव करनेवाला आत्मा यदि भिन्न भिन्न माने जायेंगे तो कृतके नाश और अकृतके अभ्यागम दोषोंका प्रसंग होता है। जिसने शुभ अशुभ कर्म किये वह नष्ट होगया और जिसने कर्म नहीं किये थे उसको बलात्कारसे शुभ अशुभ फल भोगने पडे। परिश्रम किया किसीने और पारितोषिक प्राप्त करनेके लिए अन्यने हाथ पसार दिया। इस तुच्छताका भी कोई ठिकाना है ?। इस कारण पुण्यकर्म, पापकर्म, चाकरी, सेवाकृत्य, आदि अनुष्ठान करना सब दूर ही फेंक दिया जा चुका समझो। यदि कर्त्ता और फलके अनुभविता की सन्तान यहांसे वहांतक लम्बी एक मानी जायगी, तब तो एकद्रव्यपनकी सिद्धि हो जाती है। इस कारण अन्वयरहित होते हुये एक क्षण में ही नष्ट हो जानेका एकान्त तो उसको कहनेवाले बौद्धों करके नहीं स्वीकार करना चाहिये। तिस कारण सभी प्रकारसे सन्तान, समुदाय आदिके स्वीकार करनेपर कालान्तरतक ठहरनेवाले द्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो जाती है। अतः एक क्षणमें ऊपर पदार्थोंकी स्थिति न होना नहीं सिद्ध हो सका। श्रीराजवार्तिकमें जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति, यह क्रम साधा है।

यथा चैकक्षणस्थायी भावो हेतोः समुद्भवेत् ।
तथानेकक्षणस्थायी किन्न लोके प्रतीयते ॥ २३ ॥

जिस प्रकार कि एक क्षणतक ठहरनेवाला पदार्थ अपने हेतुसे उत्पन्न होता है यह बौद्धोंने माना है तिसी प्रकार हेतुसे उत्पन्न होता हुआ अनेक क्षणोंतक ठहरनेके स्वभाववाला पदार्थ भी क्यों न माना जाय, जो कि लोकमें प्रमाणों द्वारा प्रतीत हो रहा है। अर्थात्—कारणोंसे एक क्षण स्थायी पदार्थोंकी उत्पत्तिके समान अनेक समयोंतक ठहरनेवाले कंकण, कलश, कटोरा, आदि पदार्थ उत्पन्न हो रहे लोकमें देखे जाते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो दीपकलिका, बिजली, बबूला, आदि पदार्थ भी नानाक्षणोंतक ठहरकर आत्मालाभ करते हुये ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रथमक्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें आत्मलाभ करता हुआ ही पदार्थ अर्थक्रियाको कर सकता

है। और कतिपय अर्थक्रियायें तो कारण अर्थके अनेक क्षणतक ठहरनेपर ही हो पाती हैं। भोगभूमिओंके मनुष्योंमें नवीन सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता उनंचास ४९ दिनमें होती है। कर्मभूमिके मनुष्यको आठ वर्ष पीछे ही संयम धारणकी योग्यता होती है। बांस, केला, अश्वतरी (जिसका पेट फाडकर बच्चा उत्पन्न होता है ऐसी खिच्चरी) बूढेपनमें फलते हैं। " अली बली कर्कशवेणुरम्भा विनाशकाले फलमुद्वहन्ति " ऐसा शुद्ध अशुद्ध खण्डपद्य स्मृत रह गया है।

ननु प्रथमे क्षणे यथार्थानां क्षणद्वयस्थास्नुता तथा द्वितीयेऽपीति न कदाचिद्विनाशः स्यादन्यथा सैव क्षणस्थितिः प्रतिक्षणं स्वभावभेदात्ततो न कालान्तरस्थायी भावो हेतोः समुद्भवन् प्रतीयतेऽन्यत्र विभ्रमादिति न मंतव्यं, क्षणद्वक्षयस्थायिनां तृतीयादिक्षणस्थायित्वविरोधात्। प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षायामिव द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षायां क्षणद्वयस्थास्नुत्वाविशेषात् प्रतिक्षणं स्वभावभेदानुपपत्तेः कालान्तरस्थायित्वसिद्धेः।

बौद्ध अवधारण करते हैं कि आप जैन अनेक क्षण तो क्या पदार्थोंका दो क्षणतक भी ठहरना सिद्ध नहीं कर सकेंगे। सूक्ष्मतासे विचार करनेपर एकक्षणतक ही पदार्थोंका ठहरना प्रमाण सिद्ध होगा। देखिये, जैसे पहिले क्षणमें पदार्थोंका दो क्षणतक ठहरना रूप स्वभाव है, तिसी प्रकार दूसरे क्षणमें भी वही दो क्षणतक ठहरना स्वभाव स्थित रहेगा एवं तीसरे समयमें भी तीसरे और चौथे समयोंमें ठहरनारूप दो क्षणस्थायित्व स्वभाव रहेगा। इसी प्रकार चौथे, पांचवे, इन दो समयोंमें ठहरना स्वभाव विद्यमान है। इस ढंगसे तो पदार्थका कभी भी विनाश न हो सकेगा, जैसे कि आज मूल्यसे और कल ऋणसे देनेवाले व्यापारीको कभी उधार देनेका अवसर नहीं प्राप्त होता है। अन्यथा यानी दूसरे, तीसरे, आदि क्षणोंमें दो समय तक ठहरनारूप स्वभाव न माना जायगा तब तो वही एक क्षणतक ठहरना सिद्ध हुआ। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें पदार्थका स्वभाव भिन्न भिन्न है। तिस कारण हेतुओंसे अधिक समयतक ठहरनेवाला उत्पन्न हो रहा पदार्थ प्रतीत होता है, यह कहना ठीक नहीं है। भ्रान्तज्ञानके अतिरिक्त यह कोई समीचीन प्रतीति नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि दो क्षणतक स्थित रहना स्वभाववाले पदार्थोंका तीसरे, चौथे, आदि क्षणोंमें स्थायीपनका विरोध है। पहिले क्षणमें जैसे दूसरे क्षणकी अपेक्षा होते सन्ते दो क्षणस्थापीपन है, वैसे ही दूसरे क्षणमें पहिले क्षणकी अपेक्षा होते सन्ते दो क्षणतक ठहरनापन स्वभाव विद्यमान है, कोई अन्तर नहीं है। बस, आगे नहीं चलना चाहिये। ऐसे ही तीन क्षण या दिन भर आदितक ठहरने वालोंमें लगा लेना। अतः प्रत्येक क्षणमें स्वभावोंका सर्वथा भेद मानना नहीं बनता है। इस कारण पदार्थोंका अनेक अन्य समयोंमें ठहरनापन शील सिद्ध हो जाता है।

ननु च प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षं क्षणद्वयस्थायित्वमन्यदेव, द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षात्तत्तोऽस्त्येव प्रतिक्षणं स्वभावभेदोऽतः क्षणमात्रस्थितिः सिध्येत्सर्वार्थानामिति वदंतं प्रत्याह।

बौद्ध अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि दूसरे क्षणमें भूत पहिले क्षणकी अपेक्षा रखनेवाले दो क्षणतक ठहरनेरूप स्वभावसे पहिले क्षणमें भविष्य दूसरे क्षणकी अपेक्षा रखता हुआ दो क्षणस्थायीपन स्वभाव तो न्यारा ही है। तिस कारण प्रत्येक क्षणमें पदार्थोंका स्वभावभेद मानना ही आवश्यक है। इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंकी केवल एक समयतक ही स्थिति सिद्ध हो सकेगी। इस प्रकार कहने वाले बौद्धके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

क्षणमात्रस्थितिः सिद्धैवर्जुसूत्रनयादिह ।
द्रव्यार्थिकनयादेव सिद्धा कालांतरस्थितिः ॥ २४ ॥

पदार्थोंके अन्तरंगमें इतनी सूक्ष्मरीतिसे प्रवेश कर बौद्ध जन यदि प्रत्येक क्षणमें स्वभावोंका भेद इष्ट करते हैं तो ऐसी दशामें सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे यहां केवल एक क्षणतक ही पर्यायोंका ठहरना सिद्ध ही है। हां, द्रव्यार्थिक नयसे ही कालान्तरतक ठहरना सिद्ध किया जा रहा है। भावार्थ—जैसे आठसौ योजन ऊपर प्रकाश रहे, सूर्यका भूमितक आतप परिणाम आपके परतोंमें प्रत्येक प्रदेशपर घामका तरतमरूप परिणमन है, तथा आकाशमें भरे हुये चमकनारूप परिणमने योग्य अनन्त पुद्गलस्कन्धोंपर हजारों योजनोंसे तिरछा प्रकाश डालनेवाले सूर्यमें प्रत्येक प्रदेशवर्ती स्कन्धोंके चमकानेवाले अनेक स्वभाव हैं। ' यावन्ति कार्याणि वस्तुनि प्रत्येकं तावन्तः स्वभावभेदाः ' वैसे ही पहिले क्षणमें दूसरे क्षणकी अपेक्षा और दूसरे क्षणमें पहिले क्षणकी अपेक्षासे दो क्षण ठहरनापन न्यारा ही है। तीन, चार, आदि क्षणतक ठहरनेवाले पदार्थोंमें तो प्रत्येक क्षणवर्त्ती ये स्वभाव चक्रव्यूह होकर रेशमकी गांठके समान इतने बन बैठेंगे जिनकी कि गणना करना भी कष्टसाध्य होगा। तभी तो जैनसिद्धान्तके अनुसार ऋजुसूत्र नयसे मान लिये क्षणिकपनका अनुसरण करना बौद्धोंका उपयुक्त है, किन्तु यह वस्तुका एकदेश है। पूर्णवस्तु तो नित्य, अनित्य, आत्मक है। अतः द्रव्यार्थिकनयसे अधिककालतक ठहरना भी वास्तविक है।

न हि वयमृजुसूत्रनयात्प्रतिक्षणस्वभावभेदात् क्षणमात्रस्थितिं प्रतीक्षयामः ततः कालान्तरस्थितिविरोधात् । केवलं यथार्जुसूत्रात्क्षणस्थितिरेव भावः स्वहेतोरुत्पन्नस्तथा द्रव्यार्थिकनयात्कालांतरस्थितिरेवेति प्रतिचक्ष्महे सर्वथाप्यबाधितप्रत्ययात्तत्सिद्धिरिति स्थितिरधिगम्या ।

हम जैन ऋजुसूत्रनयसे प्रत्येक क्षणमें स्वभावभेद होनेके कारण सम्पूर्ण पर्यायोंकी केवल एक क्षणतक ठहरनेकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं। उस ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे दीर्घ कालतक ठहरनेका विरोध है। अर्थात् बौद्धोंके माने गये क्षणिकत्वके हमें उपेक्षा नहीं है या क्षणिकपनके जाननेमें हम देरी नहीं लगा रहे हैं, टालटूल नहीं करते है। अथवा अन्य अधिककालोंतक ठहरनेका विरोध होजायगा, इस भयसे हम ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा पदार्थोंके एक क्षणतक ठहरनेकी उपेक्षा नहीं

करते हैं। हम स्याद्वादी तो पहिलेसे ही ऋजुसूत्र नयसे पदार्थोंका क्षणिकपन व्यवस्थित करचुके हैं। हां, केवल इस प्रकरणमें यह कहना है कि जैसे ऋजुसूत्र नयसे एक क्षणतक ही ठहरनेवाला पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, तिसी प्रकार द्रव्यार्थिकनयसे जाना गया अधिक काल ठहरनेवाला पदार्थ ही (भी) अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है यह हम व्यक्त रूपसे कहते हैं। सभी प्रकारोंकरके बाधारहित प्रमाणोंसे उस कालांतरस्थायी ध्रुव पर्यायकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार पदार्थोंकी अधिगतिका पांचवा उपाय स्थिति समझलेना चाहिये।

विश्वमेकं सदाकाराविशेषादित्यसंभवि।
विधानं वास्तवं वस्तुन्येवं केचित्प्रलापिनः ॥२५॥
सदाकाराविशेषस्य नानार्थानामपन्हवे।
संभवाभावतः सिद्धेर्विधानस्यैव तत्त्वतः ॥ २६ ॥

अब छठे विधानकी सिद्धिका प्रसंग उठाते हैं। प्रथम ही अद्वैतवादी भेद या प्रकारोंके निषेधार्थ अनुमान कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार एकस्वरूप है। क्योंकि सबमें सत् आकारपना विशेषताओंसे रहित होकर वर्त्तरहा है। इस कारण वस्तुमें वास्तविक रूपसे भेदोंकी गणना असम्भव दोषसे युक्त है। इस प्रकार कोई ब्रह्माद्वैतवादी व्यर्थ बकवाद कर रहे हैं। क्योंकि अनेक अर्थोंके न माननेपर सत् आकारोंकी अविशेषता होनेका सम्भव नहीं है। अतः वास्तविक रूपसे प्रकारोंकी की ही सिद्धि हो जाती है। अर्थात्—सामान्य रूपसे सत्पना विशेष भेदोंके होनेपर ही सम्भवता है। अतः विधान सिद्ध होजाता है। " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

सर्वमेकं सदविशेषादिति विरुद्धं साधनं, नानार्थाभावे सदविशेषस्यानुपपत्तेस्तस्य भेदनिष्ठत्वात्।

विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ सामान्यरूपसे सत् होनेके कारण एक हैं, इस अनुमानमें दिया गया सदविशेष यह हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। अनेक अर्थोंको माने विना सत्तारूपसे अविशेषपना नहीं बन पाता है। क्योंकि वह सत्का सामान्यपन विशेषस्वरूप भेदोंमें स्थित हो रहा है। अतः अभेदको सिद्ध करने चले थे और भेद सिद्ध हो जाता है। प्रकृत हेतु तो एकत्व साध्यसे विपरीत अनेकपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला होनेसे विरुद्ध हेतु है।

ननु च सदेकत्वं सदविशेषो न तत्साधर्म्यं यतो विरुद्धं साधयेदिति चेन्न, तस्य साध्यसमत्वात्। को हि सदेकमिच्छन् सर्वमेकं नेच्छेत्।

अद्वैतवादी अपने मतका अवधारण करते हैं कि सत्तापनसे अविशेषताका अर्थ तो सत्तारूपसे एकपन है। उस सत्तारूपसे सबमीपन उसका अर्थ नहीं है। जिससे कि हमारा हेतु साध्यसे विरुद्ध

अनेकत्वको साधन करा देवें। भावार्थ—सधर्मापन तो अनेकोंमें ही घटता है। किन्तु सत्ताका एक पना तो एकत्वको ही पुष्ट करेगा। अतः हेतु सत् है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह हेतु साध्यसम है। जो ही एकपना साध्य है, वही सत् अविशेषका अर्थ सत्तारूपसे एकपना है। हेतु और साध्य एकसे होगये। जब साध्य असिद्ध है तो हेतु भी असिद्ध हुआ। कौन ऐसा विचारशील है, जो कि सत्पनेसे एकपनरूप हेतुको तो इष्ट करें और सबको एकपना न चाहे। अर्थात् जब दोनों एक हैं तो हेतुका जानना ही साध्यको जानना हुआ, तब तो अनुमान करनेकी क्या आवश्यकता है?

यदि पुनः सत्ताविशेषाभावादिति हेतुस्तदाप्यसिद्धं, सन्घटः सन्पट इति विशेषस्य प्रतीतेः। मिथ्येयं प्रतीतिर्घटादिविशेषस्य [illegible] सम्यङ्मिथ्याप्रतीतिविशेषस्यासंभवात् संभवे वा तद्वदन्यत्र तत्संभवः कथं नानुमन्यते?

यदि फिर अद्वैत वादिओंकी ओरसे सबको एक सिद्ध करनेके लिये विशेष सत्ताओंका न होना यह हेतु दिया जायगा तब भी हेतु असिद्ध है, पक्षमें नहीं रहता। घट सत् स्वरूप है कपडा सत् है। इस प्रकार विशेष सत्तावाले पदार्थोंकी प्रतीति सिद्ध होरही है। इसपर अद्वैतवादी यदि यों कहें कि स्वप्न, मूर्छित, भंग पीलेना, आदि अवस्थाओंमें भी झूंठे घट, पट, आदि विशेषोंका प्रतिभास हो जाता है। उसीके समान जागृत अवस्थामें भी घट, पट, मेरा, तेरा, आदि विशेषोंको जाननेवाली प्रतीति तो व्यभिचार होनेके कारण मिथ्या है। पदार्थोंके न होनेपर उनका ज्ञान हो जाना ही यहां व्यभिचार है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह सब तो न कहना। क्योंकि सत्ताके अद्वैत माननेपर यह प्रतीति समीचीन है, यह प्रतीति मिथ्या है, ऐसे भेदका होना ही असम्भव है और यदि अद्वैत पक्षमें भी विशेषोंका सम्भव माना जायगा तो उसीके समान अन्य स्थलोंपर भी उस भेदका सम्भव हो जाना क्यों नहीं मान लिया जाता है? एक दृष्टान्तसे अन्यत्र अनुमान हो जाया करता है।

मिथ्याप्रतीतेरविद्यात्वादविद्यायाश्च नीरूपत्वान्न सा सन्मात्रप्रतीतेर्द्वितीया यतो भेदः सिध्येत् इति चेन्न, व्याघातात्। प्रतीतिर्हि सर्वा स्वयं प्रतिभासमानरूपा सा कथं नीरूपा स्यात्।

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि अच्छी प्रतीति और झूंठी प्रतीतिके भेद माननेकी हमें आवश्यकता नहीं है। मिथ्याप्रतीति तो अविद्यास्वरूप है और अविद्या भी स्वरूपोंसे रहित होती हुयी तुच्छ पदार्थ है। अतः सत्तामात्रको विषय करनेवाली प्रतीतिसे वह अविद्या कोई दूसरी वस्तुभूत नहीं है। जिससे कि दो हो जानेपर भेद सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इसमें व्याघातदोष है। स्वयं कहनेवालेका "मेरी माता बांझ" के समान अपने वचनोंसे ही पूर्वापरविरोध पडता है। घट, आदि विशेषोंको विषय करनेवाली प्रतीति

अविद्या नहीं हो सकती है। सम्पूर्ण ही प्रतीतियां अपने आप प्रतिभासमानस्वरूप होती हैं जो स्वयं अपना सूर्यके समान प्रकाश कर रहा है, वह भला स्वभावोंसे रहित नीरूप कैसे हो सकेगा ? स्वयं प्रकाश रहा पदार्थ तो बहुत बढिया ढंगसे स्वभाववान् होता हुआ वस्तुभूत है।

ग्राह्यरूपाभावान्नीरूपा मिथ्या प्रतीतिरिति चेत्तर्हि ग्राह्यरूपसहिता सम्यक् प्रतीतिरिति तद्विशेषसिद्धेः। सम्यक्प्रतीतिरपि ग्राह्यरूपरहितेति चेत् कथमिदानीं सत्येतरप्रतीतिव्यवस्था ? यथैव हि सन्मात्रप्रतीतिः स्वरूप एवाव्यभिचारात्सत्या तथा भेदप्रतीतिरपि। यथा वा सा ग्राह्याभावादसत्या तथा सन्मात्रप्रतीतिरपीति न विद्याविद्याविभागं बुध्यामहेन्यत्र कथंचिद्भेदवादात्। ततो न सन्मात्रं तत्त्वतः सिद्धं साधनाघटनादिति विधानस्यैव नानार्थाश्रयस्य सिद्धेस्तदधिगम्यमेव निर्देशादिवत्।

फिर भी सत्ताद्वैतवादी यदि यों कहें कि ज्ञानसे ग्रहण करने योग्य रूपोंके न होनेसे मिथ्याप्रतीतियोंको हम नीरूप [स्वभावरहित, तुच्छ, असत्] मानते हैं, तब तो इस प्रकार कहनेपर आपके कहनेसे ही आगया कि ग्रहण करने योग्य स्वरूपोंसे सहित जो प्रतीति है, वह समीचीन प्रतीति है। इस प्रकार उन प्रतीतियोंकी विशेषता (भेद) सिद्ध हुई। फिर अद्वैतवादी यदि यों कहें कि समीचीन प्रतीतियोंको भी हम ग्रहण करने योग्य स्वरूपोंसे रहित मानते हैं। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूछेंगे कि आपके यहां अब सत्य और असत्य प्रतीतियोंकी व्यवस्था कैसे होगी ? बताओ ! जब कि दोनों ही प्रतीतियां अपने ग्राह्य विषयोंको नहीं जानती हैं, तो सामान्य सत् को जाननेवाली और विशेष सत्को जाननेवाली दोनों ही प्रतीतियां सच्ची या दोनों ही झूंठी बन बैठेंगी। जिस प्रकार ही केवल शुद्धसत्ताको विषय करनेवाली प्रतीति सत्ता विधिस्वरूपमें ही व्यभिचाररहित होनेके कारण सत्य मान ली गयी है। तिसी प्रकार घट, पट, आदिकको विषय करनेवाली भेदप्रतीति भी अपने विशेषस्वरूपमें ही अव्यभिचार होनेसे सच्ची बन जाओ और जैसे ग्राह्यविषय न होनेसे वह भेदप्रतीति असत्य मानी जाती है तिसी प्रकार केवल सत्ताको ही जाननेवाली प्रतीति भी बहिर्भूत ग्राह्यपदार्थ न होनेके कारण असत्य हो जायगी। आपने अभी ही समीचीनप्रतीतिका भी ग्राह्य ब्रह्म पदार्थ नहीं माना है। इस प्रकार कथंचित् भेदवादसे अतिरिक्त विद्या और अविद्याके विभागको हम कुछ नहीं समझते हैं। अर्थात्—बौद्धोंके सर्वथा विशेष (भेद) वाद और आत्माद्वैतवादियोंके सर्वथा अभेदवादको टालकर स्याद्वादियोंका कथंचित् भेदवाद ही सर्वत्र फैला हुआ है। तिस कारण केवल सत्स्वरूप ही अद्वैत तत्त्व वास्तविक स्वरूपसे सिद्ध नहीं हो पाता है। अद्वैतवादियोंके कहे हुये साधन (हेतु) घटित नहीं होते हैं। अर्थात्—सत्तापनेसे अविशेष या प्रतिभासमानपना आदि हेतु " सर्वं एकं " को सिद्ध करनेके लिये विरुद्ध पड जाते हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अनेक जातिवाले पदार्थ जाने जा रहे हैं। इस कारण अनेक अर्थोंमें

रहनेवाले छठे अधिगमक विधानकी ही सिद्धि हो जाती है। अतः निर्देश, स्वामिपन, आदिके समान वह विधान भी जानने योग्य ही है। तभी वस्तुकी पूरी तहोंका परिज्ञान हो पाता है। यहांतक अधिगतिके निर्देश आदिक छहों उपायोंका प्रदर्शन कर दिया गया है।

तदेवं मानतः सिद्धैर्निर्देशादिभिरंजसा।
युक्तं जीवादिवृत्तेषु निरूपणमसंशयम् ॥ २७ ॥

तिस कारण इस प्रकार प्रमाणसे सिद्ध किये गये निर्देश आदिकों करके पूर्वमें कहे हुये जीव आदिक पदार्थोंमें या रत्नत्रयमें संशयरहित शीघ्र अधिगम होनेका निरूपण करना युक्त है। भावार्थ—सूत्रकारका निर्देश आदिकों करके तत्त्वोंके अधिगमका उक्त सूत्र द्वारा निरूपण करना समुचित ही है।

न हि प्रमाणनयात्मभिरेव निर्देशादिभिर्जीवादिषु भावसाधनोधिगमः कर्तव्य इति युक्तं तद्विषयैरपि निर्दिश्यमानत्वादिभिः कात्स्न्यैकदेशार्पितैः कर्मसाधनस्याधिगमस्य करणात् तेषामुक्तप्रमाणासिद्धत्वादिति व्यवतिष्ठते।

" प्रमाणनयैरधिगमः " इस पहिले सूत्रके अनुसार प्रमाणनयस्वरूप निर्देश आदिकों करके ही जीव आदि पदार्थोंमें भावसाधन निरुक्तिसे साधा गया अधिगम करना चाहिये। इतना ही युक्त नहीं है। किन्तु साथमें उन प्रमाणनयोंके विषय और पूर्णदेश तथा एकदेशसे विवक्षित किये गये ऐसे निर्देश करने योग्य, स्वामिपनको प्राप्त, आदिकों करके भी कर्मसाधन निरुक्तिसे साधे गये अधिगमका करना होता है। उन निर्देश किये जाने योग्य आदिकोंकी हम उक्त प्रमाणोंसे सिद्धि कर चुके हैं, इस प्रकार व्यवस्था बन जाती है। अर्थात्—" निर्दिश्यते अनेन इति निर्देशः " इस प्रकार करणमें निर्देश आदि शब्दोंको साधनेपर और अधिगमनं अधिगमः इस प्रकार भावमें अधिगमको साधनेपर वस्तुको पूर्णरूपसे तथा एकदेशसे जाननेवाले प्रमाण, नय, स्वरूप निर्देश आदिकों करके जीवादिकोंका अधिगम होता है तथा " निर्दिश्यतेयत् " इस प्रकार कर्ममें यत् प्रत्ययकर पुनः शानच् और तद्धितके त्व प्रत्यय करनेपर साधे गये निर्देश्यमानत्व आदिकोंकरके " अधिगम्यते यत् " जो जाना जाय ऐसा कर्मसाधन अधिगम किया जाता है। विषय और विषयी दोनोंमें पूर्ण देश और एकदेशसे जानलियागयापन और जानलेनापन व्यवस्थित हो रहा है। उमास्वामी महाराजका विषयी और विषयकी अपेक्षासे उक्त ये दो सूत्र बनाना सार्थक है।

यथागममुदाहार्या निर्देष्टव्यादयो बुधैः।
निश्चयव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां मानतोपि वा ॥ २८ ॥

विद्वानों करके निर्देश करने योग्य, स्वामिपनको प्राप्त, आदि पदार्थोंके आगमके अनुसार उदाहरण बना लेने चाहिये। निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयोंसे अथवा प्रमाणोंसे भी निर्देश आदिकोंके उदाहरण समझ लेना चाहिये।

निश्चयनय एवंभूतः व्यवहारनयोऽशुद्धद्रव्यार्थिकस्ताभ्यां निर्देष्टव्यादयो यथागममुदाहर्तव्या विकलादेशात् प्रमाणतश्च सकलादेशात्। तद्यथा। निश्चयनयादनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वपरिणतो जीवः व्यवहारादौपशमिकादिभावचतुष्टयस्वभावः निश्चयतः स्वपरिणामस्य व्यवहारतः सर्वेषां, निश्चयनयतो जीवत्वसाधनः व्यवहारादौपशमिकादिभाव साधनश्च, निश्चयतः स्वप्रदेशाधिकरणो व्यवहारतः शरीराद्यधिकरणः। निश्चयतो जीवनसमयस्थितिः व्यवहारतो द्विसमयादिस्थितिरनाद्यवसानस्थितिर्वा. निश्चयतोनंतविधान एव व्यवहारतो नारकादिसंख्येयासंख्येयानंतविधानश्च।

निश्चयनय तो एवंभूत नय है और दो द्रव्योंके सम्मेलनसे बने हुये अशुद्ध द्रव्यको जानना रूप प्रयोजनको धारनेवाली व्यवहारनय है। उन दोनों नयोंसे निर्देश करने योग्य आदि पदार्थोंके उदाहरण आगममार्गका अतिक्रमण न करके बना लेने चाहिये। वस्तुके विकल अंशको कहनेवाले विकलादेशी नयवाक्यसे और वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कहनेवाले सकलादेशी प्रमाणवाक्यसे नय और प्रमाणोंके द्वारा दृष्टान्त बना लेना, उसको जिस प्रकार कि थोडासा दिखलाते हैं। सात तत्त्वोंमें प्रथम ही जीव पदार्थ है। उसका निर्देश यों करना कि निश्चय नयसे तो अनादि कालसे परिणाम करते चले आरहे चैतन्यस्वरूप जीवपने करके परिणत होरहा जीव है जिसको कि पारणामिक भावस्वरूप होनेमें किसी कर्मके उदय, क्षय, उपशम, और क्षयोपक्षमकी अपेक्षा नहीं है और व्यवहारपनसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, और औदयिक, इन चारो भावोंस्वरूप परिणत हो रहा जीवका कथन किया जाता है। २ निश्चयनयसे जीव अपने स्वकीय परिणामोंका स्वामी है और व्यवहार नयसे परद्रव्यके सम्बन्ध निमित्तसे होनेवाले भी सभी परिणामोंका स्वामी है। स्त्री, धन, घोडा, गृह, आदिका भी स्वामी है। ३ निश्चयनयसे जीवका साधन केवल सुख, सत्ता, चैतन्य, आदि जीवपना ही है, जो कि पारिणामिक भाव है और व्यवहार नयसे उपशमसम्यक्त्व, क्रोध, आदि चारों प्रकारके भावोंकरके जीव साधा जाता है, इनमें दशप्राण भी गर्भित हैं। ४ निश्चयनयसे जीवके अपने प्रदेश ही आधार हैं और व्यवहारनयसे शरीर, गृह, भूमि आदि अधिकरण हैं। ५ निश्चय नयसे अनादिसे अनन्तकालतक जीवित रहनेके समयों तक जीवकी स्थिति है और व्यवहार नयसे दो समयको आदि लेकर दसप्राणोंका धारण करना आदि स्थिति है अथवा जीवित रह चुका जीवित है, जीवित रहेगा इस निरुक्तिसे अनादि अनन्तकालतक भी जीवकी स्थिति है। ६ निश्चय नयसे जीवके अनन्त ही प्रकार हैं। जितने जीव हैं उतने ही भिन्न भिन्न प्रकारके व्यक्तिस्वरूप हैं किसी प्रकार जातीयता नहीं हैं और व्यवहारनयसे नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यंच, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि शब्दसे कहने योग्य असंख्यात भेद हैं और जीवोंके सूक्ष्मज्ञानसे समझने योग्य असंख्यात भेद हैं। तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अनन्त जातिवाले अनन्त प्रकार हैं। इस प्रकार दोनों नयोंसे जीवके निर्देश आदिक छहोंका उदाहरणपूर्वक अधिगम कर लेना चाहिये।

प्रमाणतस्तदुभयनयपरिच्छित्तिरूपसमुदायस्वभाव इत्यादयो जीवादिष्वप्यागमाविरोधान्निर्देशादीनामुदाहरणमवगंतव्यम्।

तथा प्रमाणोंसे यह जीव उन निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके द्वारा हुई ज्ञप्तिस्वरूपके विषयभूत समुदायोंका स्वभाव है यह जीवका निर्देश हुआ। जीव अपने ज्ञान, धन, आदिका स्वामी है। इत्यादि निर्देश आदिक छहोंका जीव आदिक तत्त्वोंमें आगमके अविरोधसे उदाहरण समझ लेने चाहिये। किसी वाक्य द्वारा वस्तुके पूर्ण अंशोंपर लक्ष्य जानेसे ही वे निर्देश आदिक प्रमाणके विषय बन जाते हैं और और नयवाक्य ही प्रमाण वाक्यपनेको धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार वस्तुके एक अंशपर लक्ष्य जानेसे प्रमाणवाक्य ही नय वाक्य हो जाते हैं। कथंचित् प्रमाण वाक्य और नयवाक्योंका भेद भी माना है इस प्रकार प्रमाण, नयस्वरूप निर्देश आदिक और उनके विषयभूत निर्देश्य आदिकों करके जीव आदिक पदार्थ जाने जाते हैं। विषयी और विषयके अतिरिक्त कोई पदार्थ जगत्में नहीं है। स्वामीजीने ज्ञप्तिके साधक उपायोंका जो क्रम दिखलाया है, उससे अज्ञ प्राणी भी झट प्रबोधको प्राप्त कर लेता है। अतीन्द्रियदर्शी आचार्य असंख्य स्थलोंपर अधिगमके सफल उपायोंको निर्णय कर शिष्योंके प्रति निर्दोष लघु उपायोंसे महान् कार्यकी सिद्धि होनेका उपदेश देते हैं।

—=x=—

सातवें सूत्रका सारांश

इस सूत्रके स्थूल प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि संक्षेपसे जीव आदिकोंका अधिगम तो प्रमाण और नयों करके होता है, किन्तु मध्यमरुचिवाले शिष्योंके लिये निर्देश आदि सूत्रका अवतार हुआ है। उमास्वामी महाराज शिष्योंके अनुरोधसे यथायोग्य सूत्रोंको कहते हैं। वस्तुके जाननेमें आकांक्षणीय निर्देश आदिकोंका कथन कर उनको शब्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है। मुख्यरूपसे श्रुतज्ञानके भेद निर्देश आदिक हैं। अतः प्रमाण, नय, स्वरूप निर्देश आदिकों करके प्रमातामें स्थित अधिगम किया जाता है और ज्ञेय विषयस्वरूप निर्देश (निर्देश्य) आदिकों करके कर्मस्थ अधिगम किया जाता है। कथंचित् भेदाभेद पक्षमें कोई विरोध नहीं होता है। नयोंकी विवक्षासे विशेषण विशेष्यपना या कर्मकरणपना बन जाता है। प्रमाणदृष्टिसे तो अनेक धर्मात्मक पूरी वस्तु कही जाती है। तहां प्रथम ही पदार्थोंको निस्स्वरूप और अवक्तव्य माननेवाले बौद्धोंके मतका निरास कर पदार्थोंके निर्देश्य स्वरूपकी सिद्धि की है। बौद्धोंके माने गये निरंशस्वलक्षणकी सर्वथा प्रतीति नहीं होती है। यहां शब्दके द्वारा भाव अभावके निरूपणका शास्त्रार्थ कर अनेकान्तरूपसे वाच्यवाचक भावको भली भांति पुष्ट किया है शब्द व्यवहारकी भित्ति कोरी वासनायें नहीं हैं। किन्तु वस्तुस्थिति है। आगे चलकर पदार्थोंके निस्स्वभावपनेका निरास कर धर्मोंके निरूपण द्वारा वस्तुका निर्देश करना जानने योग्य बताया है। बौद्ध लोग जब

कोई सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, ऐसी दशामें स्वस्वामिसम्बन्ध भी उनके यहां नहीं बनता है। इन बौद्धोंके सन्मुख विशिष्ट देश, विशिष्ट कालके नियमकरके पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः परतंत्रतारूप सम्बन्धको सिद्ध कर दिया है। लोकमें अनेक पदार्थोंकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंसे प्रत्यासत्तियां देखी जा रही हैं। ये चारों ही प्रत्यासत्तियां स्पष्टरूपसे सम्बन्ध हैं। सम्बन्धियोंका कथंचित् एकपनको प्राप्त हो जाना रूपश्लेष है। दोपनेकी रक्षा होते हुये भी यह सम्बन्ध बन जाता है। अन्तररहितपना, अप्राप्तोंकी प्राप्ति हो जाना इन परिणतियोंको भी सम्बन्धपना सिद्ध है। यहां फिर बौद्धोंके साथ लम्बा चौडा शास्त्रार्थ होकर क्रियाकारक आदिकी व्यवस्था करते हुये उनके सम्बन्धको वास्तविक बताकर स्वस्वामिसम्बन्धको भी दृढतासे सिद्ध कर दिया है। तीसरे साध्यसाधनभावका भी बौद्ध खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि कारणोंकरके सत् या वस्तु नहीं बनाई जाती है। वर्तमान दो में रहनेवाला सम्बन्ध विद्यमान और अविद्यमान कारण कार्योंमें नहीं ठहर सकता है। इत्यादि प्रकारोंके आक्षेपोंका प्रतिघात स्वयं उन बौद्धोंके ऊपर ही लागू हो जाता है। अकार्यकारणभावमें भी उक्त विकल्प उठाये जासकते हैं। इस अवसरपर बौद्धोंको बहुत लज्जित होना पडा। उनके अस्त्र उन्हींके लिये हानिप्रद हुये हैं। कारकपक्षके अनुसार कार्यकारणभाव और ज्ञापकपक्षका अवलम्ब लेनेपर ज्ञाप्यज्ञापक भावकी प्रतीतियां बाधारहित होकर प्रसिद्ध हो रही हैं। कार्योंकी उत्पत्ति और अनुमान व्यवस्थाको माननेवाले वादी उक्त मार्गके पथिक अवश्य बनेंगे। सम्बन्धकी सम्बन्धियोंमें एकदेश और पूर्णदेशसे वृत्तिका विचार कर कथंचित् तादात्म्यरूप वृत्ति निर्णीत की गयी है। जैसे कि चित्रज्ञानकी अपने आकारोंमें वृत्ति हो जाती है। अन्वय व्यतिरेकके अनुसार निकटदेशवर्ती या दूरदेशवर्ती पदार्थोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके कार्यकारणसम्बन्ध होना इष्ट है। व्यवहारनयसे कार्यकारणभाव है। संग्रह और ऋजुसूत्र नयसे नहीं है। वास्तविक परिणतियोंके अनुसार प्रमाणोंद्वारा कार्यकारण भावकी सिद्धि है। अन्यथा मोक्ष, बन्ध, आदिके साधनोंका अभ्यास करना व्यर्थ पडेगा। ब्रह्माद्वैतवादी और क्षणिकवादियोंके मतमें कार्यकारणभाव नहीं बनता है। किन्तु कथंचित् नित्य, अनित्यको माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां साध्य-साधनभाव प्रसिद्ध हो रहा है। आगे चलकर आधार आधेयको न माननेवालोंके प्रति द्रव्य,गुण, आदिकोंका दृष्टान्त देकर अधिकरण सिद्ध किया है। सम्पूर्ण द्रव्योंका आश्रय होता हुआ आकाश स्वयं अपना भी आश्रय है। अतः अनवस्था दोष नहीं। व्यवहारनयसे आश्रय आश्रयीभाव है, निश्चयनयसे सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं अपने आपमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसके आगे पदार्थोंकी कुछ कालतक स्थितिको साधनेके लिये बौद्धोंके क्षणिक एकान्तका निराकरण कर सन्तान, समुदाय, आदिकी व्यवस्था बताई है। यहां बौद्धोंसे माने गये कल्पित सन्तान या समुदायका खण्डन कर एकद्रव्य-प्रत्यासत्तिवाले पदार्थोंमें सन्तान सन्तानीभाव साधा है। अन्यथा अपराध किसीने किया और दण्ड अन्यको मिला, इस ढंगसे कृतनाश और अकृतका आगमन दोष

लागू होता है। ऋजुसूत्र नयसे क्षणमात्र ठहरते हुये भी पदार्थ वास्तविक परिणतिके अनुसार व्यवहार नयसे अनेक समयोंतक ठहरनेवाले भी प्रतीत हो रहे हैं। प्रमाण तो नाना समयोंतक ठहरनेवाले पदार्थोंको जान रहा है। सबको एक ब्रह्मस्वरूप माननेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंके प्रति हेतुओंसे पदार्थोंके नाना प्रकारोंकी सिद्धि की है। ग्राह्यग्राहक विद्या, अविद्या आदि भेदोंसे पदार्थोंमें विशेषतायें हैं। इस प्रकार प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकोंकरके और उनके विषयस्वरूप निर्देश्यत्व आदिकों करके अधिगति और अधिगम्यमानता की जाती है। युक्ति और आगमके अविरोधसे जीव, अजीव, आदि तत्त्वोंमें प्रमाण, नयों, द्वारा उदाहरण समझ लेनेका ग्रन्थकारने आदेश किया है। ग्रन्थके गौरव हो जानेका लक्ष्य कर अधिक लम्बा चौडा विवेचन नहीं किया गया है।

स्याद्वादोन्नतवर्द्धमानहिमवत्पद्मांगतो निःसृता।
स्वान्यज्ञप्तिधृताजटाक्तजिनभृद्वीपाङ्गविद्वौतमात्॥
सन्तप्तासहिताप्यकुण्डवदुमास्वाम्याननाद्वाहिता।
निर्देशादिकणान् विकीर्य जिनवाग्गङ्गा पुनात्वाशु नः॥

—०—

न केवलं निर्देशादीनामधिगमस्तत्त्वार्थानां किं तर्हि।

अब अग्रिमसूत्रके अवतरणके लिये एककार्यत्व नामकी संगतिको दिखलाते हैं कि केवल निर्देश आदिकोंके द्वारा ही जीव आदिक तत्त्वअर्थोंका अधिगम नहीं होता है तो क्या है? बताओ। इसका उत्तर यह है कि अन्य भी अधिगमके उपाय हैं, वे कौन उपाय हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर पूज्यचरण श्रीउमास्वामी महाराज सूत्रको कहते हैं कि—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

१ सत्तासहितपन २ संख्या ३ निवासस्थान ४ तीनों कालसम्बन्धी निवासस्थल ५ काल ६ विरह ७ परिणमन ८ थोडाबहुतपन, इन करके भी रत्नत्रयका और जीव आदिक पदार्थोंका विशद अधिगम होता है।

स्वार्थोऽधिगमो ज्ञानात्मकैः, परार्थः शब्दात्मकैः कर्त्तव्य इति घटनात्।

ज्ञान आत्मक (स्वरूप), सत्संख्या, आदिकोंकरके स्वयं अपने लिये अधिगम होता है। कारण कि प्रतिपादकको स्वयं अपने हितार्थ ज्ञप्ति करनेके लिये करणज्ञानका अन्वेषण करना आवश्यक है और शब्दस्वरूप सत्संख्या आदिकों करके दूसरोंके लिये अधिगम किया जाना चाहिये। क्योंकि प्रतिपाद्य श्रोता अपनी प्रतिपत्तिको शब्दोंके द्वारा कर लेता है। इस प्रकार विद्वानोंके सम्प्रदायमें घटित हो रहा है।

ननु पूर्वसूत्र एवाधिगमस्य हेतोः प्रतिपादितत्वात् किं चिकीर्षुरिदं सूत्रमब्रवीत् इति चेत् ।

यहां शंका है कि हेतुओंसे तत्त्वार्थोंके अधिगमका प्रतिपादन करना जब पूर्वसूत्रमें ही कहा जा चुका है तो क्या करनेकी इच्छासे आचार्यने इस " सत्संख्या " आदि सूत्रका प्रतिपादन किया, बताओ ? इस प्रकार शंका होनेपर तो श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर देते हैं कि—

सदादिभिः प्रपंचेन तत्त्वार्थाधिगमं मुनिः ।
संदिदर्शयिषुः प्राह सूत्रं शिष्यानुरोधतः ॥ १ ॥

अतीव विस्तारके साथ सत्संख्या आदिकों करके तत्त्वार्थोंके अधिगमको भले प्रकार दिखलानेकी इच्छा रखनेवाले श्रीउमास्वामी मुनि महाराज शिष्योंके अनुरोधसे सत्संख्या आदि सूत्रको प्रकाण्ड विदत्तापूर्वक स्पष्ट कहते भये (कहरहे हैं) ।

ये हि शिष्याः संक्षेपरुचयस्तान् प्रति " प्रमाणनयैरधिगमः " इति सूत्रमाह । ये च मध्यमरुचयस्तान् प्रति निर्देशादिसूत्रं । ये पुनर्विस्ररुचयस्तान् प्रति सदादिभिरष्टाभिस्तत्त्वार्थाधिगमं दर्शयितुमिदं सूत्रं, शिष्यानुरोधेनाचार्यवचनप्रवृत्तेः ।

जो शिष्य नियम करके संक्षेपसे ही समझनेकी रुचि रखते हैं, चाहे वे कुशाग्रबुद्धि हों या थोडी समझनेकी शक्ति रखते हों, उनके प्रति आचार्य महाराजने " प्रमाणनयैरधिगमः " यह सूत्र पहिले कहा और जो शिष्य न अधिक संक्षेप और न अधिक विस्तार, किन्तु मध्यमरूपसे प्रबोधकी अभिलाषा रखते हैं, उनके प्रति अधिगमका उपाय समझानेके लिये फिर " निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः " यह सूत्र कहा । किन्तु फिर भी जो शिष्य अतीव विस्तारसे समझनेकी उत्कण्ठा रखते हैं, ये भले ही विशदबुद्धिवाले हों या अधिक कहे जानेपर कुछ समझनेकी टेव रखते हों, उनके प्रति " सत्संख्या " आदि आठ अनुयोगों करके तत्त्वार्थोंके अधिगमको दिखलानेके लिये " सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च " यह सूत्र कहा है । क्योंकि विनीत शिष्योंके अनुरोध अनुसार आचार्योंके वचनोंकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है । अर्थात् शिष्य जिस ढंगसे समझ सकें उसीके अनुसार आचार्य महाराज तत्त्वोंका उपदेश देते हैं । परोपकारी आचार्य महाराजका भिन्न भिन्न जातिके क्षयोपशमवाले शिष्योंको विप्रलम्भ करानेमें कोई गांठका प्रयोजन नहीं सधता है ।

नास्तित्वैकांतविच्छित्त्यै तावत् प्राक् सत्प्ररूपणं ।
सामान्यतो विशेषात्तु जीवाद्यस्तित्वविच्छिदे (भिच्छिदे) ॥ २ ॥

तिन अनुयोगोंमें सामान्यरूपसे नास्तिपनके एकान्तको निराकरण करनेके लिये और विशेषरूपसे तो जीव आदिक सम्बन्धी अस्तिपनके निषेधके वारणार्थ प्रथम ही सत्की प्ररूपणा की है ।

जिससे सर्वथा शून्यवादीका तथा जीवको न माननेवाले चार्वाक और जडको न माननेवाले ब्रह्मवादीका तिरस्कार हो जाता है।

नन्वेकत्वादस्तित्वस्य न सामान्यविशेषसंभवो येन सामान्यतो नास्तित्वैकांतस्य विशेषतो जीवादिनास्तित्वस्य व्यवच्छेदाय सत्प्ररूपणं प्रागेव संख्यादिभिः क्रियते। न ह्येका न सत्ता सर्वत्र सर्वदा तस्या विच्छेदाभावात्। सत्ताशून्यस्य कस्यचिद्देशस्य वानुपपत्तेः, सत्प्रत्ययस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। सत्प्रत्ययस्यैकरूपत्वेपि सत्तानेकत्वे च न किंचिदेकं स्यादिति कश्चित्, सोऽसमीक्षिताभिधायी। सत्तायास्तद्बाह्यार्थेभ्यः सर्वथा भिन्नायाः प्रतीत्यभावात् तेभ्यः कथंचिद्भिन्नायास्तु प्रतीतौ तद्वत्सामान्यविशेषवत्त्वसिद्धेर्नोक्तोपालंभः।

यहां वैशेषिककी शंका है कि सत्तारूप अस्तित्वका एकपन होनेके कारण उसके सामान्य और विशेषोंका सम्भव नहीं है। जिससे कि सामान्यरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके नास्तिपनके एकान्तका और विशेषरूपसे जीव आदिकोंके नास्तिपनका व्यवच्छेद करनेके लिये संख्या, क्षेत्र आदिकोंसे प्रथम ही सत्काप्ररूपण किया जाय, अर्थात्—सत्ता नित्यव्यापक एक है। जब उसमें सामान्य और विशेष विकल्प ही नहीं है तो फिर सामान्य और विशेषरूपसे नास्तित्वके निवारणार्थ पहले सत् प्ररूपणा क्यों की जा रही है? सत्ता एक नहीं है, यह नहीं समझना। क्योंकि सब स्थलोंपर सभी कालमें उस सत्ताका विच्छेद (व्यवधान) नहीं हो रहा है। भावार्थ—सब देश और सब कालोंमें आकाशके समान सत्ता व्याप रही है। कोई भी देश सत्तासे शून्य होकर नहीं सिद्ध हो रहा है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें सब स्थलोंपर सदा ही "सत्" ऐसे ज्ञानोंका सद्भाव है। सत्प्रत्ययके अन्तररहित एकरूप होते हुए भी यदि सत्ताको अनेक माना जायगा, तब तो जगत्में कोई भी पदार्थ एक न सिद्ध हो सकेगा। आकाश आदि सभी व्यक्तियां अनेक बन बैठेंगी, इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहा है, सो वह विना विचारे हुये पदार्थका कथन करनेवाला है। क्योंकि उस सत्तावाले बाह्य घट, पट, आदि अर्थोंसे सभी प्रकार भिन्न होती हुई सत्ताकी प्रतीति नहीं हो रही है। हां, तिन सत्तावान् पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ऐसी सत्ताकी प्रतीति होना माना जायगा, तब तो उन्हीं अर्थोंके समान सत्ताके भी सामान्य विशेषसहितपना सिद्ध हो जाता है। उससे अभिन्न पदार्थमें उसके धर्म अवश्य आते हैं। इस कारण वैशेषिकोंका कहा हुआ उलाहना स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं होता है। यानी जब पृथिवी, आदिक पदार्थोंमें सामान्य और विशेषभाव है तो उनसे अभिन्न सत्तामें भी सामान्य और विशेष अवश्य मानने पड़ेंगे। पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न हो रही सत्ता जातिकी सिद्धि नहीं हो सकती है। "न याति न च तत्रास्ते न पश्चादस्ति नाशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः" इत्यादि अनेक दूषण प्राप्त हो जावेंगे।

सर्वमसदेवेति वदंतं प्रत्याह—

सम्पूर्ण पदार्थ असत्स्वरूप ही हैं, इस प्रकार कहनेवाले शून्यवादीके प्रति श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट व्याख्यान करते हैं कि—

सन्मात्रापह्नवे संवित्सत्त्वाभावान्न साधनम् ।
स्वेष्टस्य दूषणं वास्ति नानिष्टस्य कथंचन ॥ ३ ॥

पदार्थोंकी सम्पूर्णरूपसे सत्ताका यदि निराकरण किया जायगा तो संवेदनकी सत्ताका भी अभाव हो जायगा। ऐसी दशामें अपने इष्टतत्त्वका साधन करना और दूसरे प्रतिपक्षिओंके द्वारा माने गये अनिष्टतत्त्वका दूषण करना, किसी भी ढंगसे नहीं बन पाता है। भावार्थ—ज्ञानसे ही इष्ट तत्त्वोंका साधन और अनिष्टतत्त्वोंका निवारण होता है। जब शून्यवादीके विचार अनुसार सम्पूर्ण पदार्थोंको सत् नहीं मानोगे तो ज्ञानकी भी सत्ता नहीं मानी जायगी। ऐसी दशामें उक्त कार्य कैसे सम्पन्न हो सकेगा ? तुम शून्यवादी ही विचार करो।

संवेदनाधीनं हीष्टस्य साधनमनिष्टस्य च दूषणं ज्ञानात्मकं न च सर्वशून्यतावादिनः संवेदनमस्ति, विप्रतिषेधात्। ततो न तस्य च युक्तं। नापि परार्थं वचनात्मकं तत एवेति न सन्मात्रापह्नवोपायात्।

इष्टकी सिद्धि करना और अनिष्ट तत्त्वका दूषण दिखलाना ये सब संवेदनके अधीन होनेवाले कार्य हैं। ज्ञानाद्वैतवादियोंके अथवा स्याद्वादियोंके यहां अपने लिये अधिगमको करानेवाले इष्टसाधन और अनिष्टदूषण ये दोनों ज्ञानस्वरूप हैं। किन्तु सबको शून्यपना कहनेकी टेववाले वादीके यहां तो संवेदन भी तत्त्व नहीं माना गया है। क्योंकि विप्रतिषेध है। अर्थात्—ज्ञानको मान लेनेपर सब पदार्थोंका शून्यपना नहीं बन पाता है और सबका शून्यपना मान लेनेपर संवेदनकी सत्ता नहीं ठहरती है। यह तुल्यबलवाला विरोध है। तिस कारण उस शून्यवादीको सम्पूर्ण सत्पदार्थोंका अपह्नव करना युक्त नहीं है तथा दूसरोंके लिये इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण भी जो कि वचनस्वरूप है नहीं बन पायगा। क्योंकि यहां भी वही युक्ति है अर्थात् तुल्यबल विरोध है। वचन मान लेनेपर सर्वशून्यपना नहीं घटता है और सर्वकी शून्यता माननेपर श्रोताओंके लिये वचनस्वरूप इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं बन सकते हैं। इस कारण सम्पूर्ण ही सत्पदार्थोंका अभाव कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेसे स्वयं शून्यवादीका ही नाश हुआ जाता है।

संविन्मात्रं ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यत्वाच्छून्यमिति चेत्—

ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करानेवाले ऐसे ग्राह्यग्राहकभाव, तथा वाच्यबाधकभाव, कार्यकारणभाव, वाच्यवाचकभाव, आदि परिणामोंसे शून्य होनेके कारण केवल संवेदनमात्रको हम शून्य तत्त्व कहते हैं। बहिरंग पदार्थ और ज्ञानके आकारोंको सर्वथा नहीं मानते हैं। इस प्रकार वैभाषिक बौद्धोंके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि—

ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
न स्वतः सिद्धमारेकाभावापत्तेरशेषतः ॥ ४ ॥
परतो ग्रहणे तस्य ग्राह्यग्राहकतास्थितिः ।
परोपगमतः साचेत्स्वतः सोपि न सिध्यति ॥ ५ ॥
कुतश्चिद्ग्राहकात्सिद्धः पराभ्युपगमो यदि ।
ग्राह्यग्राहकभावःस्यात्तत्त्वतो नान्यथा स्थितिः ॥ ६ ॥
ग्राह्यग्राहकभावोऽतः सिद्धस्त्वेष्टस्य साधनात् ।
सर्वथैवान्यथा तस्यानुपपत्तेर्निश्चयात् ॥ ७ ॥

ग्राह्य ग्राहकभाव, बाध्यबाधकभाव, आदिसे सर्वथा रीता केवल संवेदन ही तत्त्व अपने आपसे तो सिद्ध नहीं होता है । यदि अपने तीव्र सुखदुःख आदिके समान केवल शून्यसंवेदनका स्वतः ज्ञान हो जाता, तब तो पूर्णरूपसे संशय होनेके अभावका प्रसंग होगा । किन्तु किसी भी प्राणीको केवल संवेदनका ही ज्ञान तो नहीं होता है, यदि उस शून्य संवेदनका दूसरेसे ग्रहण होना मानोगे, तब तो ग्राह्यग्राहक भावकी सिद्धि हो जाती है । संवेदन ग्राह्य हो गया और पर पदार्थ ग्राहक बन गया । यदि स्वयं ग्राह्याग्राहक भावको न मानकर परवादी जैन या नैयायिकोंके स्वीकार करनेसे बौद्ध कुछ देरके लिये विचारसे पहिले उस ग्राह्यग्राहकताको मानेंगे तो वह ग्राह्य-ग्राहकताकी दूसरोंकी स्वीकृति भी अपने आपसे सिद्ध नहीं हो पाती है । पुनः यदि किसी अन्य ग्राहक ज्ञानसे परवादियोंके स्वीकार करनेको सिद्ध हुआ मानोगे तब तो वास्तविक रूपसे ग्राह्यग्राहक भाव सिद्ध होगया समझो । अन्यथा लोकप्रसिद्ध ग्राह्यग्राहकपनेकी तुम्हारे यहां स्थिति नहीं हो सकती है । अथवा दूसरे प्रकारोंसे आपके इष्टतत्त्वकी व्यवस्था न बन सकेगी । इस कारण अपने इष्टपदार्थका साधन करनेसे सभी प्रकार ग्राह्यग्राहक भाव सिद्ध हो जाता है । अन्यथा यानी ग्राह्य-ग्राहकभावको न मानने पर सभी प्रकारोंसे उस इष्टसंवेदनमात्र तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकनेका विशेषरूपसे निश्चय हो रहा है ।

न हि ग्राह्याग्राहकभावादिशून्यस्य संवेदनस्य स्वयमिष्टस्य साधनं स्वाभ्युपगमतः पराभ्युपगमतो वा स्वतः परतो वा परमार्थतः ग्राह्याग्राहकभावाभावे घटते, अतिप्रसंगात् । संवृत्या घटत एवेति चेत्, तर्हि संवेदनमात्रं परमार्थं सत् संवृतिसिद्धं । ग्राहकवेद्यत्वाद्ये-द्व्यवहारवत् ।

ग्राह्यग्राहक भाव, बाध्यबाधक भाव, आदिसे शून्य हो रहे और स्वयं बौद्धोंके द्वारा इष्ट किये गये ऐसे शुद्धसंवेदनका साधन करना तो वास्तविकरूपसे ग्राह्यग्राहकभावके न होनेपर केवल स्वयं बौद्धोंके स्वीकार करनेसे स्वतः अथवा दूसरे जैन, मीमांसक आदिके स्वीकार करनेसे परके द्वारा भी नहीं घटित होता है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् प्रमेय और प्रमाण का ग्राह्यग्राहकभाव न होते हुये भी चाहे जिसके माननेसे या अपनी इच्छासे यदि अभीष्ट तत्त्वोंको साधा जायगा तब तो सब मिथ्याज्ञानियोंके मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। चाहे जिस अलीक पदार्थकी सिद्धि बन बैठेगी। यदि कल्पित अवलम्बनसे कुछ ज्ञेयके लिये ग्राह्यग्राहकभावको मानकर इष्टतत्त्वका साधन करना घटित हो ही जायगा, इस प्रकार कहोगे तब तो आप बौद्धोंका वास्तविक पदार्थरूपसे सद्भूत (वास्तविक) माना गया केवल संवेदन भी कल्पनासिद्ध समझा जायगा। क्योंकि द्वैतरूप भेदोंको जाननेवाला व्यवहार जैसे वास्तविक नहीं है, कल्पित है, उसीके समान कल्पनासे गढलिये गये ग्राहक द्वारा जानने योग्य होनेके कारण शुद्धसंवेदन भी पारमार्थिक न बन सकेगा। कोरी कल्पनाका विषय समझा जायगा। जैसे कि छोटे बालक खेलते समय अपने मनमें अपनेको राजा मान लेते हैं।

स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति चेत्, कुतस्तत्र संशयः ? तथा निश्चयानुपपत्तेरिति चेन्न, सुगतस्यापि तत्र तत्प्रसंगात्। तस्य विधूतकल्पनाजालत्वान्न स्वरूपे संशय इति चेत्। तदिदमनवस्थितप्रज्ञस्य सुभाषितं संवेदनाद्वैततत्त्वं प्रतिज्ञाय विधूतकल्पनाजालः सुगतः, पृथग्जनाः कल्पनाजालावृतमनस इति भेदस्य कथनात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि शुद्धसंवेदनके स्वरूपकी तो स्वयं उसीसे ज्ञप्ति हो जाती है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन उन बौद्धोंसे पूंछेंगे कि उस शून्यसंवेदनमें संशय होनेका क्या कारण है ! जो स्वतः संवेद्यमान है वह तो अपने स्वयं जीवित रहनेके समान दिनमें, रातमें, गृहमें, वनमें, पण्डितको, मूर्खको, दरिद्रको, धनाढ्यको, सबको सदा सर्वत्र प्रतिभासता रहता है। कोई शिशु भी उसमें संशय नहीं करता है। किन्तु आप बौद्धोंके माने गये संवेदनमें अनेक पुरुषोंको सन्देह हो रहा है। यदि बौद्ध यों कहें कि तिस प्रकार शुद्धसंवेदनका निश्चय नहीं सिद्ध होनेके कारण कतिपय जीवोंको संशय हो जाता है अथवा निर्विकल्पक होनेसे संवेदनका तिस प्रकार निश्चय होना असिद्ध है। इसपर आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आपके इष्टदेवता बुद्धको भी उस संवेदनमें निश्चय न होनेसे उसे संशय होनेका प्रसंग होगा। आपने बुद्धके निर्विकल्पक ज्ञान माना है, निश्चय ज्ञान नहीं माना है। यदि बौद्ध फिर यों कहें कि वह बुद्ध तो कल्पनाके जालोंसे छूटा हुआ है। अतः शुद्धसंवेदनके स्वरूपमें उसको संशय नहीं होता है। संशय भी तो कल्पना ज्ञान है, ऐसा माननेपर तो हमको कहना पडता है कि सो यह अच्छा भाषण (उपहास) उस पुरुषका है जिसकी कि विचारशालिनी बुद्धि किसी निर्णीतमार्गपर स्थित नहीं रहती है। भावार्थ—यह बौद्धोंके द्वारा

मानी गयी क्षणिक बुद्धिकी हंसी की गयी है। देखिये, बौद्धजन शुद्धसंवेदन तत्त्वके अद्वैतकी पहिले प्रतिज्ञा करके पुनः बुद्धदेव कल्पनासे, झगडोंसे रहित है और दूसरे न्यारे संसारी जीव कल्पनाके जालोंसे घिरे हुये चित्तवाले हैं, इस प्रकार भेदका कथन करते हैं। स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य तो अद्वैतको मानकर फिर द्वैतको पुष्ट नहीं करेगा।

कथं च संवेदनाद्वैतवादिनः संवृतिपरमार्थसत्यद्वयविभागः सिद्धः ? संवृत्येति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे हि परमार्थसंवृतिसत्यविभागे संवृतिराश्रीयते तस्यां च सिद्धायां तद्विभाग इति कुतः किं सिध्येत्, तत्र तत्त्वतो ग्राह्यग्राहकभावाभावे स्वेष्टसाधनं नामेति विनिश्चयः।

और संवेदनके अद्वैतको कहनेकी टेव रखनेवाले वैभाषिकके यहां भला कल्पनासत्य और वास्तविक सत्य इन दो सत्योंका विभाग कैसे सिद्ध होगा ? बताओ ! इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वस्तुको न छूनेवाले व्यवहारसे दो सत्योंका विभाग कर लिया जायगा। यथार्थपनेसे नहीं। तब तो हम कहते हैं कि सो यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ। वास्तविक सत्य और व्यवहारसत्यका विभाग हो जानेपर संवृतिका आश्रय लिया जाता है और उस संवृतिके सिद्ध हो जानेपर उन दो सत्योंका विभाग करना बनता है। इस प्रकार परस्पराश्रय दोषकी दशामें किससे किसकी सिद्धि की जाय। तुम ही बताओ ! तिस कारण वास्तविक रूपसे ग्राह्यग्राहकभावको माने विना अपने अभीष्ट तत्त्वकी नाममात्र भी सिद्धि नहीं हो सकती है ऐसा विशेष निश्चय समझो।

बाध्यबाधकभावस्याप्यभावेनिष्टबाधनं।
स्वान्योपगमतः सिध्येन्नेत्यसावपि तात्त्विकम्॥ ८॥

झूंठा ज्ञान और ज्ञेय बाध्य होता है तथा समीचीन ज्ञान और ज्ञेय बाधक होता है। अर्थात्—तदऽभाववान्में तत्प्रकारक बुद्धि या उस बुद्धिका विषय बाध्य है और तद्वान्में तत्प्रकारक निर्णय या उस निर्णयका विषय बाधक है, ऐसे बाध्यबाधक भावका अभाव माननेपर संवेदनाद्वैतवादियोंके यहां अनिष्टतत्त्वमें बाधा कैसे दी जा सकेगी ? केवल अपने या दूसरोंके स्वीकार कर लेनेसे तो अनिष्टका बाधन नहीं सिद्ध हो जायगा। इस कारण वह बाध्यबाधकभाव या अनिष्टतत्त्वकी बाध करना परमार्थभूत है अथवा "अबाधे अनिष्टसाधनं" पाठ होनेपर बाध्यबाधक भावकी बाधा न माननेपर आप बौद्धोंके अनिष्ट बाध्यबाधकभावका साधन हुआ जाता है। अपने या अन्यके स्वीकार करने मात्रसे अनिष्टकी बाधा देना कैसे भी सिद्ध न हो सकेगा। अवसर पडनेपर परपुरुषोंकी तलवार तुम्हारे काममें नहीं आ सकती है। अतः वह अनिष्टबाधन भी वास्तविक मानना चाहिये। तभी बौद्ध अपने अभीष्ट संवेदनाद्वैतकी सिद्धि कर सकेंगे। तत्त्व यह है कि बाध्यबाधकभावको मानो तो

बाध्यबाधकभाव मानना आवश्यक हो जाता है और बाध्यबाधकभावको न माननेपर भी नियमसे बाध्यबाधकभाव आ टपकता है " सेयमुभयतः पाशा रज्जुः "।

न हि बाध्यबाधकभावादेरनिष्टस्य बाधनं स्वतः सर्वेषां प्रतिभासते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात् । संविन्मात्रप्रतिभासनमेव तत्प्रतिभासनमिति चेत् न, तस्यासिद्धत्वात् । परतो बाधकादनिष्टस्य बाधनमिति चेत् सिद्धस्तर्हि बाध्यबाधकभावः इति तन्निराकरणप्रकरण संबंधं प्रलापमात्रं । संवृत्या अनिष्टस्य बाधनाददोष इति चेत् तर्हि तत्त्वतो न वा बाध्यबाधकभावस्य बाधनमिति दोष एव । पराभ्युपगमात् तद्बाधनमिति चेत् तस्य सांवृतत्वे दोषस्य तदवस्थत्वात् । पारमार्थिकत्वेपि तदनतिक्रम एवेति सर्वथा बाध्यबाधकभावाभावे तत्त्वतो नानिष्टबाधनमुपपन्नम् ।

बौद्धोंको अभीष्ट नहीं ऐसे बाध्यबाधकभाव कार्यकारणभाव आदिकी बाधा होना सभीको अपने आपसे तो नहीं प्रतिभास रहा है। क्योंकि सबको स्वयं दीख जाता तब तो विवाद होनेका प्रसंग ही नहीं आता। यदि बौद्ध यों कहें कि केवलशुद्धसंवेदनका ज्ञान होना ही उस अनिष्ट बाध्यबाधक आदिकी बाधाका प्रतिभास है, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि अकेले उस शुद्ध संवेदनके प्रतिभास होनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि बौद्ध दूसरोंके माने गये बाधकप्रमाणोंसे स्वयंको अनिष्ट होरहे बाध्यबाधकभाव आदिकी बाधा करेंगे तब तो सुलभतासे बाध्यबाधकभाव सिद्ध होगया। इस प्रकार उसके खण्डनके प्रकरणका सम्बन्ध लाना व्यर्थ बकना मात्र है। यदि पूर्वके समान व्यवहाररूप कल्पनासे अनिष्ट तत्त्वकी बाधा हो जानेके कारण उक्त दोष नहीं आते हैं यह कहोगे तब तो वास्तविकरूपसे बाध्यबाधकभावकी बाधा न हो सकी। अंड ऊआ (एरंड) की बंदूक लक्ष्यका वेध नहीं कर सकती है। इस प्रकार बौद्धोंके ऊपर दोष ही रहा। अर्थात्—वास्तविक रूपसे उन्हे बाध्यबाधक भाव मानना पडा। यदि दूसरे वादियोंके स्वीकृत किये गये बाध्यबाधक भावसे उसकी बाधा करोगे तब तो उस दूसरोंके स्वीकारको यदि कल्पित माना जायगा तो वही दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। यानी कल्पित बाध्यबाधक भावसे अनिष्ट बाध्यबाधक भावकी बाधा नहीं हो सकती है। अतः बाध्यबाधक भाव जमगया और यदि उस दूसरोंके मन्तव्यको वास्तविक माना जायगा तो भी उस दोषका अतिक्रमण नहीं ही हुआ। यानी बाधा माननेपर भी बाध्यबाधक भाव बन बैठा। इस प्रकार सभी ढंगसे बाध्यबाधक भावको माने विना वास्तविक रूपसे अनिष्ट तत्त्वकी बाधा करना कथमपि सिद्ध नहीं हो पाता है। अनिष्ट तत्त्वकी बाधा माननेपर तो सुलभतासे वस्तुभूत बाध्यबाधक भाव बौद्धोंके गले पड जायगा। टाला नहीं टल सकता है।

कार्यकारणभावस्याभावे संविदकारणा ।
सती नित्यान्यथा व्योमारविंदादिवदप्रमा ॥ ९ ॥

संवेदनाद्वैतवादी यदि कार्यकारण भावको नहीं स्वीकार करेंगे तो उनका माना गया स्वसंवेदन सत् और कारणरहित होता हुआ नित्य हो जायगा। ऐसी व्याप्ति बनी हुई है कि " सदकारणवन्नित्यं ", जो सत् होता हुआ अपने जनक कारणोंसे रहित है वह नित्य है। सत् संवेदनका कारण जब बौद्ध मान नहीं रहे हैं तो वह अवश्य नित्य हो जायगा। अन्यथा यानी कार्यकारणभाव नहीं मानते हुये सत् भी न माना जायगा तो आकाशके कमल, वन्ध्यापुत्र, आदिके समान प्रमारहित यानी प्रमाका विषय न होता हुआ असत् हो जायगा। यहां नित्यके लक्षणमें सत् विशेषण तो प्रागभावमें अतिव्याप्तिके निवारणार्थ दिया है और घट, पट, आदिमें अति प्रसंगको हटानेके लिये विशेष्य दल अकारणवत् रखा है।

सर्वथैवाफलत्वाच्च तस्याः सिद्धयेन्न वस्तुता ।
सफलत्वे पुनः सिद्धा कार्यकारणतांजसा ॥ १० ॥

प्रत्येक द्रव्य अनादिसे अनन्तकालतक परिणमन करता है। पूर्ववर्त्ती पर्याय उपादान कारण है और उत्तरवर्त्ती पर्याय उपादेय है। वह उत्तरकालवर्त्ती पर्याय भी तदुत्तरकालवर्त्ती पर्यायको उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है। यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका क्रम अनाधनन्त है। तभी वस्तुपना व्यवस्थित हो रहा है, अन्यथा नहीं। यहां प्रकरणमें संवेदनका कारण न माननेपर दोष कहा जा चुका है। अब संवेदनका उत्तरवर्त्ती कार्य न माननेपर आचार्य दोष देते हैं कि और उस संवेदनको सभी प्रकार यदि फलरहित माना जायगा उससे तो उस संवेदनका वस्तुपना सिद्ध नहीं होवेगा। जो अर्थ अर्थक्रियाको करनेवाले हैं वे वस्तुभूत पदार्थ माने गये हैं। यदि संवेदनको फलसहितपना स्वीकार किया जायगा तब तो फिर बडी शीघ्रतासे कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। उत्तरवर्त्ती फलको उत्पन्न करना ही तो संवेदनका कार्य है।

न संविदकारणा नापि सकारणा नाफला नापि सफला यतोऽयं दोषः। किं तर्हि ? संवित्संविदेवेति चेत्, नैवं परमब्रह्मासिद्धेः संविन्मात्रस्य सर्वथाप्यसिद्धेः समर्थनात् ।

बौद्ध कहते हैं कि हमारी मानी गयी संवित्ति न तो कारणोंसे रहित है और अपने जनक कारणोंसे सहित भी नहीं है तथा वह संवित्ति न तो फलरहित है और वह फलसहित भी नहीं है, जिससे कि ये उक्त दोष हमारे ऊपर लागू हो जाय। तो संवित्ति क्या है ? कैसी है ? इस प्रश्नके उत्तरमें हम बौद्धोंका यह कहना है कि संविद् तो विचारी संविद् ही है। जैसे कि स्वानुभूति स्वानुभूति ही है। अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना तो उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो परमब्रह्मकी सिद्धि हो जावेगी, आप बौद्धोंके समान वे ब्रह्माद्वैतवादी भी ब्रह्म ब्रह्म ही है, ऐसा कहकर सब दोषोंको हटानेका प्रयत्न कर सकते हैं। आपके केवल शुद्ध संवेदनकी सब प्रकारोंसे भी सिद्धि न होनेका समर्थन कर दिया गया है।

वाच्यवाचकताप्येवमिष्टानिष्टात्मनोः स्वयम् ।
साधनाद्दूषणाच्चापि वाग्भिः सिद्धान्यथा न तत् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार संवेनाद्वैतवादियोंके यहां वाच्यवाचकभाव भी सुलभतासे सिद्ध हो जायगा। क्योंकि वे स्वयं अपने इष्टस्वरूप पदार्थका साधन वचनोंसे और अनिष्ट स्वरूप पदार्थके दूषण करनेका वचनोंसे प्रयोग करते हैं। अन्यथा यानी वाच्यवाचकभावको माने विना वह इष्टसाधन और अनिष्ट दूषण प्रतिपाद्य श्रोताओंके प्रति नहीं समझाया जा सकेगा ।

स्वयमिष्टानिष्टयोः साधनदूषणे परं प्रति वाग्भिः प्रकाशयित्वातीत्य वाचकभावं निराकरोति कथं स्वस्थः । नो चेत् कथमिष्टानिष्टयोः साधनदूषणमिति चिंत्यं ।

बौद्ध स्वयं अपने इष्टसंवेदन अद्वैतका साधन और अनिष्ट द्वैतके दूषणको दूसरे वादियों या शिष्योंके प्रतिवचनोंके द्वारा प्रकाशित करके फिर वाच्यवाचक भावका उल्लंघन कर निराकरण करता है, ऐसा बौद्ध कैसे नीरोग (उन्मत्त नहीं) कहा जा सकेगा ? । यदि वचनों द्वारा परके प्रति प्रतिपादन करना न माना जायगा तो इष्टतत्त्वका साधन और अनिष्टतत्त्वका दूषण कैसे कर सकोगे ! इसकी तुम स्वयं चिन्ता करो अर्थात्— वाच्यवाचक भावको माने विना दूसरोंके समझानेकी चिन्ता सर्वदा बनी रहेगी । गूंगेपन और बहिरेपनसे तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है ।

संवृत्या चेत् न तया तस्योक्तस्याप्यनुक्तसमत्वात् । स्वप्नादिवत्संवृतेर्मृषारूपत्वात् । तदमृषारूपत्वे परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रं स्यात्ततो न ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संविन्मात्रमपि शून्यसाधनाभावात् सर्वशून्यतावत् ।

परमार्थरूपसे नहीं किन्तु व्यवहारसे साधन, दूषणके वचन कहो सो तो ठीक नहीं । क्योंकि उस व्यवहारसे कहा गया भी वह साधन, दूषणका वचन नहीं कहा गया सरीखा ही है । जैसे कि स्वप्न, मृगी, मूर्च्छा आदि अवस्थाके वचन हैं। क्योंकि आपके यहां संवृत्तिको झूंठस्वरूप माना है । यदि उस संवृतिको सत्यस्वरूप माना जायगा तब तो आपने यथार्थ वस्तुका नाम संवृति कर रखा दीखता है। इस प्रकार संवृतिसे वाच्यवाचक भाव है। यह वास्तविकरूपसे वाच्यवाचक भावका केवल दूसरा नाम धर लिया गया कहना चाहिये। तिस कारण ग्राह्यग्राहक भाव, बाध्यबाधक भाव, आदिसे शून्य केवल संवेदनमात्र भी तत्त्व सिद्ध नहीं हुआ । क्योंकि सर्वकी शून्यताके समान अकेले ज्ञानके अतिरिक्त पदार्थोंकी शून्यताके भी साधनका अभाव है। यहांतक तीसरी, चौथी, वार्त्तिकका उपसंहार कर दिया गया है ।

तत्सत्प्ररूपणं युक्तमादावेव विपश्चिताम् ।
क्वान्यथा परधर्माणां निरूपणमनाकुलम् ॥ १२ ॥

पारसकीक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तिस कारण सम्पूर्ण प्ररूपणाओंके आदिमें विद्वान् लोगोंको पदार्थोंके सद्भावका प्ररूपण करना ही समुचित है। अन्यथा यानी वस्तुके सद्भावका निर्णय हुये विना उसके अन्यधर्मोंका आकुलता रहित होकर प्रतिपादन करना भला कहां बन सकता है ? अर्थात् नहीं। सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यात ।

सत्प्ररूपणाभावेऽर्थानां धर्मिणामसत्त्वात् क संख्यादिधर्माणां प्ररूपणं सुनिश्चितं प्रवर्तते शशविषाणादिवत् । कल्पनारोपितार्थेषु तत्प्ररूपणमिति चेत् न तेष्वपि कल्पनारोपितेन रूपेणासत्सु न तन्निरूपणं युक्तमतिप्रसंगात् । सत्सु तन्निरूपणे सत्प्ररूपणमेवादौ प्रेक्षावतां युक्तमिति निराकुलम् ।

पदार्थोंके सद्भावका निरूपण न होनेपर धर्मियोंकी सत्ता न सिद्ध होसकनेके कारण संख्या, क्षेत्र, आदि धर्मोंका भले प्रकार निश्चित होकर किया गया प्रतिपादन करना भला कहां प्रवर्त्त सकता है ? जैसे कि शशके सींगों आदिकी सत्ता न होनेके कारण उन सींगोंके लम्बापन, चिकनापन, गोलाई, कठिनता आदि धर्मोंका कथन नहीं हो पाता है। यदि शून्यवादी कल्पनासे आरोपे गये अर्थोंमें उस सत्की प्ररूपणा होना मानेंगे सो तो ठीक नहीं। क्योंकि कल्पनासे आरोपे गये स्वरूप करके असत्रूप उन पदार्थोंमें भी उस सत्का प्ररूपण करना तो युक्त नहीं हैं। क्योंकि यों तो अतिप्रसंग होजायगा। यानी कल्पनामें प्राप्त हुये आकाशकुसुम आदि असत् पदार्थोंकी सत्ताका भी प्ररूपण होने लग जायगा और यदि कल्पनासे आरोपे गये स्वरूप करके सद्भूत हो रहे पदार्थोंमें यदि उस सत्ताका निरूपण करना माना जायगा, तब तो सबकी आदिमें सत्का प्ररूपण करना ही हित, अहित, विचारनेकी बुद्धिको रखनेवाले विद्वानोंको उचित है, यह निराकुल होकर सिद्ध कर दिया गया है।

निर्देशवचनादेतन्निन्नं द्रव्यादिगोचरात् ।
सन्मात्रविषयीकुर्वदर्थानास्तित्वसाधनम् ॥ १३ ॥

केवल स्थूलद्रव्य या सदृश व्यंजनपर्यायरूप कतिपय पदार्थोंको या द्रव्य, गुण, आदिको विषय करनेवाले निर्देशके वचनसे यह सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थोंकी केवल सत्ताको विषय करता हुआ अस्तित्वको साधनेवाला सत्ताका प्ररूपण न्यारा है।

निर्देशवचनात्सत्त्वसिद्धेः सद्वचनं पुनरुक्तमित्यसारं, निर्देशवचनस्य द्रव्यादिविषयत्वात् सद्वचनस्य सन्मात्रविषयत्वात् भिन्नविषयत्वेन ततस्तस्य पुनरुक्तत्वासिद्धेः । न हि यथा जीवादयो साधारणधर्माधाराः प्रतिपक्षव्यवच्छेदेन निर्देशवचनस्य विषयास्तथा सद्वचनस्य तेन सर्वद्रव्यपर्यायसाधारणेन सत्त्वस्याभिधानात् ।

पहिले निर्देशस्वामित्वसाधन आदि सूत्रमें कहे गये निर्देशके कथनसे ही पदार्थोंकी सत्ता सिद्ध हो जाती है तो फिर इस सूत्रमें सत्का वचन करना पुनरुक्त है, इस प्रकार किसीका कहना तो साररहित है। क्योंकि शब्दके द्वारा कहे जाने योग्य द्रव्य, गुण, क्रिया, संयोगी, समवायी, यदृच्छा आदिको विषय करनेवाला ही निर्देश वचन है और इस सूत्रमें सत्प्ररूपणका वचन तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी केवल सत्ताको विषय करनेवाला है। अतः भिन्न भिन्न विषय होनेके कारण उस निर्देश वचनसे उस सत् वचनको पुनरुक्तपना असिद्ध है। असाधारण धर्मोंके आधार होते हुए कतिपय जीव आदिक पदार्थ जैसे प्रतिकूल पक्षकी व्यावृत्ति करके निर्देश कथनके विषय हैं, तिस प्रकार असाधारणधर्मके आधार होते हुये वे सत् कथनके विषय नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें साधारण रूपसे रहनेवाले तिस सद्वचन करके सामान्यसत्ताका कथन किया जाता है। यानी निर्देशका विशेष विषय है और सत्का विषय सामान्य है, यही दोनोंका भेद है। इतना क्या थोडा अन्तर है ?।

तस्यापि स्वप्रतिपक्षासत्त्वव्यवच्छेदेन प्रवृत्तेरसाधारणविषयत्वमेवेति चेन्न, असत्त्वस्य सदंतररूपत्वेन सद्वचनादव्यवच्छेदात्। भवदपि सामर्थ्यान्नास्तित्वसाधनं सद्वचनं स्वप्रतिपक्षव्यवच्छेदेन सन्मात्रगोचरं निर्देशवचनाद्भिन्नविषयमेव ततो महाविषयत्वात्। निर्दिश्यमानवस्तुविषयं हि निर्देशवचनं न स्वामित्वादिविषयं, सद्वचनं पुनः सर्वविषयमिति महाविषयत्वं।

यहां यदि कोई यों शंका करे कि उस सत् वचनकी भी अपने प्रतिपक्षी असत्ताकी व्यावृत्ति करके प्रवृत्ति हो रही है, अतः वह भी सम्पूर्ण सत्, असत्, पदार्थोंमें नहीं प्रवृत्त होता हुआ असाधारण सत्पदार्थोंका ही विषय है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि असत्ताको हम तुच्छ अभावरूप पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु एककी असत्ता दूसरेकी सत्ता रूप है। रीता भूमिभाग ही घटकी असत्ता है। प्रकरणमें प्राप्त हुये सत् पदार्थसे रहित और दूसरे सत्स्वरूपपने कर व्यवस्थित हो रहे असत्त्वका सत्वचनसे व्यवच्छेद नहीं होता है। अतः सत्ता वस्तुभूत सत्, असत् पदार्थोंमें रहने वाली होती हुई साधारण है। असाधारण विषयवाली नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति प्रमाणकी सामर्थ्यसे प्रतिपक्षके नास्तित्वको साधनेवाला और अपने प्रतिपक्षीके व्यवच्छेद करके केवल सत्ताको विषय करनेवाला होता हुआ भी सत्ताका वचन निर्देशवचनसे भिन्न विषयवाला ही है। क्योंकि सम्पूर्ण सद्भूत पदार्थोंके अनन्तानन्तवें भाग रूप कतिपय मध्यम संख्यात रूप संख्याको धारनेवाले पदार्थोंको ही कहनेवाले उस निर्देशवचनसे यह सत्प्ररूपण महान् विषयवाला है। देखो ! निर्देश कथन तो शब्दों द्वारा कथन किये गये वस्तुको ही विषय करता है। तभी तो परस्परमें भिन्न होती हुई पहिले सूत्रमें छह प्ररूपणायें की गयी हैं और यह सत् वचन तो फिर सम्पूर्ण ही निर्दिश्य, स्वामित्व, साधन, आदि सब ही को विषय करता है। इस कारण इसका विषय महान् है। समझे ! ! !

सत्त्वमपि निर्दिश्यमानं निर्देशवचनेन विषयीक्रियमाणं न तस्याविषय इति चेन्न, स्वामित्वादि वचनविषयसत्त्वस्य तदविषयत्वात्। किं सदिति हि प्रश्ने स्यादुत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सदिति निर्देशवचनं, न पुनः कस्य, सत् केन, कस्मिन्, कियच्चिरं, किं विधान-मिति प्रश्नेष्वपि तत्र स्वामित्वादिवचनावतारात्। नैवं, सद्वचनं किमित्यनुयोग एव प्रवर्तते सर्वथा सर्वानुयोगेषु तस्य प्रवृत्तेः।

पुनः शंकाकार कहता है कि शब्दके द्वारा निर्देश की गयी सत्ता भी निर्देश कथन करके विषय की जा रही है। अतः उस निर्देशवचनकी अविषय नहीं है। अर्थात्–जिस ढंगसे निर्देश वचनका व्यापक सत् कह दिया गया है, उसी प्रकार सत्संख्या, आदिका भी निर्देश हो जानेके कारण निर्देश कथन भी सत्तासे महाविषयवाला होकर व्यापक हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि स्वामित्व, साधन आदि वचनको विषय करनेवाली सत्ता उस निर्देश वचनका व्याप्य होकर विषय नहीं है। अतः सत्ताका पेट बडा है। सत् क्या है। ऐसा प्रश्न करनेपर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत् है, यह निर्देश वचन ही उत्तर हो सकेगा। किन्तु फिर किस स्वामीका सत् है? किस साधन करके सत् बनाया जाता है? किस अधिकरणमें कितनी देर तक, और कितने प्रकारका सत् है? इस प्रकार प्रश्न उतरनेपर तो फिर सत् ऐसा निर्देश वचनरूप उत्तर नहीं उतरता है। वहां तो उत्तरमें स्वामिपन, साधन, आदिके वचनोंका ही अवतार होगा, तभी तो निर्देश आदि छःप्ररूपण ये हैं। इस प्रकार क्या है? केवल ऐसा प्रश्न होनेपर ही सत्वचन नहीं प्रवर्त्तता है। प्रत्युत सभी प्रकार स्वामित्व, आदिके सभी प्रश्नोंमें उस सद्वचनकी प्रवृत्ति है। अतः निर्देशवचनसे सत्प्ररूपणा व्यापक है, तभी तो दूसरे सूत्र द्वारा न्यारी कही गयी है।

संख्यादिवचनविषये सद्वचनस्याप्रवृत्तेर्न सर्वविषयत्वमिति चेन्न, तस्यासत्त्व-प्रसंगात्। न ह्यसंत एव संख्यादयः संख्यादिवचनैर्विषयीक्रियंते तेषामसत्त्वप्रसंगात्। सतां तेषां विषयीकरणे सिद्धं, सद्वचनेनापि विषयीकरणमिति तदेव सर्वविषयत्वेन महाविषयं ततो न पुनरुक्तम्।

निर्देश करने योग्य संख्या, क्षेत्र, आदिके वचन विषयोंमें सत् वचनकी प्रवृत्ति न होनेसे संख्या (सत्ता) को सर्व विषयपना नहीं बन पाता है, तभी तो परस्परमें एक दूसरेसे न्यारी होती हुई सत्, संख्या, आदि आठ प्ररूपणायें बन सकेंगी, यह तो न कहना। क्योंकि संख्या आदिक वचनोंके विषयोंमें भी सत्पना व्याप रहा है। अन्यथा उस संख्या आदिके वचनोंके विषयको असत्पनेका प्रसंग हो जायगा। असत्स्वरूप ही होते हुये संख्या आदिक तो संख्या, क्षेत्र, आदिको कहनेवाले वचनों करके नहीं विषय किये जाते हैं। यों तो उन संख्या, आदिकोंके खरविषाण समान असत्पनेका प्रसंग होगा। संख्या आदिके वचनों करके उन सद्भूत ही संख्या आदिकोंका विषय किया जाना माननेपर तो पहिले विषयको प्राप्त नहीं हुयेका भी सत् वचनकरके

विषय किया जाना (अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः) सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार वह सत्प्ररूपण ही सबको विषय करनेवाला होनेके कारण महाविषयवाला है। तिस कारण निर्देश कह चुकनेपर भी आवश्यकतावश सत् कहा गया है। पुनरुक्त दोषका प्रसंग नहीं आता है।

गत्यादिमार्गणास्थानैः प्रपंचेन निरूपणम्।
मिथ्यादृष्ट्यादिविख्यातगुणस्थानात्मकात्मनः ॥ १४ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार इन चौदह मार्गणा स्थानोंकरके मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली इन प्रसिद्ध हुये चौदह गुणस्थानस्वरूप जीवका विस्तार करके प्ररूपण कर लेना चाहिये।

कृतमन्यत्र प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यशेषः। सोपस्कारत्वात् वार्तिकस्य सूत्रवत्।

दूसरे धवलसिद्धान्त, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें तथा स्वकीय विशारद महोदयमें सामान्य और विशेषरूपसे विस्तारके साथ किया गया प्ररूपण वहांसे समझना चाहिये। इतना वाक्यशेष रह गया था, सो उपर्युक्त चौदहवी वार्त्तिकका अर्थ करते समय जोड लेना। क्योंकि सूत्रोंके समान वार्त्तिक भी अपना व्यक्त अर्थ करानेके लिये यथायोग्य परिशिष्ट ऊपरके वाक्योंका आकर्षण कर लेते हैं। अन्यथा लघुशरीरवाले वार्त्तिकसे इतना गम्भीर अर्थ निकालना दुःसाध्य है। यहांतक सत्का व्याख्यान हो चुका है।

संख्या संख्यावतो भिन्ना न काचिदिति केचन।
संख्यासंप्रत्ययस्तेषां निरालंबाः प्रसज्यते ॥ १५ ॥

दूसरी संख्याकी प्ररूपणाका प्रारम्भ होनेपर प्रथम ही इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं कि संख्यावान् पदार्थसे संख्या कोई भिन्न नहीं है। इसपर आचार्योंका कहना है कि उन बौद्धोंके यहां संख्याके समीचीन ज्ञानको आलम्बन रहितपनेका प्रसंग होता है। अर्थात् आकाश कुसुमके ज्ञान समान संख्याका ज्ञान विषयरहित हो जायगा। अपने असद्भूत विषयको नहीं जान पायेगा।

नैव संख्यासंप्रत्ययोस्तींद्रियजः तत्रैकस्मिन् स्वलक्षणप्रतिभासमाने स्पष्टमेकत्वसंख्यायाः प्रतिभासनाभावात्। नहीदं स्वलक्षणमियमेकत्वसंख्येति प्रतिभासद्वयमनुभवामः। नापि लिंगजोऽयं संख्यासंप्रत्ययः संख्याप्रतिबद्धलिंगस्य प्रत्यक्षसिद्धस्याभावात्। ततएव

न शब्दोऽयं प्रत्यक्षानुमानमूलः। योगिप्रत्यक्षमूलोऽयमिति चेन्न, तस्य तथावगंतुमशक्यत्वात्। ततोऽयं मिथ्याप्रत्ययो निरालम्बन एवेति केचित्, तेषां तस्य दिशाविनियमो न स्यात्। कारणरहितत्वादन्यानपेक्षणात् सर्वदा सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्येत। निरालम्बनोपि समनंतर-प्रत्ययनियमात् प्रतिनियतोयमिति चेन्न बहिःसंख्यायाः प्रतीयते।

बौद्ध अपने मन्तव्यको पुष्ट करते हैं कि भिन्न संख्याका समीचीन ज्ञान होना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो है नहीं, क्योंकि तिस इन्द्रियजन्य एक प्रत्यक्षमें स्वलक्षणके स्पष्टरूपसे प्रतिभास हो जाने-पर एकत्व संख्याका तो न्यारा प्रतिभास नहीं होता है। हम बौद्ध यह स्वलक्षणतत्त्व है और उसकी यह न्यारी एकत्व संख्या है, इस प्रकार होते हुये दो प्रतिभासोंका अनुभव नहीं कर रहे हैं, तथा न्यारी संख्याका यह समीचीन ज्ञान तो हेतुजन्य अनुमानस्वरूप भी नहीं है, यानी अनुमान प्रमाणसे भी संख्या नहीं जानी जाती है। क्योंकि संख्यारूप साध्यके साथ व्याप्तिको रखनेवाले और प्रत्यक्ष प्रमाणसे साधे गये ऐसे हेतुका अभाव है। तिस ही कारण यह संख्याका ज्ञान शाब्दबोध (आगम) रूप भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानको मूलकारण मानकर शाब्दबोधकी प्रवृत्ति होती चली आरही है। किन्तु, यहां प्रत्यक्ष, अनुमानकी प्रवृत्ति होनेका निषेध किया जा चुका है। यदि कोई यों कहे कि सभी प्रत्यक्षोंको नहीं, किन्तु समाधिरूप योगको धारनेवाले सर्वज्ञके प्रत्यक्षको मूलभित्ति मानकर यह शाब्दबोध प्रवर्त्तता है। अतः प्रत्यक्षमूलक होता हुआ शब्दबोध संख्याका भले प्रकार ज्ञान करलेगा। बौद्ध कहते हैं कि सो यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका तिस प्रकार सर्वज्ञको मूल मानकर प्रवर्त्तना जाननेके लिये अशक्यता है। सभी अपने अपने आगमोंको सर्वज्ञसे प्रतिपादित हुआ मानते हैं। किन्तु इसका निर्णय नहीं किया जासकता है। तिस कारण तीनों प्रमाणरूप न होता हुआ यह संख्याको जाननेवाला मिथ्याज्ञान अपने ज्ञेय विषयसे रहित ही है, इस प्रकार कोई सौगत कह रहे हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि उनके यहां कारणरहित होनेसे और अन्यकी नहीं अपेक्षा रखनेसे उस संख्या ज्ञानके उपदेशका विशेष नियम न हो सकेगा, अर्थात्—कहीं भी चाहे जितनी संख्याका प्रयोग किया जासकेगा। कारणरहित या अन्य निरपेक्ष होनेसे आकाशके समान या तो सदा ही सत् होजायगा अथवा खरविषाणके समान सदा असत् होजानेका ही प्रसंग होजावेगा। एक पदार्थमें दो, चार आदिका ज्ञान भी होजावेगा और दो, चार, पदार्थोंको एक भी कह सकेंगे। संख्या ज्ञानके नियत रहनेकी कोई व्यवस्था न हुई। आलम्बनसे रहित ज्ञान किसी भी मिथ्याज्ञानीके चाहे जब हो सकेंगे। कोई नियामक नहीं। किन्तु यह संख्याका ज्ञान अव्यवस्थित तो नहीं है। यदि बौद्ध यों कहें कि यह संख्याको जाननेवाला ज्ञान तो निर्विषय होता हुआ भी अव्यवहित पूर्ववर्त्ती ज्ञान होनेके नियमसे प्रतिनियत होरहा है। अर्थात्—अनादिकालीन वासनाओंसे उत्पन्न होकर अव्यवहित पूर्वसमयोंमें संख्याका ज्ञान अपने उपादान कारणवश यहां ही उसी समय संख्याको जतावेगा। सर्वत्र सर्वदा नहीं। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि प्रतिनियत

संख्यासे बाहर यह ज्ञान प्रतीत होरहा है अथवा परिगणित पदार्थोंमें प्रतिनियत हो रही और संख्यावान्‌से कथंचित् बहिर्भूत संख्याकी प्रतीति हो रही है। लोक इसका साक्षी है। कोई मिथ्या वासनाओं द्वारा मनगढन्त नहीं है।

वासनामात्रहेतुश्चेत्सा मिथ्याकल्पनात्मिका।
वस्तुसापेक्षिकत्वेन स्थविष्ठत्वादिधर्मवत्॥ १६॥
नीरूपेषु शशाश्वादिविषाणेष्वपि किं न सा।
तत्कल्पनासु सत्यासु स्वरूपेण तु सांजसा॥ १७॥

जैसे कि बेरकी अपेक्षा बिल्व (बेल) स्थूल है और बिल्वसे नारियल मोटा है तथा अंगुलीसे लेखनी और लेखनीसे बेत लम्बा है, इस प्रकार ये स्थूलपन, लम्बापन, आदि धर्म जैसे अन्य वस्तुओंकी अपेक्षासहितवाले होनेके कारण मिथ्या कल्पनास्वरूप हैं, वैसे ही दो, तीन, चार आदि संख्याओंके ज्ञान भी केवल झूंठी वासनाओंको कारण मानकर उत्पन्न हुये हैं। अतः मिथ्या कल्पना स्वरूप हैं, वास्तविक नहीं हैं। यदि वस्तुभूत होते तो दूसरोंकी अपेक्षा नहीं करते, जैसे रूप, रस, सुख आदि पदार्थ किसीकी अपेक्षा नहीं करते हैं। किन्तु द्वित्व, त्रित्व, आदिक संख्यायें तो अन्योंकी अपेक्षा रखती हैं। जो अन्यापेक्ष है वह मनगढन्त है। परमार्थभूत नहीं है, इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि यों तो स्वरूपरहित शशशृंग या अश्वशृंग आदिमें भी वह मिथ्याकल्पना स्वरूप संख्या क्यों न होजावेगी। यदि यों कहो कि उनकी कल्पनाओंमें है ही, तब तो वस्तुभूत कल्पनाओंमें स्वरूपसे मान ली गयी संख्या स्पष्ट ही वास्तविक रूपसहित समझी जायगी मनगढन्त नहीं।

बहिर्वस्तुषु संख्याध्यवसीयमाना वासनामात्रहेतुका मिथ्याकल्पनात्मिकैवापेक्षिकत्वादिधर्मवदिति चेन्न, नीरूपेषु शशादिविषाणेष्वपि तत्प्रसंगात्। तत्कल्पना स्वस्त्येवेति चेत् तर्हि ताः कल्पनाः स्वरूपेण सत्याः किं वा न सत्याः? न तावदुत्तरः पक्षः स्वमतविरोधात्। कथमिदानीं स्वरूपेण सत्यासु कल्पनासु संख्या परमार्थतो न स्यात्, तास्वपि कल्पनांतरारोपितापेक्षिकत्वाविशेषात् बहिर्वस्तुष्विवेति चेत्, स्यादेवं यदि हि कल्पनारोपितत्वेनापेक्षिकं व्याप्तं सिध्येत्।

घट, पट, आदि बहिरंग वस्तुओंमें निर्णीत की जा रही संख्या केवल वासनाको कारण मानकर उत्पन्न हुई है। अतः अपेक्षासे होनेवाले या व्यवहारसे यों ही गढलिये गये स्थूलत्व, परत्व, अपरत्व, सूक्ष्मत्व, आदि धर्मोंके समान द्वित्व, त्रित्व संख्या भी मिथ्याकल्पना स्वरूप ही है। जैसे कि गोल चलनीके चाहे जिस छेदमें दूसरापन, बीसवांपन, सौमापन ये धर्म अपेक्षाओंसे रह जाते हैं, तैसे ही चाहे जिन पदार्थोंमें दोपना, बीसपना आदि अनियत संख्यायें अपेक्षा बुद्धिसे गढ ली जाती

हैं। वे वस्तुभूत नहीं हैं। निर्विकल्पक ज्ञान तो सत्य हैं। हां, निश्चयात्मकज्ञान असत्य हैं, निरालम्बन हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यों तो सर्वथा स्वरूप रहित शश, मनुष्य, मत्स्य आदि सम्बधी विषाणों (सींगों) में भी आपेक्षिक धर्मोंके और उस संख्याके रहनेका प्रसंग होगा। यदि तुम बौद्ध यों कहो कि उनकी कल्पना बुद्धियोंमें संख्या विद्यमान है ही, ऐसा कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि क्या वे कल्पनायें स्वरूपसे सत्य हैं ? अथवा क्या वे स्वरूपसे सत्य नहीं हैं ? बताओ ? तिन दो पक्षोंमें पिछला पक्ष तो अपने मतसे विरोध होनेके कारण ठीक न पडेगा। बौद्धोंने कल्पनाको अपने कल्पनारूप शरीर करके तो सत्य ही माना है। अन्यथा कल्पना कल्पनारूप न ठहर सकेगी, वस्तुभूत बन बैठेगी। प्रथमपक्षके अनुसार कल्पनाओंको यदि सत्य माना जायगा तब तो स्वरूपसे सत्य कल्पनाओंमें ठहरी हुई संख्या भला अब परमार्थ रूपसे क्यों न हो सकेगी ? यदि पुनः बौद्ध यों कहें कि बहिरंग वस्तुओंके समान उन स्वरूप सत्य कल्पनाओंमें भी दूसरी अन्य कल्पनाओंसे आरोपा गया आपेक्षिकपना अन्तररहित होकर वर्त्तता है, अतः वे कल्पनायें कल्पित हैं और कल्पनासे आरोपी गयी द्वित्व, आदि संख्या भी आपेक्षिक है। वस्तुभूत नहीं है, ऐसा कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था कि यदि कल्पना द्वारा आरोपितपने करके आपेक्षिकपना व्याप्तसिद्ध हो जाता। किन्तु कल्पितपनेसे व्याप्त हो रहा आपेक्षिकपना सिद्ध नहीं हुआ है। अर्थात्—जो जो आपेक्षिक है वे वे झूंठी कल्पनाओंसे आरोपित हैं, यह व्याप्ति ठीक नहीं है। दुग्ध, घृत, द्राक्षा, गुड, शर्करा आदिमें माधुर्य तारतम्य रूपसे आपेक्षिक है। किन्तु कल्पित नहीं है। रस गुणकी माधुर्य पर्यायके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता और अधिकतासे हुआ मीठापन वस्तुभूत है। इसी प्रकार स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व भी अकल्पित होते हुये आपेक्षिक हैं। अतः आपेक्षिक होती हुई भी संख्या पारमार्थिक है।

न चापेक्षिकता व्याप्ता नीरूपत्वेन गम्यते।
वस्तुसत्स्वपि नीलादिरूपेष्वस्याः प्रसिद्धितः ॥ १८ ॥

और आपेक्षिकपना निःस्वरूपपनेसे व्याप्त हो रहा नहीं जाना जा रहा है। क्योंकि वास्तविक रूपसे सत्स्वरूप भी नील, बढिया नील, बहुत अच्छा नील, आदि रूपोंमें इस आपेक्षिकपनेकी प्रसिद्धि हो रही है। किन्तु वे नील, नीलतर, नीलतम, आदि रंग गगनकुसुमके समान निःस्वरूप तो नहीं हैं।

नीलनीलांतरयोर्हि रूपो यथा नीलापेक्षं नीलांतररूपं तथा नीलांतरापेक्षं नीलमिति नीलादिरूपेषु वस्तुसत्स्वपि भावादपेक्षिकताया न कल्पनारोपितत्वेन व्याप्तिरवगम्यते यतः संख्यांतरया बहिरंतर्नीरूपत्वं।

नीले पुष्प और दूसरे अधिक नीले पुष्पमें रंग है, जिस प्रकार नीलकी अपेक्षा रखता हुआ दूसरा अधिक नील रंग है, तिसी प्रकार दूसरे अधिक नीलेकी अपेक्षा रखता हुआ पहिला थोडा नीला रंग है। इस प्रकार परमार्थरूपसे सद्भूत नील आदिक रंगोंमें भी आपेक्षिकपना विद्यमान है। अतः व्यभिचार दोष होनेके कारण आपेक्षिकपने हेतुकी कल्पनासे आरोपेगयेपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं जानी जाती है, जिससे कि कल्पनाओंसे आरोपी गयी अन्तरंग, बहिरंग, पदार्थोंमें रहनेवाली संख्याको निःस्वरूपपना हो जाय। अथवा अन्य पदार्थोंमें ठहरी हुई दूसरी संख्यासे प्रकृत संख्याको बाहर भीतर स्वरूपरहितपना प्राप्त हो जाय। भावार्थ—आपेक्षिक भी संख्या वस्तुभूत है स्वरूपशून्य नहीं है।

यदि पुनरस्पष्टावभासित्वे सत्यापेक्षिकत्वादिति हेतुस्तदा साधनविकलो दृष्टांतः, स्थविष्ठत्वादिधर्माणां स्पष्टावभासित्वात्। तत्र भ्रांतमिति चेन्न, बाधकाभावात्। स्थविष्ठत्वादिधर्मप्रतिभासो न स्पष्टो विकल्पत्वादनुमानादिविकल्पवदित्यनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, पुरोवर्तिनि वस्तुनींद्रियजविकल्पेन स्पष्टेन व्यभिचारात्।

फिर बौद्ध यदि यों कहें कि हम केवल आपेक्षिकपने हेतुसे कल्पनासे आरोपितपनेकी सिद्धि नहीं करते हैं, किन्तु कल्पनारोपितपनेको साधनेमें अस्पष्ट रूपसे प्रतिभासवाले होते सन्ते आपेक्षिकपना इतना हेतु कहते हैं, तब तो हम जैन कहते हैं कि आप बौद्धोंका माना गया दृष्टान्त साधनसे रहित होगया। क्योंकि स्थूलपना, छोटापना, लम्बापन, आदि धर्मोंके भी स्पष्ट प्रकाशित होनापन विद्यमान है। अतः हेतुका विशेषण अस्पष्ट प्रकाशीपन न रहनेसे दृष्टान्तमें हेतु न रहसका। इस पर आप बौद्ध यदि यों कहें कि उन स्थूलपना आदि धर्मोंमें स्पष्ट प्रकाशितपना तो भ्रमयुक्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि स्थूलपन आदिको बाधा देनेवाले प्रमाणका अभाव है। सीपमें हुये चांदीके ज्ञानका "यह चांदी नहीं है" इस आकारवाला बाधकप्रमाण होरहा है। अतः वह भ्रान्त कहा जाता है। किन्तु यहां तो कोई बाधक नहीं है। यदि आप यह बाधक प्रमाण उठावें कि बेर, आमला, अमरूद, आदिमें स्थूलपन, आदि धर्मोंका प्रतिभास होना (पक्ष) स्पष्ट नहीं है (साध्य) विकल्पज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि अनुमान, स्मृति, आदिक सविकल्पकज्ञान स्पष्टरूपसे जाननेवाले नहीं है (दृष्टान्त)। अतः सविकल्पकज्ञान भ्रान्त हैं। यह अनुमान उस स्थूलत्वादि धर्मोंके स्पष्ट प्रकाशितपनका बाधक है, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आपके दिये हुये बाधक अनुमानका सन्मुख रखी हुई वस्तुमें स्पष्टरूपसे हुये इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानसे व्यभिचार आता है। अर्थात्—आंखोंके आगे रखे हुये घट, पट, पुस्तक आदिमें इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञान स्पष्ट रूपसे प्रवर्त्त रहा है। किन्तु वहां स्पष्टपनेका अभावरूप साध्य नहीं है। अतः बाधक अनुमानका हेतु व्यभिचारी है। प्रमाणज्ञानका बाधक झूंठा ज्ञान नहीं होसकता है।

तस्यापि पक्षीकरणादव्यभिचार इति चेत्तर्हि संभाव्यव्यभिचारी हेतुः स्पष्टत्वेन विकल्पत्वस्य विरोधासिद्धेः क्वचिद्विकल्पत्वस्यास्पष्टत्वेन दर्शनात् स्पष्टत्वेन विरोधे चंद्रद्वयप्रतिभासत्वस्य सत्यत्वेनादर्शनात् स्वसंवित्प्रतिभासत्वस्यापि सत्यत्वं माभूत् तथा तद्विरोधसिद्धेरविशेषात्। अथ प्रतिभासत्वाविशेषेपि स्वसंवित्प्रतिभासः सत्यः शशिद्वयप्रतिभासश्चासत्यः संवादादसंवादाच्चोच्यते तर्हि विकल्पत्वाविशेषेपींद्रियजविकल्पः स्पष्टः साक्षादर्थग्राहकत्वात् नानुमानादिविकल्पोऽसाक्षादर्थग्राहकत्वादित्यनुमन्यतां। तथा चेंद्रियजविकल्पे व्यभिचार एव।

यदि बौद्ध उस इन्द्रियजन्य विकल्पको भी पक्षकोटिमें कर देनेसे व्यभिचार होना नहीं मानेंगे अर्थात्—स्थूलपन आदि धर्मोंके प्रतिभास समान इन्द्रियजन्य विकल्प भी स्पष्ट नहीं है। अतः हेतुमान्में साध्यके भी वर्त्तजानेसे व्यभिचार नहीं है, इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि तुम्हारा हेतु सम्भाव्य व्यभिचारी है। क्योंकि विकल्पज्ञानपनेका स्पष्टपनेके साथ कोई विरोध सिद्ध नहीं है। विकल्पज्ञान भी होकर स्पष्ट होसकता है। हां, विरोध होता तो व्यभिचार नहीं हो सकता था। किन्तु जब विकल्पपना होते हुये भी स्पष्टपना रक्षित रह सकता है तो ऐसी दशामें अस्पष्टपना साधनेके लिये कहा गया विकल्पपन हेतुके व्यभिचार दोषकी सम्भावना (सन्देह) अवश्य है, किसी किसी स्मृति या तर्कज्ञानमें विकल्पपना अस्पष्टपनेके साथ देखा जाता है। अतः विकल्पपनेका स्पष्टपनेके साथ विरोध माना जायगा तब तो नीचेके पलकमें कुछ अंगुली गढाकर आंखसे देखनेपर एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रोंका प्रतिभासपना भी सत्यज्ञानपनेसे नहीं देखा जाता है। इस कारण स्वसंवेदनके प्रतिभासको भी सत्यपना नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रतिभासपनका उस सत्यपनके साथ विरोधकी सिद्धि होनेका कोई अन्तर नहीं है। एकसा है। इसपर यदि आप बौद्ध यों कहें कि सामान्य रूपसे प्रतिभासपनेके विशेषतारहित होते हुये भी स्वसंवेदनज्ञानका प्रतिभास होना तो संवाद हो जानेसे सत्य है और दो चन्द्रमाओंका प्रतिभास तो प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति या सफलप्रवृत्तिको पैदा करनारूप संवाद न होनेसे असत्य है। ऐसा कहे जानेपर तब तो हम भी कहते हैं कि विकल्पपनका विशेष न होते हुये भी इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञान स्पष्ट है। क्योंकि वह विशदरूपसे अर्थका ग्राहक है। किन्तु अनुमान, स्मृति, तर्क आदि विकल्पज्ञान तो अविशदरूपसे अर्थके ग्राहक होनेके कारण स्पष्ट नहीं हैं। यह हमारी सम्मति मान लीजिये और तैसा होनेपर इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानमें स्पष्टपना ठहर जानेके कारण व्यभिचार दोष ही तदवस्थ रहा अर्थात्—आप बौद्धोंके द्वारा कहे गये बाधक अनुमानका हेतु व्यभिचारी हुआ।

निर्विकल्पत्वादिंद्रियजस्य ज्ञानस्यानिंद्रियजो विकल्पास्तीति चेन्न, तस्याग्रे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् ततो नावस्पष्टावभासित्वं दृष्टान्तेस्तीति साधनवैकल्यमेव।

बौद्ध यदि यों कहें कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो विकल्पोंसे रहित होकर निर्विकल्पक है। अतः विकल्पज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। ऐसी दशामें हमारी ओरसे दिये हुये बाधक अनुमान प्रमाणका हेतु व्यभिचारी नहीं है। हेतुके न रहते हुये साध्यके रह जानेपर व्यभिचार होता है किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञानमें तो विकल्पपना हेतु नहीं ठहरा है। ऐसी दशामें साध्य भी न रहो, कोई क्षति नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि एकदेशसे विशद जाननेवाला वह इन्द्रियजन्य ज्ञान विकल्पस्वरूप है। इसकी आगे भविष्यग्रन्थमें व्यवस्था करदी जायगी। विश्वास रखिये। तिस कारण विशदरूपसे प्रकाशित हो रहे स्थूलपन आदि दृष्टान्तमें अस्पष्टावभासीपन वह हेतुका सत्यन्तदल नहीं ठहर पाया। तिस कारण बौद्धोंका दिया हुआ दृष्टान्त हेतु विफल ही है।

सर्वत्र संख्यायां च तन्नास्तीति पक्षाव्यापको हेतुर्वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्। न हि स्पष्टावभासिष्वर्थेष्वस्पष्टावभासित्वं संख्यायाः प्रसिद्धं। न च तत्र स्पष्टसंख्यानुभवाभावे तदनुसारी विकल्पः पाश्चात्यो युक्तः पीतानुभवाभावे पीतविकल्पवत्।

दूसरी बात यह है कि संख्याको नीरूपत्व सिद्ध करनेमें दिया गया वह विशदप्रकाशित नहीं होते हुए आपेक्षिकपना हेतु सम्पूर्ण संख्याओंमें नहीं रहता है। इस कारण पक्षमें व्यापकरूपसे न ठहरनेवाला होता हुआ भागासिद्ध है। जैसे कि वनस्पतियोंके चेतनपना सिद्ध करनेमें दिया गया स्वाप (शयन) हेतु, सर्व वनस्पतियोंमें न वर्त्तनेके कारण भागासिद्ध है। कतिपय वनस्पतियां सोती हैं और अनेक वनस्पतियां निद्राकर्मका उदय होते हुए भी अस्मदादिकोंके स्थूलज्ञानसे जानने योग्य स्वरूपको नहीं प्राप्त होती हैं। अतः "ये वनस्पतियां चैतन्ययुक्त हैं, स्वाप होनेसे" इस अनुमानका हेतु भागासिद्ध है, वैसे ही सभी दो, चार, दस, आदि संख्याओंमें अस्पष्ट प्रतिभासीपन नहीं है। स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहे घोडे हाथी, आदि पदार्थोंमें रहनेवाली दो, चार, छह आदि संख्याका अस्पष्ट प्रकाशितपना प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—वहां संख्या स्पष्टरूपसे जानी जारही है। यदि वहां स्पष्टरूपसे संख्याका अनुभव होनेका अभाव माना जायगा तो उस अनुभवके अनुसार होनेवाला पिछला विकल्पज्ञान उत्पन्न होना भला कैसे युक्त होगा, जैसे कि पीतका स्पष्ट अनुभव किये विना पीछेसे पीतका विकल्पज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ—बौद्धोंने निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञानके अनुसार पीछे विकल्पज्ञानोंकी प्रवृत्ति-होना माना है जिसको स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है उसी विषयमें विकल्पज्ञान पीछेसे प्रवर्त्तता है। पीछेसे संख्याका विकल्पज्ञान होना बौद्धोंने माना है। अतः पूर्वमें संख्याका स्पष्टज्ञान अवश्य हो चुका कहना ही पडेगा।

तदभिलापविकल्पे वासना तस्माद्युक्त एवेति चेत् तर्हि पीतादिविकल्पोपि तत एवेति न पीताद्याकारोऽवास्तवोर्थेषु संख्यावदिति नीरूपत्वं। सत्येंद्रियज्ञानेवभासनात् पीताद्या-

कारो वास्तव एवेति चेत् तत एव संख्या वास्तवी किं न स्यात्। नहि सा तत्र नावभासते, तदवभासाभावात् कस्यचित्तदक्षव्यापारानन्तरं तदनिश्चयात् तद्विज्ञाने न तस्याः प्रतिभासनमिति चेत्, ततएव पीताद्याकारस्य तत्र तन्माभूत्।

बौद्ध कहते हैं कि थोडीसी निर्विकल्पकज्ञानकी भित्तिको पाकर मिथ्यावासनाओंके वश अण्ट, सण्ट, अनेक अवस्तुभूत पदार्थोंके विकल्प ज्ञान हो जाया करते हैं। प्रकृतमें भी उस संख्याकी अभिलाषाके विकल्पमें अथवा शब्दयोजनापूर्वक हुये विकल्पमें वासना लगरही थी। उससे अवस्तुभूतसंख्याका विकल्पज्ञान उत्पन्न हो जाना युक्त ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहोगे तब तो हमारा जैनोंका यह आक्षेप है कि तिस ही झूंठी वासनाओंके वशसे पीत, नील, आदिका विकल्पज्ञान भी उत्पन्न हो जाओ। इस प्रकार स्वलक्षण अर्थोंमें आपका माना गया पीत आदिक आकार वास्तविक न होसकेगा जैसे कि पदार्थोंमें संख्या वास्तविक आप नहीं मान रहे हैं। इस ढंगसे पीत आदिक आकार भी निःस्वरूप हो जावेंगे अथवा पीत, नील, आदि आकारोंसे रहित वह स्वलक्षण निःस्वरूप हो जायगा। जो कि आप बौद्धोंको इष्ट नहीं है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि इन्द्रियोंसे जन्य सत्यज्ञानमें प्रकाशित होनेके कारण पीत, नील, आदि आकार वास्तविक ही हैं, ऐसा कहनेपर तो उसी सत्य इन्द्रियजन्य ज्ञानमें प्रकाश रही होनेके कारण संख्या भी वस्तुभूत क्यों न हो जावेगी। वह संख्या उस सत्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें नहीं प्रकाश रही है, सो नहीं समझना। अन्यथा बालगोपालमें प्रसिद्ध हो रहे उस संख्याके प्रतिभासका अभाव हो जावेगा। फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि किसी किसी पुरुषके इन्द्रिय व्यापारके अव्यवहित उत्तरकालमें संख्याका निश्चय नहीं हो पाता है। दूरसे वृक्ष या ताराओंके दीख जानेपर भी उनकी संख्याका निर्णय नहीं हो पाता है। इस कारण उस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें उस संख्याका प्रतिभास होना नहीं माना जाता है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारण यानी किसी किसी भोले मनुष्यको इन्द्रियव्यापारके पीछे झटिति घोडे, बैल, आदिमें पीत आदिकका निश्चय नहीं होने पाता है। अतः उन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें वह पीत आदिकका प्रकाश भी मत होओ। जो पीत आदिक आकारोंको वस्तुभूत माना जायगा तो पदार्थोंकी संख्या भी वस्तुभूत हो जायगी। कोई रोकनेवाला नहीं है।

यदि पुनरभ्यासादिसाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारानंतरं पीताद्याकारेषु निश्चयोत्पत्तेस्तद्भेदने तत्प्रतिभासनमिति मतं तदा संख्याप्रतिभासनमपि तत एवानुमन्यतां। न हि तदभ्यासादिप्रत्ययसाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारान्निश्चयः संख्यायामसिद्ध इति कश्चित् पीताद्याकाराद्विशेषः।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि अनेक वार प्रवृत्ति होचुकना रूप अभ्यास और प्रकरण आदि कारणोंकी सम्पूर्णता होनेपर भोले, भद्र, चतुर, आदि सभी जीवोंके इन्द्रिय व्यापारके

अनन्तर पीत, नील, आदि आकारोंमें निश्चय उत्पन्न हो जाता है । अतः उस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें तब वस्तुभूत पीत आदि आकारोंका प्रतिभास है । ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण यानी अभ्यास आदि सामग्रीकी पूर्णता होनेपर संख्याका निश्चय हो जानेसे संख्याकी इति भी इन्द्रियजन्य ज्ञानमें मानलो। उस संख्याके अभ्यास आदि कारणोंकी सम्पूर्णता होनेपर सभी जीवोंके अक्षव्यापार द्वारा संख्यामें निर्णय होना असिद्ध नहीं है। इस प्रकार पीत आदि आकारोंसे संख्यामें कोई भी विशेषता नहीं दीखती है अर्थात्–पीत आदि आकारोंके समान संख्या भी वस्तुभूत है ।

संख्यावत्पीताद्याकाराणामपि वस्तुन्यभाव एवेति चायुक्तं, सकलाकाररहितस्य वस्तुनोऽप्रतिभासनात् पुरुषाद्वैतवत् । विधूतसकलकल्पनाकलापं स्वसंवेदनमेव स्वतः प्रतिभासमानं सकलाकाररहितं वस्तु मतमिति चेत् तदेव ब्रह्मतत्त्वमस्तु न च तत्प्रतिभासते कस्यचिन्नानैकात्मन एव सर्वदा प्रतीतेः ।

संख्याके समान पीत आदि आकारोंका भी वस्तुभूत पदार्थोंमें अभाव ही है, इस प्रकार वैभाषिक बौद्धोंका कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि सम्पूर्ण आकारोंसे रहित रीती वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता है, जैसे कि आप बौद्धोंने सभी आकारोंसे रहित ब्रह्माद्वैतका ज्ञान होना नहीं माना है । यदि बौद्धोंका यह मत होय कि सम्पूर्ण कल्पनाओंके समुदायसे विशेषरूप करके धुल गया (रहित) स्वसंवेदन ज्ञान ही स्वयं अपने आपसे सम्पूर्ण आकारोंसे रहित होकर प्रतिभास रहा वस्तुभूत है, स्वलक्षण, पीत आकार, नील आकार, संख्या, आदि कोई पदार्थ वास्तविक नहीं है, इस प्रकार युक्तिरहित बौद्धोंके कहनेपर तो वही अद्वैतवादियोंका परब्रह्मतत्त्व मान लिया गया समझो और वह परब्रह्मतत्त्व तो किसीको भी नहीं प्रतिभास रहा है । अनेक और एकस्वरूप ही पदार्थोंकी सदा सबको प्रतीति हो रही है ।

सर्वस्य प्रतीत्यनुसारेण तत्त्वव्यवस्थायां बहिरंतश्च वस्तुभेदस्य सिद्धेः । कथं पीताद्याकारवत् संख्यायाः प्रतिक्षेपः । प्रतीत्यतिक्रमे कुतः स्वेष्टसिद्धिरित्युक्तप्रायं । ततः—

सभी प्रामाणिक पुरुषोंकी प्रतीति होनेके अनुसार तत्त्वोंकी व्यवस्था माननेपर तो बहिरंग और अंतरंग वस्तुओंके भेदोंकी सिद्धि हो रही है। इस कारण पीत, नील, आदि आकारोंके समान भला संख्याका खण्डन कैसे कर सकते हो ! अर्थात् नहीं । यदि प्रतीतियोंका अतिक्रमण किया जायगा तब तो बौद्धोंके यहां अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ! इसको हम बहुलतासे पूर्वमें कह चुके हैं । तिस कारण यह सिद्धान्त किया जाता है कि—

सा चैकत्वादिसंख्येयं सर्वेष्वर्थेषु वास्तवी ।
विद्यमानापि निर्णीतिं कुर्याद्धेतोः कुतश्चन ॥ १९ ॥

प्रतिक्षणविनाशादि बहिरंतर्यथास्थितेः ।
स्वावृत्यपायवैचित्र्याद्बोधवैचित्र्यनिष्ठितेः ॥ २० ॥

सो यह प्रसिद्ध हो रहीं एकत्व द्वित्व, आदिक संख्यायें सम्पूर्ण अर्थोंमें वास्तविक रूपसे विद्यमान हो रहीं भी किसी विशिष्ट ज्ञानरूप कारणके वश अपना निर्णय कराती हैं। जैसे कि बहिरंग और अंतरंग सभी पदार्थोंमें आप बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार प्रत्येक क्षणमें नष्ट होजानापन-वर्तमान ही है। फिर भी घट, पट, दुःख, दरिद्रोंकी अभिलाषा आदि पदार्थोंमें स्थित हो रहा, क्षणिकपना विशिष्ट ज्ञानसे ही जाना जाता है। क्योंकि ज्ञानके अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमरूप नाशकी विचित्रतासे ज्ञानकी विचित्रता होना प्रतिष्ठित हो रहा है। भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे प्रत्येकमें अनेक संख्यायें विद्यमान रहती हैं। किन्तु उनका जान लेना विशिष्ट क्षयोपशमसे होने-वाले ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञानविशेष न होनेके कारण किसी मन्दमतीको संख्याका ज्ञान न होय तो हम क्या करें ? ज्ञानका दोष वस्तुभूत संख्याके सिर क्यों मढा जाता है।

न हि प्रमेयस्य सत्त्वेव प्रमातुर्निश्चये हेतुः सर्वस्य सर्वदा सर्वनिश्चयप्रसंगात् । नापींद्रियादिसामग्रीमात्रं व्यभिचारात् । स्वावरणविगमाभावे तत्सद्भावेपि प्रतिक्षण-विनाशादिषु बहिरंतश्च निश्चयानुत्पत्तेः, स्वावरणविगमविशेषवैचित्र्यादेव निश्चयवैचित्र्य-सिद्धेरन्यथानुपपत्तेः। तथा सति नियतमेकत्वाद्यशेषं संख्या सर्वेष्वर्थेषु विद्यमानापि निश्चयकारणस्य क्षयोपशमलक्षणस्याभावे निश्चयं न जनयति तद्भाव एव कस्यचित्तन्निश्चयात्।

जगत्में प्रमेय पदार्थोंका विद्यमान होनापन ही सर्वज्ञसे अतिरिक्त प्रमाताओंके निश्चय करा-देनेमें कारण नहीं है। यों तो संपूर्ण छद्मस्थोंको सदा ही सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थोंके निश्चय होनेका प्रसंग हो जायगा। तथा केवल इन्द्रियप्रकाश, मन, योग्यदेश, अवस्थिति, आदि सामग्री भी आत्माको चाहे जिस विद्यमान, पदार्थके ज्ञान करानेमें कारण नहीं है। क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष है। कचित् इन्द्रियादि सामग्रीके होनेपर भी सूक्ष्म आदि विद्यमान पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। तथा अन्यत्र क्षयोपशम हो जानेपर इन्द्रिय आदिकके विना भी विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। यह अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार हुआ। हां, अपने ज्ञानके आवरणोंका अपगम हुये विना उन इन्द्रिय आदिके विद्यमान होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें विनाश होजाना आदिक बहिरंग, अन्तरंग, पदार्थोंमें निश्चय होना नहीं बनता है अथवा घट आदि बहिरंग और सुख आदि अन्तरंग पदार्थोंके प्रतिक्षणवर्त्ती विनाश होने, असाधारणपन आदि में ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः अपने अपने आवरण कर्मोंके विशेष क्षयोपशमकी विचित्रतासे ही निश्चय होनेकी विचित्रायें सिद्ध होरहीं हैं। अन्यथा यानी क्षयोपशमकी विशेषताको माने विना किसीके मन्दज्ञप्ति, अन्यके मन्दतर, मन्दतम या तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतमज्ञान होनेकी अनेक जातीयता

नहीं बन सकती है और तिस प्रकार क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान होनेकी व्यवस्था हो चुकनेपर पदार्थोंमें नियत होरही एकत्व, आदिक सम्पूर्ण संख्यायें सम्पूर्ण अर्थोंमें विद्यमान हो रहीं भी निश्चयके कारणस्वरूप क्षयोपशमके न होनेपर निश्चयको नहीं उत्पन्न कराती हैं और उस क्षयोपशमके होनेपर ही किसी किसी व्यक्तिको उस संख्याका निश्चय हो जाता है। यह मार्ग अतीव प्रशंसनीय है।

यत्रैकत्वं कथं तत्र द्वित्वादेरपि संभवः।
परस्परविरोधाच्चेत्तयोर्नैवं प्रतीतितः॥ २१॥

यदि कोई यों आक्षेप करे कि जिस पदार्थमें एकत्वसंख्या विद्यमान है वहां द्वित्व त्रित्व, आदिका भी ठहरना कैसे सम्भव होगा? क्योंकि उनका परस्परमें विरोध है। जो दो, तीन हैं वे एक नहीं। और जो एक है वह दो तीन नहीं। आचार्य कहते हैं कि सो इस प्रकार आक्षेप नहीं करना। क्योंकि तैसी प्रामाणिकोंको प्रतीति हो रही है। प्रतीतिसे सिद्ध हुये पदार्थमें विरोध नहीं हुआ करता है। "दृष्टे कानुपपत्तिता"

प्रतीते हि वस्तुन्येकत्वसंख्या द्वितीयाद्यपेक्षायां द्वित्वादिसंख्या चानेकस्थत्वात्तस्यास्ततो न विरोधः।

प्रमाणसे निर्णीत कर ली गयी एक वस्तुमें एकत्व संख्या है और दूसरे, तीसरे, आदि पदार्थोंकी अपेक्षा होनेपर द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें भी हैं। वे द्वित्व आदि संख्यायें अनेकमें ठहरती हैं तिस कारण कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—प्रत्येकमें ठहरी हुई एकत्व संख्याके साथ दो, तीन, चार, आदि संख्यायें भी अन्योंकी अपेक्षासे ठहर जाती हैं। इस प्रकार प्रतीतियोंसे उपलम्भ हो जाने पर अनुपलम्भसे साधागया विरोध भला कहां ठहर सकता है? वैशेषिकोंने भी समवाय सम्बन्धसे एकमें एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें मानी हैं और पर्याप्ति सम्बन्धसे दोनोंमें द्वित्व और तीनोंमें एक त्रित्व संख्या व्यापकर रहती मानी है। अपेक्षा बुद्धिके नाशसे उन द्वित्व आदिक संख्याओंका नाश स्वीकार किया है।

वस्तुन्येकत्र दृष्टस्य परस्परविरोधिनः।
वृत्तिर्धर्मकलापस्य नोपालंभाय कल्पते॥ २२॥
स्याद्वादविद्विषामेव विरोधप्रतिपादनात्।
यथैकत्वं पदार्थस्य तथा द्वित्वादि वांछताम्॥ २३॥

शंकाकारके विचार अनुसार परस्पर विरोधी किन्तु वस्तुतः परस्परमें अविरोधसे ठहरे हुये देखे गये धर्मोंके समुदायका एक वस्तुमें वर्त्तजाना हमें उलाहना देनेके लिये समर्थ नहीं होता है। प्रत्युत स्याद्वादसिद्धान्तके साथ अनुचित विशेष द्वेष करनेवाले वादियोंके यहां ही विरोध होना कहा

गया है। वे द्वैषीजन जिस ही प्रकारसे यानी केवल अपने डीलसे पदार्थका एकपना मानते हैं उस ही प्रकारसे दोपन, तीनपन, आदि संख्याओंका सद्भाव चाह रहे हैं। किन्तु स्याद्वादियोंके यहां तो भिन्न भिन्न निरूपक स्वभावोंसे एकत्व, द्वित्व, आदि संख्याओंकी न्यारी न्यारी वृत्ति मान ली गयी है। अतः विरोध नहीं है।

ये खलु पदार्थस्य येन रूपेणैकत्वं तेनैव द्वित्वादि वांछंति तेषामेव स्याद्वादविद्विषां विरोधस्य प्रतिपादनात्। "विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां" इति वचनात् न स्याद्वादिनामेकत्वादिधर्मकलापस्य परस्परं प्रतिपक्षभूतस्य वृत्तिरेकत्रैकदा विरुध्यते तथा दृष्टत्वात्। ततो नोपालंभः प्रकल्पनीयः।

जो वादी नियमसे पदार्थोंका जिस स्वरूपसे एकपना है उस ही स्वरूपसे दोपन, तीनपन, आदि संख्याकी वांछा करते हैं, उन्हीं स्याद्वादोंसे विद्वेष करनेवालोंके यहां विरोधदोष होना कहा जाता है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने देवागममें यह कथन किया है कि स्याद्वादन्यायके साथ विद्वेष करनेवाले वादियोंके यहां विरोध होनेके कारण नित्यत्व अनित्यत्व, पृथक्भाव अपृथक्पना, एकत्व अनेकत्व, आदि उभयधर्मोंका एकात्मकपना नहीं बनता है। किन्तु स्याद्वादियोंका सिद्धान्त अनुसार परस्परमें प्रतिपक्षी भी हो रहे एकत्व आदि धर्मोंके समूहकी एक पदार्थमें एक समय वृत्ति होना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ देखा जा रहा है। तिस कारण स्याद्वादियोंके ऊपर विरोध आदि दोषोंका उलाहना देना नहीं कल्पित किया जा सकता है।

स्याद्वादिनां कथं न विरुद्धता उभयैकात्म्याविशेषादिति चेत्।

यदि कोई यों कहें कि दो प्रतिपक्षी धर्मोंका एक आत्मकपना जैसे हमारे यहां नहीं बनता है, वैसे ही विशेषतारहित होनेके कारण स्याद्वादियोंके यहां भी एक अधिकरणमें अनेक धर्मोंका एकात्मकपना नहीं बनेगा तो फिर अनेकान्तवादियोंके मतमें भी विरुद्धपनेका उलाहना क्यों न दिया जाय? इस प्रकार कहनेपर तो ग्रन्थकारका यह उत्तर है कि—

येनैकत्वं स्वरूपेण तेन द्वित्वादि कथ्यते।
नैवानंतात्मनोऽर्थस्येत्यस्तु केयं विरुद्धता ॥ २४ ॥

हम स्याद्वादियोंने अनन्तधर्मस्वरूप अर्थका जिस ही स्वरूपसे एकपना है उस ही स्वरूप करके उसके द्वित्व, त्रित्व, आदिक धर्म नहीं कहे हैं। इस कारण एक पदार्थमें अन्योंकी अपेक्षा द्वित्व आदि भी ठहर जाओ! ऐसी दशामें यह विचारी विरुद्धता कहां रही? अर्थात् नहीं रही।

द्वितीयाद्यनपेक्षेण हि रूपेणार्थस्यैकत्वं तदपेक्षेण द्वित्वादिकमिति दूरोत्पारितैव विरुद्धताऽनयोः स्वरूपभेदः पुनरनंतात्मकत्वात्तस्य तत्त्वतो व्यवतिष्ठते कल्पनारोपितस्य तस्य निराकरणात्।

कारण कि द्वितीय, तृतीय, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले स्वरूप करके पदार्थका एकपना है और उन द्वितीय आदिकी अपेक्षा रखनेवाले स्वरूप करके अर्थकी द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायें हैं, इस कारण विरुद्धता तो दूर ही भगा दी गयी समझ लेनी चाहिये। हां फिर इन एकत्व और द्वित्व, आदिके अपने अपने स्वरूपोंका भेद तो है ही, तभी तो उस धर्मी पदार्थको अनन्तधर्मोके साथ तदात्मकपना है। जब वे धर्म अपने स्वरूपमें न्यारे न्यारे होंगे तभी तो अनन्त हो सकेंगे। इस कारण वास्तविक रूपसे इन धर्मोका अपने अपने रूपमें परस्परभेद व्यवस्थित हो रहा है। कल्पनासे आरोपे गये उस धर्मीका निराकरण कर दिया है। इस कारण वस्तुभूत एक धर्मीमें वास्तविक अनेक धर्म अविरुद्ध होते हुये एक समय ठहर जाते हैं।

भवंश्चैकत्वादीनामेकत्र सर्वथाप्यसतां विरोधः स्यात्सतां वा। किं चातः।

अस्तुतोपन्यायसे एकत्व, द्वित्व, आदि धर्मोका एक पदार्थमें विरोध होना मान भी लिया जाय तो आप एकान्तवादी यह बताओ कि सभी प्रकारोंसे असत् हो रहे धर्मोका परस्परमें विरोध होगा? अथवा सभी प्रकारोंसे सत्भूत धर्मोका विरोध होगा? इसपर एकान्तवादी कहते हैं कि ऐसा प्रश्न करनेसे तुम जैन भला क्या अपना प्रयोजन सिद्ध करोगे, तुम्ही बताओ? अब आचार्य कहते हैं कि—

सर्वथैवासतां नास्ति विरोधः कूर्मरोमवत्।
सतामपि यथा दृष्टस्वेष्टतत्त्वविशेषवत्॥ २५॥

कच्छपके रोंगटे समान सभी प्रकार असत् पदार्थोका तो विरोध होता नहीं है और जैसे देखे गये तदनुसार सत् पदार्थोका भी मिथः विरोध नहीं है। जैसे कि अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंके विशेषोंका विरोध किसीने नहीं माना है।

न सर्वथाप्यसतां विरोधो नापि यथादृष्टसतां। किं तर्हि, सहैकत्रादृष्टानामिति चेत् कथमिदानीमेकत्वादीनामेकत्र सकृदुपलभ्यमानानां विरोधः सिध्येत्? मूर्तत्वादीनामेव तत्त्वतो भेदनयात्तत्सिद्धेः॥

पूर्वपक्षी कहते हैं कि सभी प्रकारोंसे असत् हो रहे पदार्थोका विरोध नहीं है। और जिस तिस प्रकार देखे जा चुके सत्भूतपदार्थोका भी विरोध हम नहीं मानते हैं, तो किनका विरोध है? इस प्रश्नपर हमारा यह कहना है कि एक अर्थमें साथ नहीं दीखरहे धर्मोका विरोध है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि अब एकधर्मीमें एक ही समय देखी जारहीं एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्याओंका विरोध भला कैसे सिद्ध होगा? हां, मूर्तत्व अमूर्तत्व या चेतनत्व व अचेतनत्व आदिका ही वास्तविकरूपसे भेदनयकी अपेक्षा वह विरोध सिद्ध होता है। वे एक स्थलपर नहीं दीखरहे हैं।

ननु च यथैकस्यार्थस्य सर्वसंख्यात्मकत्वं तथा सर्वार्थात्मकत्वमस्तु तत्कारणत्वादन्यथा तदयोगात् ।

यहां किसीकी शंका है कि जैसे एक अर्थको सम्पूर्ण संख्याओंके साथ तदात्मकपना सिद्ध माना है, तिसी प्रकार एक अर्थका सम्पूर्ण अर्थोंके साथ तदात्मकपना हो जाओ । क्योंकि उन पौद्गलिक कार्योंके कारण सभी पुद्गल हो सकते हैं । अन्यथा यानी तदात्मकपना यदि न माना जायगा तो उस कारणपनेका अयोग होगा अर्थात्–परस्परके नियत कार्यकारण भावका भंग हो जायगा । अथवा अनेक पदार्थोंमें ठहरती हुई और उनकी ओरसे आयी हुई त्रित्व आदि संख्या जब प्रकृत एक अर्थस्वरूप हो जाती है तो जिनकी अपेक्षासे तत्स्वरूप द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि संख्यायें प्राप्त हुई हैं, उन पदार्थोंसे तदात्मक प्रकृत अर्थ हो जाना चाहिये । अन्यथा उन अनेक संख्याओंके तदात्मक होनेका भी प्रकृत अर्थमें योग नहीं बन सकेगा अर्थात् जैसे कि घट और पटमें द्वित्वसंख्या है, द्वित्व संख्या जब दोनोंसे अभिन्न है तो अभिन्न संख्यावाले घट, पट भी अभिन्न हो जाने चाहिये । यह कटाक्ष है ।

सर्वं सर्वात्मकं सिध्येदेवमित्यतिसाकुलम् ।
सर्वकार्योद्भवे सत्त्वस्यार्थस्येदृक्षशक्तितः ॥ २६ ॥

इस प्रकार शंकाकारके कथन अनुसार सभी पदार्थ अपने अपनेसे न्यारे सभी दूसरे पदार्थोंके साथ तदात्मक सिद्ध हो जावेंगे । क्यों जी ! इस ढंगसे तो अतीव व्याकुलता हो जायगी । किसी भी वादी विद्वान्को ऐसी पदार्थोंकी संकरता इष्ट नहीं हो सकेगी । दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कार्योंके उत्पन्न करानेमें द्रव्यदृष्टिसे सत्त्व अर्थके इस प्रकारकी शक्तियां मानी गयी हैं । पर संग्रहनय तो सर्व-जड, चेतन, पदार्थोंको एकम एक कह रही है । सभी सर्वस्वरूप हैं ।

भवदपि हि सर्वं सर्वकार्योद्भवे शक्तं सर्वकार्योद्भावनशक्त्यात्मकं सिध्येद्यथा सर्वसंख्याप्रत्ययविषयभूतं सर्वसंख्यात्मकमिति शक्त्यात्मना सर्वं सर्वात्मकत्वमिष्टमेव ।

सम्पूर्ण पदार्थ सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हुये भी सम्पूर्ण कार्योंके उद्भावन शक्तिसे तदात्मक होरहे सिद्ध हो सकेंगे, जैसे कि संम्पूर्ण संख्याज्ञानोंके विषयभूत हो रहे पदार्थ सम्पूर्ण संख्याओंसे तदात्मक हैं । इस प्रकार सम्पूर्णपदार्थ शक्तिस्वरूप करके सर्वके साथ तदात्मक पनेसे इष्ट किये गये हैं, कोई क्षति नहीं है । भावार्थ—जैन सिद्धान्तमें पौद्गलिक पदार्थ तो सभी पुद्गलोंसे शक्तिरूप करके तदात्मक हैं ही । किन्तु जड और चेतन, या पुद्गल और जीव तथा मूर्त्त, अमूर्त्त, आदि विरोधी पदार्थ भी द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें अस्तित्व, द्रव्यत्व, आदि धर्मोंकी अपेक्षासे तदात्मक हो रहे हैं । किसी भी अपेक्षासे एकता मिलानेपर अर्थोंमें तादात्म्य मान लिया जाता है । " तौ ते वा आत्मानो यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तादात्म्यं " इस निरुक्तिसे अनेक पदार्थोंका

भी कथंचित् तादात्म्य बन बैठता है। स्याद्वादसिद्धान्तका मर्म जाननेवाले विद्वान् सुलभतासे इस तत्त्वको समझलेते हैं।

व्यक्त्यात्मना तु भावस्य सर्वात्मत्वं न युज्यते।
सांकर्यप्रत्ययापत्तेरव्यवस्यानुषंगतः ॥ २७ ॥

शक्तिरूपसे सभी पदार्थ सर्व आत्मक हो जाते हैं, किन्तु व्यक्तिरूपसे तो पदार्थोंको सर्वात्मकपना युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो संकरपनेसे ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होनेके कारण सभी पदार्थोंकी अव्यवस्था हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—अष्टसहस्रीमें कहा है कि "चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति" दहीको खाओकी प्रेरणा करनेपर वह प्रेरित पुरुष ऊंटको पकडनेके लिये दौड पडेगा, महान् संकर हो जानेके कारण किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

"न हि सर्वथा शक्तिव्यक्त्योरभेदो येन व्यक्त्यात्मनापि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे सांकर्येण प्रत्ययस्यापत्तेर्भावस्याव्यवस्थानुषज्यते कथंचिद्भेदात्। पर्यायार्थतो हि शक्तेर्व्यक्तिर्भिन्ना तदप्रत्यक्षत्वेपि प्रत्यक्षादभेदेन तदघटनात्।

शक्ति और व्यक्तियोंका सभी प्रकार एकान्तसे अभेद नहीं माना गया है, जिससे कि शक्ति स्वरूपके समान व्यक्ति आत्मकपनेसे भी सब पदार्थोंको सर्वात्मकपना होते सन्ते संकरपने करके ज्ञान होनेकी आपत्ति होजाय और इस कारण पदार्थोंकी नियत व्यवस्था न बन सकनेका प्रसंग हो जाय। वस्तुतः यह मार्ग है कि शक्ति और व्यक्तियोंका भी परस्परमें कथंचित् भेद है। ऊपरका कथन द्रव्य दृष्टिसे है। पर्यायार्थिकनय करके तो शक्तिसे व्यक्ति भिन्न है। क्योंकि उन शक्तियोंका छद्मस्थोंको प्रत्यक्षज्ञान न होते हुये भी व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। अभेद करके तो वह प्रत्यक्ष होना नहीं घटित होगा। या तो दोनोंका प्रत्यक्ष होगा अथवा दोनोंका अप्रत्यक्ष ही होगा।

ननु च यथा प्रत्ययनियमाद्व्यक्तयः परस्परं न संकीर्यंते तथा शक्तयोपि तत एवेति कथं शक्त्यात्मकं सर्वं स्यात्। न हि दहनस्य दहनशक्तावनुमानप्रत्ययः स एवोद्यानशक्तौ यतस्तत्र प्रत्ययप्रतिनियमो न भवेदिति कश्चित्, सोप्युक्तानभिज्ञ एव। न हि वयं शक्तीनां संकरं ब्रूमो व्यक्तीनामिव तासां कथंचित्परस्परमसांकर्यात्। किं तर्हि, भावस्यैकस्य यावंति कार्याणि कालत्रयेपि साक्षात्पारंपर्येण वा तावंत्यः शक्तयः संभाव्यंत इत्यभिदध्महे। प्रत्येकं सर्वभावानां कथंचिदनुकार्यस्य कस्यचिदभावात्।

यहां और किसीकी शंका है कि जिस प्रकार प्रतिनियत ज्ञान होनेके नियमसे व्यक्तियां परस्परमें संकीर्ण (एकम एक) नहीं हो रहीं हैं, तैसे ही शक्तियां भी तिस ही ज्ञानके नियमसे संकीर्ण नहीं होवेंगी। ऐसी दशामें सबको शक्तिरूपसे सर्वात्मकपना कैसे होवेगा ? बताओ। देखिये, अग्निकी दाह करने रूप शक्तिमें जो अनुमानज्ञान उत्पन्न होता है वही अनुमान ज्ञान अग्निकी

निःसरण या ऊर्ध्वज्वलन शक्तिमें ज्ञापक नहीं है। पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व, शक्तिका भी ज्ञापक नहीं है जिससे कि वहां ज्ञानके होनेका प्रतिनियम न हो होवे अर्थात् भिन्न भिन्न शक्तियोंमें जब न्यारे न्यारे ज्ञान हो रहे हैं तो शक्तिरूपसे सब शक्तियोंको सर्वात्मकपना क्यों इष्ट किया जाता है ? ऐसा कोई भेदवादी वैशेषिक या बौद्ध कह रहा है, वह भी हमारे कहे हुये अभिप्रायको नहीं समझ सका है। हम शक्तियोंका भी परस्परमें संकर होजाना नहीं कह रहे हैं। व्यक्तियोंके समान उन शक्तियोंका भी परस्परमें कथंचित् असंकरपनेसे परस्परमें भेदभाव है, तो हम जैन क्या कहते हैं सो सुनो। एक पदार्थके तीनों कालमें भी अव्यवहितरूप या परंपरारूपसे जितने भी कार्य हुये हैं, होरहे हैं और होवेंगे उतनी ही शक्तियां उस पदार्थकी सम्भावित होती हैं। इस प्रकार हम कह रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थोंका कथंचित् अनुकरण करने योग्य कार्य होय ऐसे किसी भी पदार्थका सद्भाव नहीं माना गया है। अर्थात् सभी कार्योंमेंसे कोई भी एक कार्य (पर्याय) सम्पूर्ण भावोंका अनुकरण करें ऐसा जैनसिद्धान्त नहीं है। हां, जो कोई भी धर्मी पदार्थ उत्पन्न होता है वह अपने कारणोंसे अनन्त शक्तिस्वरूपोंको धारता हुआ ही आत्मलाभ करता है।

सर्वं कृतकमेकांततस्तथा स्यादिति चेन्न, सर्वथा सर्वेण सर्वस्योपकार्यत्वासिद्धेः। द्रव्यार्थतः कस्यचित्केनचिदनुपकरणात्। न चोपकार्यत्वानुपकार्यत्वयोरेकत्र विरोधः, संविदि वेद्यवेदकाकारवत् प्रत्यक्षेतरस्वसंविद्वेद्याकारविवेकवद्वा निर्बाधनात्प्रत्ययात्तथा सिद्धेः। अन्यथा कस्यचित्तत्त्वनिष्ठानासंभवात्।

फिर शंकाकार बौद्ध कहता है कि तिस प्रकार तो एकान्तरूपसे सम्पूर्ण पदार्थ कृतक ही होजावेंगे, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि सभी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों करके सम्पूर्ण भावोंका उपकार करने योग्यपना असिद्ध है, अनादि अनन्त द्रव्य अर्थसे किसीका भी किसी भी करके उपकार नहीं होता है। द्रव्य अपने पूरे शरीरसे तीनों कालमें अकृत्रिम होकर नित्य वर्त रही है। हां, पर्यायदृष्टिसे नियतपदार्थोंका नियतपदार्थों करके उपकार हो रहा है। एक भावमें पर्यायरूपसे उपकार्यपन और द्रव्यरूपसे अनुपकार्यपनका विरोध नहीं है। बौद्धोंने जैसे एक संवेदनमें वेद्याकार और वेदकाकार दोनों अविरोध रूपसे ठहरे हुये माने हैं अथवा वेद्य, वेदक आकारोंसे रहित शुद्ध संवेदनको माननेवाले बौद्धोंने ज्ञानमें स्वसंवेदन अंश प्रत्यक्षरूप माना है और वेद्य, वेदक, संवित्ति आदि आकारोंके पृथक्पनेको परोक्षरूप माना है। इनके समान बाधारहित ज्ञानसे तिस प्रकार उपकार्य अनुपकार्यपनेकी एक पदार्थमें सिद्धि हो रही है। अन्यथा यानी बाधारहित ज्ञानसे पदार्थोंकी व्यवस्था न मानकर दूसरे प्रकार मानी जायगी तो किसी भी वादीके यहां अपने अभीष्ट तत्त्वोंका प्रतिष्ठित होना असम्भव है।

नन्वेवं सर्वत्र सर्वसंख्यया संप्रत्ययासत्त्वात्। कथमेकत्वादिसंख्या सर्वा सर्वत्र व्यवतिष्ठते अतिप्रसक्तेरिति चेन्न, एकत्वैकप्रत्ययवद्द्वितीयाद्यपेक्षया द्वित्वादिप्रत्ययानामनुभ-

वात् । सकृत्सर्वसंख्यायाः प्रत्ययो नानुभूयते एवेति चेत्, सत्यं । क्रमादभिव्यक्तिः क्वचिद्द्वित्वसंख्या हि द्वितीयाभिव्यक्ता द्वित्वप्रत्ययविज्ञेया, तृतीयाद्यपेक्षया तु त्रित्वादि संख्याभिव्यक्ता त्रित्वादिप्रत्ययवेद्या । तथानभिव्यक्तायास्तस्याः तत्प्रत्ययाविषयत्वादसकृत्सर्वसंख्यासंप्रत्ययः ।

पुनः शंका है कि इसी प्रकार सभी पदार्थोंमें सम्पूर्ण संख्याओंके भले ज्ञान (निर्बाध) होनेका सद्भाव नहीं है तो फिर एकत्व, द्वित्व आदि सभी संख्यायें सभी पदार्थोंमें कैसे व्यवस्थित हो जाती हैं ? तुम जैन ही बताओ ! यदि समीचीन ज्ञानके विना भी चाहे जिसको चाहे जहां धर दिया जायगा. तब तो अतिप्रसंग हो जायगा । आकाशमें भी ज्ञान, रूप, रस आदि पदार्थोंके ठहर जानेकी व्यवस्था बन बैठेगी । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका न करना । क्योंकि एक ही पदार्थमें एकपनेके ज्ञान समान दूसरे, तीसरे आदि पदार्थोंकी अपेक्षासे होते हुये द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओंके ज्ञानोंका बालकोंतकको अनुभव हो रहा है । इसपर शंकाकार यदि यों कहें कि एक ही समय सम्पूर्ण संख्याओंका ज्ञान होना तो नहीं अनुभवमें आ रहा है, आचार्य कहते हैं कि हां, शंकाकारका यह कहना तो ठीक है, हम संख्याओंका क्रमसे प्रकट होना मानते हैं, किसी एक पदार्थमें दूसरे पदार्थसे प्रकट हुई द्वित्वसंख्या द्वित्व ज्ञानसे जानने योग्य है और कहीं तृतीय, चतुर्थ, आदि पदार्थोंकी अपेक्षासे अभिव्यक्त हुई त्रित्व, चतुष्ट्व आदि संख्यायें तो त्रित्व आदिके ज्ञानसे जानने योग्य हैं। अतः तिस प्रकार नहीं प्रगट हुई उन संख्याओंको उन उन ज्ञानोंका नहीं विषयपना होनेके कारण एकबार ही सम्पूर्ण संख्याओंका समीचीन ज्ञान नहीं हो पाता है। यथायोग्य शनैः शनैः उपज रही या प्रकट हो रही सर्व संख्याओंका ज्ञान क्रमसे ही होगा ।

ननु संख्याभिव्यक्तेः प्राक्कुतस्तनी कुतः सिद्धा ? तदा तत्प्रत्ययस्यासंभवात् । तत्संभवे वा कथं नाभिव्यक्ता ? यदि पुनरसती तदा कुतोऽभिव्यक्तिस्तस्याः मंडूकशिखावदित्येकांतवादिनामुपालंभः न स्याद्वादिनां सदसदेकांतानभ्युपगमात् । सा हि शक्तिरूपतया प्राक्कुतस्तनी परापेक्षातः पश्चादभिव्यक्त्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धा व्यक्तिरूपतया त्वसती साक्षात्स्वमत्ययाविषयत्वादिति द्रव्यार्थमाधान्यादुपेयते । पर्यायार्थमाधान्यात्तु सापेक्षा कार्या तद्भावभावात् । न ह्यसत्यामपेक्षायां द्वित्वादि संख्योत्पद्यत इति न भावस्य व्यक्तसंख्यापेक्षया सर्वसंख्यात्मकत्वं यतस्तद्वत् सर्वं सर्वात्मकत्वं यतस्तद्वत्प्रसज्यते । तत्यसंग एव च सर्वत्र सर्वसंख्याप्रत्ययस्य यथासंभवमनुभूयमानस्य बाधकः स्यात्, तदबाधिताच्च संख्याप्रत्ययात् सिद्धा वास्तवी संख्या ।

पुनः एकान्तवादियोंका नर्म पूर्वक आक्षेप है कि अभिव्यक्ति उस पदार्थकी मानी जाती है

जिसकी कि ज्ञानके पहिले भी वहां सत्ता सिद्ध की जा सके, जैसे कि अन्धकारमें पहिलेसे रखा हुआ घट प्रदीपसे व्यक्त हो जाता है अथवा धूलसे ढका हुआ रुपया आवारकके हट जानेपर प्रगट हो जाता है, अब आप जैन यह बतलाइये ! कि दूसरे तीसरे आदि अर्थोंसे प्रगट हुई संख्या अपनी अभिव्यक्तिसे पहिले किन पदार्थोंसे निष्पन्न होती हुई, किस प्रमाणसे सिद्ध की जा सकती है ! क्योंकि उस समयके पहिले तो उस संख्याके ज्ञानका असम्भव है। यदि पहिले समयोंमें भी उस संख्याके ज्ञानका सम्भव स्वीकार किया जायगा तो वह प्रथमसे ही प्रगट हो रही क्यों नहीं कही गयी, अब दूसरे आदि अर्थोंकी अपेक्षासे प्रकट होती हुई क्यों कही जाती है ! यदि फिर जैनोंका यह विचार होय कि अभिव्यक्तिके पहिले वहां पदार्थोंमें संख्या विद्यमान नहीं थी तब तो हम शंकाकार कहते हैं कि तब फिर उसकी अभिव्यक्ति कहांसे हुई बताओ ! जैसे कि सर्वथा असत्‌रूपा मेंडककी चोटीकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार सर्व एकान्त वादियोंका उलाहना उन्हींके ऊपर गिरता है। सर्वथा सत्‌पक्षको लेनेवाले असत् पक्षवालेको उलाहना देवें और सर्वथा असत् पक्षका अवलम्ब लेनेवाले सत्‌पक्षवादीकी भर्त्सना भले ही करें, किन्तु कथंचित् सत् और कथंचित् असत्‌के अनेकान्तपक्षको स्वीकार करनेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। क्योंकि जैनोंने सर्वथा सत्‌के एकान्त और सर्वथा असत्‌के एकान्तको स्वीकार नहीं किया है। उस संख्याकी पीछे कालमें दूसरोंकी अपेक्षासे अभिव्यक्ति होना अन्यथा नहीं बनता है। इस कारण किसी न किसी हेतुसे बनी हुई पहिले भी शक्तिरूप करके वह संख्या विद्यमान थी, यह सिद्ध है। हां, व्यक्तिरूपसे तो वह संख्या पहिले विद्यमान नहीं थी। क्योंकि साक्षात् यानी अव्यवहितरूपसे अपने संख्याज्ञानमें वह विषयभूत नहीं हुई थी। इस प्रकार तीनों कालमें अन्वित रहनेवाले द्रव्यरूप अर्थकी प्रधानतासे संख्याको नित्य हम जैन स्वीकार करते हैं और अल्पकाल रहनेवाले पर्यायरूप अर्थकी प्रधानतासे तो वह संख्या कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाली है। अतः कार्य है। क्योंकि उन द्वितीय, तृतीय, आदि पदार्थोंके होनेपर द्वित्व, त्रित्व, संख्याकी उत्पत्ति होना देखा जाता है। अपेक्षाके सर्वथा न होनेपर द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्या कभी नहीं उत्पन्न होती हैं। इस कारण भावोंका व्यक्त हुई संख्याओंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण संख्याओंके साथ तदात्मकपना नहीं है। जिससे कि उस शक्तिरूपपनेके समान व्यक्तिरूपसे भी सभी पदार्थोंको सर्वस्वरूप हो जानेपनेका प्रसंग हो जाता और सम्पूर्ण पदार्थोंमें यथायोग्य सम्भव होकर अनुभव किये जारहे सम्पूर्ण संख्याओंके ज्ञानका वह प्रसंग ही बाधक हो जाता अर्थात्—वह प्रसंग न हुआ। अतः सभीमें सर्व संख्या ज्ञानका बाधक न हो सका। तिस कारण बाधारहित संख्याज्ञानसे वास्तविक संख्या ज्ञानसे वास्तविक संख्या सिद्ध हो जाती है। वैशेषिकोंने " द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः । अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः " इस प्रकार द्वित्व आदि संख्याको सर्वथा अनित्य माना है और कापिलोंने संख्याको सर्व प्रकार नित्य ही माना है। जैनसिद्धान्त अनुसार संख्या कथंचित् नित्य अनित्य आत्मक है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ततो निर्बाधनादेव प्रत्ययात्तत्त्वनिष्ठितौ ।
संख्यासंप्रत्ययात्संख्या तात्त्विकीति व्यवस्थितम् ॥ २८ ॥

तिस प्रकार बाधारहित प्रमाण ज्ञानोंसे ही यदि तत्त्वोंकी व्यवस्था होना माना जायगा तो संख्याके समीचीन ज्ञानसे संख्या भी वास्तविक होती हुई सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार संख्याद्वारा तत्त्वोंका प्ररूपण करना व्यवस्थित हुआ।

यत्र निर्बाधः प्रत्ययस्तात्त्विकं यथोभयप्रसिद्धं वस्तुरूपं, निर्बाधप्रत्ययश्च संख्यायामिति सा तात्त्विकी सिद्धा ।

जिस विषयमें बाधारहित प्रमाणज्ञान प्रवर्त्त रहा है, वह पदार्थ वास्तविक है। जैसे कि वादी और प्रतिवादी दोनोंके यहां प्रसिद्ध होरहा वस्तुस्वरूप वास्तविक है। (घट, परमाणु, आदि दृष्टान्त) बाधाओंसे रहित ज्ञान संख्या विषयमें होरहा है। इस कारण वह संख्या भी परमार्थभूत सिद्ध होजाती है। ढंगसे व्याप्तिको बनाते हुये पञ्च अवयववाले अनुमानसे संख्याकी सिद्धि कर दी है।

सा नैव तत्त्वतो येषां तेषां द्रव्यमसंख्यकम् ।
संख्यातोत्यन्तभिन्नत्वाद्गुणकर्मादिवन्न किम् ॥ २९ ॥
समवायवशादेवं व्यपदेशो न युज्यते ।
तस्यैकरूपताभीष्टे नियमाकारणत्वतः ॥ ३० ॥

जिन वैशेषिकोंके यहां वह संख्या वस्तुसे तदात्मक होती हुई न मानी जाकर भिन्न ही मानी गई है, उनके यहां संख्यासे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण तो गुण, कर्म, सामान्य, आदिके समान द्रव्यसंख्यारहित क्यों नहीं हो जायगा ! भावार्थ—वैशेषिकोंके यहां संख्या नामका गुण द्रव्यमें रहता हुआ माना गया है। गुण, कर्म, आदिक छःमें गुण नहीं रहते हैं। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः "। जब कि गुण, कर्म, आदिकोंसे सर्वथा भिन्न पडी हुई संख्या गुण, आदिकको संख्यावान् नहीं बना सकती है, उसीके समान द्रव्यसे सर्वथा भिन्न पडी हुई संख्या भी द्रव्यको संख्यासहित न बना सकेगी। ऐसी दशामें द्रव्य संख्यारहित होकर असंख्य हो जायगा। यदि वैशेषिक यों कहें कि द्रव्यमें गुणका समवाय है। गुणमें गुणकी समवायसे वृत्ति नहीं है। अतः समवाय सम्बन्धके वशसे संख्यावाले द्रव्यका इस प्रकार व्यवहार हो जावेगा सो यह उनका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि वैशेषिकोंने उस समवायको एकस्वरूपपना अभीष्ट किया है। " एक एव समवायस्तत्त्वं भावेन " ऐसा कणाद सूत्र है। ऐसी दशामें वह समवाय भी अनेक स्थानोंपर नियमित व्यवहारोंका कारण नहीं होसका। अतः सर्वथा भिन्न पदार्थोंसे सहितपनेका कहीं कहीं व्यपदेश होना विचारे भिन्न पडे हुये समवायसे नहीं सिद्ध होता है।

संख्या तद्वतो भिन्नैव भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदित्येके, तेषां द्रव्यमसंख्यं स्यात् संख्यातोत्यंतभिन्नत्वाद्गुणादिवत्। तत्र संख्यासमवायात्ससंख्यमेव तदिति चेद् न, तद्वशादेवं व्यपदेशस्यायोगात्।

संख्यावाले द्रव्यसे संख्यागुण भिन्न ही है। क्योंकि उन संख्या और संख्यावान्का भिन्न भिन्न प्रतिभास हो रहा है, जैसे कि भारत (हिन्दुस्तान) के दक्षिणमें सह्यपर्वत और उत्तरमें विंध्य पर्वतका न्यारा न्यारा ज्ञान होनेसे वे दो पर्वत भिन्न माने जाते हैं, इस प्रकार कोई एक वैशेषिक कह रहे हैं। सो उनके यहां ऐसा माननेपर संख्यासे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण गुण आदिकके समान द्रव्य भी संख्यारहित हो जायगा। यदि वैशेषिक यों कहें कि गुण आदिकमें तो संख्याका समवाय सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उस द्रव्यमें संख्याके समवाय हो जानेसे वह द्रव्य संख्यासहित ही हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस समवायके वशसे इस प्रकार ससंख्यपनेका व्यपदेश नहीं हो सकेगा। " ज्ञानवान् " और " ज्ञ " में अन्तर है। समवाय सम्बन्धसे ज्ञानवान् आत्मा है, यह व्यवहार भेदको दिखलाते हुये हो रहा है। किन्तु आत्मा ज्ञ है यह व्यवहार तो ज्ञानका आत्माके साथ तादात्म्य माननेपर ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार ससंख्य द्रव्य और संख्यावान् द्रव्य इन व्यवहारोंमें भी तादात्म्य और समवाय सम्बन्धके द्वारा विशेषता है तादात्म्यके माननेपर ही कथंचित् भेद शोभा देता है।

न समवायः संख्यावद्द्रव्यमिति व्यपदेशनिमित्तं नियमाकारणत्वात्। प्रतिनियमाकारणं समवायः सर्वसमवायिसाधारणैकरूपत्वात्। सामान्यादिमत्सु द्रव्यमिति प्रतिनियतव्यपदेशनिमित्तं समवाय इत्यप्यनेनापास्तं।

तथा नियम करनेका कारण न हो सकनेसे समवायसम्बन्ध " संख्यावान् द्रव्य है " इस व्यपदेशका निमित्त नहीं हो सकता है। इस हेतुको साध्य बनाकर पुष्ट करते हैं कि समवायसम्बन्ध (पक्ष) भिन्न पडे हुये पदार्थोंको नियत स्थल पदार्थमें ही निष्ठित कर देनेके प्रतिनियमका कारण नहीं है (साध्य) क्योंकि प्रतियोगिता और अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाले सम्पूर्ण द्रव्य आदि पांचोंमें साधारणरूपसे ठहरता हुआ वह समवाय एकरूप है (हेतु) जो एकरूप है वह न्यारे पदार्थोंका न्यारे न्यारे अधिकरणोंमें धरनेका नियामक नहीं हो सकता है। सामान्य (जाति) गुण, कर्म, आदिसे सहित घट, पट, आदि पदार्थोंमें द्रव्य हैं, इस प्रकार प्रतिनियत हुये व्यवहारका कारण समवाय हो जाता है। अथवा द्रव्य और गुण या द्रव्य और कर्म एवं सामान्य और सामान्यवान् इत्यादिकोंके सम्बन्ध व्यवहारका निमित्त समवाय है। यह वैशेषिकोंका कहना भी इस उक्त कथनसे खण्डित हो जाता है।

केनचिदंदशेन क्वचिन्नियमहेतुः समवाय इति चेन्न, तस्य सावयवत्वप्रसक्तेः स्वसिद्धांतविरोधात्। निरंश एव समवायस्तथा शक्तिविशेषान्नियमहेतुरित्ययुक्तं, अनुमानविरोधात्।

सर्वत्र एकरूपसे व्यापक हो रहा भी समवाय अपने किसी किसी विवक्षित एक अंश करके किसी किसी वस्तुमें नियम करनेका निमित्त हो जाता है, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो समवायको अवयव सहितपनेका प्रसंग होगा और इस ढंगसे वैशेषिकोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध करना लागू होगा। वैशेषिकोंने अवयवोंसे जन्यपन या अवयवोंके साथ वर्त्तनारूप सावयवपना समवायमें इष्ट नहीं किया है। फिर वैशेषिक यों कहें कि अवयवरूप अंशोंसे रहित होता हुआ ही समवाय-सम्बन्ध तिस प्रकारकी शक्तिविशेषसे तैसे संख्यावान् आदि व्यवहारोंके नियम करनेका हेतु बन जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका यह कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि इस वक्ष्यमाण अनुमानसे वैशेषिकोंके इस कथनका विरोध है। सो सुनिये।

समवायो न संख्यादि तद्वतां घटने प्रभुः।
निरंशत्वाद्यथैवैकः परमाणुः सकृत्तव ॥ ३१ ॥

संख्या, क्रिया, सामान्य, आदिक पदार्थ और उससे सहित किये जानेवाले द्रव्य आदि पदार्थोंका सम्बन्ध करानेमें एक समवायसम्बन्ध तो समर्थ नहीं है। क्योंकि वह समवाय अंशरहित है। जैसे कि तुम वैशेषिकोंके यहां मानी गयी एक परमाणु अंशरहित होनेके कारण संख्या और संख्यावान् अथवा घट पट, आदिकोंके परस्पर सम्मेलन करानेमें समर्थ नहीं हैं।

न हि निरंशः सकृदेकः परमाणुः संख्यादितद्वतां परस्परमिष्टव्यपदेशजनघटने समर्थः सिद्धः तद्वत्समवायोपि विशेषाभावात्।

अन्य अनेक अंशोंसे रहित एक निरवयव परमाणु एक ही समय संख्या आदि और तद्विशिष्ट माने गये पदार्थोंकी परस्पर घटना करानेमें समर्थ हुआ सिद्ध नहीं माना है। आकाशमें एकत्व संख्या है। एक पुरुषके हाथोंमें द्वित्व संख्या है। अंगुलियोंमें पंचत्व संख्या है। इस प्रकार अभीष्ट व्यवहारोंके घटित करनेमें परमाणु समर्थ नहीं है। उसीके समान समवाय भी नियत संख्यासे नियत पदार्थको विशिष्ट करनेके व्यवहार करानेमें समर्थ नहीं है। एक निरंशपरमाणु और समवायमें सम्बन्ध करने और व्यवहार करनेकी सामर्थ्य अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिविशेषयोगात् समवायस्तत्र परिवृढ इति चेत्, परमाणुस्तथास्तु। सर्वगतत्वात्स तत्र समर्थ इति चेन्न, निरंशस्य तदयोगात् परमाणुवत्।

एक भी समवाय पदार्थविशेष शक्तियोंके सम्बन्धसे इस नियत पदार्थोंकी घटनाके व्यवहारमें भले प्रकार दृढ है। ऐसा वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि यों तो एक अंशरहित परमाणु भी तिस प्रकार गुणगुणी आदिके परस्पर सम्बन्ध करानेमें दृढ हो जाओ। उसपर यदि वैशेषिक यों कहें कि वह समवाय तो सर्वत्र व्यापक होनेके कारण उस सम्बन्धको करानेमें समर्थ है। परमाणु तो व्यापक नहीं है। अतः सर्वत्र सम्बन्धोंका नियामक नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि

यह तो न कहना। क्योंकि परमाणुके समान समवाय भी अंशोंसे रहित है। निरंश पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंपर न्यारी न्यारी घटनाओंको नहीं घटा सकता है। अनेक खम्भोंपर लम्बा रखा हुआ दश हाथका बांस अंशसहित होता हुआ ऊपरके न्यारे न्यारे बोझोंको झेल रहा है। शरीर, आकाश, केश आदि सांश होकर ही न्यारे न्यारे देशोंमें अनेक घटनायें करा रहे हैं। वैशेषिकोंके द्वारा माना हुआ निरंश समवाय भले ही आकाशसे भी बड़ा व्यापक कह दिया जाय। फिर भी निरंश परमाणुसे उसकी अधिक शक्ति नहीं हो सकती। अनेक शक्तियां, या स्वभाव मानने पर तो समवाय सांश हो जायगा। बात यह है कि परमाणुका पुनः दूसरा छोटा अवयव न होनेसे परमाणु निरंश कह दी जाती है। किन्तु अनेक शक्तियां गुण, पर्यायें आदिके विद्यमान होनेसे जैनसिद्धांतमें परमाणुको भी सांश माना है। "एय पदेसो वि अणु णाणा खंधप्पदेसदो होदि। बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" यह द्रव्यसंग्रहमें कहा है।

ननु निरंशोपि समवायो यदा यत्र ययोः समवायिनोर्विशेषणं तदा तत्र तयोः प्रतिनियतव्यपदेशहेतुर्विशेषणविशेष्यभावात् प्रतिनियामकात् स्वयं तस्य प्रतिनियतत्वादिति चेन्न, असिद्धत्वात्।

फिर वैशेषिकोंका स्वमत स्थापनके लिये अवधारण है कि निरंश होता हुआ भी समवाय-सम्बन्ध जिस समय जहां जिन समवायियोंका विशेषण हो जायगा, उस समय वहां उन प्रतियोगी अनुयोगीरूप समवायियोंके प्रतिनियत व्यवहारका कारण माना जायगा। हम वैशेषिकोंने समवाय और अभावका तद्वानोंके साथ विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना है। आत्मामें समवाय सम्बन्धसे ज्ञान है। यहां ज्ञान और आत्मा इन दोमें रहनेवाला समवायसम्बन्ध विशेषण है तथा प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवायवाला ज्ञान और अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाला आत्मा ये दो विशेष्य हैं। मध्यवर्ती होकर समवाय और समवायियोंकी योजना करानेवाला विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध प्रत्येक समवायियोंका नियत हो रहा है। अतः प्रतिनियम करनेवाले मध्यवर्ती विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्धसे वह समवायसम्बन्ध स्वयं प्रतिनियत हो रहा है। इस कारण निरंश भी समवायकी परमाणुसे विशेषता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आप वैशेषिकोंका उक्त कथन सिद्ध नहीं है। समवाय और समवायियोंका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी अनवस्था होनेके कारण सिद्ध नहीं हो पाता है। अथवा हमारे कारिकामें कहे गये अनुमानको बिगाड़नेके लिये दिया गया वैशेषिकोंके इस अनुमानका प्रतिनियतत्व हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे प्रसिद्ध हेत्वाभास है।

युगपन्न विशेष्यंते तेनैव समवायिनः।
भिन्नदेशादिवृत्तित्वादन्यथातिप्रसंगतः॥ ३२॥

न खादिभिरनेकांतैर्व्याप्तेर्नैरंशसिद्धिचात् ।
निरंशत्वे प्रमाभावाद्व्यापित्वस्य विरोधतः ॥ ३४ ॥
विशेषणविशेष्यत्वं संबंधः समवायिभिः ।
समवायस्य सिध्येत द्वौ वः प्रतिनियामकः ॥३५॥

उस एक विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्धकरके समवायवाले अनेक पदार्थ एक ही समयमें एकसाथ तो विशिष्ट नहीं किये जासकते हैं। क्योंकि भिन्न भिन्न देश भिन्न भिन्न काल, आदिमें पदार्थ वर्त्त रहे हैं। अन्यथा यानी एक ही विशेष्य विशेषण भावसे अनेक भिन्नदेशवाले और भिन्नकालवाले पदार्थोंका गुण आदिसे सहित हो जानापन यदि मान लिया जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा। चाहे जहां और चाहे जब चाहे जिसके साथ कोई भी सहित बन बैठेगा। यदि वैशेषिक आकाश, दिशा, देश, आदिकसे व्यभिचार दें कि ये निरंश या एक होते हुए भी भिन्न भिन्न देश आदिमें वृत्ति हैं। किन्तु इन करके पदार्थ विशिष्ट हो रहे हैं, सो यह व्यभिचारदोष हम जैनोंके यहां लागू नहीं होता है। क्योंकि उन आकाश, दिशा, आदिकोंको अंशसहितपनेका निश्चय हो रहा है। बम्बई, कलकत्ता, यूरुप अमेरिका, नन्दीश्वरद्वीप, नरकस्थान, स्वर्ग, आदिक स्थानोंमें ठहरे हुये आकाशके प्रदेश न्यारे न्यारे हैं। मेरुकी जडसे छओं दिशाओंमें मानीं गयीं आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीरूप दिशायें भी प्रत्येक स्थानोंकी अपेक्षा सांश है। यदि आकाश आदिकोंको वैशेषिकोंके मत अनुसार निरंशपना माना जायगा तो उन उन स्थानोंमें नहीं समाजानेके कारण आकाश आदिके व्यापकपनेका विरोध होगा। जो सांश होता हुआ अनेक देशोंमें फैला हुआ है वही व्यापक हो सकता है। निरंश पदार्थ तो एक प्रदेशके अतिरिक्त दो में भी ठहर नहीं सकता है। कुछ अंशसे एक प्रदेशपर और दूसरे कुछ अंशसे अन्य प्रदेशपर ठहरनेसे तो सांशता हो जावेगी। तथा समवायियोंके साथ समवायका विशेष्य विशेषण सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं सिद्ध हो पावेगा, जो कि तुम वैशेषिकोंके यहां प्रत्येक समवायीका नियामक हो सके। अतः ज्ञान, आत्मा, आदिकोंमें भिन्न पडा हुआ समवाय और उनके भी बीचमें पडा हुआ माना गया विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध ये दोनों भी नियत सम्बन्धियोंकी व्यवस्था नहीं करा सकते हैं। जो बिचारे स्वयं नियत होकर कहीं व्यवस्थित नहीं हैं, वे दूसरोंकी क्या व्यवस्था करेंगे ? जो पंडिताभास स्वयं त्रियोगसे बहिरंगमें चारित्रभ्रष्ट है वह अन्यको सदाचार मार्गपर नहीं लगा सकता है।

न हि भेदैकांते समवायसमवायिनां विशेषणविशेष्यभावः प्रतिनियतः संभवति, यतः समवायस्य क्वचिन्नियमहेतुत्वे प्रतिनियामकः स्यात् ।

समवाय और समवायियोंके सर्वथा एकान्तसे भेद माननेपर उनका माना गया विशेष्य

विशेषणभाव सम्बन्ध भी प्रतिनियत नहीं सम्भवता है। जिससे कि कहीं ही समवायका नियम करानेके हेतुपनकी व्यवस्था करनेमें नियामक हो जाता। अर्थात्—भिन्न पडे हुये विशेष्यविशेषण सम्बन्धके द्वारा न्यारे पडे हुये समवायकी नियत व्यवस्था नहीं है और सर्वथा न्यारे समवाय द्वारा ज्ञान आत्मा, संख्या संख्यावान्, आदिके संयोजनकी नियति नहीं बन सकती है।

सन्नप्ययं ततस्तावन्नाभिन्नः स्वमतक्षतेः।
भिन्नश्चेत्स स्वसंबंधिसंबंधोन्योस्य कल्पनात् ॥ ३५ ॥
सोपि तद्भिन्नरूपश्चेदनवस्थोपवर्णिता ।
तादात्म्यपरिणामस्य समवायस्य तु स्थितिः ॥ ३६ ॥

अस्तुपरतोषन्यायसे यह विशेष्यविशेषणभाव सद्रूप भी माना जाय तो भी उन अपने सम्बन्धियोंसे अभिन्न ही होता हुआ तो न माना जायगा। क्योंकि ऐसा माननेपर सम्बन्धियोंसे सम्बन्धके भेदका आग्रह करनेवाले वैशेषिकोंको अपने मतकी क्षति होना सहना पडेगा। यदि अपने सम्बन्धियोंसे विशेष्यविशेषणभाव-सम्बन्ध भिन्न माना जायगा तो पुनः इस विशेष्यविशेषणभावका अपने सम्बन्धियोंके साथ योजना करनेवाला दूसरा न्यारा सम्बन्ध कल्पना करना पडेगा और वह भी सम्बन्ध अपने उन सम्बन्धियोंसे भिन्न स्वरूप होगा। अतः उसकी अपने सम्बन्धियोंके साथ योजना करानेवाला तीसरा सम्बन्ध मानना पडेगा। न्यारा पडा हुआ सम्बन्ध तो दो सम्बन्धिओंको जोड नहीं सकता है। अतः उसका उनके साथ सम्बन्ध मानो और तीसरा भी अपने सम्बन्धियोंमें न्यारा होता हुआ, चौथे सम्बन्धसे सम्बन्धित होकर वर्त्तेगा। इस ढंगसे अनवस्था दोष वैशेषिकोंके ऊपर कह दिया जायगा। जैन सिद्धान्तके अनुसार तो तादात्म्य परिणामरूप समवायकी स्थिति मानी गयी है, यह निर्दोष पन्था है। अतः सर्वथा भेदमें होनेवाले दोष कथंचित् तदात्मकपनेमें लागू नहीं होते हैं।

सुदूरमपि गत्वा विशेषणविशेष्यभावस्य स्वसंबंधिभ्यां कथंचिदनन्यत्वोपगमे समवायस्य स्वसमवायिभ्यामनन्यत्वसिद्धेः सिद्धः कथंचित्तादात्म्यपरिणामः समवाय इति संख्या तद्वतः कथंचिदन्या।

उन भिन्न सम्बन्धोंको अपने अपने सम्बन्धियोंमें जोडनेके लिये तीसरे, चौथे, सौमें सहस्रमें आदि सम्बन्धोंकी कल्पना करते हुये बहुत दूर भी जाकर समवायको दोमें ठहरानेके योजक विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्धका यदि अपने सम्बन्धियोंके साथ कथंचित् अभेद स्वीकार किया जायगा, तब तो उसीके समान समवाय सम्बन्धका भी अपने आधार समवायियोंके साथ अभिन्नपना सिद्ध होजाता है। इस कारण सम्बन्धियोंका कथंचित् तदात्मकपन रूपसे परिणमन होना ही समवाय सम्बन्ध सिद्ध हुआ। इस कारण संख्या उस संख्याविशिष्ट पदार्थसे कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है।

कथंचित् भेद होनेसे संख्यावान् द्रव्योंकी संख्या है, यह भेदनिर्देश बन जाता है और कथंचित अभेद होनेसे संख्यावान् द्रव्योंकी विशेष परिणति संख्या होजाती है। यह स्याद्वादसिद्धान्त स्थित रहा।

गणनामात्ररूपेयं संख्योक्ताः कथंचन।
भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणादिह ॥ ३७ ॥

सत्संख्या आदि सूत्रमें यह केवल गिनती करना रूप संख्या कही गयी है। इस कारण भेदोंकी गिनती करना स्वरूप विधानसे यहां संख्या किसी अपेक्षा भिन्न है, सर्वथा भेद तो जड और चेतनमें भी नहीं है। सत्त्व, द्रव्यत्वरूपसे जड और चेतनका अभेद है।

निर्देशादिसूत्रे विधानस्य वचनादिह संख्योपदेशो न युक्तः पुनरुक्तत्वाद्विधानस्य संख्यारूपत्वादिति न चोद्यं, तस्य ततः कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः। संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधानं तु प्रकारगणनारूपं ततः प्रतिविशिष्टमेवेति युक्तः संख्योपदेशस्तत्त्वार्थाधिगमे हेतुः।

निर्देश, स्वामित्व, आदि सातवें सूत्रमें भेदगणना रूप विधानका कथन होचुका है, अतः इस सूत्रमें संख्याका उपदेश करना पुनरुक्त दोष होनेके कारण युक्त नहीं है। क्योंकि विधान तो संख्या स्वरूप कहा ही जाचुका है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं करना। क्योंकि उस विधानका तिस संख्यासे कथंचित् भेद होना प्रसिद्ध होरहा है। एक या दोको आदि लेकर अनन्तानन्त संख्यापर्यन्त केवल गिनती करना रूप संख्याव्यापर ही है और विधान तो प्रकारोंकी गिनतीस्वरूप होता हुआ उस संख्यासे व्याप्य होरहा विशिष्ट ही है। भावार्थ—संख्या सर्वत्र वर्त्तती हुई व्यापक है और कतिपय नियत हुये भेदोंकी गिनती करना रूप विधान तो कुछ विशिष्ट पदार्थोंमें रहता हुआ व्याप्य है। इस कारण विधानसे अतिरिक्त संख्याका उपदेश करना इस सूत्रमें युक्त होता हुआ तत्त्वार्थोंके विशदरूपसे अधिगम करानेमें निमित्त कारण होजाता है। यहांतक संख्याका व्याख्यान कर दिया गया। अब क्षेत्रका प्ररूपण करते हैं।

निवासलक्षणं क्षेत्रं पदार्थानां न वास्तवम्।
स्वस्वभावव्यवस्थानादित्येके तदपेशलम् ॥ ३८ ॥
राज्ञः सति कुरुक्षेत्रे तन्निवासस्य दर्शनात्।
तस्मिन्नसति चादृष्टे वास्तवस्याप्रबाधनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थोंका निवासस्थानस्वरूप क्षेत्र वास्तविक नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। इस प्रकार कोई एक बौद्ध विद्वान् कह रहे हैं। सो वह कहना भी चातुर्यसे रहित है। क्योंकि वास्तविक कुरुक्षेत्रके होते सते राजाका वहां निवास करना देखा जाता है और उस कुरुक्षेत्रके न होनेपर निवास करना नहीं देखा जाता है। इस कारण क्षेत्रके वास्तविक-

पनेकी कोई भी प्रकृष्टबाधा नहीं आती है। निश्चय नयसे हम जैन भी क्षेत्रक्षेत्रीयभाव नहीं मानते हैं। सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं। अतः बाधामें प्रशब्दका योग सार्थक है।

नन्वेवं राज्ञः कुरुक्षेत्रं कारणमेव तत्र निवसनस्वभावस्य तस्य तेन जन्यमानत्वादिति चेत् किमनिष्टं, कारणविशेषस्य क्षेत्रत्वोपगमात् कारणमात्रस्य क्षेत्रत्वेऽतिप्रसंगः।

यहां बौद्ध अधिकरणमें की गयी शंकाके समान पुनः शंका उठाते हैं कि इस प्रकारका कुरुक्षेत्र तो राजाका कारण ही है। क्योंकि वहां कुरुक्षेत्रमें उस राजाके निवास करनारूप स्वभावकी तिस क्षेत्र करके उत्पत्ति हुई है, अतः राजाके क्षेत्रमें आजानेपर क्षेत्रस्थित राजाकी परिणतिका उत्पादक वह क्षेत्र तो कारण है। कारणसे अतिरिक्त क्षेत्र कोई वस्तुभूत नहीं है, इस प्रकार कहनेपर तो हम जैनोंको भला क्या अनिष्ट होसकता है? यानी कोई अनिष्ट नहीं है। कारणविशेषको क्षेत्रपनसे हमने स्वीकार किया है। हां, सम्पूर्ण ही कारणोंको क्षेत्रपना होनेपर अतिप्रसंग हो जायगा भावार्थ—किसी भी पदार्थके किसी भी स्थानपर ठहरनेसे एक न्यारा परिणाम होने लग जाता है। एक केलाके वृक्षपर, हाथमें, कसैडीमें, मुखमें और पेटमें धरजानेसे न्यारी न्यारी परिणतियां हुई हैं, एक ही औषधिको शर्बत, दूध, जल, काढा आदिका भिन्न आश्रय मिलने पर भिन्न भिन्न परिणतियां होते हुये उसमें भिन्न भिन्न रोगोंका उपशम करानेकी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। अतः पदार्थके कथंचित् कारणविशेषको क्षेत्र कहना हमको अभीष्ट है। गर्भस्थ—पुत्रका कारण भी होकर माता अधिकरण है। ज्ञानका कारण आत्मा ज्ञानका अधिकरण भी है। किन्तु सभी कारणोंको क्षेत्र नहीं मानते हैं। यदि सभी कारणोंको क्षेत्र माना जायगा तो घटके कारण दण्ड, कुलाल, अदृष्ट, डोरा, आदि भी उसके अधिकरण बन बैठेंगे। प्रासादको बनानेवाला कारीगर हवेलीका निवासस्थान बन जायगा जो कि इष्ट नहीं है।

प्रमाणगोचरस्यास्य नावस्तुत्वं स्वतत्त्ववत्।
नानुमागोचरस्यापि वस्तुत्वं न व्यवस्थितम् ॥ ४० ॥

समीचीन ज्ञानके विषय हो रहे इस क्षेत्रको अवस्तुभूतपना नहीं है, जैसे कि अपने अभीष्ट तत्त्वोंको अवस्तुपन नहीं है और अनुमान प्रमाणके विषय भी हो रहे क्षेत्रको वस्तुपना व्यवस्थित न होय सो न समझना अर्थात्—प्रमाणोंसे जान लिया गया क्षेत्र पारमार्थिक है। कल्पित या अवस्तु नहीं।

न वास्तवं क्षेत्रमापेक्षिकत्वात् स्थौल्यादिवदित्ययुक्तं, तस्य प्रमाणगोचरत्वात् स्वतत्त्ववत्। न ह्यापेक्षिकमप्रमाणगोचरः सुखनीलेतरादेः प्रमाणविषयत्वसिद्धेः। संविन्मात्रवादिनस्तस्यापि तदविषयत्वमिति चेन्न तस्या निरस्तत्वात्।

निवासस्थानरूप क्षेत्र (पक्ष) वस्तुभूत नहीं है (साध्य) क्योंकि वह क्षेत्र अपेक्षासे कल्पित कर लिया जाता है, जैसे कि मोटापन, पतलापन, दूरपन, नगीचपन, उरलीपार, परलीपार

आदि धर्म अपेक्षासे गढ लिये गये पदार्थ हैं, इस प्रकार बौद्धोंका अनुमान युक्तिरहित है। क्योंकि उस क्षेत्रको वस्तुभूतपना है। प्रमाणका गोचर होनेसे जैसे कि अपने अपने अभीष्ट तत्त्व वास्तविक हैं। अतः इस प्रतिपक्षको साधनेवाले अनुमानके होनेसे पहिले अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। तथा अपेक्षासे मान लिया गया पदार्थ प्रमाणका विषय न होय सो नहीं समझना। देखिये! सुख, ततः अधिक सुख, और सबसे अधिक सुख, तथा थोडे नीले रंग और अधिक नीले रंगसे युक्त हुये नील, नीलतर, नीलतम इसी प्रकार दूध, दाख, मिश्री, आदिके माधुर्यमें तरतमभाव आपेक्षिक हो रहा है। किन्तु ये सब प्रमाणके विषय होते हुये वास्तविक हैं। दूधमें वर्त्त रहे मीठेपनकी अपेक्षासे दाखके रसमें मधुरताके अविभाग प्रतिच्छेदोंके आधिक्य होनेपर वास्तविक परिणति अनुसार आपेक्षिकपना है। कोरा यों ही नहीं गढ लिया गया है। अतः आपेक्षिकपन हेतुका अवास्तविकपन साध्यके साथ ठीक व्याप्ति न बननेसे व्यभिचारदोष भी है। यदि यहां कोई यों कहे कि केवल शुद्ध संवेदनको कहनेवाले वैभाषिक बौद्धोंके यहां उन सुख, अधिक सुख अथवा नील, नीलतर, मिष्ट, मिष्टतर आदिको भी प्रमाणका विषयपना नहीं है। सौत्रान्तिकोंके यहां भले ही होय, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ग्राह्यग्राहकभाव आदिसे रहित शुद्धसंवेदन अद्वैतका हम अभी निरास कर चुके हैं। कब्रमें गाढे जा चुके मुर्दोंका उठाना उचित नहीं।

ननु च क्षेत्रत्वं कस्य प्रमाणस्य विषयः स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षस्य तत्र तस्यानवभासनात्। न हि प्रत्यक्षभूभागमात्रप्रतिभासमाने कारणविशेषरूपे क्षेत्रत्वमाभासते कार्यदर्शनात्त्वनुमीयमानं कथं वास्तवमनुमानस्यावस्तुविषयत्वादिति कश्चित्, सोप्ययुक्तवादी। वस्तुविषयत्वादनुमितेरन्यथा प्रमाणतानुपपत्तेरिति वक्ष्यमाणत्वात्।

और भी किसीकी शंका है कि आप जैनोंने कहा था कि वह क्षेत्र प्रमाणसे जाना हुआ विषय है, सो बताओ कि भूतल आदिकोंका क्षेत्रपना भला किस प्रमाणका विषय हो सकेगा? सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाणका तो वह जानने योग्य विषय नहीं है। क्योंकि उस प्रत्यक्षमें उस क्षेत्रका प्रतिभास ही नहीं होता है। प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है जैसे कि प्रभु और सेवक अथवा गुरु और शिष्य व्यक्तियोंके प्रत्यक्ष होनेपर भी यह गुरु है और यह शिष्य है एवं यह व्यक्ति स्वामी है और यह पुरुष इसका आज्ञाकारी नौकर है, इन बातोंको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। स्याद्वादियोंने भी यह कार्य विचार करनेवाले श्रुतज्ञानके अधिकारमें रखा है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानसे केवल भूभागके प्रतिभास जाननेपर विशेष कारण स्वरूपमें क्षेत्रपना नहीं प्रतिभासता है। हां, कार्यके देखनेसे कारणविशेषरूप क्षेत्र तो सामान्यरूपसे अनुमानका विषय होता हुआ भला वास्तविक कैसे हो सकेगा। क्योंकि हम बौद्धोंने सामान्यको जाननेवाले अनुमानका विषय अवस्तु माना है। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहा है। सिद्धान्ती कहते हैं कि वह भी युक्तिरहित कहनेकी टेव रखनेवाला है।

क्योंकि अनुमान प्रमाण वास्तविक अर्थको विषय करता है। अन्यथा अनुमानको प्रमाणपना नहीं बन सकेगा। इसका अग्रिम ग्रन्थमें हम स्पष्टरूपसे व्याख्यान कर देवेंगे।

ननु निर्देशादिसूत्रेधिकरणवचनादिह क्षेत्रस्य वचनं पुनरुक्तं तयोरेकत्वादिति शंकामपनुदन्नाह।

शंकाकार कहता है कि निर्देश स्वामित्व, आदि सातवें सूत्रमें अधिकरणका कथन कर दिया गया है। अतः पुनः इस सत्संख्या आदि सूत्रमें क्षेत्रका परिभाषण करना पुनरुक्त दोषसे ग्रसित है। क्योंकि वे अधिकरण और क्षेत्र दोनों एक हैं। इस प्रकार शंकाको दूर करते हुये विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि—

सामीप्यादिपरित्यागाद्व्यापकस्य परिग्रहात्।
शरीरे जीव इत्यादिकरणं क्षेत्रमन्यथा ॥ ४१ ॥

"ग्रामे वृक्षाः" गांवमें वृक्ष हैं, गंगायां घोषः, गंगामें घर है, ऐसे समीपपन, तीरपन, आदिके परित्याग करनेसे और व्यापक आधारके परिग्रहण करनेसे शरीरमें जीव है, यह अधिकरण समझना चाहिये और दूसरे प्रकार समीपपन आदिके सम्बन्धसे क्षेत्रकी व्यवस्था है।

शरीरे जीव इत्याधिकरणं व्यापकाधाररूपमुक्तं, सामीप्याद्यात्मकाधाररूपं तु क्षेत्रमिहोच्यते ततोन्यथैवेति न पुनरुक्तता क्षेत्रानुयोगस्य।

शरीरमें जीव है, तिलमें तैल है, दूधमें घृत है इत्यादिक व्यापक आधारस्वरूप तो अधिकरण कह दिया गया है और यहां समीपता, अन्तराल अभाव आदि आत्मक आधारस्वरूप तो क्षेत्र कहा जारहा है, जोकि उस अधिकरणसे दूसरे ही प्रकारका है। इस कारण सत्संख्या सूत्रमें क्षेत्रके अनुयोगकी प्ररूपणाको पुनरुक्तपना नहीं है। अधिकरणसे क्षेत्रका पेट बडा है। क्षेत्रमें प्रकृत आधेयके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पदार्थ ठहर जाते हैं। क्वचित् क्षेत्र और अधिकरणका सांकर्य भी अभीष्ट है। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, इस ढंगसे अनेक जातिकी बुद्धिको धारनेवाले शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये न्यारे न्यारे उपाय हैं।

त्रिकालविषयार्थोपश्लेषणं स्पर्शनं मतम्।
क्षेत्रादन्यत्वभाग्वर्तमानार्थश्लेषलक्षणात् ॥ ४२ ॥

भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्, तीनों कालोंमें पदार्थका आधेयपनेसे संसर्ग रखनारूप स्पर्शन माना गया है, जो कि वर्त्तमान कालमें ही पदार्थका श्लेष रखना क्षेत्रसे भिन्नपनेको धारण करता है।

त्रिकालविषयोपश्लेषणं स्पर्शनं, वर्तमानार्थोपश्लेषणात् क्षेत्रादन्यदेव कथंचिदवसेयं। सर्वस्यार्थस्य वर्तमानरूपत्वात्स्पर्शनमसदेवेति चेन्न, तस्य द्रव्यतोऽनादिपर्यंतरूपत्वेन त्रिकालविषयोपपत्तेः।

वर्तमान कालमें अपेक्षा छुपटाये रखनारूप क्षेपसे तीनों कालोंमें संसर्ग रखनारूप स्पर्शन कथंचित् भिन्न ही समझना चाहिये। बौद्ध संपूर्ण पदार्थोंका वर्तमान एक क्षणमें ठहरना स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सम्पूर्ण पदार्थ वर्तमान कालमें ही होनेवाले परिणामस्वरूप हैं। इस कारण तीनों कालमें कहीं ठहरनारूप स्पर्शन असत् ही है, सो यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उन संपूर्ण पदार्थोंको नित्य अन्वित रहनेवाले द्रव्यरूपसे अनादि अनन्तकालतक स्थिर रहना स्वरूप होनेके कारण तीनों कालोंमें ठहरना बन जाता है। सप्तमी विभक्तिका अर्थ विषय भी है।

ननु चेदमयुक्तं वर्तते वस्तु त्रिकालविषयरूपमनाद्यनंतं चेति। तद्धि यद्यतीतरूपं कथमनंतं? विरोधात्। तथा यद्यनागतं कथमनादि? ततो न त्रिकालवर्तीति।

पुनः बौद्ध शंकापूर्वक अपने क्षणिक पक्षके अवधारण करनेका प्रयत्न करते हैं कि जैनोंका इस प्रकार यह कहना अयुक्त हो रहा है कि तीनों कालोंमें अधिकरणस्वरूप वस्तु अनादिसे अनन्तकालतक ठहरती हुई उन परिणामोंसे तदात्मक हो रही है। आप जैन विचारिये कि वह वस्तु नियमसे यदि अपने अतीत परिणामस्वरूप है तो भला वह अनन्त कैसे हो गयी? क्योंकि विरोध है। पहिले हो चुका रावण भविष्यमें होनेवाले शंख चक्रवर्तीस्वरूप नहीं हो सकता है। अतीत कालका भविष्यकालसे अभेद करना मानो अधोलोकको ऊर्ध्व लोकके स्थानमें बैठा देना है। तथा यदि वस्तुको भविष्य परिणामोंके साथ तदात्मक स्वरूप माना जायगा तो वह अनादि कैसे हो सकती है। मुक्तजीव पुनः संसारी बननेके लिये नहीं लौटते हैं। तिस कारण तीनों कालमें वर्त्तनेवाली वस्तु नहीं हो सकती है। यहांतक क्षणिकवादीका कहना है। अब आचार्य समाधान करते हैं।

द्रव्यतोऽनादिपर्यंते सिद्धे वस्तुन्यबाधिते।
स्पर्शनस्य प्रतिक्षेपस्त्रिकालस्य न युज्यते॥ ४३॥

नित्य, अन्वयी, द्रव्यरूपकरके अनादिसे अनन्तकालतक ठहरनेवाली वस्तुके बाधारहित सिद्ध हो जानेपर त्रिकालवर्त्ती स्पर्शनका खण्डन करना कैसे भी युक्त नहीं है।

न हि येनात्मनातीतमनागतं वा तेनानंतमनादि वा वस्तु ब्रूमहे, यतो विरोधः स्यात्। नापि स तदात्मा वस्तुनो भिन्न एव, येन तस्यातीतत्वेऽनागतत्वे च वस्तुनोऽनंतत्वमनादित्वं च कथंचिन्न सिध्येत्। ततोऽनाद्यनंतवस्तुनः कथंचित्त्रिकालविषयत्वं न प्रतिक्षेपार्हमविरुद्धत्वादिति श्लेषांशस्तल्लक्षणः स्पर्शनोपदेशः।

हम स्याद्वादी जिस परिणामस्वरूपसे वस्तु अतीत है, उसी परिणामस्वरूपसे अनागत (भविष्य) अथवा जिस स्वरूपसे वस्तु अनन्तकालतक ठहरेगी उसी स्वरूपसे अनादिकालसे ठहरी चली आई है, यह नहीं कहते हैं, जिससे कि विरोध हो जावे। और वह अतीत, अनागत, परिणामोंसे

तदात्मकपना वस्तुसे भिन्न नहीं है, यह भी नहीं बखानते हैं, जिससे कि उन उन परिणामोंको अतीतपना होनेपर और भविष्यपना होनेपर वस्तुको कथंचित् अनन्तपन और अनादिपन नहीं सिद्ध हो पाता। तिस कारण अनादिसे अनन्तकालतक ठहरी हुयी वस्तुका किसी अपेक्षा तीनों कालोंमें गोचरपना खण्डन करने योग्य नहीं है। उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यंत अखण्ड गंगाकी धारके समान अतीत, वर्तमान, भविष्यत्, कालके परिणामोंसे अविरुद्ध होकर तदात्मक होता हुआ वस्तु है। इस कारण तीनों कालमें श्लेष होना रूप अंश उस वस्तुका स्वरूप है और ऐसे श्लेष (स्वरूप) स्पर्शनका उपदेश दिया गया है। यहांतक स्पर्शनका निरूपण कर अब कालका विवरण करते हैं।

स्थितिमत्सु पदार्थेषु योवधिं दर्शयत्यसौ।
कालः प्रचक्ष्यते मुख्यस्तदन्यः स्वास्थितेः परः ॥ ४४ ॥

एक समय या अधिक समयोंतक ठहरनेवाले पदार्थोंमें जो अवधिको दिखलाता है, वह काल बखाना जाता है। उस व्यवहारकालसे काल परमाणुरूप मुख्यकाल भिन्न है। निर्देश आदि सूत्रमें कही गयी पदार्थोंकी अपनी अपनी स्थितिसे यह सत्संख्या सूत्रमें कहा गया काल निराला है।

न हि स्थितिरेव प्रचक्ष्यमाणः कालः स्थितिमत्सु पदार्थेष्ववधिदर्शनहेतोः कालत्वात्। स्यानक्रियैव व्यवहारकालो नातोऽन्यो मुख्य इति चेन्न, तदभावे तदनुपपत्तेः। तथा हिः—

कुछ कालतक स्थित रहना ही भविष्य पांचवें अध्यायमें प्रकृष्ट रूपसे व्याख्यान किया जाने वाला कालपदार्थ नहीं है। क्योंकि स्थितिवाले पदार्थोंमें मर्यादाको दिखलानेवाले कारणको कालपन व्यवस्थित है। अर्थात्—पदार्थोंके कुछ समयतक ठहरनेको स्थिति कहते हैं और स्थितिमान् अर्थका एक समय, एक दिन, सौ वर्ष, आदि अवधिके परिणामको काल कहते हैं। यहां श्वेताम्बर जैन कहते हैं कि पदार्थोंका एक समय, गोदोहनवेला, अस्तसमय, वर्ष, आदि व्यवहार कालोंमें ठहरनारूप क्रिया ही व्यवहारकाल है। इस व्यवहार कालसे अन्य कोई मुख्यकाल नहीं है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि उस मुख्यकालका अभाव माननेपर उस व्यवहार कालकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे कि मुख्य सिंहके विना शूरवीरतायुक्त मनुष्यमें सिंहपनेका व्यवहार नहीं बनता है। लोकाकाशके प्रदेशों बराबर असंख्यात काल परमाणु शुद्ध द्रव्योंके होनेपर ही पुद्गलद्रव्योंसे अनन्तगुण व्यवहारकाल बन जाते हैं। अन्यथा नहीं। श्रीविद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा तिसी प्रकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

न क्रियामात्रकं कालो व्यवहारप्रयोजनः।
मुख्यकालादृते सिद्ध्येद्वर्तनालक्षणात्क्वचित् ॥ ४५ ॥

समय, आवलि, मुहूर्त्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पल्य, सागर, आदि व्यवहार करना है प्रयोजन जिसका, ऐसा काल केवल क्रियारूप ही है। अर्थात्—परमाणुका एक प्रदेशसे दूसरे आकाश प्रदेशपर मन्दगतिसे गमनरूप–क्रिया तो समय है। गौओंकी दोहनारूपक्रिया गोदोहन वेला है। चन्द्रमाका पन्द्रह गलियोंमें घूमकर पुनः उसी गलीपर आजानारूप क्रिया चान्द्र-मास है। सूर्यका एक सौ चौरासी गलियोंमें भ्रमण कर पुनः उसी वीथीपर गमन करनारूप क्रिया सौरवर्ष है। इत्यादि क्रियारूप व्यवहार काल कहीं भी नवीनसे जीर्ण करनास्वरूप वर्तनालक्षण-वाले मुख्यकालके विना सिद्ध न हो सकेगा।

न हि व्यावहारिकोपि कालः क्रियामात्रं सर्वकालस्थितिरिति कालविशेषणायाः स्थितेरभावप्रसंगात्। परमः सूक्ष्मः कालो हि समयः सकलतादृशक्रियाविशेषणतामात्मसात् कुर्वंस्ततोऽन्य एव व्यवहारकालस्यावलिकादेर्मूलमुन्नीयते। स च मुख्यकालं वर्तनालक्षण-माक्षिपति तस्मादृते क्वचित्तदघटनात्। न हि किंचिद्गौणं मुख्यादृते दृष्टं येनातस्तस्यासाधनं।

और व्यवहाररूप प्रयोजनको साधनेवाला काल भी केवल क्रियारूप ही नहीं है। क्योंकि इन पदार्थोंकी समान कालमें स्थिति है, इस प्रकार काल है विशेषण जिसका ऐसी स्थितिके अभावका प्रसंग होगा। विशेषणसे विशेष्य भिन्न होना चाहिये। छोटा होते होते सबसे अन्तमें जाकर परम सूक्ष्मकाल समय है और वह तिस प्रकारकी सम्पूर्ण क्रियाओंके विशेषणपनको अपने अधीन करता हुआ उपस्थितिसे न्यारा ही होकर आवलि, मुहूर्त, आदि व्यवहारकालोंका मूलकारण उपरिष्टात् समझ लिया जाता है और वह व्यवहारकाल प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें होनेवाली स्वसत्ता अनु-भूतिरूप वर्तना है लक्षण जिसका, ऐसे मुख्यकालका आक्षेप (अनुमान) कर लेता है। क्योंकि उस मुख्य कालके विना कहीं भी वह व्यवहारकाल घटित नहीं होपाता है। कोई भी गौण पदार्थ मुख्यके विना होता हुआ नहीं देखा गया है। जिससे कि इस व्यवहारकालसे उस मुख्यकालका साधन नहीं किया जा सके। भावार्थ—" अग्निर्माणवकः " " गौर्वाहीकः " " अन्नं वै प्राणाः " आदि स्थलोंमें मुख्यके होनेपर ही उसकी कल्पना अन्यत्र कर ली जाती है। इसीके समान समय, आवलि, आदिक व्यवहारकालसे वर्त्तनालक्षण मुख्य असंख्यातकाल द्रव्योंका अनुमान द्वारा साधन हो जाता है। कालाणुकी समयपर्याय वास्तविक है। पुनः उसके समुदायसे आवलि, श्वास, आदि व्यवहारकाल बन जाते हैं।

परत्वमपरत्वं च समदिगातयोः सतोः।
समानगुणयोः सिद्धं तादृक्कालनिबंधनं ॥ ४६ ॥
परापरादिकालस्य तत्त्वं हेत्वंतरान्न हि।
यतोऽनवस्थितिस्तत्राप्यन्यहेतुप्रकल्पनात् ॥ ४७ ॥

स्वतस्तत्त्वं तथात्वे च सर्वार्थानां न तद्भवेत् ।
व्याप्त्यसिद्धेर्मनीषादेरमूर्तत्वादिधर्मवत् ॥ ४८ ॥
यथाप्रतीतिभावानां स्वभावस्य व्यवस्थितौ ।
काले परापरादित्वं स्वतोस्त्वन्यत्र तत्कृतम् ॥ ४९ ॥

कुछ अमर्यादित कालतक ठहरनारूप स्थितिसे ज्येष्ठ, कनिष्ठपना, निर्णीत नहीं हो जाता है । सहारनपुरसे पटनाकी अपेक्षा बनारस अपर है और कलकत्ता पर है, ये दिशाके द्वारा किये गये परत्व अपरत्व हैं, किन्तु समानगुणवाले और समान दिशामें प्राप्त हुये ऐसे एक क्षेत्रमें स्थित हुये छोटी उम्र बडी उम्रके विद्यमान पदार्थोंमें परत्व और अपरत्व तो तिस प्रकारके व्यवहारकालको कारण मानकर ही सिद्ध होते हैं । दिशाकी अपेक्षा नहीं बनपाते हैं । बडी उमरके जेठे पुरुषमें कालकृत परत्व है और थोडी उमरके कनिष्ठ भ्रातामें कालकृत अपरत्व है । छोटी उम्रके ब्राह्मणसे बुद्धाभंगी पर है । यहां तर्क है कि इस प्रकार कालमें भी वहं परत्व और अपरत्व दूसरे हेतुओंसे प्राप्त होगा और उन दूसरोंमें भी तीसरे कारणसे परत्व, अपरत्व, आवेगा । आचार्य कहते हैं कि सो यह नहीं समझना । जिससे कि वहां भी अन्य अन्य हेतुओंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दोष हो जाय । वस्तुतः देखा जाय तो जैसे अन्य पदार्थोंका प्रकाश दीपक या सूर्यसे होता है और दीपक सूर्यका प्रकाश स्वतः हो जाता है, अग्नि स्वयं उष्ण होती हुई अन्य पदार्थोंको उष्ण कर देती है । इसी प्रकार ज्येष्ठ,कनिष्ठ, बूढे, बालक आदिमें परत्व, अपरत्व तो व्यवहारकालसे हैं । और कालमें परत्व, अपरत्व, स्वतः हैं । अन्य हेतुओंसे नहीं आये हैं । व्यवहारकालमें वह परत्व अपरत्व स्वतः है । अतः उसीके समान सभी युवा, वृद्ध आदिक पदार्थोंका वह परत्व, अपरत्व, भी तिस प्रकार होनेपर स्वतः नहीं हो सकेगा । क्योंकि कोई ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । जैसे कि विचारशालिनी बुद्धि, उदारता, आदिके अमूर्तत्व आदिक धर्म हैं । वे धर्म घट, पट, आदिके नहीं हो सकते हैं । स्वपर दोनोंकी ज्ञप्ति करना ज्ञानका स्वभाव है । वह घटका स्वभाव नहीं हो सकता है । स्वभावमें तर्कणा नहीं चलती । जिस प्रकार प्रमाणोंसे प्रतीतियां हो रही हैं उनके अनुसार पदार्थोंके स्वभावोंकी व्यवस्था माननेपर तो व्यवहारकालमें परत्व,अपरत्व,परिणाम, आदिक स्वतः हैं और अन्य पदार्थोंमें उस व्यवहारकाल द्वारा किये गये समझने चाहिये । प्रत्यक्ष और युक्ति द्वारा समझा दिये गये स्वभावोंमें व्यर्थ कुतर्क उठाना अच्छा नहीं ।

क्वान्यथा व्यवतिष्ठंते धर्माधर्मनभांस्यपि ।
गत्यादिहेतुतापत्तेर्जीवपुद्गलयोः स्वतः ॥ ५० ॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानादीनपि पुद्गलाः ।
प्राणिनामुपकुर्युर्न स्वतस्तेषां हि देहिनः ॥ ५१ ॥

जीवा वा चेतना न स्युः कायाः संतु स्वकास्थिताः ।
निंबादिर्मधुरस्तिक्तो गुडादिः कालविद्विषाम् ॥ ५२ ॥

अन्यथा यानी प्रामाणिक प्रतीतिके अनुसार यदि भावोंके स्वभावोंकी व्यवस्था न मानी जायगी तो जीव और पुद्गलकी गतिके उदासीन कारण धर्म तथा स्थितिके उदासीन कारण अधर्म द्रव्य तथा अवगाहके कारण आकाशद्रव्य भी कहां व्यवस्थित हो सकेंगे ? जीव और पुद्गलकी गति, स्थिति, अवगाहनाके कारणपनेका प्रसंग स्वयं जीव पुद्गलको ही प्राप्त हो जावेगा, जैसे कि आकाश स्वयं अपना अवगाह कर लेता है । तथा पुद्गल द्रव्य भी प्राणियोंके शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान, सुख, दुःख, आदिक उपकारोंको न कर सकेंगे । इसी प्रकार शरीरधारी प्राणी भी स्वतः उन पुद्गलोंका प्रक्षालन, मार्जन, रचनाविशेष, आदि द्वारा नियमसे उपकार न कर सकेंगे । अपना अपना स्वतः ही उपकार किया जा सकेगा । प्रत्यक्षसिद्ध या प्रमाणसिद्ध पदार्थोंके स्वभावोंकी यदि प्रतीतिके अनुसार व्यवस्था नहीं मानी जायगी तो भारी गोटाला मच जायगा । जीव पदार्थ चेतनस्वरूप न हो सकेंगे, तिसी प्रकार अपने जडशरीर चेतना बन बैठेंगे । निम्ब, नींबू, कुटकी, करेला, आदि पदार्थ मीठे बन जायेंगे । और पौंडा, मिश्री, आदिक कडवे हो जायेंगे । कालद्रव्यसे द्वेष करनेवाले वादियोंके यहां किसी भी तत्त्वकी ठीक व्यवस्था न हो सकेगी । हां, कालको माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां तो मुख्यकाल द्वारा पदार्थोंकी वर्त्तना होती हुई व्यवहार कालसे परिणाम, परत्व, अपरत्व, क्रिया, ये सब बन जाते हैं और प्रतीतिके अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवके द्वारा नियत करे गये कार्य भी सम्हल जाते हैं । कोरी तर्कणा करने वाले तो " घृताधारं पात्रं पात्राधारम्वा घृतं " बर्तनमें घी है या घीमें बर्तन है ऐसे निस्तत्व विकल्पोंमें पडकर अपने लिये अनिष्ट कर बैठते हैं ।

एकत्रार्थे हि दृष्टस्य स्वभावस्य कुतश्चन ।
कल्पना तद्विजातीये स्वेष्टतत्त्वविघातिनी ॥ ५३ ॥
तस्माज्जीवादिभावानां स्वतो वृत्तिमतां सदा ।
कालः साधारणो हेतुर्वर्तनालक्षणः स्वतः ॥ ५४ ॥

एक अर्थमें देखे हुये स्वभावका किसी भी कारणसे यदि उस विजातीय पदार्थमें उस स्वभावकी कल्पना की जायगी तब तो अपने अभीष्ट तत्त्वोंका विघात करनेवाली वह समझी जायगी हथिनीके पलानको छिरिया झेल नहीं सकती है । सूर्यका स्वपरप्रकाशकपना स्वभाव घडेमें नहीं माना जासकता है । तिस कारण सर्वदा स्वयं अपने स्वरूपसे वर्त्तनाको प्राप्त हो रहे जीव, पुद्गल, आदि

पदार्थोंका साधारण कारण काल है, जो कि स्वतः वर्त्तनास्वरूप है। यानी अन्योंकी वर्त्तना कराता है और अपनी भी वर्त्तना करता है। मिरच स्वयं चरपरी है और भोजन (तरकारी) को भी चरपरा करदेती है। ऐसे ही लवण, गोंद, तखरी, सुगुरु, जल, नाव, दीपक, घोडा आदिमें भी लगालेना।

न हि जीवादीनां वृत्तिरसाधारणादेव कारणादिति युक्तं, साधारणकारणद्विना कस्यचित्कार्यस्यासंभवात् करणज्ञानवत्। तत्र हि मनःप्रभृति साधारणं कारणं चक्षुरायसाधारणमन्यतरापाये तदनुपपत्तेः। तद्वत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालः साधारणं निमित्तश्चोपादानमसाधारणमिति युक्तं पश्यामः। खादि तन्निमित्तं साधारणमितिचेन्न, तस्यान्यनिमित्तत्वेन प्रसिद्धेः। केनचिदात्मना तत्तन्निमित्तत्वमपीति चेत्, स एवात्मा काल इति न तदभावः। तथा सति कालो द्रव्यं न स्यादिति चेन्न, तस्य द्रव्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

जीव, पुद्गल आदिकोंकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप वर्त्तना केवल असाधारण कारणसे ही हो जाय, इस प्रकार नैयायिक, श्वेताम्बर आदि वादियोंका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि साधारण कारणके विना किसी भी कार्यका उत्पाद होना असम्भव है। जैसे कि प्रमाणरूप करणज्ञानका। देखिये, उस करण ज्ञानमें मनइन्द्रिय, आत्मा, आदि तो साधारण कारण हैं और चक्षु, विशिष्टक्षयोपशम, आदिक असाधारण कारण हैं। इन दोनों कारणोंमेंसे एकके भी न होनेपर उस इन्द्रियप्रत्यक्षकी उत्पत्ति होना नहीं बनता है। तिसीके समान सम्पूर्ण वर्त्तनावाले पदार्थोंकी परिणति होनेमें कालद्रव्य साधारण कारण है तथा निमित्तकारण और उपादान कारण ये सब असाधारण कारण हैं। इस सिद्धान्तको हम युक्त देख रहे हैं (समझ रहे हैं)। कोई कहे कि आकाश आदिक ही उस वर्त्तनाके साधारण कारण हो जायेंगे, आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि उन आकाश आदिकोंकी अन्य अवगाह आदि कार्योंके निमित्तपनेसे प्रसिद्धि हो रही है। अपने किसी एक स्वरूपसे वह आकाश उस वर्त्तनाका भी निमित्त हो जायगा, इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह स्वरूप ही तो कालद्रव्य है। एक आकाशमें दो द्रव्योंके स्वभाव नहीं ठहर सकते हैं। इस कारण उस कालद्रव्यका अभाव नहीं हुआ। यदि कोई कहे कि तिस प्रकार होते हुये भी काल पदार्थ द्रव्य तो नहीं सिद्ध हो सकेगा ? वह तो एक नियत आकाशद्रव्यका स्वभाव माना गया। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह न कहना। क्योंकि उस मुख्यकालको द्रव्यपने करके भविष्य पांचवें अध्यायमें स्पष्ट रूपसे कह दिया जावेगा। अर्थात्—गुणपर्यायवान् होनेसे काल भी द्रव्य साध दिया जायगा। यहांतक कालका प्ररूपण हुआ। अब अन्तरको कहते हैं।

स्वहेतोर्जायमानस्य कुतश्चिद्विनिवर्तने।
पुनः प्रसूतितः पूर्वं विरहोंतरमिष्यते॥ ५५॥

काल एव स चेदिष्टं विशिष्टत्वान्न भेदतः ।
सूचनं तस्य सूत्रेस्मिन् कथंचिन्न विरुध्यते ॥ ५६ ॥

अपने अंतरंग बहिरंग कारणोंसे उत्पन्न होरहे पदार्थकी किसी भी विनाशक कारणसे विशेष निवृत्ति होजाने पर पुनः कालान्तरमें उसकी उत्पत्ति होजानेसे तबतक पूर्वका व्यवहित समय अन्तर माना जाता है। इस पर कोई यों कहे कि इस प्रकार किसी उत्पन्न पदार्थके नष्ट होजाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होनेतकके व्यवधान कालको यदि अन्तर कहा जायगा, तब तो यह अन्तर काल ही हुआ। फिर सूत्रमें कालसे न्यारे अन्तरका निरूपण करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्यों कि सामान्यकालसे अन्तरकालमें विशिष्टता होनेसे उसका न्यारा कथन करना हमने इष्ट किया है। इस कारण इस सूत्रमें उस अन्तरका सामान्य कालकी अपेक्षा कथंचित् भेदसे सूत्रणा करना विरुद्ध नहीं पडता है। सामान्यके कहे जानेपर भी विशेष प्रतिपत्तिके प्रयोजन वश विशेषका उपादान करना न्याय है। " ब्राह्मणाः समायाताः, सूरिसेनोपि "।

ननु न केवलं विरहकालोंतरं। किं तर्हि छिद्रं मध्यं वा अंतरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेश्छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणमिति वचनात्। न चेदं वचनमयुक्तं कालव्यवधानवत्क्षेत्रस्य व्यवधायकस्य भागस्य च पदार्थेषु भावादिति कश्चित्।

किसीकी शंका है कि मध्यवर्त्ती विरह (कालव्यवधान) को करनेवाला केवल काल ही अन्तर नहीं है, तो क्या है? इसपर यह कहना है कि छिद्र अथवा मध्य भी अन्तर है। राजवार्त्तिक ग्रन्थमें श्री अकलंकदेवका यह वचन है कि अन्तर शब्दकी अनेक अर्थोंमें वृत्ति है। कहीं छेद अर्थमें वर्तता है, जैसे कि यह काठ सान्तर है, यानी छेदसहित है, कहीं भेद अर्थको कहता है, जैसे कि द्रव्य द्रव्यान्तरोंको बनाते हैं। इस वाक्यमें अन्तर शब्दका दूसरा भिन्न अर्थ वैशेषिकोंको अभिप्रेत है। कहीं विशेष अर्थमें अन्तर शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे कि घोडे घोडेमें अन्तर है। एक क्लेशित करनेवाला घोडा (टटुआ) दस रुपयेमें आता है, दूसरा गुणी शुभशकुनरूप अश्व दस सहस्र रुपयोंमें आता है। अतः घोडे घोडेमें विशेषता है। ऐसे ही लोहा, स्त्री, पुरुष, वसन, आम, चावल, आदिमें व्यक्ति रूपसे विशेषतायें हैं। कहीं बहिर्योगमें अन्तर शब्द बोल दिया जाता है। जैसे कि गांवके अन्तरमें कुयें हैं। अर्थात्—गांवसे बाहर कुये हैं। आदि तिन अनेक अनेक अर्थोंमें यहां छिद्र, मध्य और विरहकाल इनमेंसे चाहे जिस एकका ग्रहण समझना चाहिये। तथा यह भट्टाकलंक देवका वचन युक्तिरहित नहीं है। क्योंकि पदार्थोंमें जैसे कालकृत व्यवधान हो रहा है, उसी प्रकार व्यवधान करनेवाले क्षेत्रका भाग भी पदार्थोंमें विद्यमान है। अतः अन्तर शब्दसे विशेषकाल ही क्यों पकडा जाता है? छिद्र और मध्य भी पकडने चाहिये, जो कि श्रीअकलंकदेव भी मानते हैं। यह कोई कह रहा है।

सोपि यदि मुख्यमंतरं छिद्रं मध्यं ब्रूयात् तदानुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनमिति विरुध्यते विरहकालाख्यस्यांतरस्यानेन समर्थनात् अथाप्रधानं तदिष्टमेव ।

अब आचार्य कहते हैं कि वह शंकाकार भी छिद्र अथवा मध्यको यदि मुख्यरूपसे अन्तर कहेगा तब तो श्री अकलंकदेवके-उस वार्त्तिकसे अगली इस वार्त्तिकद्वारा उसका विरोध प्राप्त होगा कि नहीं नष्ट हुई है शक्ति जिसकी, ऐसे द्रव्यको निमित्त कारणवश किसी पर्यायके तिरोभाव हो जानेपर फिर अन्यनिमित्तोंसे उसी ही पर्यायका प्रकट होना देखा जाता है । अतः उस सूत्रमें अंतर का वचन किया है । इस वार्त्तिकसे भगवान अकलंकदेवने विरहकाल नामके अंतरका समर्थन(पुष्टि) किया है । अर्थात्—मुख्यरूपसे विरहकालको अन्तर माना है । छिद्र और मध्य यदि मुख्य अंतर समझे जावेंगे तो शंकाकारके कथनका दूसरी वार्तिकसे विरोध हो जाता है । हां; जब यदि उन छिद्र और मध्यको अन्तरका गौण अर्थ मानते हो सो तो हमको इष्ट ही है । कालप्ररूपणसे न्यारी अन्तर प्ररूपणाको करनेमें प्रत्युत इससे और सहायता प्राप्त हो जाती है ।

सांतरं काष्ठं सछिद्रमिति प्रतीतेर्मुख्यं छिद्रमिति चेन्न, तत्रापि विरहस्य तथाभिधानात् । द्रव्यविरहः छिद्रं न कालविरह इति चेन्न, द्रव्यविरहस्य पदार्थप्ररूपणानंगत्वात् । क्षेत्रं व्यवधायकं छिद्रमिति चायुक्तं तस्य मध्यव्यपदेशप्रसंगात् । भागो व्यवधायको मध्यमिति चायुक्तिकं हिमवत्सागरांतरमित्यादिषु मध्यस्यांतरस्य व्यवधायकभागस्याप्रतीतेः । पूर्वापरादिभागविरहोंतरालभागो मध्यमिति चेत्, तर्हि सर्व एव क्व क्षेत्रविरहोंतरालरूपः छिद्रं इति विरह एवांतरं न्याय्यं, तत्र छिद्रमध्ययोः कथंछिद्विरहकालादनन्यत्वेपि जीवतत्त्वाधिगमानंगत्वादिहानधिकारादवचनं । विरहकालस्य तु तदंगत्वादुपदेश इति युक्तं । पुद्गलतत्त्वनिरूपणायां तु छिद्रमध्ययोरपि वचनं वार्तिककारस्य सिद्धम् ।

पुनः शंकाकार कहता है कि काठ सान्तर है । अर्थात्—छेदसहित है । इस प्रकार प्रतीति होनेके कारण अन्तरशब्दका मुख्य अर्थ छिद्र हो रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वहां भी तिस प्रकार विरह [व्यवधान] का कथन किया गया है । इसपर शंकाकारका कहना है कि विरह अर्थ भले ही सही, किन्तु छेदसहित काठमें द्रव्यका विरहरूप छेद लिया गया है । कालका विरह तो छेद नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना । क्योंकि द्रव्यका विरह पडजाना पदार्थकी प्ररूपणाका उपयोगी अंग नहीं है और व्यवधान करनेवाला क्षेत्र छिद्र है, इस प्रकार कहना भी अयुक्त है । क्योंकि यों तो उस छेदको मध्यपनेके व्यवहारका प्रसंग होगा । यानी वह छेद मध्य हो जावेगा । किन्तु शंकाकारने छेदको मध्यसे न्यारा माना है । तथा व्यवधान करनेवाला भाग (हिस्सा) मध्य है । इस प्रकार मध्यको छेदसे भिन्न निरूपण करना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि " हिमवत्सागरान्तरं " इत्यादि प्रयोगोंमें अन्तर शब्दका मध्य अर्थ अभीष्ट है । किन्तु समद्रके मध्यमें हिमवान पर्वतके रहनेका व्यवधान करानेवाला भाग तो

नहीं प्रतीत हो रहा है। अतः व्यवधान करानेवाला भाग मध्य नहीं है। यदि पूर्व, पश्चिम, आदि भागोंका विरहस्वरूप मध्यवर्ती अन्तराल भागको मध्य कहा जायगा, तब तो सर्व ही मध्य हो जावेंगे। ऐसी दशामें अन्तरालस्वरूप क्षेत्रविरहको छिद्रपना कहां रहा ? इस कारण यहां विरहको ही अन्तर कहना न्याययुक्त है। उन अन्तरोंमें छिद्र और मध्यका विरहकालसे कथंचित् अभेद होनेपर भी जीवतत्त्वकी अधिगतिमें उपयोगी अंग न होनेके कारण यहां प्रकरणमें अधिकार नहीं है। अतः छिद्र और मध्यका वचन नहीं किया गया है और विरहकाल तो उस जीवतत्त्वके ज्ञानमें उपयोगी अंग है। अतः उमास्वामी महाराजद्वारा विरहकालका उपदेश देना यह युक्त है। हां, पुद्गल तत्त्वका निरूपण करनेमें तो छिद्र और मध्यका भी वचन उपयोगी है। अतः राजवार्तिक को बनानेवाले श्री अकलंकदेवका वचन सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—पुद्गल तत्त्वकी अधिगति करानेमें छिद्र और मध्यरूप अन्तर भी हम अभीष्ट कर लेते हैं। यह अन्तरका निरूपण कर दिया है। अब भावको दिखलाते हैं।

औपशमिकादीनां भावानां प्रतिपत्तये ।
भावो नामादिसूत्रोक्तोप्युक्तस्तत्त्वानुयुक्तये ॥ ५७ ॥

यद्यपि " नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः " इस सूत्रमें वस्तुकी वर्तमान पर्यायरूप भावका कथन हो चुका है। फिर भी इस सत्संख्या आदि सूत्रमें औपशमिक, क्षायिक आदि भावोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये भावका निरूपण किया है। शिष्योंके विशदरूपसे तत्त्वोंका अनुयोग करानेके लिये परोपकारी महर्षियोंका यह उद्योग आदरणीय है। धन्यास्ते ऋषयो जयन्तु। नमोऽस्तु तेभ्यः।

नामादिषु भावग्रहणात्पुनर्भावग्रहणमयुक्तमिति न चोद्यं, अत्रौपशमिकादिभावापेक्षत्वात्तद्ग्रहणस्य विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः सर्वोऽयमित्यनुपालंभः।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपकोंमें भावका ग्रहण होजानेसे फिर यहां भावका ग्रहण करना अयुक्त है, इस प्रकारका अभियोग जैनोंके ऊपर नहीं लगेगा। क्योंकि इस सूत्रमें जीवके औपशमिक, औदयिक, आदि भावोंकी अपेक्षा रखनेके कारण उस भावका ग्रहण करना सार्थक है अथवा जैसा जैसा विनीत शिष्योंका अभिप्राय है, उसके अधीन हुये सूत्रकार आचार्य महाराजने तत्त्वोंके अधिगम करानेवाले हेतुओंकी उक्त चारों सूत्रोंमें यह सब विकल्पना की है। इस कारण जैनोंके ऊपर निन्दाकारक कोई उलाहना नहीं आता है। अर्थात्—भिन्न भिन्न अभिप्रायवाले शिष्योंको व्युत्पत्ति करानेके लिये तत्त्वार्थाधिगमके न्यारे न्यारे उपाय बताय दिये हैं। लोकमें भी श्रोताके अभिप्राय अनुसार वक्ता द्वारा व्याख्यान किया जाना देखा जाता है। अतः क्षेत्र, अधिकरण, स्थितिकाल, भाव-भाव, आदिको न्यारा न्यारा कहनेमें कोई दोष नहीं आता है।

एतेल्पे बहवश्चैतेऽमीभ्योऽर्थातिविविक्तये ।
कथ्यतेल्पबहुत्वं तत्संख्यातो भिन्नसंख्यया ॥ ५८ ॥
प्रत्येकं संख्यया पूर्वं निश्चितार्थेपि पिंडतः ।
कथ्यतेल्पबहुत्वं यत्तत्ततः किं न भिद्यते ॥ ५९ ॥

अब अल्पबहुत्वको कहते हैं । ये समीपमें विद्यमान होरहे पदार्थ उन पदार्थोंसे अल्प संख्यावाले हैं और ये प्रतीयमान पदार्थ उन परोक्ष पदार्थोंसे संख्यामें बहुत हैं । इस प्रकार पदार्थोंके विशेष रूपसे पृथग्भाव करानेके लिये सूत्रमें अल्पबहुत्व कहा जाता है । वह भिन्न भिन्न संख्या करके हुई संख्या प्ररूपणासे न्यारा है । प्रत्येक पदार्थ पहिले संख्या द्वारा निश्चित हो भी चुका है,उस अर्थमें भी समुदित पिण्डरूपसे गिनानेके लिये अल्पबहुत्व कहा जाता है । जब कि वह अल्पबहुत्व ऐसा है,तिस कारण संख्यासे भिन्न क्यों न होगा ? अर्थात्—प्रत्येकको गिननेवाली संख्यासे पिण्डरूपसे मिले हुये अनेक पदार्थोंकी अपेक्षा न्यूनता, अधिकतारूप अल्पबहुत्व नामका उपाय तो भिन्न है ।

ननु यथा विशेषतोऽर्थानां गणना संख्या तथा पिंडतोपि ततो न संख्यातोल्पबहुत्वं भिन्नमिति चेन्न, कथंचिद्भेदस्य त्वयैवाभिधानात् । न हि सर्वथा ततस्तदभेदविशेषे संख्या-पिंडः संख्येति वक्तुं शक्यम् ।

यहां शंका है कि जैसे विशेष विशेषरूपसे पदार्थोंकी गिनती करना संख्या है उसी प्रकार पिण्डरूपसे अर्थोंके थोडे बहुत पनका गिनना भी संख्या ही है । तिस कारण संख्यासे अल्पबहुत्व भिन्न नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम शंकाकारने ही कण्ठोक्त अपने मुख करके उनके किसी अपेक्षासे भेदको कह दिया है । हम समाधान करनेका परिश्रम क्यों उठावें, सभी प्रकार उस संख्यासे उस अल्पबहुत्वका यदि विशेषभेद नहीं माना जायगा तो यह संख्याका पिंड है और यह संख्या है इस प्रकार भेदरूपसे कहनेके लिये समर्थ नहीं हो सकोगे । रुपये, पैसेकी विशेष गिनती होनेपर भी उनके थोडे बहुतपनकी इतिके लिये पिंड संख्या कही जाती है। अतः संख्याका विशेष होते हुये भी अल्पबहुत्वका विशिष्ट अधिगम करानेके वश न्यारा ग्रहण सूत्रमें किया है ।

इति प्रपंचतः सर्वभावाधिगतिहेतवः ।
सदादयोनुयोगाः स्युस्ते स्याद्वादनयात्मकाः ॥ ६० ॥

इस प्रकार भेद, प्रभेदके विस्तारसे सम्पूर्ण भावोंकी इतिके कारण सत्, संख्या, आदिक आठ अनुयोग हो जाते हैं, वे सब स्याद्वाद प्रमाणरूप और नयस्वरूप हैं । जगत्के सम्पूर्ण अधिगतिके उपाय प्रमाण और नयसे कोई बहिर्भूत नहीं हैं ।

सकलं हि वस्तुसत्त्वादयोऽनुयुंजानाः स्याद्वादात्मका एव विकल्पयंतु नयात्मका एवेति न प्रमाणनयेभ्यो भिद्यंते। तत्प्रभेदास्तु प्रपंचतः सर्वे तत्त्वार्थाधिगमहेतवोऽनुवेदितव्याः।

वस्तुओंके सम्पूर्ण सत्, संख्या, आदिक धर्म अनुयोगको प्राप्त हो रहे स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) स्वरूप ही समझो और एकदेशसे विवक्षित हुये सत्त्व आदिकोंको नयस्वरूप ही की विकल्पना करो। इस प्रकार वे सत् आदिक प्ररूपित किये गये उपाय तो प्रमाण और नयोंसे भिन्न नहीं हैं। उन प्रमाण और नयोंके सम्पूर्ण भेद प्रभेद तो विस्तारसे कहे गये हुये तत्त्वार्थोंकी अधिगतिके कारण आम्नाय अनुसार समझ लेने चाहिये। नाम आदि, निर्देश आदि, तथा सत्संख्या एवं अन्य भी नैगम आदि ये सब प्रमाणनयोंका ही कुटुम्ब है।

सत्त्वेन निश्चिता भावा गम्यंते संख्यया बुधैः।
संख्यातः क्षेत्रतो ज्ञेयाः स्पर्शनेन च कालतः ॥ ६१ ॥
तथांतराच्च भावेभ्यो ज्ञायंतेल्पबहुत्वतः।
क्रमादिति तथैतेषां निर्देशो व्यवतिष्ठते ॥ ६२ ॥
प्रश्नक्रमवशाद्वापि विनेयानामसंशयम्।
नोपालंभमवाप्नोति प्रत्युत्तरवचःक्रमः ॥ ६३ ॥

प्रथम ही विद्यमान सत्पनेसे निर्णीत किये गये भाव ही पीछे विद्वानों करके संख्या द्वारा निश्चित किये जाते हैं। संख्यासे अनन्तर क्षेत्रसे समझे जाते हैं और स्पर्शन करके तथा कालसे भी ठीक तौरपर जान लिये जाते हैं तथा अन्तर और भावोंसे भी जाने जाते हैं। अल्प बहुत्वसे भी पदार्थोंका तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। इस कारण इन पदार्थोंका क्रमसे निर्देश करना तिस ढंगसे व्यवस्थित हो रहा है अर्थात्—इस उक्त क्रमसे पदार्थोंको समझनेवाला ज्ञाता ठोस निर्णयपर शीघ्र ही पहुंच जायेगा अथवा विनीत शिष्योंके प्रश्नोंके क्रमवशसे भी प्रत्युत्तरोंके वचनोंका क्रम है। प्रश्नोंके अनुसार उत्तर देनेसे ही श्रोताको संशयरहित ज्ञप्ति हो जाती है। अतः सूत्रमें कहे गये सत् आदिक अनुयोगोंका क्रम किसी भी उलाहनेको प्राप्त नहीं होता है।

ततो युक्त एव सूत्रे सदादिपाठक्रमः शब्दार्थन्यायाविरोधात्।

तिस कारण सूत्रमें शब्दसम्बन्धी और अर्थसम्बन्धी न्यायके अविरोध हो जानेसे सत्संख्या आदिके पढनेका क्रम युक्त ही है अर्थात्—शब्द शास्त्रकी दृष्टिसे शिष्योंकी व्युत्पत्तिको बढानेका लक्ष्य रखकर उमास्वामी महाराजने सूत्रमें सत्संख्या आदिका क्रम ठीक रखा है अथवा अर्थ समझनेवाले शिष्योंके प्रश्नों अनुसार उत्तर देनेके लिये सूत्र पढा गया है। प्रश्नोंका क्रम भी सुलभतासे वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंचनेके लिये अच्छे ही ढंगसे किया गया है। गुरुजीको शिष्य भी अच्छा मिला है।

सामान्येनाधिगम्यंते विशेषेण च ते यथा ।
जीवाद्यस्तथा ज्ञेया व्यासेनान्यत्र कीर्तिताः ॥ ६४ ॥

वे जीव आदिक पदार्थ सामान्य और विशेषरूप करके जिस प्रकार समझ लिये जाते हैं तिस ही प्रकार अन्य धवल, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, सिद्धान्त आदि ग्रन्थोंमें विस्तारसे बखाने गये समझ लेने चाहिये । यहां युक्तिप्रधान ग्रन्थमें उनको गुणस्थान चौदहों और मार्गणाओं द्वारा कहनेसे बहुत बडा गौरव हो जाता । क्योंकि आगमोक्त परोक्ष विषयोंको भी वादिओंके सन्मुख युक्तिसे समझा चुकनेपर ही आगे चलना होता ।

जीवस्तत्र संसारी मुक्तश्च, संसारी स्थावरश्च त्रसश्च, स्थावरः पृथिवीकायिकादिरेकेंद्रियः सूक्ष्मो बादरश्च, सूक्ष्मः पर्याप्तकोपर्याप्तकश्च, तथा बादरोपि, त्रसः पुनर्द्वीन्द्रियादिः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकश्चेति सामान्येन विशेषेण च यथासत्त्वेनाधिगम्यंते संख्यादिभिश्च तथा संक्षेपेणाजीवादयोपीहैव । व्यासेन तु गत्यादिमार्गणासु सामान्यतो विशेषतश्च जीववदजीवादयोऽन्यत्र कीर्तिता विज्ञातव्याः ।

तिन सात तत्त्वोंमें जीवतत्त्व सामान्यरूपसे एक है। उसके भेद संसारी और मुक्त दो हैं । तथा संसारी जीव त्रस और स्थावररूप है । तिनमें स्थावरजीव पृथ्वी कायिक, जलकायिक आदि प्रभेदोंसे युक्त होकर सूक्ष्म और बादररूप एकेन्द्रिय है । सूक्ष्मके भी पर्याप्त और अपर्याप्त नामक नामकर्मके उदयसे पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक दो भेद हैं । तिसी प्रकार बादर जीव भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो प्रकार हैं । फिर त्रसजीव तो द्वीन्द्रिय आदि भेदोंसे युक्त होकर पर्याप्त और अपर्याप्त विकल्पोंमें विभक्त है । निर्वृत्यपर्याप्तकभेद भी इन्हींमें गर्भित हो जाता है । इस प्रकार सामान्य और विशेषरूपसे जैसे जीव सत्पनेसे जाने जाते हैं, तैसे ही संख्याक्षेत्र आदिकों करके भी निर्णीत किये जाते हैं । तथा संक्षेप करके अजीव आदिक तत्त्व भी इस दशाध्यायी सूत्रमें ही कह दिये जावेंगे । अथवा इसी सूत्रद्वारा अजीव आस्रव, आदि तत्त्वोंकी सत्संख्या आदिको यहां ही लगा लेना । हां, विस्तारसे तो गुणस्थानोंके अनुसार गति, इन्द्रिय, आदि मार्गणाओंमें सामान्यरूप और विशेषरूप जीव पदार्थके समान अजीव, आस्रव आदि भी अन्य धवल, आदि ग्रन्थोंमें व्याख्यान किये गये हुये वहांसे विशद ढंगपर समझलेने चाहिये ।

इत्युद्दिष्टौ त्र्यात्मके मुक्तिमार्गे सम्यग्दृष्टेर्लक्षणोत्पत्तिहेतून् ।
तत्त्वन्यासौ गोचरस्याधिगंतुं हेतुर्नानानीतिकथानुयोगः ॥ १ ॥

इस उक्त प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, इन तीन स्वरूप मोक्षमार्गका उद्देश कर चुकनेपर पुनः सम्यग्दर्शनके लक्षण और उत्पत्तिके कारणोंका प्रदर्शन करानेवाले दो सूत्रोंका प्रतिपादन कर सात तत्त्व और उनके निक्षेपोंके प्रतिपादक दो सूत्र बनाये। पश्चात् रत्नत्रयके विषयोंको समझानेके लिये कारणभूत और लौकिक शास्त्रीय अनेक नीतियोंसे युक्त यह अनुयोग तीन सूत्रों करके कहा गया है। यह उमास्वामी महाराजके आठ सूत्रोंका संक्षिप्त वर्णन है। सूत्रोंकी संगतिका संदर्भ प्रशंसनीय है।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

इसप्रकार श्रीमहर्षि विद्यानंद स्वामिके द्वारा विरचित
तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार नामके महान् ग्रंथमें
पहिले अध्यायका दूसरा आन्हिक
समाप्त हुआ।

आठवें सूत्रका सारांश

प्रथम ही तत्त्वार्थोंकी अधिगतिके अर्थ तीसरे विस्तृत ढंगके उपायोंको बतानेके लिये ग्रंथकारने सूत्रका अवतार कर सत्संख्या आदिको प्रमाणनयस्वरूप और शब्दरूप बताया है। शून्यवाद या चार्वाक आदिके निषेधार्थ सत्प्ररूपणा आवश्यक है। वैशेषिकोंकी मानी गयी एक सत्ता ठीक नहीं है। शून्यवादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण नहीं बन पाते हैं। शुद्धसंवेदनको माननेवाले बौद्धोंके यहां भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती है। ग्राह्यग्राहक भाव आदि मानना अनिवार्य है। पहिले सूत्रमें कहे गये निर्देशसे सत्ताप्ररूपणा न्यारी है। असत्ता तुच्छ पदार्थ नहीं है। किन्तु अन्य पदार्थकी सत्तारूप है। निर्देश और सत्ताके व्याप्य और व्यापक भावपर अच्छा विचार किया है। सर्वार्थसिद्धि, सिद्धान्त आदि ग्रन्थोंमें इस सूत्र उक्त प्रमेयका विशद व्याख्यान है। बौद्ध लोगोंके सन्मुख अन्य आपेक्षिक धर्मोंके समान संख्याको वस्तुभूत सिद्ध है। यहां अनुमानोंसे आपेक्षिक धर्मोंको परमार्थरूप बताया है। मिथ्यावासनाओंसे यथार्थ कार्य नहीं बनता है। ब्रह्माद्वैतके समान शुद्ध संवेदन भी नहीं दीख रहा है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे द्वैत सिद्ध हो रहा है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें विद्यमान भी हो रही, संख्या अपने अपने क्षयोपशम अनुसार जान ली जाती है। एक वस्तुमें एकत्व, द्वित्व, आदि अनेक संख्यायें अविरोध रूपसे ठहर जाती हैं। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं है। जब कि अवच्छेदक धर्म न्यारे न्यारे माने गये हैं। सत् या असत् पदार्थोंका कथमपि विरोध नहीं है। शक्तिकी अपेक्षा योग्यतानुसार सबको सर्वात्मक होना इष्ट है। व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं। द्वितीय आदिकी अपेक्षासे द्वित्व आदि संख्यायें प्रगट हो जाती हैं। द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थ नित्य, अनित्यस्वरूप हैं। संख्या वास्तविक है कल्पित नहीं है। वैशेषिकों द्वारा संख्या और संख्यावानोंका सर्वथा भेद मानना अनुचित है। समवाय सम्बन्ध विचारा निरंश होकर उनकी योजना क्या करा सकता है? समवाय सम्बन्धका दोनोंमें ठहरना अन्य सम्बन्धोंसे ही होगा। इस प्रकार भेदपक्षमें अनवस्था हो जाती है। विधानसे संख्या न्यारी है। इसके आगे क्षेत्रका वर्णन किया है। निश्चय नयके अनुसार बौद्धोंकी मानी गयी स्वभाव व्यवस्थितिके एकान्तका निवारण कर प्रमाणोंसे क्षेत्र क्षेत्रीभावका समर्थन किया है। पूर्व सूत्रमें कहे गये अधिकरणसे यह क्षेत्रनिरूपण न्यारा है। क्षेत्रानुयोगके पश्चात् स्पर्शनका व्याख्यान है। अनादिसे अनन्तकालतक ठहरने वाली द्रव्यको माननेवाले वादी करके स्पर्शन मानना आवश्यक है। पीछे स्थितिमान् किये जा चुके पदार्थोंमें मर्यादाको दिखलानेवाले कालका निरूपण किया गया है। कालके व्यवहारकाल और मुख्यकाल दो भेद हैं। वर्तना परिणाम आदि उनके कार्य हैं। असाधारण कारणोंके समान साधारण कारण भी महती शक्तिको लिये हुये हैं। उदासीन कारण आकाश और कालको माने विना परमस्वतंत्र श्रीसिद्ध भगवान्

भी सिद्ध लोकमें ठहर नहीं सकते हैं और वर्तना नहीं कर सकते हैं। जीवको निगोदसे व्यवहार राशिमें लानेके लिये कालपरमाणुयें ही उदासीन कारण होकर परम उपकारी हुई हैं। इन्हींके निमित्तसे कषायोंकी किंचित् मन्दपरिणति होजाने पर यह जीव झट व्यवहार राशिमें उछल आता है। अन्य कारणोंकी वहां योग्यता नहीं है। अक्षरके अनन्तमें भाग केवल स्पर्शनइन्द्रियजन्य ज्ञान होनेसे अन्य वे शुभकारण किसी कामके नहीं हैं जो कि संज्ञीजीवोंकी सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध आदिके नियतकारण हो जाते हैं। इसके पीछे अन्तरालरूप विरहकालका वर्णन है। अन्तरके अर्थ छिद्र, मध्य भी कचित् ले लिये जाते हैं। औपशमिक आदि भावोंको समझानेके लिये भावप्ररूपणा है। अल्पबहुत्वपन भी पदार्थोंकी विशेष ज्ञप्ति करानेके लिये ये विशेष उपयोगी है। अन्तमें उपसंहार करते हुये विद्यानन्द स्वामीने सूत्रमें कहे गये सत् आदिके पाठक्रमका भले प्रकार साधन कर विस्तारपूर्वक ज्ञप्तिके लिये अन्य ग्रन्थोंके व्याख्यानोंका देखना पथ्य बताया है। सत्संख्या यह सूत्र सामान्यको कथन करनेवाला है और निर्देशस्वामित्व यह विशेष प्रतिपादक है जैसे कि सत्का विशेष निर्देश है संख्याका विशेष विधान है, क्षेत्रका विशेष अधिकरण है आदि समझ लेना। [illegible] कहे गये [illegible] के [illegible] सूत्रोंकी शालिनी पद्य द्वारा संगति दिखलाकर श्लोकवार्तिक ग्रन्थके प्रथम अध्याय सम्बन्धी द्वितीय आह्निकको सहर्ष परिपूर्ण किया है। ॐ शान्तिनाथाय नमः।

गाहध्वं सुधियश्चतुर्दशगुणस्थानाम्बुभृन्मार्गणा-
वीच्यावर्तविजृम्भितं घटभवैकान्त्यज्ञकाशोषितं ।
सिञ्चन्तं निखिलार्थवित्तिरसिकान् शद्धप्रमाणात्मकैः।
सत्संख्यादिकशीकरैर्गुणनिधिं तत्त्वार्थशास्त्राम्बुधिं ॥ १ ॥

—= इति भद्रं भूयात् =—

परिशिष्ट (१)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची.

— प्रथम खंड —

[अ]	पृष्ठ नं.
अतोऽनुमानतोऽप्यस्ति	४१५
अनाश्रयः कथं चायं	१६८
अनेकान्ते हि विज्ञानं	१३३
अनेकान्तेऽप्यपोद्धार-	२८३
अन्वयव्यतिरेकाभ्यो	५८६
असत्यात्मकतासत्त्वे	५७८
अहं सुखीति संवित्तौ	२५१
[आ]	
आविर्भावतिरोभावा-	१५३
आसन् सन्ति भविष्यन्ति	१३६
आत्मा चार्थग्रहाकार-	४४९
आद्यसूत्रस्य सामर्थ्यात्	५४०
ओमिति ब्रुवतः सिद्धम्	६११
औदासीन्यादयो धर्माः	३५३
[इ]	
इत्ययुक्तमनैकान्ताद्	१८८
[उ]	
उपादेयं हि चारित्रं	५११
[ए]	
एकसन्तानगाश्चित्त-	२६१
एकद्रव्यस्वभावत्वात्	२९६
एकसन्तानवर्त्तित्वात्	२९७
एतेनैवेश्वरः श्रेयः	१५९
एतेन देहचैतन्य-	२४२

श्लोक	पृष्ठ नं.
एतेन ज्ञानवैराग्यान्	४९७
एतेषामप्यनेकान्ता-	५७१
एवं साधीयसी साधोः	४१५
[क]	
कर्तृस्थस्यैव संवित्तेः	२५१
कर्तृरूपतया वित्तेः	३२६
कथञ्चाव्यभिचारेण	२९४
कथञ्चात्मा स्वसंवेद्यः	३४९
कथञ्चिदुपयोगात्मा	३५०
कथञ्चिन्नश्वरत्वस्या-	३६६
कल्मषप्रक्षयश्चास्य	१३९
करणत्वं न बाध्येत	४३३
कषायादकषायेण	५६८
कादाचित्कः परापेक्षा-	३६५
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं	१२७
कार्यकारणभावस्य	२९७
कायाद्बहिरभिव्यक्ते	३५६
कार्यापाये न वस्तुत्वं	६२०
कायश्चेत्कारणं यस्य	२३९
कालपर्युषितत्वं चेत्	२४०
कालानन्तर्यमात्राच्चेत्	२९५
कालादिलब्ध्युपेतस्य	३८२
कालादेरपि तद्धेतु-	४७८
कालाभेदादभिन्नत्वं	५०३
कालापेक्षितया वृत्तं	५३६
कारणं यदि सद्दृष्टेः	५२३

श्लोक	पृष्ठ नं.
कारणद्वयसामर्थ्यात्	६२६
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे	१३६
किं चाहंप्रत्ययस्यास्य	३२०
किंचिन्निर्णीतमाश्रित्य	६०७
किमेवमीश्वरस्यापि	२०३
कुंभादिभिरनेकान्तो	२२९
कुम्भादयो हि पर्यन्ता	२५५
क्रमतोऽनन्तपर्याया	२७१
क्व काष्ठान्तर्गतादग्नेः	२३१
केवलापेक्षिणी ते हि	४८६
[ख]	
खड्गिनोप्युपकार्यस्य	१८७
खादयोऽपि हि किं नैव	३०२
[ग]	
गुणासम्बन्धरूपेण	५७२
ग्राह्यग्राहकतैतेन	६१८
ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं	६१९
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं	१२८
[च]	
चरमत्वविशेषस्तु	१८८
चारित्रोत्पत्तिकाले च	५१४
चित्तान्तरसमारम्भि	१८७
चित्राद्वैतवादे च	२०६
चित्राद्वैताश्रयाच्चित्रं	२८०
चैतन्ययोगतस्तस्य	३०१
[ज]	
जगद्धितैषितासक्तेः	१८६
जाग्रतः सति चैतन्ये	३६१
जायते तद्विधं ज्ञानं	१४०
जीवो ह्यचेतनः काये	३५४

श्लोक	पृष्ठ नं.
जीवत्कायेऽपि तत्सिद्धं	२४६
जीवत्कायगुणोऽप्येष	२४८
[त]	
ततोऽसिद्धं परस्यात्र	१२३
ततो निःशेषतत्त्वार्थ-	१४५
ततः स्याद्वादिनां सिद्धं	१५३
ततोऽर्थस्यैव पर्यायः	१७१
ततोऽनाश्वास एवैतद्	२०५
ततः प्रमाणान्वितमोक्षमार्ग-	२१२
ततश्च चिदुपादानाद्	२४१
ततो भेदे नरस्यास्य	३३०
ततोऽर्थग्रहणाकारा-	४४६
ततो नान्योस्ति मोक्षस्य	४८९
तत एव न चारित्रं	५०१
ततो मोहक्षमोपेतः	५३९
ततो मिथ्याग्रहावृत्त-	५४७
ततो न निश्चितान्मानाद्	६३०
तथानेकांन्तवादस्य	१७७
तथागतोपकार्यस्य	१८६
तथा सति न दृष्टस्य	२४१
तथैवानागतातीत-	२६८
तथा चैकस्य नानात्वं	३२१
तथैवोभयरूपत्वे	३३९
तथा च बाह्यदेशेऽपि	३५५
तथा सति न सा शक्ति	४३९
तथा चारित्रशब्दोऽपि	४५०
तथा च सूत्रकारस्य	५०२
तथा हेत्वन्तरोन्मुक्तः	५२०
तथा केवलबोधस्य	५२९
तथा सति कुतो ज्ञानी	५४३

श्लोक	पृष्ठ नं.
तथा विपर्ययज्ञाना-	५४७
तथा च सति सिद्धान्त	५६१
तथा सति न बंधादि-	५९६
तथा वेद्यादिविभ्रांतौ	६०२
तथोत्पादव्ययध्रौव्य-	५१८
तदसत्तत्प्रतिद्वन्द्वि-	५२४
तदा दुःखफलं कर्म	१४४
तदा सोऽपि कुतो ज्ञानात्	१५२
तदा देहेन्द्रियादीनि	२४१
तदा भ्रान्तेतराकारं	२८२
तदाप्यर्थान्तरत्वेस्य	४३९
तदेवाबाधितज्ञानं	४४४
तदेतदनुकूलं नः	५६७
तदेवेदमिति ज्ञानात्	२६३
तद्वद्वृत्तिर्गुणादीनां	४४२
तद्वानेव यथोक्तात्मा	३९०
तद्वासना च तत्पूर्व-	२८७
तद्विरोधि विरागादि-	१४४
तद्विलोपे न वै किंचित्	२१७
तद्विजातिः कथं नाम	२३३
तद्विशिष्टविवर्त्तस्या-	२४०
तद्विपक्षस्य निर्वाण-	५५८
तदीश्वरस्य विज्ञान-	१७७
तत्र मिथ्यादृशो बंधः	५६८
तत्र हेतावसत्येव	५८८
तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो	१००
तत्र भेदविवक्षायां	४३३
तत्रेष्टं यस्य निर्णीतं	६०८
तज्ज्ञापकोपलम्भस्या-	१२७

श्लोक	पृष्ठ नं.
तज्ज्ञापकोपलम्भोपि	१२९
तपो ह्यनागताघौघ-	१४३
तद्भावभावितामात्रात्	२०४
तद्गुणत्वे हि बोधस्य	२४५
तद्गृहीतिः स्वतो नास्ति	३०९
तद्रूपावरणं कर्म	५२८
तच्च प्रबाधतेऽत्रश्यं	२८२
तन्न प्रायः परिक्षीण-	३९७
तस्य दर्शनतद्गुणादि-	१३६
तस्य पुंसः स्वरूपत्वे	१५२
तस्यादृश्यस्य तद्धेतु-	२०४
तस्माद्द्रव्यान्तरापोढ	२३६
तस्मादबाधिता संवित्	२८७
तस्मात्स्वावृतिविश्लेष	२९८
तस्यापि च परोक्षत्वे	३४५
तस्य जात्यन्तरत्वेन	२८०
तस्यार्थग्रहणे शक्ति-	४३७
तस्योदासीनरूपत्व-	४५०
तत्परिध्वंसनेनातः	३६९
तत्सम्यग्दर्शनादीनि	४७८
तत्वश्रद्धानलाभे हि	५०९
तत्स्वसंवेदनं तावत्	६०८
तत्रोपादेय सम्भूतेः	५११
तेनायोगिजिनस्यान्त्य-	४८९
तेषां फलोपभोगेन	४९०
तेषां प्रसिद्ध एवायं	५४६
तेषां प्रक्षयहेतु च	१४३
तेषां सवासनं नष्टं	१९६
तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि	५०८
तेषामप्यात्मनो लोपे	२८७

श्लोक	पृष्ठ नं.
तेषामशेषतृज्ञाने	१२८
तेषामप्यात्मकर्तृत्व-	३२९
तेषामप्यक्षतो बाधा	३५१
तेपि नूनमनात्मज्ञा	३११
[द]	
देहस्य च गुणत्वेन	२४४
देशाभेदादभेदश्चेत्	५०३
द्रव्यार्थस्य प्रधानत्व-	५०२
द्रव्यतोऽनादिपर्यन्तः	२५५
दृक्षोहविगमज्ञाना-	५०६
[न]	
न कुंभकारचक्रादि-	४१३
न हेतोः सर्वथैकांतैः	१२२
न वाशेषनरज्ञानं	१२८
नन्वेवं सर्वथैकान्तः	१३१
न चांत्यचित्तनिष्पत्तौ	१८७
न निरोधो न चोत्पत्तिः	२१०
न ब्रह्मवादिनां सिद्धा	२१०
न विग्रहगुणो बोधः	२४४
नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिः	३१०
नरान्तरप्रमेयत्व-	३२४
ननु निर्वाणजिज्ञासा	३९६
नन्वेवमात्मनो ज्ञान-	४३६
ननु रत्नत्रयस्यैव	४८३
न च तेन विरुध्येत	४८८
न चात्र सर्वथैकत्वं	४९८
नन्वेवमुत्तरस्यापि	५१०
नन्वुपादेयसम्भूतिः	५११
नन्वत्र क्षायिकी दृष्टिः	५१७
नन्वेवं पञ्चधा बन्ध-	५६६
न चात्मनो गुणोभिन्न-	५७२
न युक्तं नश्वरोत्पित्सु	५७६
न च स्वतः स्थितिस्तस्य	६०१
न नित्यं नाप्यनित्यत्वं	६०६
नन्वनादिरविध्येयं	६०६
नानाधर्माश्रयत्वस्य	५७७
नानुमानादलिंगत्वात्	१२६
नापि पश्चादवस्थाना-	१५०
नार्थस्य दर्शनं सिद्धयेत्	२२०
नापि ते कारका वित्तेः	२३१
नानाकारस्य नैकस्मिन्	२८६
नाप्यसत्यां बुभुत्सायां	६६
निःशेषकर्मनिर्मोक्षः	४१७
निरंशस्य च तत्त्वस्य	४६२
नित्यत्वैकान्तपक्षे हि	५७१
नित्यं सर्वगतं ब्रह्म	६०४
नित्यादिरूपसंवित्तेः	६०५
निश्शेषकल्पनातीतं	२८३
नीलवासनया नील	२८७
नृणामप्यघसम्बन्धो	१४३
नैवातः कल्पनामात्र	४५६
नैवं सर्वस्य सर्वज्ञ-	१३५
नैकान्ताकृत्रिमाम्नाय-	६४
नोपादानादिना शद्ध-	२३१
[प]	
परोपगमतः सिद्धः स	१३०
परोपगतसंवित्ति	२८५

श्लोक	पृष्ठ नं.
परापेक्षः प्रसिद्धोऽत्र	३६५
परिच्छेदकशक्त्या हि	३२५
परोक्षात् करणज्ञानात्	३३८
परोक्षमपि निर्वाण-	४०२
पीताकारादिसंवित्तिः	२७३
पुंसो विवर्तमानस्य	४३३
पूर्वकालविवक्षातो	१९५
पूर्वं दर्शनशद्धस्य	४६५
पूर्वावधारणं तेन	४७९
पूर्वावधारणेऽप्यत्र	४८२
पूर्वोत्तरक्षणोपाधि	५१९
प्रणिधानविशेषोत्थ-	४२१
प्रत्येकं सम्यगित्येतत्	४७७
प्रमाणान्निश्चितादेव	६०८
प्रमाणासंभवाद्यत्र	६३०
प्रमाणमागमः सूत्रं	७०
प्रमाणान्तरतोऽप्येषां	१२९
प्रबुद्धाशेषतत्वार्थे	४०
प्रतीतेऽनंतधर्मात्म-	१३२
प्रधानाश्रयि विज्ञानं	१६१
प्रतीतिः शरणं तत्र	३०६
प्रमितेः समवायित्व-	३२२
प्रमाणसहकारी हि	३२२
प्रत्यक्षत्वं ततोऽशेन	३३१
प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे	३४०
प्रवादिकल्पनाभेदा	३९८
प्राच्यं हि वेदनं तावत्	२२०
प्राणादयो निवर्तन्ते	३६२
प्रागेव क्षायिकं पूर्णं	५२६
प्राच्यसिद्धक्षणोत्पादा-	५३६
[ब]	
बन्धप्रत्ययपाञ्चव्य-	५६०
बाध्यबाधकभावोपि	६२०
बाध्यमानः पुनः स्वप्नो	६२६
बाध्या केनानवस्था स्यात्	३२४
बृहस्पतिमंतास्थित्या	२५७
[भ]	
भवहेतुप्रहाणाय	४२५
भविष्यत्कालकूटादि	१४३
भावस्य वासतो नास्ति	४५४
भावाः सन्ति विशेषाच्चेत्	२९५
भ्रान्तेयं चित्रता ज्ञाने	२८२
भिन्नप्रमाणवेद्यत्वात्	२२४
भिन्नकालतया वित्तिः	२७२
भिन्नस्य करणज्ञानात्	३३७
भूतानि कतिचित्किञ्चित्	२४१
भेदाभेदात्मकत्वे तु	३३०
भोक्तुः फलोपभोगो हि	४९२
[म]	
मयि ज्ञानमितीहेदं	३०१
मा भूत्तच्छांतनिर्वाणं	१९१
मिथ्यार्थाभिनिवेशेन	१५५
मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिः	४९७
मिथ्याश्रद्धानविज्ञान	५०४
मिथ्यादृगादिहेतुः स्यात्	५४८
मोहो ज्ञानदृगावृत्य-	१४२
मौलो हेतुर्भवस्येष्टो	५४१

श्लोक	पृष्ठ नं.
[य]	
यथाहमनुमानादेः	१३७
यथा मम न तज्ज्ञप्तेः	१३७
यथा चानादिपर्यन्त-	२५५
यथा भेदस्य संवित्तिः	२६४
यथा तथैव संज्ञानं	२६५
यथा चैतन्यसंसिद्धिः	३६१
यथैव वर्तमानार्थ-	२६८
यथैकवेदनाकारा-	२७२
यदा च क्वचिदेकत्र	१२९
यद्यज्ञानस्वभावः स्यात्	१५८
यथनेकोऽपि विज्ञाना-	२७१
यदि हेतुफलज्ञाना-	३३८
यथैवापूर्णचरित्र-	५२५
यद्विनश्यति तद्रूपं	५७६
यथैवारामविभ्रान्तौ	६०२
यस्यापीष्टं न निर्णीतं	६०९
यदेवार्थक्रियाकारि	६११
युतसिद्धिर्हि भावानां	४४१
येन नैकं भवेत्तत्वं	२३४
येऽपि सर्वात्मना मुक्तेः	४०२
[र]	
रत्नत्रितयरूपेणा-	५३९
[ल]	
लौकिको देशभेदश्चेत्	४४३
[व]	
व्यञ्जका न हि ते तावत्	२२८
व्यतीतेऽप्यिन्द्रियेऽर्थे च	२३८
व्यभिचारविनिर्मुक्त-	२००
व्यवहारनयाश्रित्या-	५३९
वस्तुन्यपि न संतोषो	६२४
वर्तमानार्थविज्ञानं	२६५
वाच्यवाचकतापायो	६२०
वायुविश्लेषतस्तस्य	२३९
विज्ञानात्सेऽपि यद्यन्यः	१५१
विज्ञानसमवायाच्चेत्	१६१
वितथाग्रहरागादि	५४५
विशिष्टः समवायोऽयं	१६४
विशेषणत्वे चैतस्य	१७०
विशिष्टभावनोद्भूत-	१९२
विभिन्नलक्षणत्वाच्च	२२१
विभूनां च समस्तानां	४४३
विभ्रांत्या भेदमापन्नो	६०३
विवक्षाच प्रधानत्वात्	४५३
विवक्षा चाविक्षा च	४५५
विवादगोचरो वेद्या-	६०३
विशिष्टज्ञानतः पूर्व-	४७६
विशिष्टोपक्रमादेव	४९५
विशेषतः पुनस्तस्या-	५६१
[श]	
शरीरादय एवास्य	२३८
शरीराद्बहिरप्येष	३५५
शक्तिःकार्ये हि भावानां	४३७
शक्तित्रयात्मकादेव	४९७
शारीरमानसासात-	४१०
शून्योपप्लववादेपि	६११
शून्यतायां हि शून्यत्वे	६११
श्रीवर्धमानमानम्य	४

श्लोक	पृष्ठ नं.
[स]	
सत्यां तत्प्रतिपित्सायाम्	४०
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं	१२५
सर्वसम्बन्धिसर्वज्ञ-	१२६
सर्वप्रमातृसम्बन्धि-	१२७
समवायो हि सर्वत्र	१६३
सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात्	१९५
सर्वथानुपकारित्वात्	२०४
सत्त्वादिना समानत्वात्	२३४
सर्वथा पंचमं भूत-	२३८
सर्वथैकान्तरूपेण	२५५
सह नीलादिविज्ञानं	२७४
समस्ताः कल्पैना ह्रीमा	२८३
सन्तानैकत्वसंसिद्धिः	२८९
स च बुद्धेतरज्ञान-	२९०
सन्तानवासनाभेद-	२९८
सदात्मानवबोधादि-	३५४
सर्वस्य सर्वदा पुंसः	३६६
सम्बंधान्तरतः सा चेत्	४३९
सर्वथैव सतोनेन	४५४
सहकारिविशेषस्या-	४८४
स तु शक्तिविशेषः स्यात्	४८४
सम्यग्ज्ञानं विशिष्टं चेत	४९६
सामानाधिकरण्यस्य	५०४
सत्यं कथंचिदिष्टत्वात	५१४
सद्बोधपूर्वकत्वेऽपि	५२५
समुच्छिन्नक्रियस्यातो	५२५
सम्यग्बोधस्य सद्दृष्टा	५६८
सामग्रीजनिका नैकं	२३९

श्लोक	पृष्ठ नं.
सामग्री यावती यस्य	५७०
सान्निध्यमात्रतस्तस्य	२०२
साधारणगुणत्वे तु	२४९
साध्यसाधनवैकल्यं	२६०
सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं	२६२
सत्यमद्वयमेवेदं	६००
समस्तं तद्वचोन्यस्य	६०६
सर्वस्य तत्वनिर्णीतेः	६०६
सिद्धांते क्षायिकत्वेन	५१८
सिद्धं परमतं तस्य	१९२
सिद्धोऽप्यात्मोपयोगात्मा	३००
स्थितस्य च चिरं स्वायु-	१४६
सुखबुद्धयादयो धर्माः	३६४
सुगतोऽपि न मार्गस्य	१७६
सुषुप्तस्यापि विज्ञानः	३६०
सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि	१००
सूक्ष्माद्यर्थोपि वाध्यक्षः	१२०
सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेत्	२३३
सूक्ष्मो भूतविशेषश्च	२३८
सूक्ष्मत्वान्न क्वचिद्ग्राह्य-	२४६
संयोगो द्रव्यरूपायाः	४३८
संयोगो युतसिद्धानां	४४१
संसारकारणत्वेवा-	५४०
संसारे तिष्ठतस्तस्य	५४२
संवृत्या स्वप्नवत्सर्वं	६२१
संवृतं चेत्क नामार्थ-	६२३
संप्रदायाव्यवच्छेदः	७०
संस्कारस्याक्षमात्तस्य	१५१
संस्कारस्यायुरात्मस्य	१५१

श्लोक	पृष्ठ नं.
संवेदनान्तरेणैव	२२०
संयुक्ते सति किन्न स्यात्	२४०
संवेदनाविशेषेऽपि	२८६
संसारव्याधिविध्वंसः	३६९
स्याद्वादिनामतो युक्तं	६३०
स्याद्गुणी चेत् स एवात्मा	२५२
स्थानत्रयाविसंवादि	१२२
स्वसंबधि यदीदं स्याद्	१२३
स्वचित्तशमनात्तस्य	१८७
स्वसंवेदनतः सिद्धः	२१२
स्वसंवेदनमप्यस्य	२१५
स्वसंवेदनमेवास्य	२९३
स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः	३२१
स्वसंवेद्ये नरे नायं	३२५
स्वरूपं चेतना पुंसः	३५१
स्वप्नासिद्धं हि नो सिद्धं	६२४
स्वाध्यायादि स्वभावेन	१४४
स्वार्थाकारपरिच्छेदो	४२२
स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्ते	४३०
स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्ति-	४५६
[ह]	
हेतोर्नरत्वकायादि	१३७
हेतोरात्मोपभोगेना-	३६४
हंत रत्नत्रयं किं न	१५५
[क्ष]	
क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति	५८५
क्षायिकत्वान्न सापेक्ष-	५८६
क्षित्यादिसमुदायार्थाः	२२८
क्षीणस्येदस्य किं न स्यात्	५२९
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये	५३०
क्षीयते क्वचिदामूलं	१४१
[ज्ञ]	
ज्ञाताहमिति निर्णीतेः	३०६
ज्ञानमात्रात्तु यो नाम	१५०
ज्ञानमेव स्थिरीभूतं	१५२
ज्ञानसंसर्गतोऽप्येष	१५९
ज्ञानाश्रयत्वतो वेधा	१६२
ज्ञानवानहमित्येष	३०८
ज्ञानं विशेषणं पूर्वं	३०९
ज्ञानवानहमित्येष	३१०
ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वात्	४६६
ज्ञानादेवाशरीरत्व-	४९०
ज्ञानोत्पत्तौ हि सद्दृष्टिः	५१४
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि	५३०
ज्ञापकानुपलम्भोऽस्ति	१३९

तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत–श्लोकसूची.

— द्वितीय खंड —

श्लोक	पृष्ठ नं.
[अ]	
अगोनिवृत्तिमप्यन्य–	२४२
अर्थग्रहणतोऽनर्थ–	५
अर्थस्त्वव्यंजकाधीनं	४७
अंतर्दर्शनमोहस्य	७८
अद्वयस्यापि जीवस्य	१२८
अन्ये त्वत्तो न संतीति	१३०
असद्रूपप्रतीतिर्हि	१५७
अभावस्याविनाभाव-	१६:
अक्षेणानुगतः शद्वो	१९९
अन्यापोहे प्रतीते च	२५१
अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं	२७०
अस्थिरत्वात्पदार्थानां	५७३
अत्रौपशमिकादीनां	६३७
[आ]	
आत्मा तत्प्राप्तज्ञायी	२६७
आधाराधेयभावस्य	५६७
आस्रवोऽपि च बंधस्य	१०१
आत्मानं संविदन्त्यन्ये	१३१
आद्यविधातृ प्रत्यक्षं	१३३
[इ]	
इच्छा श्रद्धानमित्येके	२३
इंद्रियाणि च सम्यंचि	४७
इत्येवमाकृतिं शद्व–	२३६
इति प्रपंचतः सर्व–	६३८
[ए]	
एकत्वारोपमात्रेण	१५१
एकत्रार्थे विरोधश्चेत्	२९२
एकस्य भवतोक्षणि–	२९५
एकत्रार्थे हि दृष्टस्य	६३३
एतेन संचिताशेष–	११०
एतेन तद्द्वयस्यैव	२३०
एतेल्पे बहवश्चैते–	६३८
एवं प्रयोजनापेक्षा–	११०
एवं पचांतशद्वांधे–	२३४
[क]	
कतिधेदमिति प्रश्ने	५०७
कर्मप्राधान्यतस्तत्र	१७१
कल्पनारोपितोंशी चेत्	३२५
कल्पने वानवस्थानात्	३८९
कस्य चेत्यनुयोगे स-	५०७
क्रमो हेतुविशेषात्स्यात्	११५
क्रमेण यौगपद्याद्वा	४०३
कार्यकारणभावस्या-	५९५
काल एव स चेदिष्टं	६३५
किं तत्वं नाम येनार्य-	९७
क्रियावान् पुरुषोऽसर्व-	१४६
कुंडलीत्यादयः शद्वा	१७२
कुतश्चिद्ग्राहकात्सिद्धः	५९२
कान्यथा व्यवतिष्ठंते	६३२
केति पर्यनुयोगे तु	५०७

[ग]	पृष्ठ नं.
गणनामात्ररूपेयं	६२५
गत्यादिमार्गणास्थानैः	६०१
गुडशद्वाद्यथा ज्ञाने	२२६
गुणे कर्मणि वा नाम	१७१
गुणप्राधान्यतो वृत्तौ	१७१
गुणे समाश्रितत्वेन	२३२
गोत्वरूपात्तदावेशात्	२३२
ग्राह्यग्राहकभावादि-	५९२
ग्राह्यग्राहकभावोऽतः	५९२
[च]	
चक्षुरादिप्रमाणं चेत्	३९४
चितस्तु भावनेत्रादेः	
[ज]	
जातिद्वारेण शद्वो हि	१७१
जातावेव तु यत्संज्ञा	१७१
जातिः सर्वस्य शद्वस्य	१९४
जातिराकृतिरित्यर्थ	२३६
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु	१५७
जीवो जीवश्च बंधस्य	१०१
जीवादीनामिह ज्ञेयं	११२
जीवत्वं तत्वमित्यादि	१२४
जीव एवात्र तत्वार्थ	१२५
जीवाजीवप्रभेदानां	१६३
जीवा वा चेतना न स्युः	६३३
ज्ञानादिलक्षणं तस्य	२०
ज्ञानावृत्यादिभेदेन	२६८
ज्ञानं मत्यादिभेदेन	३९९

[त]	पृष्ठ नं.
ततो नाप्रतिभातेर्थे	६७
तत्संपत्संभवो येषां	८३
तत्वं सतश्च सद्भावो	१५६
तत्रानध्यवसायस्य	१५९
तत्र स्याद्वादिनः प्राहुः	२६१
तत्प्रमाणान्नयाच्च स्यात्	३९९
तत्र प्रश्नवशात्कश्चित्	४०३
तत्सत्प्ररूपणं युक्तं	५९७
ततो निर्बाधनादेव	६१९
तथैवेंद्रियसम्यक्त्वात्	४७
तथाचानंतपर्यायं	९८
तथा सति न शद्धानां	१७४
तथा ह्यनुमितेरर्थो	१९९
तथा च सकलः शाद्ध-	२२६
तथा डित्थादि शद्धाश्च	२३५
तथा स्याद्वादसंबंधो	५३२
तथांतराच्च भावेभ्यो	६३९
तदाहंकारसम्यक्त्वात्	४७
तदुपग्रहहेतुत्वात्	११७
तदसत्तस्य जीवादि-	१६३
तदप्यसंगतं जाति-	२२८
तदावेशात्तथा तत्र	२३२
तदयुक्तमनेकांत-	२८५
तद्भेदश्च पदार्थेभ्यः	२८८
तदा नामादयो न स्युः	२९५
तदेवं मानतः सिद्धै-	५८४
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे	३२२
तन्मांशिन्यपि निश्शेष-	३६१

श्लोक	पृष्ठ नं.
तन्न युक्तं निरंशायाः	३८५
तस्य भावो भवेत्तत्वं	१२३
तस्याप्यन्यैरसंवित्तेः	१३०
तस्य चेद् दृश्यसामान्यै–	२५१
तस्माज्जीवादिभावानां	६३३
तादात्म्यपरिणामस्य	३५९
तेन नानादिता तस्य	५५
तेनानागतबंधस्य	१०८
तेनानिषेद्यतान्यस्य–	१३३
तेन पंचतयी वृत्तिः	१७४
तेनेच्छामात्रतंत्रं यत्	२६२
तेषां दर्शनजीवादि–	२८१
तेभ्योपि भेदरूपेण	२८८
तेनेह सूत्रकारस्य	३६९
तैरर्थाधिगमो भेदात्	५०९
त्रिकालगोचराशेष–	३६७
त्रिकालविषयार्थोप–	६२८
[द]	
दृग्मोहस्तु कचिज्जातु	८०
द्रव्यादिषट्पदार्थानां	१६१
द्रव्यांतरमुखे तु स्यात्	१७२
द्रव्यमेव पदार्थोस्तु	२०७
द्रव्यपर्यायतो वाच्यो	२८३
द्रव्यार्थिकनयात्तावत्	२८५
द्रव्यतः क्षेत्रतः काल–	५३५
द्रव्यतोऽनादिपर्यंते	६२९
[ध]	
धर्मिधर्मात्मकं तत्वं	१५५
धर्मिधर्मसमूहस्य	३६१

श्लोक	पृष्ठ नं
[न]	
न कश्चित्कस्यचित्स्वामी	५३१
न किंचित्केनचिद्वस्तु	५५१
न कायादिक्रियारूपो	१४६
न च प्रधानधर्मत्वं	४९
न च तत्वांतराभावः	१५६
न श्रद्धत्ते प्रधानं वा	४९
न सम्यग्दर्शनं नित्यं	५२
न जीवा बहवः संति	१२७
नदेवं सत्यसदादि–	१६२
नन्वनाहितनाम्नोपि	२६५
नन्वनंतः पदार्थानां	२८२
ननु न्यासः पदार्थानां	२८४
ननु नामादयः केन्ये	२८८
न क्रियामात्रकं कालो	६३०
न चापेक्षिकता व्याप्ता	६०४
न स्वादिभिरनेकांतः	६२३
नाम्नो वक्तुरभिप्रायो	१७१
नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं	२७९
नामेंद्रादिः पृथक्तावत्	२८८
नामादेरविभिन्नश्चेत्	२९३
नायं वस्तु न चावस्तु	३२२
नान्योनुभाव्यो बुध्यास्ति	३४८
नात्र संवेदनं किंचित्	३५८
नाप्रमाणं प्रमाणं वा	३६२
नाशेषवस्तुनिर्णीतेः	३६५
नायं दोषस्ततो नैव	३८९
नानवस्था प्रसंगोत्र	५६८

श्लोक	पृष्ठ नं.
नास्तित्वैकांतविच्छित्यै	५८९
नांशेभ्योऽर्थांतरं कश्चित्	३२४
निर्देशाल्पबहुत्वादि	२६
निसर्गादिति निर्देशो	६१
निश्शेषदेशकालार्था–	३६६
निर्देश्याधैश्च कर्तव्यो–	५०६
निश्शेषधर्मनैरात्म्यं	५२७
नित्यसर्वगतात्मेष्टौ	५६५
निरन्वयक्षयैकांते	५७३
निर्देशवचनादेतत्	५९८
निवासलक्षणं क्षेत्रं	६२५
नीरूपेषु शशाश्वादि–	६०३
नैकत्वाध्यवसायोपि	२५१
नैतत्सन्नामसामान्य–	२६५
नो आगमपुनस्त्रेधा	२६७
नोआगम पुनर्भावो	२७६
[प]	
परतो ग्रहणे तस्य	५९२
परार्था जीवसिद्धिर्हि	१२५
पर्यायार्थनयाद्भेदे	२८५
परार्थं निर्णयोपायो	१३८
पर्यायार्थार्पणाद्भेदो	३९८
परोक्षाकारतावृत्तेः	३६७
परत्वमपरत्वं च	६३१
परापरादिकालस्य	६३१
पारंपर्येण चेच्छद्धात्	२२८
पुण्यपापपदार्थौ तु	१०३
पुद्गलद्रव्यमाहार–	२६८
प्रधानस्य विवर्तोयं	४६
प्रधानस्यैव सम्यक्त्वात्	४७
प्रतिपक्षविशेषोपि	८१
प्रमाणादय एव स्युः	१५९
प्रमाणविधिसामर्थ्यात्	१५९
प्रमाणवृत्तिहेतुत्वात्	१६०
प्रतीतया पुनर्जात्या	२२६
प्रमाणं च नयाश्चेति	३१९
प्रमाणं सकलादेशि	३२०
प्रत्यासन्नेष्वयुक्तेषु	३४०
प्रमाणेन गृहीतस्य	३६५
प्रमाणेन नयैश्चापि	३६९
प्रतिकर्म व्यवस्थान–	३८८
प्रमाणं योग्यतामात्रात्	३८९
प्रतिक्षणविनाशादि	६१०
प्रमाणगोचरस्यास्य	६२६
प्रत्येकं संख्यया पूर्वं	६३८
प्रश्नक्रमवशाद्वापि	६३९
[ब]	
बहिः कारणसाकल्ये	७८
बंधहेतुनिरोधश्च	१०१
बंधो मोक्षस्तयोर्हेतू	१०६
बंधश्चास्रवकार्यत्वात्	११७
बंधः पुंधर्मतां धत्ते	१५४
बाध्यबाधक भावस्या–	५९४
बाह्येंद्रिय परिच्छेद्यः	१४२
[भ]	
भावस्य तद्वतो भेदात्–	१२३
भावांशोत्सदाभाव–	१५७
भाविनोआगमद्रव्यं	२६८

श्लोक	पृष्ठ नं.
भावा येन निरूप्यंते	५१६
भ्रांतिरिंद्रियजेयं चेत्	३१०
भिन्नाभिन्नो विरोधश्चेत्	३९४
भिन्न एवेति चायुक्तं	३९३
भेदे नामादितस्तस्य	२८४
भेदप्रभेदरूपेण	२८६
भेदैकांते पुनर्न स्यात्	३९७
[म]	
मनः सम्यक्त्वतः सम्यक्	४७
मध्यमोक्त्यापि तद्ब्यादि-	९८
मतेरबाधितो वापि	३६६
मोहारेकाविपर्यास-	१९
मोक्षस्तावद्विनेयेन	१०१
मोक्षसंपादिके चोक्ते	१०८
मोक्षादिसाधनाभ्यासा-	५६५
[य]	
यत्त्वेनावस्थितो भावः	१७
यतश्चानागताद्यौघ-	११०
यत्र शब्दात्प्रतीतिः स्यात्	२०३
यस्त्वतोऽभिमुखं वस्तु	२१६
यच्चित्प्रकाशसामान्य-	३५७
यत्किमित्यनुयोगेर्थ-	५०७
यत्तदेकमनेकं च	५१६
यत्रैकत्वं कथं तत्र	६११
यथा पावकशब्दस्य	२०
यथैव मम संवित्ति-	१२९
यथैव च ममाप्यक्षं	१३५
यथा हि सति सत्त्वेन	१५७
यथा जात्यादयो द्रव्ये	१७४
यद्यपीति प्रकारेण	३६१
यथा चैकक्षणस्थायी	५७८
यथागममुदाहार्या	५८४
यथाप्रतीति भावानां	६३२
यथस्पष्टावभासित्वात्	२०२
यदि गौरित्ययं शब्दो	२४२
युगपन्न विशेष्यंते	६२२
येनैवार्थो मया ज्ञातः	३९७
येनैकत्वं स्वरूपेण	६१२
योपि ब्रूते पृथिव्यादिः	१४३
[र]	
राज्ञः सति कुरुक्षेत्रे	६२५
[ल]	
लक्षणस्य ततो नाति-	५
लोहिताकृतिमाचष्टे	२३२
लोहितप्रत्ययं रक्त-	२३२
[व]	
वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ	२४४
वस्तुनः कृतसंज्ञस्य	२६३
वस्तुन्येकत्र दृष्टस्य	६११
वाक्येऽवधारणं तावत्	४३१
वांछितार्थप्रवृत्यादि	२०७
वाच्यवाचकताप्येवं	५९७
वासनामात्रहेतुश्चेत्	६०३
विना परोपदेशेन-	६७
विधात्रहं सदैवान्य-	१३७

श्लोक	पृष्ठ नं.
विकल्प्यदृश्यसामान्यै—	२५१
विज्ञानप्रचयोप्येष	३७१
विना हेतुविशेषेण	३८६
विश्वमेकं सदाकारा—	५८१
विशेषणविशेष्यत्वं	६२३
विज्ञानप्रचयोप्येऽष	३४३
व्यभिचारविनिर्मुक्तेः	१५९
व्यक्तिसामान्यतो व्यक्ति	२०४
व्यक्तावेकत्र शद्धेन	२२६
व्यक्तेः प्रख्यापकांक्षान्यान्	२६१
व्यक्त्यात्मना तु भावस्य	६१५
व्यापकं पचिसामान्यं	२३४
व्योमवत्सर्वभावानां	५७२
[श]	
शद्धेन लक्षिता जातिः	१९९
शद्धप्रतीतया जात्या	२०४
शरीरवाङ्मनःप्राणा-	६३२
[स]	
सम्यक्शद्धे प्रशंसार्थे	१
सरागे वीतरागे च	२९
स च द्रव्यं भवेत्क्षेत्रं	८२
सम्यग्दर्शनशक्तेर्हि	८४
सप्त जीवादयस्तत्वं	९८
सत्यं किंत्वास्रवस्यैव	१०७
सत्त्वेन निश्चिता माया	६३९
सन्नप्यसौ भवत्येव	११०
सदादिभिः प्रपंचेन	५८८
सर्वथा तत्प्रयोगेपि	४४८

श्लोक	पृष्ठ नं.
सदाकाराविशेषस्य	५८१
सन्नाप्यपक्षेप सांवेत्	५९१
सर्वथैवाफलत्वाच्च	५९६
सर्वथैवासतां नास्ति	६१३
सर्वं सर्वात्मकं सिध्येत्	६१४
समवायवशादेवं	६१९
समवायो न संख्यादि	६२१
सन्नप्ययं ततस्तावत्	६२४
संचितस्य स्वयं नाशात्	१०९
संवरे सति संभूतेः	११७
संति सत्यास्ततो नाना-	१३८
संवरो जीवधर्मः स्यात्	१५५
संशीतिवत्प्रमेयांत-	१५९
संशयस्य तदात्रैव	१६०
संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव	१६९
संयोगिद्रव्यशद्धः स्यात्	१७२
संयोगबलतश्चैवं	१७४
संविच्चेत्संविदेवेति	५६५
संख्या संख्यावतो भिन्ना	६०१
सामर्थ्यादादिसूत्रे तत्	२०
सादरानुग्रहाकांक्षा	२६४
सांप्रतो वस्तुपर्यायो	२७६
सारूप्यस्य प्रमाणस्य	३८४
सा चैकत्वादिसंख्येयं	६०९
सा नैव तत्त्वतो येषां	६१९
सामीप्यादिपरित्यागात्	६२८
सामान्येनाधिगम्यंते	६४०
सिद्धं भावमपेक्ष्यैव	२६६

श्लोक	पृष्ठ नं.
स्थितिमत्सु पदार्थेषु	६३०
सूत्रकारोत्र तत्त्वार्थ-	२
सूत्रेवधारणाभावात्	१९१
सूत्रे नामादिनिक्षिप्त-	५१६
सोयमित्यवसायस्य	२६५
सोप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः	४५७
स्याद्वादाश्रयणे युक्तं	३९६
स्यान्नास्त्येव विपर्यासात्	४०३
स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति	४०३
स्याच्छब्दादप्यनेकांत–	४५५
स्याद्वादविद्विषामेव	६११
स्वतस्तत्त्वं तथात्वे च	६३२
स्वहेतोर्जायमानस्य	६३४
स्वसंवेदनमेवैकं	३४२
स्वरूपेपि च सारूप्यात्	३८९
स्वांशेषु नांशिनो वृत्तौ	३५८
स्वार्थनिर्णायकत्वेन	३२१
स्फुटं द्रव्यगुणादीनां	५६७
[ह]	
हानादिवेदनं भिन्नं	३९६
[क्ष]	
क्षणक्षयादिरूपस्य	३८८
क्षणमात्रस्थितिः सिद्धे-	५८०
क्षयोपशममायाति	८०

—=o×o=—